ब्राह्मण-ग्रन्थों में दर्शपौर्णमासयाग








DARASH-PAURNMS YAJNA
IN
BRĀHMIN GRANTHĀS

ब्राह्मणग्रन्थेषु दर्शपौर्णमासयागः











लेखक

डॉ० उमेश प्रसाद दाश

वेदाचार्य, एम.ए., पी.एच.डी.,

व्याख्याता वेदविभाग

राजकीय महाराज संस्कृत कॉलेज

जयपुर (राज०)


















१९९४

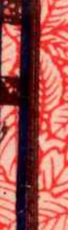












ब्राह्मण ग्रन्थों में दर्शपौर्णमासयाग

(ब्राह्मण ग्रन्थेषु दर्शपौर्णमासयागः)

लेखक

डॉ० उमेश प्रसाद दाश

वेदाचार्य, एम.ए., पी.एच.डी.

व्याख्याता वेदविभाग

राजकीय महाराजा संस्कृत कॉलेज

जयपुर (राज०)

१९९४

राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली
के अनुदान सहायता से प्रकाशित

प्रथम संस्करण — १९९४

प्रति — १०००

मूल्यम् —

मुद्रक —
रसकपूर प्रिन्टर्स
दीनानाथ जी की गली
ग्राफिक ऑफसेट — जयपुर (राज.)

DARASH-PAURNAMĀS YAJNA
IN
BRĀHMIN GRANTHĀS

Writer
Dr. Umesh Prasad Dash
VEDACHRYA, M.A., P.H.D.
Lecturer In Veda
Govt. Maharaja Sanskrit College
Jaipur (Raj.)

1994

Published with the Financial assistance From
the Rashtriya Sanskrit Sansthan, New DELHI

First Edition – 1994

Copies – 1000

Prices Rs. –

Printed
Raskapoor Printers
Deeneneth Geli
Graphik offset
Jaipur (Raj.)

"प्राक्कथन"

"इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि" वासं - १.५

देववाणी के अध्ययन की ओर उन्मुखता के प्रेरक मेरे पितामह स्व० श्रीगौराङ्गदाश थे, संस्कृत भापा के प्रति इनकी विशेष अभिरूची रहती थी। मैं संस्कृत भाषा तथा वेदों का अध्ययन जो कर सका - वह तपोनिधि प्रज्ञा के धनी मेरे पूज्य पितामह की पुण्यराशि का प्रभाव है। मेरे पिता श्री पूज्यपाद श्रीनारायणदाश जी के संस्कारों में संस्कृत तथा वैदिक संस्कृत के प्रति निष्ठा है। इसलिए यदि ऐसा नहीं होता तो वे मुझे वेद का अध्ययन करने के लिए उत्तर भारत में मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम की अयोध्या नगरी में निवास करने के लिए नहीं भेजते। मेरे पिताश्री ने जिन प्रेरक समिधाओं से मेरे भीतर श्रुति की अग्नि को प्रज्ज्वलित किया था उसे अनन्त विभूषित बंशीधर आचार्य ने प्रोत्साहन की आज्य से निरन्तर उदीप्त किया। शतपथ ब्राह्मण[१] में चार प्रकार के ऋण बताये गये हैं और प्राणी चार प्रकार के ऋण से मुक्त होने की इच्छा करता है। तथा उसमें सफल भी होता है। परन्तु ऐसे मनुष्य अंगुलियों पर गिने जा सकते है जो देव ऋण तथा ऋषि ऋण से मुक्ति लेने का प्रयत्न करते है। ऋषियों के अनुशासन को सुरक्षित रखना तथा उसमें वृद्धि करने से ऋषि ऋण से मुक्ति मिलता है। इसलिए ऋषिऋण से मुक्ति होने वाले को "निधिगोप"[२] तथा "अनुचार" कहा जाता है।

मैंने अयोध्या के प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् राज्य सरकार से पुरस्कृत स्व० पं० श्रीदुर्गादत्त त्रिपाठी जी को प्रणाम करता हूँ। जिनके चरणों में बैठकर वेद के एक भाग शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा का अध्ययन करके ऋषियों के निधि को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया। मैं पूज्यपाद गुरुजी का चिर ऋणी हूँ।

देवऋण से मनुष्य तब मुक्त होता है जब वह देवताओं को उद्दिष्ट करके वेदविहित यागों का विधि-पूर्वक अनुष्ठान करता है। मन्त्रों की मन्त्रणा से नियन्त्रित तथा तकनीकी ताड़नाओं से ताड़ित विज्ञान की बुद्धि से प्रभावित इस युग में देवऋण से मुक्त होना अत्यन्त दुरुह कार्य है। क्योंकि श्रौत यज्ञ करना वर्तमान समय में असम्भव है। अतएव मैंने यह श्रेयस्कर समझा कि उसे अध्ययन तथा अनुसन्धान का विषय बनाए जाए। इस प्रकार स्वाध्याय यज्ञ से अंशतः देवऋण से मुक्त हुआ जा सकेगा।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति का साधन वेद विद्या है। वेद स्वयंमेव ज्ञान विद्या है। जिसके द्वारा अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति होती है और वह अभीष्ट ज्ञान इहलौकिक पारलौकिक शान्ति को प्रदान करता है। वेद तथा वैदिक साहित्य विश्व की वह संपदा है जिसको पवित्रतम, उदात्ततम तथा प्राचीन आर्य संस्कृति का स्रोत कहा गया है।

ऋषि-मुनियों के तपस्या सुरक्षित रखी गई यह विश्व की अमूल्य निधि है। "वेद" शब्द को अर्थ करने में समस्त आचार्यों ने मुक्त कण्ठ से ज्ञान कहने में अपने को पीछे नहीं रखा है।

"वेद" शब्द "विद्" धातु से घञ प्रत्यय लगाकर निष्पन्न हुआ है, ऐसे वेद शब्द चार धातुओं से निष्पन्न

१. श.ब्रा. १.२.२.१.

२. वही १.७.२.३.

है, विद् ज्ञाने, विद्लाभे, विद् विचारणे, विद् सत्तायाम्, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के प्रतिपादन करने वाला वेद है। अर्थात् **विधन्ते ज्ञायन्ते लभन्ते वा एभिः धर्मादि पुरुषार्थाः इति वेदाः**[१] आचार्य सायण[२] के अनुसार "अर्थात् इष्ट की प्राप्ति अनिष्ट का परिहार करने वाला वेद है। अमर कोश के अनुसार जिस के द्वारा धर्म का ज्ञान होता है। उसे वेद कहा जाता है।[३] महर्षि दयानन्दजी के अनुसार भी वेद शब्द का अर्थ ज्ञान ही है।[४]"

वेद शब्द बहुत ही व्यापक तथा समस्त विद्याओं का मूल स्रोत है। महर्षि मनु के१ अनुसार वेद धर्म के सम्पूर्ण आधार है।

वेदोऽखिल धर्ममूलं स्मृति शीले च तद्विदाम्।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥
श्रुतिस्तु वेद विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्व मीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्वभौ॥ (मनुस्मृति)

महर्षि याज्ञवल्क्य के अनुसार वेद शास्त्र से एतद् और कोई ऐसा शास्त्र नहीं है अर्थात् समस्त शास्त्र वेद से ही निःसृत है।

न वेद शास्त्रदयन्तु किञ्चिद्छास्त्रं हि विद्यते।
निःसृतं सर्वशास्त्रं तु वेद शास्त्रात्सनातनात्॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति)

आचार्य सायण के अनुसार—

प्रत्यक्षानुमानागमेषु प्रमाणेषु अन्तिमो वेदः।(ऋग्वेद भाष्य भूमिका)

अर्थात् प्रत्यक्ष , अनुमान और आगम, प्रमाण वेद अन्तिम अर्थात् आप्त प्रमाण है।

समय बलेन सम्यक् परोक्षानुभव साधनं वेदः।

अर्थात् समय के अनुसार भलीभाँति परोक्ष की अनुभूति जिस साधन से किया जाता है वह अपौरूषेय वाक्य वेद है।

वेद को चार विभाग में विभक्त किया गया है। जो क्रमशः संहिता, ब्राह्मण. आरण्य, उपनिषद् नाम से जाना जाता है।

वेद का स्वरूप तथा ब्राह्मण - महर्षि आपस्तम्ब ने यज्ञ परिभाषा में वेद के स्वरूप को विचार करते हुए कहा है कि "मन्त्र ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'।[५] जिसका समर्थन अन्य आचार्यों ने भी किया है। आचार्य कुमारिल भट्टजी ने भी मन्त्र एवं ब्राह्मण दो मिलाकर ही वेद का अभिधान किया है। **मन्त्र ब्राह्मणों वेंद इति नामधेयं षड्ङ्गमेकमिति।** अथर्ववेद के कौशिक सूत्र, शंकराचार्य आदि विद्वानों भी इसी मत का समर्थन किया है। मन्त्र तथा ब्राह्मण को

---

१. ऋक् प्रातशाख्य, आचार्य विष्णुमित्र।
२. इष्ट प्राप्त्यनिष्ट परिहात्योरलौकिकमुपायंयोग्रन्थोवेदयति स वेदः ऋग्वेद् भाष्य भूमिका।
३. विदन्त्यनेन धर्म वेदः।
४. ऋग्वेद भाष्य भूमिका।
५. आपस्तम्ब परिभाषा सूत्र १.३३, सत्याषाढ श्रौत सूत्र १.१.७, का परिभाषा सूत्र १.९, बौधायन गृह्य सूत्र २६-३,

मानने के सम्बन्ध में प्राच्य तथा पाश्चात्य विद्वानों में वैमत्य रहा है। तथ्यों के आधार पर यह कहा जा कता है कि ब्राह्मण ग्रन्थों पर शंका करना यह एक अव्यवहारिक सा दिखाई पड़ता है। वैदिक मनीषि वेदों अपौरुषेय मानने में अपने को पीछे नहीं रखा है।

वेदविद्या आध्यात्मविद्या की विपुल धरोहर है। यज्ञ के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए ब्राह्मण यों का अध्ययन आवश्यक है। अत: ब्राह्मण ग्रन्थों का अध्ययन आवश्यक है। अत: ब्राह्मण साहित्य को वेद नना उचित प्रतीत होगा।

ब्राह्मण शब्द का अर्थ– ग्रन्थवाची ब्राह्मणशब्द, ब्रह्मन् शब्द से, तथा याग वाचक ब्राह्मण शब्द वृह् वर्धने धातु से निष्पन्न होकर वृद्धि अर्थ को प्रकाशित करता है। यज्ञ के अनेक विधि विधानों का बताने वाला ग्रन्थ ह्मण ग्रन्थ है। महर्षि आपस्तम्ब ने अपनी परिभाषा सूत्र में यह कहा है कि मनन से मन्त्र तथा अभिकथन से ह्मण कहलाते हैं।[१]

ग्रन्थवाची ब्राह्मण शब्द निपुंसकलिंग में प्रयुक्त है। इसका प्राचीन प्रयोग तैतरीय संहिता में मिलता [२] यत्र कुत्र ब्राह्मण शब्द का प्रयोग पुल्लिंग में भी प्रयोग मिलता हैं।[३] बौधायन श्रौत सूत्र के अनुसार वाक्शब्द ह्मण ग्रन्थ के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[४] भाष्यकार उव्वट ने ब्राह्मण शब्द को साक्षात् श्रुतिमाना है।[५]

ब्राह्मणों का विषय एवं स्वरूप - ब्राह्मण ग्रन्थों के विषय तथा उनमें स्वरूप के बारे में अनेक विद्वानों अनेक मत प्रस्तुति किए हैं। आचार्य शबरस्वामी[६] अपने मीमांसा भाष्य में ब्राह्मण के विषय को दस श्रेणियों विभाजित किया है।

हेतु निंवचनं निन्दा प्रशंसा संशयोविधिः
परक्रिया पुराकल्पः व्यवधारण कल्पना।
उपमकानं दर्शतेतु विधयो ब्राहमणस्य तु।

महर्षि कात्यायन ने भी अपने प्रतिज्ञा परिशिष्ट में अलग-अलग रूप में परन्तु विषय के मिलते जुलते में १० भागों में माना है। प्रसिद्ध दार्शनिक वाचस्पति मिश्रा ने ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रयोजन निर्वचन मन्त्रों विनियोग, प्रतिष्ठान (अर्थवाद) तथा विधिमाना है।

ब्राह्मण ग्रन्थ में मूलतया विधि तथा अर्थवाद ही मूलभूत अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय है। और जिसको ज्ञानुकूल रूप में व्याख्या किया गया है।

यज्ञों का सम्पूर्ण विधि तथा उससे सम्बन्धित समस्त क्रियाएं ब्राह्मण साहित्य में प्राप्त होता है। संक्षेप यह कहा जा सकता है ब्राह्मण में वर्णित विषय यज्ञ से ही सम्बन्धित है।

ब्राह्मण ग्रन्थ तथा यज्ञ - विद्वानों के मत को देखते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है ब्राह्मण

---

१. दर्शपौर्णमास प्रकाशसूत्र ३२ पृ० ७४,
२. तै०सं० ३.७.१.१
३. य इमे ब्राह्मणाः प्रोक्ताः मन्त्रावै प्रोक्षणे गवाम्, महाभारत ३० पर्व अ० १३
४. वागति ब्राह्मणमुच्यते, बौ० श्रौ० सू० १.७.१०,
५. श्रुति ब्राह्मणम् -यजु० उ० भा० १८-१,
६. शबरस्वामी मीमांसासूत्र भाष्य २, १, ८,

साहित्य का वर्ण्य विषय यज्ञ है। चाहे वह विषय प्रमुख हो या गौण ही क्यों न हो। ब्राह्मण साहित्य में यज्ञ की प्रक्रिया तो मिलती है साथ ही अनेक स्थलों पर आख्यान एवं यज्ञों के प्रतिकात्मक विवेचन भी प्राप्त होता है, जिसके द्वारा ब्राह्मण ग्रन्थ का विशिष्टत्व और ही प्रधोतित होती है। यज्ञों के द्वारा अपनी पूर्ण सफलता प्रप्त करने के लिए ब्राह्मण ग्रन्थ का अध्ययन नितान्त आवश्यक है। यज्ञों को विभिन्न प्रकार से प्रतिपादन करने का एतिहय ब्राह्मण ग्रन्थों का ही देन है। साथ ही, साहित्य सभ्यता संस्कृति के सच्चा स्वरूप को जानने के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों का ज्ञान आवश्यक है।

यज्ञ सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का केन्द्रबिन्दु एवं उद्गम स्थल है।[१] यज्ञ से ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का सृजन हुआ है, तथा यज्ञ में ही प्रतिष्ठित रहता है।[२] यज्ञ के द्वारा ही सम्पूर्ण संसार का भरण-पोषण होता रहता है।[३] यज्ञ देवताओं का वह निवास स्थल है जो कभी भी असुरों के द्वारा पराजित नहीं हो सका। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार यज्ञ को ऋत का स्रोत बताया गया है।[४] डॉ० दास गुप्त के कथन से यह स्पष्ट है कि यज्ञ के द्वारा ही हमें ब्रहमाण्ड की सत्ता का तथा उसमें व्यंवस्था अथवा प्रकृति में परिव्याप्त कानून को प्रथम मान्यता का दर्शन होता है।[५] ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेकशः स्थान पर यज्ञ को सर्वव्यापी विष्णु कहा गया है, यज्ञ समस्त संसार का नियन्त्रक है।[६] अतः यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ कर्म कहा गया है।[७] वैदिक संस्कृति में यज्ञ का अत्यधिक महत्व है यज्ञ ऋषियों की साधना से उत्पन्न ऋतम्भर प्रज्ञा का वह आलोक है जिससे संस्कृति का अणु परमाणु प्रद्योतित है। इस विश्व में जो भी कुछ क्रियायें की जाती है उसके केन्द्र में मनुष्य स्थित है। इस तथ्य को अनेक विद्वानों ने अपनी मत को प्रतिपादन तो किया ही है-फिर भी पाश्चात्या विद्वान टालकाट् पार्सन्स ने भलीभाँति प्रमाणित किया है कि वे यज्ञ एक क्रिया है, एक अनुष्ठान है अतएव उसके केन्द्र में भी मनुष्य की स्थिति मान्य है।[८]

यह विश्व द्वन्दात्मक है। भौतिक तथा पवित्र अथवा अलौकिक इन दो प्रकार के पदार्थों से यह संसार परिव्याप्त है, यज्ञ भौतिक को पवित्र तथा अलौकिक बनाने की एक प्रक्रिया है।

यज्ञों का विभाजन

मनुष्य अपनी स्वभाविक मनोवृत्ति के छवि से तीन प्रकार से कर्म में प्रवृत्त होता है, कुछ कृत्य ऐसे होते है जिन्हें वह प्रतिदिन करना चाहता है। कुछ कुर्मों में वह तब प्रवृत्त होता है जब कोई उसके निमित्त उपस्थित होता है। मनुष्य के मन में विविध कामनाऐं जगती है। जिनकी पूर्ति के लिए वह अध्यवसाय की ओर उन्मुख

---

१. यज्ञः वभूव भुवनस्य गर्भः तै. ब्रा. २.४.७.५.
२. In the same manner that the world oreginated through sacrifice जंग साईकोलोजी ऑफ यूद अन्कान्शस पृ० 259.
३. एतत् खलु वै देवानामपराजितभायतनम्। यद्यज्ञः ॥ तै० ब्रा० ३.३.७.७,
४. यज्ञोवै ऋतस्ययोनिःश० ब्रा० १०.२.१.२,
५. It is the yajna that me sec the first rec ognition of cosnil order on law prekalling in Mature das gupta. H.I.P. 1, 27,
६. यज्ञोवै विष्णुः तै. ब्रा० ३.२.३.१२, ३.२.७.४, ३.३.६.११, ३.३.७ आदि श० ब्रा० १.१.३.१, १.२.५.३, आदि प० ब्रा० ११३.२, यज्ञः प्रषायतिः
७. यज्ञौवै श्रेष्ठतम कर्म, तै० ब्रा० ३.२.१.४, श० ब्रा० १.५.४.५, यज्ञो वैकर्म, श० ब्रा० १.१.१.२,
८. पार्सन्स् और शिल्ज् टूवर्डस् ए जनरल थियरी आफ् एक्सन हार्पर, टार्च बुक्स न्यूयार्क १९६२.

होता है।[१] अतः कर्मों के वैविध्य के कारण यज्ञ का विभाजन नित्य, नैमित्तिक, और काम्य के रुप में विभाजन किया जा सकता है।[२] नित्य यज्ञ प्रतिदिन किए जाते है नित्य यज्ञ करने से किसी प्रकार का लाभ तो नहीं होता है परन्तु प्रत्यवाय की सम्भावना बनी रहती है।[३] इसके लिए "यावज्जीव अग्निहोत्रं" इस प्रकार यज्ञ करने का विधान है। जिस यज्ञ का विधान किसी निमित्त से किया जाता है उसे नैमित्तिक यज्ञ कहते हैं।[४] **तैंतरीय संहिता के अनुसार** —— जिसका घर जल जाए उसके लिए सामवत् अग्नि देवता को अष्टाकपाल पुरोडाश के निमार्ण करने का विधान है। इस प्रकार से यज्ञ गृहदाह निमित्त होने के काल नैमित्रिक यज्ञ कहा जा सकता है। विशेष कामना से जिन यज्ञ को किया जाता है उसे काम्य यज्ञ कहा जाता है।[५]

यज्ञों के दो भेद है पाक तथा श्रौत यज्ञ के नाम से जाना जाता है- गृहस्थ धर्म का परिचालन करने के लिए जो यज्ञ किए जाते हैं उन्हें पाक यज्ञ कहा जाता है जिसका विवरण गृहयसूत्र, धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों में उपलब्ध होता है। श्रुतियों में उपलब्ध न होने के कारण इनका नाम पाक यज्ञ है। पाक यज्ञ को स्मार्त यज्ञ भी कहा जाता है।

श्रौत यज्ञ को करने की इच्छा रखने वाला व्यक्ति को चाहिए कि सर्वप्रथम, गार्हपत्य, आहवनीय, तथा दक्षिणाग्नि का विधि पूर्वक स्थापना करे। अहिताग्नि यजमान ही श्रौत यज्ञ को कर सकता है। प्रत्येक यज्ञ के द्रव्य तथा देवता भिन्न- भिन्न होते है। देवताओं के लिए तत् तत् हवियों की प्रधानता हुआ करती है।

इस दृष्टि से श्रौत यज्ञों का विभाजन हविर्यज्ञ, पशुयज्ञ तथा सोमयज्ञ के रुप में किया गया है। जिसके दूसरे रुप में इष्टि, पशु, तथा सोम के रुप में जाना जाता है। इष्टियों में दूघ, दही, घी, मधु अन्न आदि द्रव्यों का प्रयोग होता है। पशुयज्ञों में पशु की हवि, इस प्रकार सौम यज्ञ में सोमलता के रस की हवि की प्रधानता हुआ करती है।

एतरेय ब्राह्मण में प्रमुखतया पाँच प्रकार के यज्ञों का उल्लेख है, जो क्रमशः अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास चातुर्मास्य पशु और सोम है। शतपथ ब्राह्मण में यद्यपि यज्ञों का भेद उल्लेख नहीं मिलता फिर भी उसमें दर्शपौर्णमास से लेकर अश्वमेघ यज्ञ तक का विवरण उपलब्ध होता है। गोपथ ब्राह्मण के अनुसार यज्ञों की संख्या इक्कीस है।[६] जो क्रमशः सातपाक, सात हवि, सात सोमयज्ञ है। अनुवर्त्ती आचार्यों ने भी इसका अनुसरण किया है। प्रयोग विवरण में दृष्ठि से भी सकल श्रौत यज्ञों को तीन भागों में विभाजन किया गया है- जो क्रमशः प्रकृति यज्ञ, विकृतियज्ञ प्रक्त्ति विकृति यज्ञ नाम से जाना जाता है।

दर्शपौर्णमास याग तथा उसके दार्शनिक महत्व

दर्श तथा पौर्णमास शब्दों का समस्त नाम है **"दर्शपौर्णमास"** यह समस्त पद द्वन्द समास होने से निष्पन्न होता है।[७] इस द्वन्द समास से ज्ञात हो जाता है कि यज्ञ में दो इष्ठियों का प्रयोग किया जाता है। **दर्श "अमावस्या**

१. युधिष्ठरमीमांसक जै.मी. सा. भा. पृ० ९, तै.स.पृ० ६ पूना संस्करण
२. वही तु० भूवभूति उत्तररामचरित, प्र० अङ्क श्लोक संख्या ८,
३. तै. स० भट्टभाष्कर सायनभाष्य पृ० ६
४. वही,
५. तै० स० भट्टभास्कर सायण भाष्य पृ० ६
६. गो० ब्रा० १.१.१२, १.५.२५, १.५.२३,
७. आप० श्रौ० धूर्तस्वामीभाष्य पृ० ९ दर्शश्च पूर्णमास्येति दर्शपूर्णमासौ। तै०स० भाष्य भूमिका पृ० ८

नामक तिथी को कहा जाता है तथा पौर्णमासी भी तिथी विशेष है। पूर्णमास में "मास" शब्द का अर्थ समय और चन्द्र दोनों हैं। अर्थात् चन्द्र जिस दिन पूरे होते हैं उसे पूर्णमास कहते हैं।

मैत्रायणी संहिता के अनुसार दर्श पूर्णमास याग करनेवाला व्यक्ति देवयाजी कहलाता है। दर्शपौर्णमास याग को दो प्रकार से सम्पन्न किया जाता हैं। जिसको क्रमशः नित्य और काम्य कहा जाता है।

दर्श पूर्णमास यज्ञ को करने वाले व्यक्ति की समस्त कामनाऐं पूर्ण हो जाती है और स्वर्गकामी के लिए स्वर्ग तथा ऋद्धि कामी यजमान के लिए ऋद्धि प्राप्ति होती है।[१] महर्षि याज्ञवल्क्य के अनुसार जो व्यक्ति दर्शपौर्णमास इष्टि प्रत्येक मास में करता है वह वस्तुतः दो अश्वमेघ यज्ञ का यजन करता है।[२] अश्वमेघ में जिस अश्व का संज्ञपन होता है वह अश्व प्रजापति का रूप है।[३]

सम्प्रति मनुष्य जीवन बहुत जटिल हो गया है, विज्ञान के नवीनतम आविष्कारों के बीच स्थित रहकर भी मनुष्य बहुत पीडित है, अतएव यह सोचा जा सकता है कि प्राक् शुक्रात्, प्राक् ऐतिहासिक प्राग् साहित्यग् अथवा प्राग् आधुनिक मनुष्य जीवन की किन समस्याओं में जूझता रहा होगा। इसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है। प्रत्येक प्रज्ञावान् व्यक्ति समस्याओं का निराकरण का समाधान ढूंढता है। जैसे आज विविध समस्याओं का समाधान ढूँढ़ा जा रहा है! उसी प्रकार पहले भी मनुष्य समस्याओं का समाधान ढूढ़ता था। भारत की आर्ष प्रज्ञा के धरती वैदिक ऋषियों ने उस ऋत तथा सत्य का अनुसन्धान किया था जिस के कारण असत् सत्ता में आता है। मर्त्य अमृत बनता है तथा अंधकार घटकर सामने प्रकाश की राशि लहरा देता है। इस यज्ञ के द्वारा वैदिक ऋषि व्यष्टि को समष्टि में तथा समिष्टि को व्यष्टि में अनुभूत कर देता हे। इसलिए भारतीय दर्शन में बार-बार यह कहा गया है कि "यत् पिण्डे तत् ब्रहमाण्डे" इसे यदि प्रतीक रुप में कहा जाए तो कहना होगा कि यत् ब्रहमाण्डे तत् पिण्डे प्रतीक रुप में कहने की कोई परम्परा नई नहीं है। भारतीय चिन्तन के आलोक को देखने वाले विद्वान् ऋक् संहिता, नैचाशाखा[४], कंठोपनिषद के उर्ध्वमूल अवाक्शाखा, अश्वत्थ वृक्ष को विस्मृत नहीं किया होगा, जिस प्रतीक अश्वत्थ का वर्णन श्रीमद्भगवत् गीता में भी हुआ है। इस प्रकार यज्ञ में मनुष्य नवीन जन्म धारण कर पूरे दिन काम पर अपना अधिकार अपनी सम्प्रभूता स्थापित कर लेता है।

उर्ध्वमूलऽधः शाखमश्वत्थं प्राहुव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद सवेदविद्॥

याज्ञवलक्य के अनुसार दर्श पौर्णमास इष्टि के द्वारा तीस वर्ष तक यजन अवश्य करना चाहिए। तीस वर्षों में सात सौ अमावस्याऐं तथा पौर्णमासी हुआ करता है, पहले के पन्द्रह वर्ष में जो तीन सौ साठ पूर्णिमाऐं तथा अमावस्यायें हुआ करती है उन तीन सौ साठ दिन पर यजमान विजय प्राप्त कर लेता है। बाद में पन्द्रह वर्षों की जो तीन सौ साठ अमावस्यायें एवं पूर्णमासियाँ है उनसे संवत्सर में होने वाले तीन सौ साठ दिन पर यजमान अपना वर्चस्व स्थापित करता है।[५]

---

१. आप० श्रौ० ३.१४.८,

२. ऋ०सं० ३.५.३.१४

३. क०उ० ३०- उर्ध्वमूलोऽअवाक्शाखा एवोऽश्वत्थः सनातनः तदेव शुक्र तद्ब्रह्मतदेवामृतमुच्यते। तस्मिलोकाभिताः सर्वे तदु नात्येक्ति कश्चन्।

४. श्री मद्भगवत् गीता १.५.१

५. श० ब्रा० ११.१२.१०.११,

६. वही ११.१.६.१२

७. वही, वही

याज्ञवल्क्य ने संवत्सर का निर्वचन करते हुए बताया है कि प्रजापति ने जब सृष्टि करली तब उसने विचार किया कि इन देवताओं का सृजन करने के बाद मैंने सबको पार कर लिया था, अतएव संवत्सर का परोक्षाभिधान "सरवत्सर" है।[६] वस्तुतः संवत्सर प्रजापति की प्रतिमा है[७], जिसका निर्देश पहले किया जा चुका है, प्रसिद्ध है कि देवता पहले मरते थे जब उन्होंने संवत्सर को प्राप्त किया तभी अमर बन सकें इस प्रकार संवत्सर रुप दिक् काल में सब कुछ स्थित है, अतएव इसे सर्व कहा गया है। जो व्यक्ति संवत्सर को प्राप्त कर लेता है[८], वह प्रजा को पार कर लेता है और उसका लोक भी अक्षय होता है। तथा उसका सम्पूर्ण सुकृत अक्षय होता है। इस प्रकार व्यक्ति का समिष्टि में समावेश होना ही दर्शपौर्णइष्टि का का प्रमुख उद्देश्य है। जिसके द्वारा व्यक्ति परम् सत्ता के साथ एकता की स्थापना करता है, जिसप्रकार परम् सत्ता सर्वात्मक है उसी प्रकार वह व्यक्ति भी सर्वात्मक हो जाता है। जिस संस्कृति धर्म तथा समाज में इस तरह के एक ही भावना की अनुभूति करने वाले मनुष्यों का समुदाय स्थित है वह समाज का शीर्ष बनकर श्रेय और प्रेय का विधान करेगा। इस प्रकार के समाज में ही वैष्णवंशक्ति तथा संस्कृति के सतत् उत्थानमय जागरणमय और बोधमय जीवन का समुद्भव होगा। जो सार्वभौम विजय यात्रा का संविधानक समुपस्थित करेगा और वह व्यक्ति तमस के परे महा आदित्य वर्ण पुरुष को, ब्रह्माण्ड को, विश्व के प्रत्येक अणु परमाणु को जान सकेगा।

ग्रन्थ का सामान्य स्वरुप

इस पुस्तक को ९ अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रारम्भिक अध्यायों में विशेपतः शतपथ ब्राह्मण तथा अन्य ब्राह्मण के अनुसार दर्शपौर्णमास इष्टि का विवेचन करने का प्रयत्न किया गया है। सकल श्रौत इष्टियों का सुमेरु दर्शपौर्णमास इष्टि का बोध दुरुह है। जिस प्रकार वीणावाधका साङ्गो पाङ्ग अध्ययन कर कोई व्यक्ति प्रवीण नहीं हो सकता है उसी प्रकार यज्ञ के प्रयोग का अवलोकन किये उसे बोध का विषय बनाना अत्यन्त कठिन है। ऐसी स्थिति में भी इस पुस्तक में जटिलतम आनुवांशिक विद्याओं की ग्रन्थियों को खोलने का प्रयत्न किया गया है। शतपथ ब्राह्मण तथा अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों पर आधृत होने पर भी पुस्तक को सम्पादन करने में कात्यायन आदि समस्त श्रौत सूत्रों का आश्रय लिया गया है। तुलना की दृष्टि से तथा विषय को समझने की दृष्टि से यह करना आवश्यक था। विविध अनुष्ठान से सम्बन्ध इतिहास तथा निर्वचन को भी अध्ययन का विषय बनाया गया है। प्राचीन वैदिकों की दृष्टि से ब्राह्मण ग्रन्थ में विधि तथा अर्थवाद का विवरण है। यह अर्थवाद ही अनुष्ठानों से सम्बद्ध इतिहास के प्रतीक अर्थ को व्यजिंत करता है। इस दृष्टि से वेद प्रसिद्ध मनीषी डॉं आनन्द कुमार स्वामी ने इतिहास को उपान्त्य सत्य कहा है। वस्तुतः इतिहास और अनुष्ठान एक ही सत्य को (परमसत्य) को रुपयित करते है। अनुष्ठान प्रयोग है तथा इतिहास (मिथक) में शब्दों के द्वारा वर्णित किया जाता है उसी सत्य को पदार्थों के द्वारा अनुष्ठानों में रुपायित किया जाता है।[१] वैदिक ऋषियों ने वेद में सन्निहित सत्य को द्योतित करने के लिए निर्वचन या विरुकत का अलम्बन लिया है। इसलिए यास्क ने विरुकत को व्याकरण की पूर्णता का विषय कहा है।[२] तथा भगवान भाष्यकार पतञ्जलि[३] ने कहा है कि निर्वचन पद की अर्थवत्ता को प्रकाशित करता है। अतएव इस प्रबन्ध में ब्राह्मण प्रतिपादित निर्वचनों का भी विश्लेषण किया गया है। साथ ही ग्रन्थ

---

१. श० ब्रा० ११.१.२.१२,

२. द्र० मर्सिया इलियाड् मिथ् एण्ड् रिचुवलिस्ट्।

३. यास्क निरुकत तदिदं कार्षण्यम् व्याकरणस्य

४. पतञ्जलि महाभाष्यं अन्वर्थ खलु निर्वचनम्।

के अन्त में विविध परिशिष्ट भी दिये गये हैं। जिनमें दर्शपौर्णमास इष्टि में प्रयुक्त मन्त्र, पारिभाषिक शब्दों तथा यज्ञपात्र सूची तथा उनमे नाप जोख, यज्ञ पात्रों के चित्र, तथा वेदि आदि चित्रों कपालों की स्थापना की चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। इन परिशिष्टों से दर्शपौर्णमास इष्टि की जटिलताओं को बोध में सुगमता होगी। अस्तु

यह ग्रन्थ जो आप लोगों के सामने है, उन वेदविदों, नित्य पूजनीय, अर्चनीय बन्दनिय गुरुजनों के आर्शीवाद के प्रतीकरूप में विद्यमान है।

यथाशक्ति यथाबुद्धि के अनुसार ब्राह्मण ग्रन्थ, श्रौतसुत्रों का अध्ययन करके इस ग्रन्थ को लिखने में प्रयत्न किया गया है। लेकिन मेरी अल्पमति कहाँ तक पहुँच पाई है। यह तो विद्वान ही बता पाएगें। पर्याप्त सावधानी के साथ पुस्तक को लिखने तथा प्रूफ संशोधन किया गया है फिर भी अनेक स्थलों पर त्रुटियाँ रह गई है, ये त्रुटियां टंकण तथा प्रूफ से सम्वन्धित है। जिसको विद्वत जन सुधार लेगें। परन्तु जो त्रुटियाँ मेरे पहूँच से बाहर है उसके लिए मैं आप से क्षमा प्रार्थी हूँ। फिर भी इस ग्रन्थ को अध्ययन करके तथा चिन्तन करके लेशमात्र भी आप सबको लाभ हुआ तो मैं अपने को धन्य मानूगाँ और विद्वानों गुरुजनों के सुझाव मेरे लिए सतप्रेरणा ही नहीं बल्कि स्वागत योग्य भी होगी।

इस पुस्तक के प्रकाशन के समय अपने सद्‌गुरुद्वय स्व० श्री दुर्गादत्त त्रिपाठी तथा प्रोफेसर विश्वम्भर नाथ त्रिपाठी जी को कोटिशः नमन करता हूँ। जिन के ज्ञान से एवं आशीर्वाद से इस पुस्तक को लिख सका था। मुझे यह दुःख है कि इसे प्रकाशित रुप में देखने के लिए आज हमारे बीच में उपस्थित नहीं है। अतः उनकी पुन्य स्मृति में पुनः कोटिशः प्रणाम करता हूँ।

पूज्यपाद, परम श्रद्धेय विद्वत्तमूर्धन्य गुरुवर्य मनीषी, विद्या के सागर पूज्यपाद गुरुजी प्रोफेसर प्रभाकर शास्त्री, राजस्थानविश्वविद्यालय संस्कृत विभाग, को प्रणाम करते हुए मुझे अत्यन्त ही प्रसन्नता है कि मेरे निवेदन पर इस पुस्तक के लिए **सम्मतिपत्र** देकर इस पुस्तक के महत्व को बढ़ाया है और जिनका सहज स्नेह तथा आशीर्वाद मुझे छात्रावस्था से ही मिलता रहा है। पूज्यपादजी के चरणों कोटिशः प्रणाम करते हुए मैं अपना पुनीत कर्तव्य समझता हूँ।पूज्यपाद, परम श्रद्धेय प्रो० श्री युगलकिशोर मिश्र जी वेदविभागाध्यक्ष सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के चरणों में बार-बार नमन करते हुए हृदय नहीं भरता। वेद सम्बन्धी विषय पर अनुसन्धान कार्य करना वर्तमान समय में अत्यन्त ही दुसाध्य है। तथापि अधिकारी विद्वानों के आशीर्वाद पाकर यह कार्य सुगम हो जाता है। इसी परिप्रेक्ष्य पूज्यपादजी का आशीर्वाद तथा मार्गनिर्देशन समय-समय पर मिलता रहा है। मेरे प्रार्थना पर पूज्यपाद गुरुजी ने इस ग्रन्थ के महत्व को समझा और इस पुस्तक के लिए **सम्मति पत्र** देकर कृतार्थ किया है, मैं गुरुजी का आजीवन कृतज्ञ रहूंगा। समस्त शास्त्रों में पारङ्गत भगवत् सेवा परायण पूज्यपाद परमश्रद्धेय पं० श्रीराधाकृष्णशास्त्री प्राचार्य महाराजा संस्कृत कॉलेज को कोटिशः प्रणाम करते हुए मुझे प्रसन्नता है कि जिनके अनुशासन के आशीर्वाद से इस पुस्तक को शीघ्रातिशीघ्र प्रकाशन करने में प्रयास किया और मेरे निवेदन पर इस पुस्तक के लिए अपने **शुभाभिशंसनम्** पत्र देकर इस पुस्तक की गरिमा को गौरवान्वित किया है। मैं श्री प्राचार्यजी के चरणों में हार्दिक प्रणामाञ्जलि निवेदित कर रहा हूँ। परम श्रद्धेय प्रो० वाचस्पति उपाध्याय, दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली को कोटिशः प्रणाम करता हूँ। जिनके आशीर्वाद से यह ग्रन्थ आप लोगों के सामने है। पूज्य पाद डॉ० रमाशंकर मिश्रजी उपाचार्य लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ का आजीवन ऋणी हूँ जिनके सहज स्नेह तथा आशीर्वाद से यह पुस्तक आप लोगों के सामने है। ऐसे मनीषि विद्या के धनी पूज्यपाद जी के चरणों में मेरा कोटिशः प्रणाम है।

इसी श्रंखला में पूज्यपाद प्रो० वी०के० वर्मा जी, प्रो० एस०पी० सिंह जी, प्रो० अमरनाथ पाण्डेयजी, डॉ० श्री किशोर मिश्रजी, डॉ० रमेशचन्द्रदाश शर्मा, प्रो० डॉ० वृजबिहारी चौवे, प्रो० दयानन्द भार्गव, पं० वैजनाथ द्विवेदी, डॉ० राजदेव मिश्र, प्रो० मानसिंह, डॉ० के.पी.सिंह, डॉ० स्वामीनाथ पाण्डेय, डॉ० रामकृष्ण जायसवाल, प्रो० एस.पी.नगेन्द्र, प्रो० के.सी.आचार्य। प्रो० मण्डन शर्मा, डॉ० लम्बोदर मिश्र आदि ऋषिकल्प मनीषी विद्वानों को प्रणाम करते हुए मैं अपने को सौभाग्यशाली समझ रहा हूँ। बहुमुखी विद्वानों ने समय-समय पर अपने विचारों तथा सुझावों से मुझे सहायता प्रदान की है।

मेरे पूज्य पिता श्रीनारायणदाश एवं माता श्रीमतीचन्द्रमा देवी सहित मेरे ज्येष्ठ भ्राता तथा मेरे भाभीजी को प्रणाम है जिनके सहज स्नेह से यह पुस्तक प्रकाशित हो पाया है। साथ ही साथ मेरी पत्नी श्रीमती रुनूदेवी को साधुवाद देता हूँ।

पुस्तक के प्रकाशन के समय जिन मित्र बन्धुओं से प्रेरणा तथा अमूल्य सहयोग मिला है उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना मैं अपना आवश्यक कर्तव्य समझता हूँ। उनमें प्रोफेसर भास्कर शर्माजी, डॉ० रामनारायण झा, आचार्य दीपककुमार जी तथा श्रीप्रभातकुमारजी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। जिन्होंने निश्चल प्रेम और उद्धात् सहयोग से मुझे सर्वदा शीघ्रातिशीघ्र इस पुस्तक के प्रकाशन के लिये प्रेरित किया है।

इस पुस्तक के प्रकाशन से सम्बन्धित समस्त कार्यों को सम्पादन करने वाले पूज्यपाद गुरुवर्य प्रोफेसर उमेश शास्त्रीजी का मैं आजीवन ऋणी हूँ। जिनके सहज स्नेह तथा आशीर्वाद से यह पुस्तक आप लोगों के सामने हैं। मैं उनको प्रणामाञ्जलि अर्पित करना अपना पुनीत कर्तव्य समझता हूँ तथा उनके सहकर्मी पं० प्रदीपकुमारजी शर्मा को **कम्प्यूटर कम्पोजिंग व साजसज्जा** के लिए साधुवाद देता हूँ। जिनके अत्यधिक परिश्रम से यह पुस्तक प्रकाशित हो पायी है। मैं शर्माजी का हृदय से आभारी हूँ।

इस पुस्तक को लिखने में पर्याप्त सावधानी रखी गई है तथापि विषय की गम्भीरता, दुरुहता और उड़ीसावासी होने के कारण भाषा सम्बन्धी त्रुटि पर ध्यान नहीं देंगे और मुझे क्षमा करेंगे ऐसी प्रार्थना है।

॥ इमां वाचं कल्याणी मा वदानि जनेभ्यः ॥ वा०सं० २६/२

विदुषां अनुचर

(डॉ० उमेशप्रसाद दाश)
(व्याख्याता वेद)
राजकीय महाराजा संस्कृत कॉलेज
जयपुर (राज०)

अनन्तचतुर्दशी - २०५१

पुरो वाक्

'आर्य संस्कृति' मूलतः यज्ञप्रधान रही है। वैदिक वाङ्मय में समस्त 'ब्राह्मण ग्रन्थ' यज्ञ की महिमा में ही रचे गये हैं। यजुर्वेद संहिता का प्रसिद्ध ब्राह्मण ग्रन्थ 'शतपथ ब्राह्मण' यज्ञों की विस्तार से चर्चा करता है। यज्ञ का अनुष्ठान वैदिक काल से निरन्तर होता रहा है। वस्तुतः यह आर्यों का एक दैनन्दिन आयोज्य नित्यकर्म रहा है। महर्षि मनु ने लिखा है कि संकल्प से ही सब कुछ संभव है - **"यज्ञाः संकल्पसंभवाः"**। इसी क्रम में यह भी कथन महत्त्वपूर्ण है –

" अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिः वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥" (मनु० ३/७६)

अग्नि में डाली गई आहुति केवल वातावरण या पर्यावरण को ही शुद्ध नहीं करती, प्रभावित नहीं करती, अपितु उसके दूरगामी सुखद परिणाम होते हैं। वह आहुति द्रव्य सूर्य को प्राप्त होता है। सूर्य उसे वृष्टि में परिवर्तित कर देता है। वृष्टि होने से अन्नोत्पत्ति होती है तथा अन्न से ही प्रजा का परिपोषण होता है। **"अन्नं वै प्राणाः"** श्रुतिवाक्य यही संदेश देता है कि प्राणों की रक्षा प्रधानतः अन्न से होती है। इसीलिए अनेक वैदिक सूक्तों में यह संदेश दिया गया है - खेती करो, अन्न उपजाओ - 'कृषिमित् कृषस्व'। यही आर्यों का मूल तथा प्रमुख संदेश रहा है।

किसी भी कार्य का निष्पादन करने से पूर्व तीन बिन्दु विचारणीय होते हैं - श्रद्धा, वित्त और विधि। यदि कार्य के प्रति श्रद्धा नहीं है, तो उसका उचित फल प्राप्त नहीं होता। कार्य निष्पादन के लिए यथावश्यक वित्त भी अपेक्षित होता है और इन दोनों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण बिन्दु है 'विधि' अर्थात् कर्म निष्पादन पद्धति की प्रक्रिया का वास्तविक ज्ञान। यदि यह ज्ञान नहीं है तो कर्म सही रूप से निष्पन्न ही नहीं हो सकता। उस कर्म से यथोचित फल नहीं मिलता। फल प्राप्ति के अभाव में अश्रद्धा उत्पन्न होती है और वित्त के अपव्यय की भावना व्यक्ति को उस कर्म से हटा देती है। आधुनिक परिप्रेश्रय में जब हम चिन्तन करते हैं तो यह स्पष्टतः देखते है, आज लोगों की यज्ञ में आस्था क्षीण है। इसका प्रमुख कारण है - वे इसके वास्तविक महत्त्व से परिचित नहीं है। आर्यों ने वैदिक काल में सामाजिक व्यवस्था के व्यवस्थित संचालन हेतु ही चार वर्ण एवं चार आश्रम बनाये गये थे। सभी वर्णों की उत्पत्ति विराट् पुरुष के विभिन्न अंगों से मानते हुए शतायुष्द की कल्पना से व्यवस्थित जीवनयापन हेतु उसे चार आश्रमों में विंभक्त किया गया था। वर्णों के लिए कर्म निर्धारण किया था तथा मुख्यतः ब्राह्मण वर्ग को यह दायित्व सौंपा था कि वह 'यज्ञ' का सम्पादन करे, व्यक्तिगतरूप से तथा सामाजिक रूप से। इसीलिए मनुस्मृति में कहा गया है —

" अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥" (मनुः१/८८)

अध्ययन-अध्यापन, यज्ञ करना तथा यज्ञ करवाना, दान देना तथा प्रतिग्रह लेना - ये ६ प्रमुख कर्म ब्राह्मणो के लिए निर्धारित थे। इन कर्मों के आचरण के कारण ही ब्राह्मण को सभी वर्णों में श्रेष्ठ घोषित किया गय था। प्रत्येक सद्गृहस्थ के लिए श्रौत तथा स्मार्त कर्मों के अनुष्ठान हेतु अग्निस्थापन करना होता था। इन अग्निये के भी विशिष्ट नाम थे - गार्हपत्याग्नि, आहवनीयाग्नि, दक्षिणाग्नि। इस प्रकार ब्राह्मण चाहे जिस आश्रम में रहत था, यागादि क्रियाओं में अधिक समय संलग्न रहता था। धर्मसूत्रों, स्मृतिग्रन्थों एवं निबन्ध ग्रन्थों के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि ब्राह्मण निस्वार्थ रूप में अपने कर्म निष्पादन में लगा रहता था और यहीं कार था कि वह सर्वोच्च सम्मान से सम्मानित था।

यज्ञों के विधिसम्मत सम्पादनार्थ विशिष्ट साहित्य का सर्जन हुआ, इनमें ब्राह्मण ग्रन्थों के अतिरिक श्रौतसूत्र व अन्य ग्रन्थ भी प्रसिद्ध हैं। यज्ञों से इहलौकिक अभ्युदय तथा पारलौकिक निश्रेयस् की प्राप्ति बतला गई है। मीमांसा दर्शन में प्रमुखतः वैदिक यज्ञ-यागादि की ही प्रमुखतः चर्चा है तथा यह कहा गया है कि य निष्पादन से 'अपूर्व' की उत्पत्ति होती है। यह अपूर्व ही व्यक्ति के मरणोपरान्त उसके लिए परमोपयोगी है इसे "भाग्य"की संज्ञा भी दी जा सकती है या 'पूर्वोपार्जित पुण्य' भी कहा जा सकता है। यही पुण्य परलो में व्यक्ति का संबल माना गया है। इस दृष्टि से प्राचीन काल में मानवमात्र की यज्ञ में प्रवृत्ति थी, ताकि व उसके माध्यम से पुण्यार्जन कर सके। एक सद्गृहस्थ के लिए प्रतिदिन घर में होने वाली हिंसा निवृत्ति के लि पंच महायज्ञों का विधान भी यह संकेत करता है कि यज्ञों के प्रभाव से हिंसा दोष नहीं लगता। महर्षि मनु प महायज्ञों के लिए किये जाने वाले विधान पर सहेतु चर्चा करते है।

" वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्म यथाविधि।
पञ्चयज्ञविधानं च पक्तिं चान्वाहिकीं गृही॥
पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्लीपेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्॥
तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः।
पञ्च क्लृप्ताः महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्॥
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥"(मनु० ३/६७-७०)

यह बात तो है स्मार्त यज्ञों से संबद्ध, जो सर्वसामान्य गृहस्थ की इष्टि से उपादेय है। परन्तु जो लं यज्ञों के माध्यम से अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति करना चाहते थे, वे प्रमुख श्रौतयागों के निष्पादन में प्र होते थे। इनमें ज्योतिष्ठोम, सोमयाग, वाजपेय, अश्वमेधा, राजसूय आदि लोकप्रसिद्ध श्रौत याग हैं। वैदिक वाङ् में जहां इनका विवरण मिलता है, वहीं फलश्रुति का भी उल्लेख मिलता हैं - जैसे - "ज्योतिष्ठोमेल य पथुकामः"इत्यादि।

इन श्रौतयागों के निष्पादन के लिए व्यक्ति को प्रतिदिन इष्टियां करनी पड़ती थीं। इसकी प्रति अमावा एवं पूर्णिमा की पूर्ति होती थी, जो दर्शेष्टि या पौर्णमासेष्टि कहलाती थी। ऐसी अनेक इष्टियों के पश्चात् प्र

श्रौतयाग किया जाता था, विधान के अनुसार - **"पक्षान्ता उपवस्तव्याः पक्षाद्या यष्टव्याः। पर्वणो यश्चतुर्थांश आद्यः प्रतिपदस्त्रयः। यागकालः स विज्ञेयः प्रातरुक्तो मनीषिभिः। प्रतिपत्तुर्य चरणेन यष्कामेति स्थितः।"** इत्यादि कथन दर्श-पौर्णमासेष्टि के विधान का प्रतिपादन करता है तथा इसी विधान से इष्टिकर्म करने पर वह सफल कर्म माना जाता था।

संस्कृतभाषा में तो यज्ञविधान पर पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है, परन्तु हिन्दी भाषा में अधिकृत सामग्री का नितान्त अभाव सा प्रतीत होता है। यद्यपि इस विषय पर अनेक महत्त्वपूर्ण शोध प्रबन्ध भी लिखे गए है, परन्तु सौभाग्य से ही कोई शोध-प्रबन्ध प्रकाशित हो पाता है। मैं डॉ० उमेशदाश को इसलिए साधुवाद एवं शुभाशीर्वाद प्रदान करता चाहता हूँ कि इन्होंने सत्यनिष्ठा से शोधकार्य सम्पन्न किया तथा लगन से उसे प्रकाशित करने का दृढ़ संकल्प लिया।

डॉ० उमेशदास से मैं तब से परिचित हूँ, जब से अपनी जन्मस्थली से सूदूर स्थान फैजाबाद-अयोध्या में रहकर वैदिक वाङ्मय के निष्णात् आचार्यों की सन्निधि में रहते हुए शोधकार्य कर रहे थे। इनके शोध-प्रबन्ध का विषय- साम्प्रतिक संदर्भ में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं उपादेय है। विषय है - **'दर्श पौणमास याग'**।

नौ अध्यायों में विषय की रूपरेखा को विभक्त कर डॉ० दाश ने श्रौतयागों के मुख्यद्वार अमावस्या एवं पूर्णिमा को क्रियारूप, दृष्टिरूप याग का सांगोपांग शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया है। प्रथम अध्याय में दर्शपौर्णमास याग का सामान्य परिचय दिया है, जिसे पढ़कर प्रत्येक यागप्रेमी इस याग के वास्तविक स्वरूप को समझ सकता है तथा इसके अनुष्ठान में अपनी प्रवृत्ति बना सकता है। इस अध्ययन में डॉ० दाश ने पाक यज्ञों एवं श्रौतयज्ञों की चर्चा करते हुए प्रकृति विकृति यागों पर प्रकाश डाला है। साथ ही इस याग का अर्थ समझते हुए प्रयोग काल पर भी चर्चा की है। याग में प्रयुक्त होने वाले अनेक पारिभाषिक शब्दों, जैसे - अन्वाधान, अन्वारम्भणीय इष्टि, उपवसथ, व्रतोपायन, इध्म आदि का भी विश्लेषण किया है। द्वितीय अध्याय से लेकर पंचम अध्याय तक इस याग से सम्बद्ध सामान्य अनुष्ठान की चर्चा है। इसके प्रमुख विवेच्य विषयों में ब्रह्मा-वरण, प्रणीता-प्रणयन, पात्रासादन, हवि-निर्वाप, हवि प्रोक्षण, पुरोडाशकरण, हविपेषण, कपालोपधान, अन्वाहार्य पाचन, वेदी संरचना, स्तम्बयजुर्हरण, स्रुव् स्रुक् आदि का सम्प्रोक्षण उल्लेखनीय हैं।

तृतीय अध्याय में भी इसी सामान्य अनुष्ठान पद्धति की अग्रिम चर्चा है। इसका शुभारंभ पत्नी सन्नहन कर्म से किया गया है। आज्योत्पवन, पुनराज्यावेक्षण, जुहू में आज्य ग्रहण, इध्मवर्हि प्रोक्षण, प्रस्तर ग्रहण, वर्हिस्तरण, परिधिनिधान, समिधाधान, विधृति निधान, कपालोद्वासन, सामिधेनी, निवत् पाठ, देवतावाहनम्, शान्तिकर्म प्रवरण कर्म, होतृवरण, स्रुगादापन, प्रयाज, आदि की विशिष्ट विवेचना की है। इसी प्रकार चतुर्थ अध्याय में 'प्रधानयाग' की विवेचना के साथ सान्नाय्य याग, द्वादशकपाल, नारिष्ठहोम, आदि का विश्लेषण है। पंचम अध्याय में स्विष्टकृत् याग और उसकी विधि, आग्नीध्र भाग, परिधि होम, पत्नी संयाज, आदि पर विवेचना है। षष्ठ अध्याय में दर्श पौर्णमास याग से संबद्ध अन्यान्य इष्टियों - यथा - प्रायश्चित्तेष्टि, वैमृध इष्टि, अदिति इष्टि, काम्येष्टि तथा पिण्डपितृयज्ञ का विस्तार से चचा है। सप्तम अध्याय में डॉ० दाश ने दर्श पौर्णमास याग से सम्बद्ध सामान्य अनुष्ठानों की प्रतीक व्यञ्जना पर प्रकाश डाला है। यह अध्याय शोध की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए यह अध्याय पाठकों के लिए विशेष रूप से अध्येतव्य है। इसमें विभिन्न कर्मों व पारिभाषिक शब्दों से व्यवहार्य कर्म की प्रतीक व्यञ्जना ज्ञातव्य है। इस व्यञ्जनाभिव्यक्ति में डॉ० दाश की मौलिक चिन्तन शैली की उद्‌भावना होती है।

अष्टम अध्याय में डॉ० दाश ने दर्श पौर्णमास याग से सम्बद्ध मिथक् अर्थात् इतिहास कक्ष को उजागर किया है। वैदिक वाङ्मय को प्रमाणित मानकर इसे प्रस्तुत किया गया है, जो स्वतः प्रमाण है।

नवम अध्याय में दर्श पौर्णमास याग की अर्थवत्ता एवं फलश्रुति पर विवेचना की गई है। जैसा कि कहा जा चुका है, प्रत्येक व्यक्ति को कर्म विशेष में आकृष्ट करने के लिए उसकी विशेषताओं के निरूपण के साथ साथ फलश्रुति पर भी प्रकाश डालना आवश्यक होता है इसी दृष्टि से उपसंहारात्मक यह विवेचन महत्त्वपूर्ण हैं, इसमें कोई संदेह नहीं।

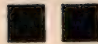
शोधकार्य के अन्त में तीन परिशिष्ट भी जोड़े गए हैं, जिनमें अनेक चित्र महत्त्वपूर्ण व ज्ञानवर्धक हैं।

"नामूलं लिख्यते किञ्चित्, नानपेक्षित मुच्यते" सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में डॉ० उमेश दाश ने विषय के प्रतिपादन में सर्वत्र प्रमाण प्रस्तुत किये हैं तथा आवश्यक विवेचन विश्लेषण किया है। कहीं पर भी अनर्गल प्रलाप नहीं किया है।

मैं यज्ञकर्म परिचायक इस विशिष्ट ग्रन्थ के सप्रमाण प्रकाशन पर डॉ० उमेशदाश को शुभाशीर्वाद प्रदान करते हुए उनके भावी मंगलमय जीवन की शुभकामना करता हूँ।

(प्रो० डॉ० प्रभाकर शास्त्री)
साहित्य-धर्मशास्त्राचार्य, एम०ए०, पी०एच०डी० लिट्
वरिष्ठ प्रोफेसर संस्कृत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय
एवं निदेशक, राजस्थान संस्कृत अकादमी - जयपुर

अनन्त चतुर्दशी सं० २०५१



पुरो वाक्

भारतीय आर्ष चिन्तन में "यज्ञ" ब्रह्मांड में निरन्तर चल रही सर्जना का प्रतीक है। अतएव सृष्टिचक्र का साक्षात् सम्बन्ध यज्ञ से है। वैदिक ऋषियों के अनुसार ब्रह्माण्ड में निसर्गतः अनुष्ठित हो रहे यज्ञ के अग्नि होता, वायु, अध्वर्यु, सूर्य उद्गाता, चन्द्रमा ब्रह्मा, पर्जन्य सदस्य, वसन्त ऋतु आज्य, ग्रीष्म ऋतु इध्म और शरद ऋतु हवि है। इस प्राकृत यज्ञ से आप्यायित हो यह सृष्टि चिरन्तन काल से ऊर्जस्विनी और पयस्विनी चली आ रही है।

ब्रह्माण्ड का ही वामन स्वरूप यह मनुष्यपिण्ड है। अतः इन दोनों का आधाराधेयभाव सम्बन्ध शास्त्रकारों ने स्थिर किया है। ब्रह्माण्ड में जिस प्रकार यज्ञ की निरन्तर प्रक्रिया प्रवर्तित है उसी प्रकार पिण्ड शरीर में भी यज्ञ की नैसर्गिक प्रक्रिया प्रवर्तित है। इस पिण्ड में नेत्र सूर्य स्थानीय, प्राण वायु स्थानीय, हृदय आकाशस्थानीय, शरीर पृथ्वीस्थानीय, अस्थियां समित्स्थानीय, रेतस् घृत स्थानीय और षट् रस हविस्थानीय है और इन तत्वों के उपादान से शरीर में अवस्थित यजमान स्थानीय आत्मतत्त्व द्वारा अहर्निश यज्ञ प्रक्रिया प्रवर्तित है। इसी भाव को स्पष्ट करते हुए छान्दोग्योपनिषद् का कथन है –

"पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशति वर्षाणि तत्प्रातः सवनम्, यानिवतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनं सवनम्, यान्यष्टा चत्वारिंशद्वर्षाणि तत्तृतीयसवनम्।"

मनुष्य अपने जीवन-यज्ञ के तृतीय सवन में पहुंच कर अपने जीवन यज्ञ की पूर्णता कर लेता है। शास्त्रकारों ने यहां विशेष बल देते हुए कहा है कि मनुष्य के अध्यात्म में जो यह यज्ञ प्रवर्तित है यदि इसी के अनुरूप वह बाह्य जगत् में भी अपने ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्दियों द्वारा दैनन्दिनचर्या का संगतिकरण "वैकृत यज्ञ"(देवपूजा, सत्कर्म एवं दान) के माध्यम से कर लेता है तो वह अपुनर्भव प्राप्त कर लेता है। यही मनुष्य जीवन की सार्थकता या चरम पुरुषार्थ साधन है तथा सृष्टि के साथ तादात्म्य की स्थापना है।

भारतीय संस्कृति के इस आर्ष रिक्थ को विकिरित करने के उद्देश्य मे मेरे अन्तेवासी डा० उमेश प्रसाद दाश द्वारा संग्रथित यह ग्रन्थ सहायक बने, यह कामना है। मैं डा० दाश को इस कृति के लिये आशीर्वादभरित साधुवाद देता हूँ।

(युगल किशोर मिश्र)
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष - वेद विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी (राज००)

श्री कृष्णाजन्माष्टमी २०५१
दि० — २८-८-९४

शुभाभिशंसनम्

श्रुतौ वैदिक कर्मणः पञ्चविधत्वं प्रतिपादितम् - "स एषयज्ञः पञ्चविधोऽग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमासौ चातुर्मास्यानि, पशुः सोमः" किन्तु स्मृतावेक विंशति यज्ञकर्माणि निरुपितानि। तद्यथा –

"औपासनहोमः, वैश्वदेवम्, पार्वणम्, अष्टका, मासिश्राद्धम्, श्रवणा, शूलगवः - इति सप्तपाकयज्ञ संस्था, अग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमासौ, आग्रयणम्, चातुर्मास्यानि, निरुढपशुबन्धः, सौत्रामणी, पिण्डपितृयज्ञादयोदर्वि होमाः – इति स प्रहविर्यज्ञ संस्था, अग्निषोमः, अत्यग्निष्टोमः, उक्थ्यः, षोड़शी, वाचपेयः, अतिरात्रः आप्तोर्यामः – इति सप्तसोम संस्थाः।"

अत्र सप्तपाक यज्ञ संस्थाः स्मार्ताः, स्मृतावेव गृह्यसूत्रेषु तासां निरुपणं कृतम्, श्रौतसूत्रकारेण न निरूपितास्ताः। सोम सम्बन्धात्रावादग्निहोत्रादि सप्तहविर्यज्ञा इत्युच्यन्ते। सप्तहविर्यज्ञेषु दर्श-पूर्णमासस्यानुष्ठानं ह्यमावास्यायां पौर्णमास्याञ्च क्रमशः संजायतेऽत एव दर्शपूर्णमासाख्या विश्रुतिरस्यवर्तते यद्यप्यत्र "दर्शपूर्णमासौ" - इति द्विवचनमेवेदमुपलभ्यते तथापि दर्शपूर्णमासो समुदायैकत्वेनास्यगणना विधीयते।

अस्तु "करालेऽस्मिन् कलिकाले साम्प्रतिके युगे श्रौतयज्ञानामनुष्ठानं लुप्तप्रायमेवाव लोक्यते, तथापि –"

"एकः शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यगज्ञातः स्वर्गे लोके च कामधुगूलवती ति वचना दर्शपूर्णमास सदृश श्रुति - प्रतिपादित यज्ञ विषयकोप पत्तिकं ज्ञानमतीवात्मश्रेयसेस्यादेवे त्यस्यां दिशि राजकीय महाराज आचार्य संस्कृत महाविद्यालये वेद-प्राध्यापकेन विदुषोमेश प्रसाद दाशेन ब्राह्मणग्रन्थेषु दर्शपूर्णमासयागः – इत्यभिधेयं ग्रन्थं –"विलिख्य।

श्रौतसूत्रग्रन्थग्रन्थिभेदनस्य प्रशस्यतमः प्रयासः कृतः। नवोदि विद्याः बुद्धि विलक्षणो विचक्षणोऽयमुमेशदाशो वस्तुतः स्वाध्यायाभ्यासशीलः सुशीलोऽध्यवसायी शास्त्रव्यवसायी विनयाचवर्णनेऽस्यशूलोदर्कं जैवातकत्वञ्चात्रिशं समानोग्रन्थोऽयमस्य श्रौतसूत्र ग्रन्थेषु हवि विक्ष्वूयां तत्तत्पदार्थ जिज्ञासूनाञ्चकृते भृशमुपकारको भविष्तीत्याशया नितरां प्रचार-प्रसारं कामयतेऽयञ्जनः।

(आचार्य पं० राधाकृष्ण शास्त्री)
प्राचार्यः
महाराजा संस्कृत कॉलेज
जयपुर (राज०)

अनन्तचतुर्दशी - १८-९-९४

■

ब्राह्मण ग्रन्थों में दर्शपौर्णमास याग

अनुक्रमणिका

परिशिष्ट

■■

प्रथम–अध्याय

विषय–प्रवेश

दर्शपौर्णमास याग का सामान्य परिचय

१ }

यज्ञ

धातु
का स
अर्थ
यज्
प्राची
के स
से, य
होता
जान
होक

वह

प्रथम-अध्याय

विषय - प्रवेश

(दर्शपौर्णमास याग का सामान्य परिचय)

यज्ञ शब्द का अर्थ तथा यज्ञ की अवधारणा : ––

दर्श पौर्णमास इष्टि का व्याख्यान करने से पूर्व यज्ञ के अर्थ का बोध आवश्यक है। यज्ञ शब्द "यज्[१]" धातु से निष्पन्न होता है। "यज्" का अर्थ है —देवपूजा, सङ्गतिकरण तथा इन तीनों अर्थों में देव शब्द का सम्बन्ध पूजा, सङ्गतिकरण तथा दान से जोड़ना युक्तिसंगत प्रतीत होता है। इस प्रकार "यज्" धातु का अर्थ हुआ—देव की पूजा, देव के साथ संगतिकरण तथा देव के लिए दान यद्यपि इन तीनों अर्थों में ही विद्वान् यज् शब्द के अर्थ का अन्वेषण करते है।[२] तथापि यज्ञ की अवधारणा से ज्ञात होता है कि "यज्" धातु का प्राचीन अर्थ देव के साथ यजमान का सङ्गतिकरण ही है।[३] संगतिकरण का तात्पर्य है यजमानका पिण्ड का —ब्राह्माण्ड के साथ सम्बन्ध स्थापित करना। इसी को दृष्टि में रखकर याज्ञवल्क्य[४] का कथन है कि जो यज्ञ से, ऋचाओं से, यजुषों से तथा आहुतियों से देवों को प्रसन्न करता है, वह उन्हें प्रसन्न कर उनमें भागीदार बनकर प्रतिष्ठित होता है। महिदास ऐतरेय[५] ने प्रवर्ग्य इष्टि के प्रसङ्ग में कहा है कि जो व्यक्ति इस प्रवर्ग्य के अनुष्ठान को ठीक-ठाक जानता है तथा जो इसके द्वारा यजन करता है, वह ऋङ्मय, यजुर्मय, साममय, वेदमय, ब्रह्मय, तथा अमृतमय होकर देवताओं के पास पहुँच जाता है। इन दोनों उद्धरणों से सङ्गतिकरण का अर्थ प्रमाणित हो जांता है।

वैदिक संस्कृति में यज्ञ का अत्यधिक महत्त्व है[६] यज्ञ ऋषियों की साधना से उत्पन्न ऋतम्भरा प्रज्ञा का वह आलोक है, जिससे संस्कृति का अणु परमाणु प्रद्योतित है[७]। ऋग्वेद से यह सिद्ध होता है कि पौरुष यज्ञ

१. सायण, मा.धा.वृ. १,७२४, श.अ., ३.३.९०, यज्ञ शब्द की व्युत्पत्ति के लिए द्रँ. भानुजि दीक्षित, सुधा टीका अमर सिंह, अ.को., २.७.१३, राधाकान्त स्यारदेव, श.क.द्रु.', भाग ४, पृ. ६ वाचस्पत्यम्, भागं ६,पृ. ४७७६, युधिष्ठिर मीमांसक, मी.शा. भा., प्रथम भाग, भूमिका पृ. ८७ मो. वि. डिक्शनरी पृ. ८३८-८३९।

२. द. युधिष्ठिर मीमांसक, मी.शा.भा., प्रथम भाग, भूमिका पृ. ८७।

३. प्रो० डॉ० विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी, " अग्निचयन" (सम्पूर्णानन्द सं० विश्वविद्यालय से प्रकाशित) पृष्ठ २१७—२१८।

४. श.ब्रा., १.९.१.३ —— देवान्वाऽएष प्रीणाति यो यजातेऽएतेन यज्ञेनऽर्ग्भिरिव त्वद्यजुर्भिरिव त्वदाहुतिभिरिव त्वत्स देवान् प्रीत्वा तेष्वपित्वी भवति।

५. ए.ब्रा., १.२२- "ऋङ्मयो यजुर्मयः साममयो वेदमयो ब्रह्ममयोऽमृतमयः सम्भूय अप्येति य एवं वेद यश्चैवं विद्वानेतेन यज्ञ क्रतुना यजते।"

६. लक्ष्मण शास्त्री जोशी, वैदिक संस्कृति का विकास।

७. ऋसं., १०.९०

से ही सारी सृष्टि हुई।देवों ने यज्ञ से यज्ञ का यजन कर सृष्टि की[१] यज्ञ इस सृष्टि चक्र का मूल केन्द्र है[२]।इसी को दृष्टि में याज्ञवल्क्य ने यह कहा है कि जो निरन्तर इस सृष्टि चक्र को गतिशील रखता है, यह "यञ्ज"[३] है। "यञ्ज्" यज्ञ का ही परोक्षाभिधान है। इस विश्व में जो भी क्रियायें की जाती हैं, उसके केन्द्र में मनुष्य स्थित है। इस तथ्य को पाश्चात्य विद्वान् टालकाट् पार्सन्स्[४] ने भलीभाँति प्रमाणित किया है। यज्ञ एक क्रिया है, एक अनुष्ठान है, अतएव उसके केन्द्र में भी मनुष्य की स्थति मान्य है। यह विश्व द्वान्द्वात्मक है।लौकिक तथा पवित्र अथवा अलौकिक, पदार्थों से यह संसार परिव्याप्त है।[५] यज्ञ लौकिक को पवित्र तथा अलौकिक बनाने की एक प्रक्रिया है। याज्ञवल्क्य ने मनुष्य के तीन जन्मों को बताया है[6]। वह पहले अपने माता पिता से जन्म लेता है, तदनन्तर वह यज्ञ से उत्पन्न होता है तथा अन्त में उसकी उत्पत्ति मृत्यु से होती है। इस ब्रह्माण्ड से एकात्मता स्थापित करने के लिए प्राचीन वैदिक ऋषियों ने जिस मार्ग का अन्वेषण किया था, वह यज्ञ है। इस दृष्टि से अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने अध्वर शब्द की व्युत्पत्ति मार्ग वाचक "अध्वा" शब्द से किया है।[७] ऐतरेय ब्राह्मण में यज्ञ को सुतर्मा नौका बताया गया है[८]। ऋषिगण यज्ञ में व्यष्टिचैतन्य को समष्टि चैतन्य में अन्तर्हित कर देते थे।इसीलिए एक मन्त्र में कहा गया है कि मैं अनृत के पास से हटकर सत्य के समीप पहुँच रहा हूँ[९]।

जब यज्ञ की अग्नि प्रज्ज्वलित होती है, तभी ऋत का सन्धान होता है। ऋत के द्वारा ही मनुष्य उदात्त तम होता है। इसी को दृष्टि में रखकर ऋषि प्रजापति ने ऋग्वेद में कहा था कि अग्नि के अच्छी तरह से प्रज्ज्वलित हो जाने पर मैं केवल ऋत की ही बात करूंगा[१०]। यज्ञ के सम्बन्ध में यह धारणा बलवती है कि हम देवता को यदि हवि देंगे तो वह विनिमय में हमको कुछ देगा। याज्ञवल्लक्य ने इस विषय में बहुत अच्छा विचार प्रस्तुत किया है [११]। ऋषि प्रश्न करता है कि आत्मयाजी तथा देवयाजों में कोन श्रेष्ठ है। ऋषि इसका अन्तर भी प्रस्तुत करता है कि इन दोनों में आत्मयाजी ही श्रेष्ठ है। यजमान जब इस भावना से यज्ञ करता है कि यज्ञ में इस अनुष्ठान से मेरे इस अंङ्गकी देवी संरचना हो रही है। तब वह आत्मयाग करता है न कि देवयाग। इस दृष्टि से पूर्व कथित यज्ञ से जन्म की बात सार्थक होती है।

इस प्रकार यज्ञ अनृत से सत्य की ओर, असुरत्व से देवत्व की ओर, अनर्हता की ओर तथा व्यष्टि चैतन्य से ब्रह्माण्ड चैतन्य की और ले जाने वाला एक श्रेष्ठतम कर्म है[१२]। इस दृष्टि से श्रेष्ठ शब्द में याज्ञवल्क्य

---

१. तदेव, १०.९०.१६- यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा: , तु. अ. सं. ७.५०१, वा.सं., ३१.१६, तै.सं. ३.५.११.५, मै. सं ४.१०.३, का. सं. १५.१२ आदि।

२. ऋसं., १.१६४.३५- अयं यज्ञो भुवनस्य नाभि:, तु. असं. ९.१०.१४, वा. सं., २३.६२।

३. श.ब्रा. ३.९.४.२३– स यज्ञायते तस्माद्यज्ञो यज्ञो ह वै नामैतद्यज्ञ इति।

४. पार्सन्स् और शिल्ज़् टुवर्डस् ए जनरल थियरी आफ् एक्शन्, हार्पर टार्च् बुक्स्, न्यूयार्क् १९६२।

५. इमाइल् दुर्खीम्, दी इलमेण्टरी फार्मस् आफ् दी रिलीज्स लाइफ् कालियर् बुक्स्, न्यूयार्क, १९६१, पृ० २४।

६. श. ब्रा., ११.२.१.१,- त्रिर्ह वै पुरुषो जायते। जै. उ° ब्रा. ३.३.१।

७. खोंदा, अध्वर, ज. वि. वे. रि इं.।

८. ऐ. ब्रा., १.१३—यज्ञो वै सुतर्मा नौ: सुतर्मा का अर्थ है— अच्छी तरह से चमड़ा से मढ़ी हुई।

९. वा. सं., १/५, इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि।

१०. ऋ सं., ३.५५.३—समिद्धेऽग्नौ ऋतमिद् वदेम।

११. श. ब्रा., २.६.१३-१४, द्र. आनन्द कुमार स्वामी, आत्मयज्ञः सेल्फसेक्रीफाइस्, से. पे., भाग २, पृ. १०८।

१२. श.ब्रा. १.७.१.५, यज्ञो वै श्रेष्टतम कर्म, तै.ब्रा. ३.२.१.४, द्र. वा. सं. १.१, महीधर भाष्य १.१।

ने अतिशायी अर्थ बताने वाले "तमप्" प्रत्यय को पुनः संयुक्त किया[१]।

महीधर माध्यन्दिन संहिता की प्रथम कण्डिका में चार प्रकार के कर्मों का उल्लेख करते हुए यज्ञ को सवोत्तम कहते हैं[२]। लक्ष्मण शास्त्री जोशी ने यज्ञ को भारतीय जीवन का दर्शन बताया है[३]। यज्ञ की महत्ता की दृष्टि से जापानी विद्वान काजमा अग्निचयन को सम्पूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति कहते हैं[४]।

यज्ञ का पुरावृत्त तथा सातत्य :—

यह सर्व विदित सत्य है तथा जैसा पहले कहा जा चुका है कि भारतीय संस्कृति, आचार-विचार तथा अनेक लौकवृत्त वेदमूलक है। वेद को अपौरुषेय मानने वाले विद्वान् वेद को नित्य मानते हैं[५]। जो लोग वेद को ऋषियों का दर्शन न मानकर पौरुषेय मानते हैं, उनके मत से भी यज्ञ की परम्परा बहुत प्राचीन है। महर्षि कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास के द्वारा वैदिक संहिताओं के संकलन के पूर्व भी समाज में यज्ञों की स्थिति भी और यज्ञों के प्रयोग किये भी जाते थे। आधुनिकों के मतानुसार ऋग्वेद के अत्यन्त प्राचीन अंश वंशमण्डलों (२से ७ मण्डल तक) में भी यज्ञ से सम्बन्धित अनेक शब्दों का प्रयोग मिलता है। होतृ, होत्र तथा होतृ सदन शब्दों का ऋग्वेद में उल्लेख हुआ है[६]। इसी प्रकार पोता तथा पोतृ शब्द का भी वर्णन है[७]। इसी प्रकार नेष्ट[८], अग्नित[९], प्रशास्त्र[१०], तथा ब्रह्मा शब्द भी ऋग्वेद संहिता में आया है। ये सभी शब्द पुरोहितों को बताते हैं[११]। यज्ञ से सम्बन्धित अन्य शब्द अध्वर, आहुति, हवि[१२], धृत, हव्यस्वाहाकृत[१३] त्रिकद्रक्[१४], उदगाता, सोम, ब्रह्मपुत्र[१५], प्रातःसेवन,

---

१. श्रेष्ठ शब्द अतिशयेन प्रशत्यः- जो अत्यन्त प्रशस्त हो , में ४१ ।अ- ५.३.५५,- अतिशायने तमविष्ठनौ तथा ४१.अ. ५.३.६०- प्रशस्यस्य श्रः सूत्र से इष्ठन् प्रत्यय लगाकर बनता है। फिर श्रेष्ठ जो स्वयम् अतिशायी है, इसमें पूर्व उद्धृत "अतिशायने —" सूत्र से तमप् प्रत्यय लगा दिया है। इस प्रकार यज्ञ की अतिशायीता को द्योतित करने के लिए अतिशायिता द्योतक- "इष्ठ्न " "तथा" "तमप्" प्रत्यय लगाने से यज्ञ की सर्वोत्कृष्टता द्योतित होता है।

२. महीधर भाष्य वा. सं. ११- चतुर्विधं कर्म।
अप्रशस्तम्, प्रशस्तं, श्रेष्ठम्, श्रेष्ठतमञ्चेति——यज्ञरूपं श्रेष्ठतममिति।

३. लक्ष्मणशास्त्री जोशी, वैदिक संस्कृति का विकास।

४. तोशिओ काजमा ज. ई. बु. ११. (१), जनवरी, पृ. ७३, पृ. ३१५-३१९, परफैक्शन् आफ् लाइफ इन् दि ब्राह्मण्ज् दि थॉट आफ् अग्निचयन।

५. वेद के अपौरुषेय होने के सम्बन्ध में द्र. जयन्त भट्ट, न्यायम जरी, प्रथम भाग, पृ.३२७. वाराणसी, १९८२।

६. होतृन—ऋग्वेद संहिता २.३४.१४, होत्रम् —२.१.२, ३.१७.२, होतृसदने—२.९ ।११

७. ऋ सं., २.५.२, ४.९.३, ७.१६.५, २.१.२१

८. ऋ सं.– २.१२

९. ऋ सं.–२.१.२

१०. ऋसं.–२.१.२

११. ऋ सं. –२.१.२, ४.९.४ आदि

१२. ऋ सं.—२.१.१३

१३. ऋ सं.—२.२.११

१४. ऋ सं.–२११.१३, २.१५.१, २.२२.१

१५. ऋ सं.—२.४२.२

हवि, पुरोडाश[१], माध्यन्दिनसवन[२], तृतीयसवन[३], धर्म[४], आदि का ऋग्वेद में वर्णन किया गया है। यह सन्देह नहीं किया जा सकता है कि ऋग् संहिता में इन शब्दों का समावेश उत्तरकाल में कभी किया गया होगा[५], क्योंकि वंशमण्डलों की प्राचीनता पाश्चात्य विद्वानों ने भी स्वीकार किया है[६]।

उपर्युक्त कथ्य के परिप्रेक्ष्य में यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि जिस समय वेदव्यास ने वैदिक संहिताओं का संकलन किया था। उस समय तथा उसके पहले भी यज्ञ संस्था का अच्छा प्रचार-प्रसार था, अन्यथा विशिष्ट अर्थों में प्रयुक्त होने वाले उल्लेखा नहीं होता। इसी तरह से सामवेद संहिता में केवल कुछ नये मन्त्रोंके प्रयोग का ही आधिक्य दृष्टिगत होता है, अन्यथा ऋग्वेद में आये हुए मन्त्रों की ही सामवेद में संकलन किया गया है। इस प्रकार यह सुनिश्चित हो जाता है कि ऋग्वेद की रचना के बहुत पहले भारतीय समाज तथा संस्कृति में यज्ञ किये जाते थे। यज्ञों की दीर्घकालीन परम्परा तथा समाज में प्रचलन के कारण कृष्ण द्वैपायन ने होता, अध्वर्यु उदगाता— तथा ब्रह्मा नामक ऋत्विजों की सुविधा के लिए चारों संहिताओं का संकनल किया[७]। अनुवर्तीकाल में यह यज्ञ संस्था सहस्त्र शाखाओं से युक्त होकर अक्षयवट बन गयी[८]।

यज्ञ के पुरावृत्त तथा सातत्य के सम्बन्ध में आधुनिक विद्वानों ने अपने विविध विचारों को प्रस्तुत किया है। इस सम्बन्ध में प्रो. हॉग के मतानुसार ऋग्वेदिक काल में यज्ञ पूर्ण रूप से विकसित हो गया था, साथ ही इसके प्रतीकात्मक रहस्यों का उद्‌घाटन भी हो चुका था। उन्होंने अवेस्ता से तुलना करते हुए यज्ञ के विकास की प्रक्रिया को उचित माना है। ब्लूमफील्ड[९] के मतानुसार वैदिक कविता यज्ञ प्रधान है तथा ऋग्वैदिककाल के पूर्व यज्ञ का विकास पूर्ण रूप से हो गया था। आर्थर ए. मैकडानल[१०] का कहना है कि ऋग्वैदिककाल में, ब्राह्मण ग्रन्थों में वणिति यज्ञ का विधान पूर्ण रूप से प्रचलित था। इसका समर्थन करते हुए प्रो. देशमुख[११] का कहना है कि ऋग्वैदिककाल में सोमयज्ञ का पूर्णतया प्रचार-प्रसार था। प्रो. कीथ[१२] के अनुसार ऋग्वेद में वर्णित यज्ञ का विधान अधूरा है, जिसकी पूर्ति परवर्ती संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों से होती है किन्तु इस सम्बन्ध में एच ओल्डनवर्ग का कहना है कि ऋग्वेद पूर्णतया यज्ञपरक है। प्रो. लुई रेनू के मत के अनुसार ऋग्वेद के कुछ अंश यज्ञ परक हैं[१३]। उनकी अवधारणा यह है कि ऋग्वेद के मन्त्र पूजा के समय पढ़े जाते थे। इन मन्त्रों के प्रयोग का यज्ञ से कोई सम्बन्ध नहीं रहता था। कालान्तर में इन्होंने सूत्रों को जन्म दिया, अतः प्रकारान्तर से ऋग्वेद के वर्ण्य विषय वैदिक यज्ञ से पृथक् हुआ करते थे।

---

१. ऋ सं.—३.२८.१
२. ऋ सं.—३.२८.४
३. ऋ सं. —३.२८.५
४. ऋ सं.—३.५३.१४, ५.३.१५, ५.४३.७
५. मैकडोनेल—हिस्ट्री आफ् वेदिक लिटरेचर, पृ. ३९-४४ मैं. ए लि, पृ. २४७—२४८, वि. इ. लि, पृ. ५७-५८
६. तै. सं. इन दा, पृ.२। की. , थ रि फि, पृ. २५२-२५६
७. बौधायन श्रौत सूत्रम् की भूमिका, पृ.२
८. वही , पृ. २
९. "द रिलीजन आव् वेद्", १९०८, पृ.६५
१०. "इन्साइक्लोपीडिया आव् रिलीजन एण्ड इथिकस्", खण्ड ८, पृ. ३१२-३२१ तथा खण्ड १२, पृ. ६१०-६१२
११. "रिलीजन इन् वेदिक लिट्रेचर" डॉ. पी.एस. देशमुख।
१२. "रिलीजन ऐण्ड् फिलासफी आव् द वेद्स् एण्ड उपनिषद्स", पृ. ३९
१३. "लेस इकोलेस वेदिकस", पृ. ३-४

इन समस्त मतों को देखते हुए यह धारणा बनती है कि ऋग्वेद के मन्त्रों से ही हमें यज्ञ पद्धति का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। अतएव ऋग्वेद संहिता के मन्त्रों का प्रयोग यज्ञ में उसी तरह होता है, जिस तरह से देवताओं के यशोगान में रहा है। कतिपय विद्वानों के विचारानुसार ऋग्वेद मात्र देवताओं के लिए स्तुति निमित्त है यह धारणा भ्रामक प्रतीत होती है, अपितु यह मानना न्याय संगत है कि जितना देवताओं के स्तुति निमित्त मन्त्रों का प्रयोग किया जाता था, उतना ही यज्ञ में प्रयोग किया जाता था। इस सम्बन्ध में श्री के. पोतदार[१] के अनुसार—मन्त्र तथा यज्ञ का सम्बन्ध उसी प्रकार है, जिस प्रकार बीज तथा अंकुर का सम्बन्ध होता है, अतः इस तरह की शङ्का करना सर्वथा निरर्थक है। मन्त्र तथा ब्राह्मण पर शंका करना, मन्त्र तथा यज्ञ पर शंका करना तथा उसकी उत्पत्ति के विषय में पौर्वापर्य ढूंढना जल ताडन कृत्य प्रतीत होता है, फिर भी विद्वानों ने विविध मत-मतान्तर प्रतिपादित करने में अपने को पीछे नहीं रखा है।

ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर ऐसा कहते देखा गया है कि सूक्त से यज्ञ की उत्पत्ति हुई है[२]। साथ ही यज्ञ कर्म से सूक्तों के सृजन का भी उल्लेख प्राप्त होता है[३]। इस तरह सूक्त तथा यज्ञ के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर विद्वानों का यह कहना कि वैदिक सूक्त से देवताओं के कलेवर में स्तुतियों का प्रथम अंकुरण हुआ और बाद में वैदिक यज्ञों से इनका सम्बन्ध होता गया, किन्तु हमें यह मानने में अनुचित प्रतीत होता है। हमें तो यह इस प्रकार समझना चाहिये कि ऋग्वेदिक काल में मन्त्र तथा यज्ञ दोनों समान भाव से प्रचलित थे। मन्त्र तथा यज्ञ का समान भाव से प्रचार था, क्योंकि एक दूसरे से अलग यज्ञ सम्पादित नहीं हो सकता था, इसलिए कि मन्त्र में ज्ञान का पूर्णतया प्रयोग है। इसका कारण यह है कि ऋग्वेद के अनेक सूक्त यज्ञपरक प्रतीत होते हैं, क्योंकि काम्य फल की प्राप्ति हेतु ऋषिगण, देवताओं को यह हवि अर्पित करने का आश्वासनदेते हैं[४]। उधर यज्ञ में किये जाने वाले मन्त्रोंच्चारण से देवता शक्ति को प्राप्त करते हैं[५]। वस्तुतः यज्ञ की सफलता मन्त्रों पर निर्भर करती है[६]। मन्त्र ही यज्ञ में देवताओं को आहुत करने में सफल होते हैं[७]।

---

१. Sacrifice and Hymns are almost as vitallyand inextni cably Conncoted with each cther and cun also be fiftiengely said to be evolving out of each other like the Renowned Bija and Ankura of the vedantic oldctmial
"सैक्रिफइज इन द ऋग्वेद", पृष्ठ १९, के. आर. पोतददार।

२. ऋग्वेद ८.६९.१

३. ऋग्वेद ४.२०.१०

४. ऋग्वेद ४.२०.१०

५. ऋग्वेद ७.३३.३

६. ऋग्वेद ७.३३.३

७. ऋग्वेद ७.६६.८

यज्ञ की विधायें तथा दर्शपौर्णमास इष्टि

मनुष्य अपनी स्वाभाविक मनोवृत्ति की दृष्टि से तीन प्रकार के कर्म में प्रवृत्त होता है। कुछ कृत्य ऐसे होते हैं, जिन्हें वह प्रतिदिन करना चाहता है। कुछ कर्मों में वह तब प्रवृत्त होता है जब कोई उसके निमित्त उपस्थापित होता है। मनुष्य के मन में विविध कामानाएँ जागती हैं, जिनकी पूर्ति के लिये वह अध्यवसाय की ओर उन्मुख होता है। पहले यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि यज्ञ एक क्रिया है, यज्ञ एक कर्म है। कर्मों के वैविध्य के कारण यज्ञ का विभाजन किया जा सकता है- नित्य, नैमित्तिक और काम्य[१]। नित्य यज्ञ प्रतिदिनकिये जाते हैं। नित्य यज्ञों को करने से किसी प्रकार का लाभ हो या न हो, परन्तु मनुष्य के जीवन में जो प्रत्यवाय (विघ्न) आने की सम्भावना बनी रहती है[२], इसके लिये "यावज्जीवम् अग्नि होत्रं" इस प्रकार यज्ञ करने का विधान है[३]। जिस यज्ञ का विधान किसी निमित्त से किया जाता है उसे नैमित्तिक यज्ञ कहते हैं[४]। तैत्तिरीय संहिता में, जिसका घर जल जाता है उसके लिये सामवत् अग्नि देवता को अष्टाकपाल पुरोडाश के निर्वाप करने का विधान है[५]। इस प्रकार यह गृहदाह निमित्तक होने के कारण नैमित्तिक यज्ञ कहलाता है[६]। विशेष कामना की पूर्ति के लिये काम्य यज्ञ किये जाते हैं। उदाहरणार्थ—तैत्तिरीय संहिता कहती है कि जिसके मन में पशु प्राप्ति की इच्छा हो उसे चित्राइष्टि से यजन करना चाहिये[७]।

यज्ञों के दो भेद बताये गये हैं — पाक यज्ञ तथा श्रौतयज्ञ । पाक यज्ञों को स्मार्त यज्ञ भी कहते हैं[८]। गृहस्थ धर्म का परिपालन करने के लिये जो यज्ञ किये जाते हैं उनकी विधियों का वर्णन गृह्य सूत्रों, धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों में उपलब्ध होता है[९]। गृह्यसूत्र, धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों में इन पाकयज्ञों का वर्णन होने के कारण तथा श्रुतियों में इनका विवरण उपलब्ध न होने के कारण इनका नाम पाकयज्ञ है[१०]।

---

१. युधिष्ठिर मीमांसक, जै.मी. भा., पृ. ९०, तै.सं. ६, पूना संस्करण।

२. युधिष्ठिर मीमांसक, जै. मी. भा., पृ. ८९ तु.द.पू. प्र. पृ. ३९ हर-दत्त

नित्ययज्ञक्रिया पुरुषस्य श्रेयोऽत्रिव्यनक्ति।
तस्यैव अक्रियातस्या क्रिया प्रत्यवायं सम्पादयति।
(तुं. भवभूति, ३.२१, प्र. अङ्क, श्लोक सं. ८)
किं, त्वनुष्ठानं नित्यत्वं स्वातन्त्रयपकर्षति।
संकटाह्याहिताग्नीनां प्रत्यवायैगृहस्थता ॥
(तु—या. स्मृति, ३.१२१९)

३. तै.सं., भट्टभास्कर सायण भाष्य, पृ. ६

४. तै.सं., भट्टभास्कर सायण भाष्य, प्रतिनियतनिमितत्वात्।

५. तै.सं., २.२.२, यस्य गृहान् दहत्यग्नये सामवते पुरोडाशमृषाऽकपालं निर्वपेत् "इत्यादि नैमित्तिकम"।

६. तै.सं. भट्ट भास्कर सायण भाष्य, पृ. ६
"तस्यनियतनिमितत्वात्"।

७. तै.सं., २.४.६ "चित्रया यजेत् पशुकामः" इत्यादिकं काम्यम्"

८. जै. मी. शा. भाष्य, पृ. ८९, युधिष्ठिर मीमांसक, श्री. य.मी., पृ. ५, का. श्रौ. भू., पृ. ३१, डॉ. सूर्यकान्त वै. को., पृ. ३९१—३९२, द्र. पा. गृ. २.१४.३.३.३, आ. गृ. २.४.११, आप. गृ. ९.१

९. गौ. धर्म. सू. ८.१८, पा.गृ.सू. २.१४, आ. गृ. २.४.११

१०. युधिष्ठिर मीमांसक पृ. ८९

श्रौतयज्ञ करने की इच्छा रखने वाला व्यक्ति सर्वप्रथम गार्हपत्य आहवनीय तथा दक्षिणाग्नि की विधि पूर्वक स्थापना करता है।

अहिताग्नि यजमान यज्ञ करने का अधिकारी होता है[१]। प्रत्येक यज्ञ के द्रव्य तथा देवता भिन्न-भिन्न होते हैं। यज्ञों में निर्दिष्ट तत् तत् देवताओं के लिये तत् तत् हवियों की प्रधानता हुआ करती है[२]। इसी दृष्टि से श्रौत यज्ञ तीन प्रकार का होता है—हविर्यज्ञ, पशुयज्ञ तथा सोमयज्ञ[३]। इनके अन्य नाम भी हैं—इष्टि, पशु तथा सोम, इष्टियों में प्रधान रूप से दूध, दही, घी, मधु, अन्न आदि द्रव्यों का प्रयोग होता है[४]। पशुयज्ञों में पशु की हवि की प्रधानता रहती है[५]। इसी प्रकार सोमयज्ञ में सोमलता के रस की मुख्य हवि होती है[६]। ऐतरेय ब्राह्मण में पांच प्रकार के यज्ञों का उल्लेख है[७]—अग्नि होत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशु और सोम। शतपथ ब्राह्मण में यद्यपि यज्ञों के भेद का उल्लेख नहीं मिलता फिर भी उसमें दर्शपौर्णमास से लेकर अश्वमेघ यज्ञ तक का विवरण उपलब्ध होता है[८]।

गोपथ ब्राह्मण में, अथर्व वेद की पैपलाद संहिता[९] का एक मन्त्रांश उधृत किया है। उस मन्त्रांश में ॥ त्रिवृत्त ॥ तथा ॥ सप्ततन्तु ॥ पदों का उल्लेख है। इन दोनों पदों की व्याख्या में प्रक्रिडीत आचार्य के श्लोक के एक अंश को उदधृत किया गया है[१०]। गोपथ ब्राह्मण में ही अन्यत्र उक्त मन्त्र पूरा का पूरा उपलब्ध होता है[११]। इस मन्त्र में सातपाक यज्ञ, सातहविर्यज्ञ तथा सात सोमयज्ञ उल्लेखित हैं। इस प्रकार यज्ञों की संख्या इक्कीस हो जाती है। गोपथ ब्राह्मण[१२] के अनुसार सात पाकयज्ञ है।

यथा प्रातः होम, सायं होम, स्थालीपाक, बलिवैश्व, देवपर्व, पितृयज्ञ, अजृका और पशु। अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, नवशसेष्टि, चातुर्मास्य और पशुबन्ध, ये सात हविर्यज्ञ हैं। सात सोमयज्ञों में, अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्यम परिवर्णित है। अनुवर्ती याज्ञिक आचार्यों ने भी यज्ञ के इन्हीं भेदों का अनुसरण किया है[१३]। प्रयोग विवरण की दृष्टि से सकल श्रौतयज्ञों को तीन विभागों में विभाजित किया जा सकता है-(१) प्रकृति यज्ञ (२) विकृति यज्ञ, (३) प्रकृतिविकृति यज्ञ।[१४]

---

१. का. श्रौ. भू. पृ. ३२
२. "देवतोददेशन द्रव्योत्यागो यागः" तु. का. श्रो. प १.२ ।
३. वही, हि. ध. शा., पृ.११३३
४. जै. मी. भाष्य भूमिका, पृ. ९०
५. वही, पृ. ९०
६. युधिष्ठिर मीमांसक जौ.पू. मी. शाबर भाष्य, पृ. ९०
७. ऐ.ब्रा. २.३.३, "स एष यज्ञः पञ्चैविधो"।
८. जै. पू. मी. भाष्य , पृ ९१
९. अ. पै. सं. ५.२८, अग्नियज्ञं त्रिवृत्त सप्ततन्तुम्। (गो. ब्रा. १.१.१२)
१०. अथाप्येष प्राक्रीडितः श्लोकः प्रत्यभिवदति— सप्तसुत्याः सप्त च पाक यज्ञाः । इति।, गो. ब्रा.- १.५.१५
११. सप्तसुत्याः सप्तच पाकयज्ञाः हविर्यज्ञाः सप्ततथैकविंशतिः।
    सर्वे ते यज्ञा अङ्गिगरसोऽपियन्ति नूतना या नृषयो सृजन्ति च सृष्टाःपुराणैः।।
१२. गो.ब्रा.–१.५.२३, सायं प्रातर्होमौस्थालीपाकोनवश्च यः बलिश्चपितृ यज्ञश्याष्टका सप्तमः पशुरित्येते पाकयज्ञाः ॥ अग्न्याधेयमग्निहोत्र पौर्णमास्यमावस्ये। नवेष्टिश्चातुर्मास्यानि पशुबन्ध्योऽत्र सप्तमइत्येते हविर्यज्ञाः। अग्निष्टौमो त्यग्निष्टौमो उकथ्यषोऽशिमांस्ततः। वाजपेयो इतिरात्राप्तोमीमात्र सप्तम इत्येते सुत्याः ॥
१३. गो. ध. सू.- ८.१८, आप. दपू. प्र., पृ. १३८, धूर्तस्वामी तथा रुद्रदत्त भाष्य, वै. को, पृ.३९१, बौ. श्रौ.सू.-२४.४
१४. जै. पू. मी., शाबर भाष्य, पृ. ९२

प्रकृति यज्ञ : —

उन श्रौतयज्ञों को प्रकृति यज्ञ कहते हैं, जिनमें करणीय सभी अनुष्ठानों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया हो[१]। प्रकृति का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ यह बताता है, जहां अनुष्ठानों का प्रकृष्ट रूप में वर्णन किया जाय वह प्रकृति है[२]। तैत्तिरीय संहिता के प्रथम मन्त्र पर भाष्य करते हुए सायण ने प्रकर्ष का अर्थ इस प्रकार स्पष्ट किया है- कृत्स्नाङ्ग विषयत्वं उपदेशस्य–प्रकषः यज्ञ के सकल अङ्गो का उपदेश[3]।

विकृति यज्ञ : —

जिन यज्ञों में विशेष रूप से उपदिष्ट अङ्गो का ही वर्णन होता है तथा उससे भिन्न किसी अन्य यज्ञ के अनुष्ठान की उपेक्षा रखते उन्हें विकृति यज्ञ कहा जाता है[४]।

जिस प्रकार व्याकरण शास्त्र की प्रक्रिया में राम शब्द की सभी विभक्तियों में सिद्धि बताकर अन्य अदन्त शब्दों की सिद्धि के ज्ञान का निर्देश रहता है। अदन्त सर्व शब्द की उनहीं विभक्तियों में रूप सिद्धि बतायी जाती है। जो राम शब्द से भिन्न है। प्रकृति विकृति में भी यही नियम चरितार्थ होता है। सभी इष्टियों की प्रकृति दर्शपौर्णमास इष्टि है[५]।

यद्यपि अग्नियों के अधान के बिना कोई व्यक्ति दर्शपौर्णमास इष्टि करने में असमर्थ है, क्योंकि अहिताग्नि ही दर्शपौर्णमास इष्टि करने का अधिकारी होता है[६]। तथापि अग्न्याधान में अग्नियों का आधान तब तक सिद्ध नहीं होता है, जब तक पवमान इष्टियों को न किया जाय, इसलिये वहां भी दर्शपौर्णमास इष्टि के प्रयोग का ज्ञान अपेक्षित होता है[७]। इसलिये यजुर्वेद की संहिताओं, ब्राह्मणों तथा श्रौतसूत्रों में प्रायः सर्वप्रथम दर्शपौर्णमास इष्टि का ही वर्णन किया गया है[८]। आग्नावैष्णवीष्टि, साकं प्रस्थायीयेष्टि, सुमनानामेष्टि, दाक्षायणयज्ञ, इडादध आदि इष्टियां दर्शपूर्णमास इष्टि की विकृति है[९]। पशुयागों की प्रकृति ब्राह्मणों के अनुसार अग्निष्टोम नामक सौमयज्ञ में सवंपनीय, अग्निषोमीय पशु है[१०]। तथा श्रौतसूत्रों के अनुसार निरूढ़पशुबन्ध ब्राह्मणों और सूत्रों यह वैभिन्य अग्निषोमीय

---

१. आप. श्री. सू.-२४.३.३२ श्री. प नि., पृ. २९, २४२, का. श्री.सू. भूमिका, पृ. ३४ पर विद्याधर, जै.पू. मी. - ८.१.११, मीमांसान्याय प्रकाश, सारविवेचनी- व्याख्या सहित, पृ. ५२, काशी सं. सीरीज, सन् १९२५, यत्र समङ्ग्रोपदेशः साप्रकृति।

२. तै.सं. भाष्य भूमिका- पृ.८, वेदभाष्य भूमिका संग्रह, पृ. ६, काशी बलदेव उपाध्याय, प्रकर्षेण अङ्गोपदेशः यत्र क्रियते सप्रकृतिः।

३. तै. सं. भाष्य भूमिका, पृ. ८, वेदभाष्य भूमिका संग्रह पृ.६

४. जै.पू. मी. शबर भाष्य, पृ. ९३, युधिष्ठिर मीमांसक, तै.सं.भाष्य- भूमिका, पृ.८, सायणभाष्य, विकृतिषुतुशेषाङ्ग मात्रस्य उपदेशः क्रियते। अङ्गान्तराणि तु प्रकृतेः अतिदृश्न्ति। अत उपदेशस्य प्रकर्षाभावः।
आप. प. सू., पृ. १२०-१२१।

५. आश्वा.श्रौ., पृ. ४७, "सर्वेषाम् इष्टीनां दर्शपूर्णमासौप्रकृतिः" तु.का.श्रौ.सू., पृ. ३४ पर, आप. प. सू. ३.३१, पृ.११३४, जै.पू.८.१.॥

६. तै. सं., भूमिका, पृ. ८

७. तै.सं. भूमिका सायण,पृ.८

८. तै.सं. भूमिका सायण,पृ.९

९. द्र. श्री. कोष, पृ. ३२०-३२२। वैदिक संशोधन मण्डल, पूना।

१०. जै.पू.मी. शबर भाष्य भूमिका, पृ. ९४, आप.सू., पृ. ११३, ११४।

पशु तथा निरूढ़पशुबन्ध यज्ञ के वर्णन की प्राथमिकता की दृष्टि से हुआ है[१]। सोमयागों की प्रकृति अग्निष्टोम सोमयज्ञ है। अन्य सोमयज्ञ इस की विकृति हैं [२]।

प्रकृतिविकृति यज्ञ : ——

जिन यज्ञों में प्रकृति यज्ञों तथा विकृति यज्ञों के लक्षण दृष्टिगत होते हैं उन्हें प्रकृति विकृति यज्ञ कहा जा सकता है[३]। सभी कर्म अन्य सोमयज्ञों की प्रकृति है। अग्निष्टोम के अङ्गरूप में दीक्षणीयेष्टि, आतिथ्येष्टि, प्रवर्ग्यइष्टि, उपसद आदि सभी इष्टियों, दर्शपौर्णमास इष्टि के प्रयोगों पर आश्रित हैं, अतः अग्निष्टोम याग प्रकृति विकृति यज्ञ है[४]।

दर्शपूर्णमास इष्टि का अर्थ तथा प्रयोग का काल

दर्श तथा पौर्णमास शब्दों का समस्त नाम है दर्शपौर्णमास। यह समस्त पद द्वन्द समास होने से निष्पन्न होता है[५]। इस द्वन्द समास से ही ज्ञात हो जाता है कि इस यज्ञ में दो इष्टियों का प्रयोग किया जाता है–दर्श इष्टि तथा पौर्णमास इष्टि। व्याकरण की दृष्टि से दर्श शब्द "दृश"[६] धातु से "घ" प्रत्यय करने से व्युत्पन्न होता है। इस प्रकार दर्श शब्द का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ हुआ– वह अमावस्या जिसमें चन्द्रमा दिखाई न पड़े[७]। इस दृष्टि से यह कुहू नामक अमावस्या होगी, परन्तु जैसा कि सूत्रदीपिकाकार रूद्रदत्त का कहना है कि ऐसी कोई तिथि ही नहीं है, जिसमें चन्द्रमा न दिखाई पड़े[८]। ध्यातव्य है कि कदाचित् दर्श व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ को ही दृष्टि में रखकर आपस्तम्ब ने यह प्रतिपादित किया है कि जिस दिन चन्द्रमा का दर्शन न हो, उसी दिन दर्श इष्टि का प्रयोग करना चाहिये[९]। रूद्रदत्त का कथन है कि यहां आपस्तम्ब ने विपरीत लक्षणा का आश्रय लेकर सूत्र की रचना की। अतएव विपरीत लक्षणा करने पर ही सामान्य अमावस्या के अर्थ का बोध होगा, जो युक्ति पूर्णतया तर्क संगत है[१०]।

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र पर भाष्य करने वाले धूर्तस्वामी की वृत्ति को रामाग्निचित ने कहा कि जिस क्षण में सूर्य के साथ चन्द्रमा संगत रहता है वही दर्श है।[११] सूर्य और चन्द्रमा का यह संगम ज्योतिष शास्त्र के ज्ञाता

---

१. जै.पू.मी., शबरभाष्य, भूमिका, पृ. ९४,

२. जै.पू. मी. शाबर भाष्य भूमिका पृ.९४, आप.प.सू., पृ.१२७, अग्निष्टोम एकाहना प्रकृतिः।

३. जै. पू. मी. शाबर माष्य भूमिका, पृ. ९३-९४।

४. जै. पू. मी. शाबर भाष्य भूमिका, पृष्ठ ९३-९४।

५. आप. श्रो.। धूर्तस्वामी भाष्यम्, पृ. ९ दर्शश्यपूर्णमासश्येतिदर्शपूर्णमासौ। तै. सं. भाष्य भूमिका, पृष्ठ ८

६. पा. अ. सूत्र संख्या ३२९६ "पुंसिसज्ञायामघः" ३.३.११८, द्र.अः को प्रथम काण्ड श्लोक -८, पृ ४६, श. क. पृ. ६८९

७. द. पू. प्र., पृ. ९४ "तस्मिनश्चन्द्रमा न दृश्यते।"

८. न दृश्यतेऽस्मिश्चन्द्रमा इति। द्र. पू. प्र. पृ. ९४

९. वही, द. पू. प्र., पृ. ९४

१०. आप. श्रौ. सूत्रदीपिका टीका, पृ. १४२ इति विपरीत लक्षणया दर्श इति अमावास्योच्यते। न त्वियमन्वर्थ संज्ञेति चन्द्रदर्शनस्य सर्वतिथि साधारण्यावू न च सूर्येण संगतौ। दृश्यतं इति विशिष्टकं सूर्य संगतेरमावस्या शब्द प्रवृत्ति हेतो दर्शनात्॥

११. धूर्तस्वामी, द.पू. प्र. १४० दृश्यते यस्मिन्क्षणे सूर्येण संगतश्चन्द्रमाः सिद्धैः सक्षणो दर्शस्तद्योगायहोरात्रमिति।

लोगों को ज्ञात रहता है[१]। रुद्रदत्त इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि सूर्य के साथ सङ्गत चन्द्रमा दिखाई नहीं पड़ता है[२]। ज्योतिषी उसे कदाचित देख सकते हों, किन्तु साधारण व्यक्ति तो उसे देख नहीं सकता है, और ऐसी स्थिति में अमावस्या शब्द की व्युत्पत्ति यह है—**अमा सह वसतोऽस्यां चन्द्रा र्का**[३]। इसका अर्थ है जिस दिन सूर्य और चन्द्र अत्यन्त निकट हों वह दिन अमावस्या है। कपर्दिस्वामी और हरदत्त भी सूर्य और चन्द्रमा के अत्यन्त निकट रहने पर अमावस्या का लक्षण मानते हैं[४]। यद्यपि काल की दृष्टि से इष्टि का अभिधान दर्श है तथापि अमावस्या के दिन केवल प्रारम्भिक कृत्य किये जाते हैं तथा दूसरे दिन शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को इष्टि के सकल अनुष्ठान करणीय कहे गये हैं।

पौर्णमासी का वाचक

पूर्णमास में मास शब्द का अर्थ समय और चन्द्र दोनों है। यह समय तथा चन्द्र जिस दिन पूरे होते हैं उसे पूर्णमास कहते हैं[५]। निरुक्तकार के अनुसार मास शब्द का अर्थ चन्द्रमा है[६]। ज्योतिषशास्त्र के अनुसार जिस दिन सूर्य और चन्द्रमा अत्यन्त दूर-दूर रहते हैं उस दिन पूर्णिमा होती है। यहाँ भी सामान्य पूर्णिमा का अर्थ विपरीत लक्षणा करने पर ही सिद्ध हो पायेगा। पूर्णमास इष्टि के प्रारम्भिक कर्म पूर्णमास के दिन किये जाते हैं तथा उसके सम्पूर्ण कृत्य कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को किये जाते हैं[७]।

जब कोई अहिताग्नि दर्शपौर्णमास इष्टि के द्वारा यजन प्रारम्भ करता है तब उसे इस नियम को जीवन पर्यन्त निभाना चाहिये[८]। यदि कोई यजमान ऐसा करने में असमर्थ है तो उसे तीस वर्ष पर्यन्त इसे अवश्य करना चाहिये[९]।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि तीस वर्षों में नियम के अनुसार चलने वाले व्यक्ति को तीन सौ साठ दर्श इष्टियों तथा तीन सौ साठ पूर्णमास इष्टियाँ करनी चाहिये[१०]। यह प्रत्येक दर्शपूर्णमासयाग दो दिन में किये जाते हैं, परन्तु पूर्णिमा याग को एक दिन में भी सम्पन्न किया जा सकता है। मैत्रायणी संहिता के अनुसार दर्शपूर्णमास याग करने वाला व्यक्ति देवयाजी कहलाता है।

दर्शपूर्णमासयाग दो प्रकार से सम्पन्न होते हैं जिसको क्रमशः नित्य और काम्य कहा जाता है।

---

१. हरदत्त आपस्तम्ब परिभाषा सूत्र, पृ. ६३, दर्श इति सूर्याचन्द्रमासौ सहभूतावस्मिनकाले कालज्ञाः ॥ एतत् काल संयोगादहोरात्रौ।

२. न च सूर्येण संगतो दृश्यते इति विशिष्टयं सूर्य संगतेऽमावास्याशब्द प्रवृत्तिहेतोदर्शनात्। रूद्रदत्त, द्र. पू. प्र, पृ. १४२

३. न च सूर्येण संगतोदृश्यत इति विशिष्टव्यं सूर्य संगतेऽमावास्याशब्द प्रवृत्तिहेतोदर्शनात्। रुद्रदत्त, द पू.प्र, पृ. १४२

४. यस्मिनकाले सूर्याचन्द्रमसोः सहवासः स कालोऽमावस्या।, द्र. पू. प्र सूत्र संख्या १९, पृ. ९१

५. आप. परिभाषा सूत्र हरदत्त, पृ. ६३, पृ. ९२, मासोमासात् कालश्चन्द्रमाश्चेति पूर्णमासो यस्मिन् काले स पूर्णमासः।

६. वही, मास इति चन्द्रमस आख्या एवं हि आहु नैरुक्ताः।

७. आप. श्रौ. पृ. ९२, सू. २०-२१ पर कपर्दिस्वामी तथा हरिदत्तवृत्ति दर्शपूर्णमास प्रकाश, तु. आ. श्रौ. १.१.६ पर महादेव,

८. सः श्रौ. पृ.५३ सूत्र ५७ ताभ्यां यावज्जीवंयजेत्, वैखा.श्रौ. १४.१.३.१, जै. पू.मीः ४.२.३६ तथा ९.१.३४-३५ पर शबरभाष्य, आप. श्रौ. ३.१४, तु. का. श्रौ. भू. ३६ वै. को., पृ. ३९५, वा. श्रौ. १.१.१ ८४,

९. श.बा. ११.१.२.१३, का. श्रौ. ४.४३, त्रिंशतवर्षाणि, आप. श्रौ. ३.१४.१२, वैरवा. श्रौ. १.४.२३, वैखां.वेताल श्रौ. १४.१.३.१, श.बा. जूलियस् एग्लिगं एस. बी. ई. जिल्द १२, पृ. १ स. श्रौ. पृ० ५३ सू० ५७, वा० श्रौ० वही ;।

१०. श. बा. ११.१.२.१०-११

जब तक जीवित रहे तब तक करने वाले यज्ञ को नित्य यज्ञ कहा जाता है तथा किसी कामना हेतु जब इस यज्ञ को किया जाता है तो उसे काम्य कहा जाता है[१]।

उद्देश्य —

आपस्तम्ब तथा सत्याषाढ़ श्रौतसूत्र के अनुसार दर्शपूर्णमास याग करने वाले व्यक्ति की समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं[२]। और स्वर्ग कामी के लिये स्वर्ग तथा ऋद्धि कामी यजमान के लिये ऋद्धि प्राप्त होती है[३]।

याज्ञिक पद्धतियों में यज्ञ करने का संकल्प पञ्चभू संस्कार इत्यादि कर्मों का उल्लेख मिलता है। जिस प्रकार सम्प्रति कोई भी अनुष्ठान करने से पूर्ण कर्ता उसे करने के लिये कुश, अक्षत, जल लेकर संकल्प करता है, पद्धतियों में उसी तरह का विवरण प्राप्त है, किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों और श्रौतसूत्रों में कहीं भी इस प्रकार का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। मात्र वैखानस श्रौत सूत्र[४] को छोड़कर। अतएव पद्धतियों द्वारा स्वयं संचालित विधियाँ चिन्त्य प्रतीत होती है। इनका प्रचलन कब से प्रारम्भ हुआ यह भी निर्णय करना सम्भव नहीं है।

अग्नि का अन्वाधान

पूर्व में आवाहित अग्नि में समिधाओं को पुनः डालकर उसे प्रज्ज्वलित करना अग्नि का अन्वाधान है[५]। आप. श्रौतसूत्र के अनुसार पहले से ही अग्निहोत्र करने वाले यजमान के लिये अग्नि का आधान अर्थात् प्रज्ज्वलन वर्जित है[६]। क्योंकि उसकी आह्वनीय अग्नि नित्य होती है[७]; अतः उसको "देवागातुं" मन्त्र का जप करना चाहिये[८]। इस कर्म को अध्वर्यु अथवा यजमान करता है[९]। अध्वर्यु स्फय को बायें हाथ में लेकर दाहिने हाथ में एक समिधा को लेकर "ममाग्नेवर्च्चः"[१०] इत्यादि विहव्या ऋचा से आह्वनीय अग्नि में डालता है[११]। उसके बाद मौन रहकर दूसरी समिधा आह्वनीय अग्नि में डाली जाती है[१२]। इस तरह से गार्हपत्य तथा दक्षिण अग्नि में भी दो समिधायें डाली जाती है[१३], अथवा "भू" महाव्याहृति से पहले समिधा गार्हपत्य अग्नि में डाली

---

१. य. त. प्र., १७-१८
२. आप. श्रौ. ३.१४.८,९, स्वर्गकामो दर्शपूर्णमासो एव कामः सर्वकामो वा, तु. स. श्रौ. १.१.५.५
३. आप. श्रौ., ३.१४.८, तु. जै.पू. मी. ४.४. ३०.९.१३४ पर शाबर स. श्रौ. २.६.१
४. वैखा. श्रौ. ३.१, पौर्णमासेनयस्यइत्युक्त्वा।
५. का. श्रौ. भू., पृ. ३४, अच्युत ग्रन्थमाला, काशी. आप. श्रौतसूत्र, विमर्शः, पृ. ६७,
६. आप. श्रौ. १.१.३
७. आप. श्रौ., ६.२.१२
८. तै. ब्रा. ३.७.४.१, मान. श्रौ. १.१२, वै. श्रौ. १४.११
९. का. श्रौ. २.१.२
१०. ऋक्० सं. १०.१.२८.१, काठ. सं. ४.१४, मै. सं. १.४.१, अ. सं. ५.३.१.१ तै. सं. द. ७.१४, मै. सं. १.४. तु. का. स. ब्रा.३१.१५
११. मै. सं. १.४.५ का. श्रौ. २.१.३, भा. श्रौ. ४. २.२.५, शां. श्रौ. १-२, स.श्रौ. १.२
१२. का. श्रौ. २.१.३, भा. श्रौ.०४.२.२.५, शां.श्रौ. १-२, स. श्रौ.१.२.१
१३. का. श्रौ. २.१.३, भा. श्रौ. ४.२.२.५, शां. श्रौ. १-२, स. श्रौ. १.२.१

जाती है। तथा दूसरी समिधा मौनभाव से प्रक्षिप्त करने का विधान है[१]। इसी प्रकार क्रमशः "भूवः" "स्वः", महाव्याहृतियों से दक्षिण अग्नि तथा आहवनीय अग्नि में दो समिधा डाली जाती है[२]। ध्यातव्य है कि पहले पक्ष में प्रथम समिधा आहवनीय डाली जाती थी, दूसरे पक्ष में उसके विपरीत गार्हपत्य अग्नि में प्रथम समिधा डाली जाती है। कुछ लोग मौन रहकर दोनों समिधाओं को पहले गार्हपत्य में तदनन्तर आहवनीयाग्नि में तथा तदनन्तर दक्षिणाग्नि में दो-दो समिधाएँ मौन रहकर अग्नि में डालते हैं[३]। अथवा समस्त समिधाओं को आहवनीय अग्नि पर डाला जा सकता है[४]।

अग्नि के अन्वाधान के विषय में उपरितन निर्दिष्ट समिधाओं के आधान के सम्बन्ध में विविध मतवाद हैं। औपमन्यवी पुत्र का अभिमत है कि तीनों अग्नियों में तीन-तीन समिधाएँ डालनी चाहिये[५]। इस सम्बन्ध में बौधायन का मत है कि विहव्या ऋचाओं के द्वारा समिधाओं को अग्नि में डालना चाहिये। प्रत्येक समिधा के आधान में तीन-तीन ऋचाओं को प्रयोग करना चहिये[६]। जो लोग दस ऋचाओं का प्रयोग करते हैं उन्हें चाहिये कि अवशिष्ट दशवें हिस्से को आहवनीय के पास खड़े होकर पढ़ दे, किन्तु जो लोग केवल आठ ऋचाओं का अन्वाधान में प्रयोग करते हैं उन लोगों को चाहिये कि आठवीं तथा नवीं ऋचाओं का दो बार अनुवचन करें[७]

जो नौ ऋचाओं का अनुवचन करते हैं उन लोगों के लिये विधि का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। शालीकि के अनुसार एक "विहव्या ऋचा" का पाठ करके आहवनीय में एक कर देना चाहिये[८]। औपमन्यव का कथन है कि एक-एक समिधा का आधान एक विहव्या ऋचा से तीनों अग्नियों में करना चहिये[९]। वैतान श्रौतसूत्र के अनुसार तीन आहवनीय अग्नि में, तीन दक्षिणाग्नि में, चार गार्हपत्य अग्नि में मन्त्र पूर्वक समिधा डालनी चाहिये[१०]।

अन्वारम्भणीय इष्टि —

कृष्ण यजुर्वेद के सभी ब्राह्मणों तथा श्रौतसूत्रों में पूर्णमास इष्टि के द्वारा यजन करने के पूर्व अन्वारम्भणीय इष्टि करने का विधान है[११]। इसका समर्थन कात्यायन भी करते हैं[१२]। इस इष्टि का विधान जब पहली बार पौर्णमास इष्टि हो तभी की जाती है[१३], अन्वारम्भणीय इष्टि का अर्थ है पौर्णमास यज्ञ का प्रारम्भ करने वाली

---

१. का. श्रौ. २.१.४, स.श्रौ.प्रथम प्रश्न द्वितीय पटलः, पृ. ६८
२. का. श्रौ. २.१.४, स.श्रौ. प्रथम प्रश्न द्वितीय पटलः, पृ. ६८
३. का. श्रौ. २.१.७, आप. श्रौ. १.१.६.
४. भा. श्रौ. द. २.२६.२८, आप. श्रौ. १.१.५-६, शां.श्रौ. ४२.१२, स.श्रौ.। प्रश्न द्वितीयपटलः, पृ. ७०, वै. श्रौ. सू. १४
५. बौ. श्रौ. २४.२०-२१, भार. श्रौ. द. २.२.७, वै. श्रौ. १.१४, आ. द. सू. १.१.४
६. बौ. श्रौ. २४.२०-२१, आप. श्रौ. सू. १.१.५, रुद्रदत्त भाष्य।
७. बौ. श्रौ. २४.२०.२१
८. बौ. श्रौ. २४.२०.२१, आह्वनीय मेवैकं विहव्ययाऽन्वदध्यात् अयाऽतिशिष्टा उत्तरेणाहवनीयं तिष्ठन्निगदेदिति।
९. बौ. श्रौ. २४.२०-२१, आप. श्रौ. १.१.१.६, १६.२३.१, भार. श्रौ. ४.२.२.१०
१०. बौ. श्रौ. १.१.१२
११. का. श्रौ. ४.५.२१ विधाधर गौड की टीका।
१२. वा. श्रौ. १.४.४-३९-४०, आश्वा. श्रौ. नारायण वृत्ति सम्पादक पट्टाभिरामशास्त्री, पृ. ७९, वैतान श्रौ. २.८.१-२, भा. श्रौ. ५.१६. ५-९, आप. श्रौ. ५.२४.६
१३. आप. प.सू. ४.२०, आ. श्रौ. २.८, का. श्रौ. वेबर, पृ. ३३८, दर्शपूर्णमासारम्भे प्रथम प्रयोगे अन्वारम्भणीया इष्टि भवति।

इष्टि। शतपथ ब्राह्मण में इसका उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता है। इस प्रसङ्ग में यह भी ध्यातव्य है कि अन्वारम्भणीय इष्टि, जब नित्य यज्ञों का प्रारम्भ होता है, उसी समय इसे किया जाता है। सर्वदा नहीं, अपितु पूर्णमास इष्टि काम्य हो तभी इसे पुनः करना चाहिये। आचार्य कर्क का मत है कि सोमयाग तथा सौत्रामणि इष्टि के प्रारम्भ में नहीं की जाती है इसके लिये इन्होंने प्रमाण रूप में एक श्लोक का उद्धरण दिया है—

"नित्यानां सकृदारम्भे काम्यानं च पुनः पुनः।
सोम सौत्रमणी वर्ज्यमन्वारम्भः प्रशस्यते॥"[१]

यह अन्वारम्भणीय इष्टि अथवा इसकी विधि का शतपथ ब्राह्मण में कहीं भी उल्लेख नहीं किया गया है, परन्तु सायण अग्न्याधान के परिशिष्ट में, एक कण्डिका में आये हुए "अन्वारम्भेत" पद की व्याख्या करते हुए पूर्णमास इष्टि में, अन्वारम्भणीय इष्टि की वैधता को प्रमाणित करते हैं [२]। एग्लिंग महोदय ने भी सायण का अनुकरण करते हुए इसे पूर्णमास इष्टि में करणीय माना है [३]। सायण तथा एग्लिंग का "अन्वारम्भेत" पद को उधार लेकर पूर्णमास इष्टि में अन्वारम्भणीय इष्टि का विधान दूर से कौड़ी लाने के समान है [४]।

आचार्य कर्क ने स्पष्टतया प्रतिपादित किया है कि यह इष्टि शुक्ल यजुर्वेद की शाखाओं से भिन्न शाखाओं की विधि है। यह तथ्य प्रमाणों से सिद्ध भी होता है, यद्यपि याज्ञिक देव ने अपनी पद्धति में इसे पूर्णमास इष्टि में विहित कहा है[५]। तथापि आधुनिक याज्ञिक इसे स्वीकार नहीं करते।

अन्वारम्भणीय इष्टि की विधि तथा हवि

इस इष्टि में चार हवियाँ होती हैं। यथा - आग्ना-वैष्णव, एकादश कपाल पुरोडाश, सरस्वती देवता के लिये चरू तथा सरस्वती के लिये द्वादश कपाल पुरोडाश और भगि अग्नि के लिये अष्टा कपालक पुरोडाश, अतः सभी इष्टियों की प्रकृतिपूर्णमास इष्टि है[६]। अतएव अन्य सभी कार्य पूर्णमासवत् किये जायेंगे। अग्नाविष्णु के लिये पुरोनुवाक्या के रूप में ११ अग्नाविष्णु सजोधषः॥[७] तथा याज्या में अग्निविष्णु॥ अग्नाविष्णु महीधान॥[८] मन्त्रों का प्रयोग किया जाता है। सरस्वती के चरू के लिये ॥ पावकानः सरस्वती॥[९] पुरोनुवाक्या तथा -॥

---

१. आप. प. सू. ४.२०, वेबर का. श्रौ., पृ. ३३८

२. श. ब्रा. ११.१.१.७, सायण अग्न्याधान परिशिष्ट की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि पौर्णमासी के दिन अन्वारम्भणीय इष्टि करनाचाहिये। उनके अनुसार अमावस्या को पवमान इष्टियों के साथ आधान समाप्त होने पर यद्यपि दर्शयाग का विधान होना चाहिये तथा आगामी पौर्णमासी के दिन पूर्णमास इष्टि का प्रारम्भ करना चाहिये।

३. एस. वी. ई. वाल्यूम २६, पृ. ४०, टिप्पणी तथा वाल्यूम २४, पृ. २. टि४।

४. शतपथ ब्राह्मण ११.१.१.१.७, सायण भाष्य, एस.वी. ई. वाल्यूम २६, पृ. ४०, टिप्पणी तथा वालयूम २४, पृ. २, टिप्पणी ४

५. का. श्रौ. कर्क भाष्य, पृ. २३५

६. का. श्रौ. ४.५.२१, अन्वारम्भणीयाऽग्नावैष्णव एकादश कृपालः सरस्वत्यै चरू, सरस्वते द्वादश कपालो दर्शपूर्णमासारम्भे। तु.तै.ब्रा. १.१.५-६ तै.सं.ब्रा. ३.५.१ए मै.सं.ब्रा. १.६.११ऐ, तु. का.सं.ब्रा. ८.७-१०,५, कपि.सं. ७.३-४ए ६.६ गो.ब्रा. २.१.१२, आप.श्रौ. ५.२३.४.५ए तु.स.श्रौ. ३.५.३.२५, तु.जै.पू.मी.व. १.३४ पर शाबरभाष्य, । वा.श्रौ. १.४.४.४२-४३, वै.खा. श्रौ. १.१७, मा.श्रौ. १.५.१.१९ आश्वा.श्रौ. ८.१,३, वैतान श्रौत २.८.१-२, आप.श्रौ. ३.५-१६।

७. मै.सं. ४.१०.।

८. मै.सं. ४.१०.।

९. मै.सं. ४.१०.।, ऋ.सं. १.३.१०

पारवीरवी कन्या ॥[१] याज्या के रूप में विहित है। सारस्वत पुरोडाश में ॥ पीपिवांश सरस्वती ॥[२] पुरोनुवाक्या तथा ॥ देव्यं सुपर्णः ॥[३] याज्या मंत्र का प्रयोग होता है। भगि अग्नि के पुरोडाश के लिये ॥ अग्नेरभगिनः आसमय ॥[४] पुरोनुवाक्या मन्त्र का तथा ॥ सनोराधांसि ॥[५] याज्या मन्त्र का प्रयोग निर्दिष्ट है। एक जोड़ा बैल अथवा "षष्ठौही" प्रजनन में समर्थ गाय अथवा एक जोड़ा बैल इस इष्टि की दक्षिणा में दिया जाता है[६]।

केशश्मश्रू का वपन

शतपथ ब्राह्मण में दाढ़ि तथा सिर के केशों को अस्तुरे से बनवाने का विधान नहीं मिलता। कृष्ण यजुर्वेदीय शाखाओं के ब्राह्मणों में वपन का उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु दोनों शाखाओं के श्रौतसूत्रों में इस विधि का वर्णन मिलता है। कात्यायन के अनुसार सिर के बालों को शिखा सहित अथवा शिखाविहीन बनवाने का विधान है[७] कि यजमान अपनी इच्छा अनुसार केशादि वपन कराये या न करवायें।[८] आचार्य भर्तृयज्ञ का अभिमत है कि यजमान को वपन करना आवश्यक है। वह चाहे तो शिखा सहित अथवा शिखा रहित वपन करा सकता है[९]। मानव श्रौत सूत्र के मत में यजमान को अपने सिर के बालों को दाहिनी ओर से बनवाना प्रारम्भ करना चाहिये[१०]। यजमान को नाखून भी काटना चाहिये, नखकर्तन सर्वप्रथम बायें हाथ से होगा और सर्वप्रथम कनिष्ठिका अंगुली का नख काटा जायेगा[११]। वाजसेनयियों के अनुसार मुण्डन कराने में यदि याज्ञिक असमर्थ है तो वह थोड़ा सा बाल कटाता है अर्थात् उसे दाढ़ि ही बनवाना चाहिये[१२]। परन्तु कुछ लोग इसका विरोध करते हैं[१३]। यजमान पत्नी केवल अपने नखों को काटती है [१४]। यह केशश्मश्रू वपन उपवसथ के दिन किया जाता है[१५]।

---

१. ऋसं. ४.४९.७

२. मै.सं. ४.१०.।, ऋसं. ७.९६

३. मै.सं. ४.१०.।, ऋसं. १.१६४.५२

४. मै.सं. ४.१०.।, ऋसं. ८.१०२.६

५. मै.सं. ४.१०.।, तै.सं.ब्रा. ३.५.१.४, मै.सं.ब्रा. १.६.११, ८, १०,

६. ४, काठ.सं.ब्रा. ८.७.१०; ५, गो.ब्रा. २.१.१२, का.श्री. ४.५.२२ षष्टौही दक्षिणा मिथुनौवा: वा.श्रौ. १.४.४.४९, वै.श्रौ. २.८.१-२, भा.श्रौ. १.५.१.२२

७. का.श्रौ. २.१.९, केशश्मश्रु वपेतवाशिखम् तु.आ.श्रौ. ४.१.४, मा.श्रौ. १.४.१.२, भा.श्रौ. ४.२.२, वा.श्रौ. १.१.२.२, वेखा.श्रौ. ३.१, तु: वौधा.श्रौ.सायण १७४०, बौधा. गृ.पा. १.१३

८. का.श्रौ. कर्क भाष्य, पृ.८८, सम्पादक पट्टाभिरामशास्त्री लालबहादुर सं. विद्यापीठ नई दिल्ली, वै. श्रौ. सायण भाष्य, पृ. ६२, "विकल्पोवपनः तथा च गोपालः, आप. श्रौ.४.१.५ "

९. मान. श्रौ.- १.४.१३, द्र.का.श्रौ.वेबर, पृ. २ सव्योपक्रमान्नखानध्यात्मं कनिष्ठकांतः कारयेत्।

१०. मान. श्रौ. १.४.१-४

११. मा. श्रौ. १.४.१-४

१२. आप. श्रौ. ४.१.५

१३. मान. श्रौ. १.४.१-३ नकुक्षौ

१४. मान. श्रौ. १.४.१-४,

१५. वै. श्रौ. ३.१ "केशश्मश्रुणिवार्पायत्वोवसति"। वै. श्रौ. २४.२१

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि सभी ब्राह्मणग्रन्थों में केशश्मश्रू वपन का विधान नहीं मिलता है अभी तक यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उपस्थित होता है, सभी श्रौत सूत्र इस विधि का वर्णन क्यों करते हैं।

जब यजमान सोम यज्ञ करने की दीक्षा ग्रहण करता है, तब उस समय केशश्मश्रु के वपन नख कर्तन आदि कर्मों का विधान ब्राह्मणों में उपलब्ध है[१]। ऐसा प्रतीत होता हैकि श्रौतसूत्रकारों ने जब यह देखा कि सोमयागों में यह कृत्य होता है तब इसे प्रत्येक यज्ञकर्म में करना चाहिये, इस तथ्य को दृष्टि में रखकर श्रौतसूत्र में केशश्मश्रु का वपन आदि का विधान किया गया है। केश, नख कटा लेने के पश्चात् पति पत्नी स्नान करके नवीन वस्त्र धारण करते हैं। इस समय अभ्यञ्जन भी किया जा सकता है[२]।

उपवसथ

उपरितन वर्णित सभी कर्म उपवसथ के दिन किया जाता है। व्याकरण की दृष्टि से उप उपसर्ग पूर्वक "वस्"धातु से उणादि अच् प्रत्यय करने पर उपवसथ शब्द निष्पन्न होता है[३]। आचार्य पैङ्ग्य के अनुसार पूर्णमासी के पूर्व अर्थात् चतुर्दशी को उपवसथ किया जा सकता है[४]। उपवसथ शब्द का अर्थ है- समीप में निवास करना। याज्ञवल्क्य ने इसका निर्वचन करते हुए कहा है कि देवता मनुष्यों के मन की बात जानते हैं, जब कि कोई व्यक्ति यज्ञ करने के लिये समुद्यत होता है तब सभी देवगण यजमान के घर के पास आ जाते हैं। इसी प्रकार सभी देवता यजमान के पास निवास करते हैं[५]। यद्यपि उपवास आजकल भोजन न करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है, तथापि उपवसथ का जो अर्थ बताया गया है वही उपवास का भी अर्थ है[६]।

पूर्णमास इष्टि में पूर्णिमा के दिन उपवसथ करने का विधान मिलता है[७]। यद्यपि कुछ लोग यजनीय के दिन प्रतिपदा को भी उपवसथ के लिये उचित मानते हैं[८]। परन्तु याज्ञवल्क्य इसका निषेध करते हैं उसका कारण बताते हुए वे कहते हैं कि पूर्णमास इष्टि का विधान वृत्रवध कर्म के लिये है, अतएव पूर्णमासी के दिन ही उपवसथ करना चाहिये[९]। जिससे वृत्र का वध सम्भव हो सके। जो लोग प्रतिपदा के दिन ही व्रतोपायन इत्यादि करते हैं, वे उसके समान हैं, जैसे- किसी दूसरे के द्वारा मारे हुए को मारना अर्थात् किसी दूसरे का अनुकरण करना। वे अन्वारम्भणीय इष्टि तथा उपवसथ आदि कर्म नहीं कर सकते, इसलिये पूर्णमासी के दिन ही उपवसथ करना चाहिये[१०]।

---

१. बौ.श्रौ. ३.१

२. शां.श्रौ. ४.२.१, वै.श्रौ. २४.२१

३. पा.व्या.कृदन्त उणादयः सूत्र दण्ड, उपसर्गे वसेः।

४. ऐब्रा. ७.११-१२, शां ब्रा. ३.१

५. मनो ह वै देवा मनुष्यस्या जानन्ति त एन मेतद व्रतमुपयन्तंविदुः प्रातर्नोयक्ष्यत इति। तेऽस्य विश्वेदेवा गृहानागच्छन्ति तेऽस्य गृहेषू वसन्ति स उपवसथः। श. ब्रा. १.१.१.७, १

६. पा.व्या. कृदन्त उणादयः सूत्र दण्ड, उपसर्गे वसेः।

७. श.ब्रा. १.६.३-३२, ऐब्रा. ७.११-१२, शां ब्रा. ३.१

८. श.ब्रा. १.६.३-३३, ऐब्रा. ७.११-१२, उत्तरामिति कौषीतकम्, शा.ब्रा. ३.१

९. श.ब्रा. १.६.३. ३२

१०. श.ब्रा. १.६.३. ३४

दर्श इष्टि में अमावस्या के दिन उपवसथ करना चाहिये, यदि अमावस्या के दिन ही चन्द्रमा दिखाई नहीं पड़ता है[१]। यदि उपवसथ के दिन तथा व्रतोपायन के दिन चन्द्रदर्शन हो जाये तो प्रायश्चित स्वरूप अभ्युदयाष्टि का विधान मिलता है[२]। याज्ञिकों का कथन है कि दर्शइष्टि में उपवसथ कृष्णपक्ष की चतुर्दशी तथा अमावस्या की सन्धि में तथा पूर्णमासी इष्टि चतुर्दशी तथा पूर्णिमा में विहित है[३]।

इस सम्बन्ध में बौधायन का मत है कि जब सूर्य डूब रहा हो और पूर्व दिशा में चन्द्रमा की लालिमा दिखाई पड़े, तब उपवसथ दिन मानना चाहिये[४]। इस मत का अनुसरण शालीकि भी करते हैं[५]। दर्श इष्टि में बौधायन के अनुसार जब चन्द्रमा दिखाई नही पड़ रहा हो तब उपवसथ करना चाहिये[६]। परन्तु शालीकि का मत है कि चनद्रमा के दृश्यमान रहने पर भी उपवसथ किया जा सकता है[७]। अमावस्या के रात्रि में यदि चन्द्रमा अणु मात्र ही तो यह सोचकर उपवसथ कर लेना चाहिये कि कल चन्द्रमा दिखाई पड़ेगा, अतएव उपवसथ व्रतोपायन आदि सभी कर्म अमावस्या के दिन सम्पन्न करना चाहिये[८]।

व्रतोपायन

व्रतोपायन का अर्थ तथा काल— उपयतेऽनेनेति - उपायनम्, समीप में पहँचना, व्रतस्योपायनम्- व्रतोपायनम्- व्रत के समीप पहुँचना, व्रतचर्या करना। "उप" उपसर्ग पूर्व" इण् गतौ" गत्यर्थक अय् धातु से कर्म में ल्युट् प्रत्यय होकर "उप + अय + ल्यूट्" तथा ल्युट् के भू को अन् होकर उपायन शब्द सिद्ध होता है[९]।

दर्शपूर्णमास याग के अनुष्ठान काल में यजमान को व्रत अर्थात् नियमों का पालन करना पड़ता है, जिसे व्रतोपायन कहा जाता है। दूसरे शब्दों में व्रत का उपायन अर्थात् प्राप्ति ही व्रतोपायन है।

रामाग्निचित् सत्यवादिता आदि नियमों का संकल्प पूर्वक ग्रहण कर तदनुसार आचरण करने को ही व्रत मानते हैं[१०]। इसी व्रत में वह प्रतिपदा तिथि में दर्शइष्टि अथवा पूर्णमास इष्टि को करने की प्रतिज्ञा करता है[११]। व्रतोपायन के समय के विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं।

---

१. शब्रा. १.६.४.१५ ११.१.५.०, ११.१.१.४
२. पश्चाच्चन्द्रदर्शने पश्चात् चन्द्रमा नैमित्तिकेष्टिः - शब्रा. ११.१.५, तु.शां.ब्रा. ४.३, का.शब्रा. १३.१.२
३. बौ.श्रौ. १.१ बोधायनों यत्रेतदुपवसतोऽस्तमितिआदित्ये पुरस्ताचचन्द्रमालोहिती भवन्निवोदियात्तमथ्युपवसथ जानीयादिति।
४. बौ.श्रौ. १.१.३.१५
५. बौ.श्रौ. १.१.३.१५
६. बौ.श्रौ. १.१.३.१५
७. बौ.श्रौ. १.१.३.१५
८. बौ.श्रौ. १.१.३.१५, यत्रैतद्रात्रीभिरूपपन्नोऽणुश्चन्द्रमाः परि नक्षत्रमुपव्युषं भवति न स श्वो भूते दृश्यते तमप्युपवसथ जानीयादिति।
९. पा. व्या. ३.३.१३, तु.शक १ भाग, पृ. २६३, अ.को.२७५ पृ. श्लोक २७, हलायुध २७९ पृ.।
१०. आप.श्रौ. ४.३.४, पर रामाग्निचित्, मैसूर।
११. का. श्रौ. २.१, विद्याधर गौड़।

भोजन -

आषाढ़ सावयस्य का कहना है कि यदि किसी व्यक्ति के घर अतिथि आ जायें तो बिना उसे भोजन कराये स्वयं भोजन कर लेना संस्कार हीनता का द्योतक है। इस समय यजमान के पास सभी देवता विराजमान रहते हैं। अतएव बिना उनको भोजन कराये स्वयं भोजन कर लेना महान् अनुचित कर्म का आधायक है। अतएव उनकी दृष्टि में उपवसथ के दिन भोजन नहीं करना चाहिये[१]।

याज्ञवल्क्य का कहना है कि भोजन न करने का विधान पितृकार्यों में नहीं है। यदि यजमान भोजन करता है उसका सम्बन्ध पितरों से हो जायेगा। यदि बहु भोजन करता है तो देवताओं के वहाँ आ जाने पर अनुचित हो जायेगा। इस विषय समस्या की विषम स्थिति उपस्थित हो जाने पर क्या अनुकरणीय होगा? इस समस्या का समाधान करते हुए याज्ञवल्क्य का अभिमत है कि उपवसथ के दिन आरण्य औषधियों का भोजन में प्रयोग किया जा सकता है।[२] ऐसा करने से उपरिलिखित दोनों दोषों का उपशमन हो जायेगा, क्योंकि यजमान भोजन करेगा, अतएव उसका सम्बन्ध पितरों से नहीं होगा तथा आरण्यक औषधियों को खाने से देवताओं के प्रति अनादर का भाव भी नहीं होगा। कारण यह है कि आरण्यक औषधियों की हवि नहीं बना करती[३]।

याज्ञवल्क्य के इस आशय को समझकर वर्कुवार्ष्ण ने कहा है कि ठीक है मैं उस वस्तु नहीं खाऊंगा, जिससे देवताओं की हवि बना करती है। देवताओं के लिये उड़द की हवि नहीं बना करती है, अतएव मैं उपवसथ के दिन उड़द को खाऊंगा[४]। इसका खण्डन करते हुए याज्ञवल्क्य का कथन है कि उड़द को खाया नहीं जा सकता हैं, क्योंकि चावल तथा यव के आटे में शमी धान्य की पिट्ठी को मिलाकर लोग खाते हैं। चावल अथवा जौ का प्रयोग तो देवताओं की हवियों के लिये होता है, इसलिये यह सिद्धान्त स्थित हुआ कि उपवसथ के दिन यजमान और उसकी पत्नी को वन्य औषधियों का ही भोजन करना चाहिये[५]।

तत्पश्चात् आगे चलकर ग्याहरवें काण्ड में व्रतोपायन की भी मीमांसा पुनः की गई है। यदि कोई व्यक्ति ग्राम्य वस्तुओं का भोजन करता है तो वह पुरोडाश की मेध को खाता है, यदि वानस्पत्य वनस्पति से उत्पन्न फल आदि को खाता है, तो वह इध्म के मेध को खाता है। यदि दूध पीता है तो वह सान्नाय्य तथा आज्य का मेध खाता है, और यदि नहीं खाता है तो उसका सम्बन्ध पितरों से हो जाता है। इस प्रकार यज्ञ का व्रतोपायन का कौन सा मार्ग अपनाया जाये इसका उत्तर याज्ञवल्क्य ने इस प्रकार दिया है कि - अग्निहोत्र में आहुति डालकर यदि यजमान खाता है तो उसका सम्बन्ध पितरों से नहीं होता, क्योंकि यह आहुति वह अपने आप में डालता है, इसलिए उपरितन परिगणित पदार्थों का मेध वह नहीं खाता है[६]। बौधायन का कथन है कि सायं के समय में व्रतोपायन (व्रतकालीन भोजन) करना चाहिये[७]।

---

१. श.ब्रा. १.१.१.८

२. श.ब्रा. १.१.१.९, तु.का. श्रौ. २.१.१३, तु.भा.श्रौ. ४.४.५, तु. मै. सं.ब्रा १.४.१, तै.सं. १.६.७

३. शतपथ ब्राह्मण, १.१.१.९

४. श.ब्रा. १.४.१०

५. श.ब्रा. १.४.१०, तु.तै.सं. ब्रा. १.४.१, तै.सं. १.६.७

६. श.ब्रा. ११.१.७.१-४

७. बौ.श्रौ. २०-२१ स ह स्माह बौधायनः संगवकाले वा व्रतमुपेयाद धेनुषुवा दोह्यमानासु प्रणितासुवा प्रणेष्यत्सु हविष्षुवाऽऽसन्नेष्विति।

दर्श इष्टि में जब गायें दुही जा रही हों तब भोजन करना चाहिये[१]। बौधायन ने प्रणीता प्रणयन तथा हवि निर्माण के समय में भोजन का विधान किया है[२]। पूर्णमास इष्टि में भी उन्होंने इस विधि को स्वीकृति दी है। शालीकि का कथन है कि पूर्वाह्नकाल में यजमान को भोजन करना चाहिये। इस विषय में ब्राह्मण में भी प्रमाण है[३]। ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा गया है कि पूर्णमास इष्टि में वर्हिराहण के बाद भोजन करना चाहिये[४] तथा दर्श इष्टि में वत्सापकरण के पश्चात् भोजन करना चाहिये[५]।औपमन्यव का मत है कि अन्वाधान के पश्चात् संगवकाल में ही व्रतोपायन भोजन करना चाहिये[६]।

शयन -

यजमान को व्रतोपायन की रात्रि आह्वनीय अथवा गार्हपत्य के समीप पृथ्वी पर शयन करके व्यतीत करना चाहिये[७]। श्रौतसूत्रों के अनुसार उपवसथ के दिन सात्विक जीवन बिताते हुए यजमान को पूर्ण संयम से ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये[८]। इसी तरह याज्ञिक इन व्रतों का पालन करता हुआ झूठ बोलने से विरक्त रहता है[९]।

व्रतोपायन की विधि -

व्रतोपायन की विधि में यजमान आह्वनीय अग्नि के सम्मुख खड़ा होकर जल का आचमन करता है[१०]। अनेक आचार्य जल उपस्पर्शन का अर्थ जल का छूना मानते हैं[११], परन्तु यह अर्थ उचित नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि याज्ञवल्क्य ने इस उपस्पर्शन के हेतुओं का उल्लेख करते हुए कहा है कि जल के उपस्पर्शन से आन्तरिक पवित्रता (तेन पूतिः रन्तरतः) आती है[१२]।

अतएव उपस्पर्शन का अर्थ जल का स्पर्श नहीं हो सकता क्योंकि इससे वाह्य पवित्रता तो हो सकती है,परन्तु आन्तरिक पवित्रता नहीं हो सकती है। इस कथ्य के परिप्रेक्ष्य में उपस्पर्शन का अर्थ जल का आचमन

---

१. बौ.श्रौ. २०-२१, वही।
२. बौधा.श्रौ. २०-२१, वही।
३. बौधा.श्रौ. २०.१, तै.ब्रा. १.६.७७
४. तै.ब्रा. १.६.७७, ब्राह्मणवर्हिषापूर्णमासेव्रतमुपैतिवत्सैरमावस्यायांम्" आप. श्रौ. ४.२.६, वै.श्रौ.सू. २०.१, मै.सं. १.४.५, भा.श्रौ. ४.३.९,
५. वही ; ' '
६. वै.श्रौ. २४.२१, "अन्वाधानं प्रभृतीत्यौपमन्यवः" तु.आप.श्रौ. ४.२.८, तु.भार.श्रौ. ४.३.२
७. श.ब्रा. १.१.१.११, का.श्रौ. २.१.१५
८. वौ.श्रौ. २४.२१, तु.का.श्रौ. २.१.८, भा.श्रौ. ४.४.५
९. भा.श्रौ. ४.४.५, "जुगुप्सतेऽनृतात्"का.श्रौ. २.१.१२-१३, तु.पा.गृ. २.८.८
१०. शत.ब्रा. १.१.१.१, अपः उपस्पृशति श.क.भा.१ पृ. १६६, तु.आप.श्रौ. ४.३.२.९
११. आप.श्रौ. ४.३.२.९ "अप आचम्यत्युपस्पृशति वा"।
१२. शत.ब्रा. सायण भाष्य, पृ.३

करना ही उचित तथा तर्क संगत प्रतीत होता है[१]। आज भी जितने धार्मिक अनुष्ठान किये जाते हैं, उनमें सर्वप्रथम भगवान पुण्डरीकाक्षका स्मरण कर कुश से जल को अपने शरीर पर अथवा अनुष्ठान में उपयोग किये जाने वाले पदार्थों पर छिड़का जाता है। यह जल का छिड़काव बाह्य पवित्रता के लिये किया जाता है। तदनन्तर भगवान के कतिपय नामों के द्वारा जल को तीन बार हथेली में लेकर पिया जाता है[२]। इसको आचमन कहते हैं, और कृत्य शरीर की आन्तरिक पवित्रता के लिये होता है। इस जल उपस्पर्शन में दो मन्त्रों के विकल्प से विनियोग मिलता है[३]।

इध्म तथा वर्हि का आहरण

यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले इध्म तथा कुशों को यज्ञ भूमि में ले आना "इध्मवर्हिराहण" है। शुक्ल यजुर्वेदीय ब्राह्मणों में तथा श्रौत सूत्र में इस विधि का अनुल्लेख हैं। अतएव यह अनुमान किया जा सकता है कि यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले इध्म तथा कुशों का प्रयोग अवश्य किया जाता होगा, परन्तु यह एक सामान्य बात थी इसलिए शुक्ल यजुर्वेद प्रस्थान में सम्भवतः इसका उल्लेख नहीं किया गया।

कृष्णयजुर्वेदीय ब्राह्मणों में तथा श्रौतसूत्रों में इध्म वर्हि के आरहण की विधि का पूर्णतया वर्णन मिलता है। तै.सं. ब्राह्मण के अनुसार व्रतोपायन के बाद पूर्णमास इष्टि में तथा दर्श इष्टि में वत्साप्रकरण के पश्चात् इध्म वर्हि का आहरण किया जाता है[४]। गायों को चरागाह की ओर ले जाने के पहले उनके बछड़ों को उनसे अलग कर दिया जाता है, जिससे वे गायों का दूध न पी सके, तथा सायंकाल गायों को दुहा जा सके[५]। इन बछड़ों को गायों से अलग करने को ही (वत्सापाकरण) वत्स + अप-करण के नाम से अभिहित किया जाता है।

आचार्य आङ्गिगवि का कहना है कि दर्श इष्टि के अपराह्न में पितृमेध के करने के अनन्तर ही इध्मवर्हि का आरहण करना चाहिये[६]। इसके विपरीत औपमन्यव का कथन है कि दूसरे दिन प्रतिपदा को हविष्कृत (हवि को बनाने वाला) जब कार्य प्रारम्भ करता है तब इन्धन, कुश का संग्रह उचित है[७]।

मैत्रायणी संहिता ब्राहमण, काठक संहिता ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार इध्म आदि को काटने के लिये अश्वपर्शु (घोड़े की पसली हड्डी) का प्रयोग किया जाता है[८]। बौधायन तथा अन्य याज्ञिक वैकल्पिक रूप में असिद (छूरी) को भी इध्मवर्हि को काटने के उपकरण के रूप में स्वीकार करते हैं[९]। आपस्तम्ब तथा

---

१ श.ब्रा. सायण भाष्य, पृ.३ "उपस्पर्शनंचेहहाचनम्"

२. श.क.भा.१, पृ. १६६, "वैध कर्म्मारम्भात्पूर्ववारत्रयजल पानान्तरं यथा क्रम अङ्गस्पर्श रूपं श्रुद्धि जन क्रिया।"

३. वा.सं. १.५, अग्नेव्रतपतेव्रतंचरिष्यामितच्छेक्यंतन्मेराध्यतामिति"। वा. "इदमहमनृतातसत्यंमुपैति" वा.सं. १.५, तु.तै. सं. १.५.१०, तै.ब्रा. ३.७.४.५, काठ.सं. १.१४, मै.सं. १.४.१

४. तै.सं. बा., तु.भा.श्रौ. १.६.१-२

५. सं. श्रौ., १.२-४

६. बौ.श्रौ. १.२-३, २०-२

७. बौ.श्रौ. १.२-३

८. तै.बा. ३.२.२.३, मै.सं. बा., ४.१.२-३, काठ.सं.बा., १.२, कपि.सं.बा., ४७.१, तु.अ.पै.सं. १७.३९.१, अ.सं. १.२.३.३१, तु.आप.श्रौ. १.३.१, स.श्रौ. १.२.५

९. बौ.श्रौ. १.२-३, २०.२, सं.श्रौ. १.२.५

अन्य आचार्य तीसरा विकल्प भी प्रस्तुत करते हैं - बैल की पसली की हड्डी[१]। गार्हपत्य के सामने अध्वर्यु तथा यजमान खड़े होकर (देवस्यत्वा)[२] मन्त्र के द्वारा छेदक अस्त्र को हाथ में ले लेते हैं और उसे आग में तपाते हैं[३]। छेदक अस्त्र को तपाने के लिए "प्रत्युष्टं"[४] मन्त्र का विधान बताया गया है। शालीकि अश्वपर्शु को ही आग में तपाना चाहिये असिद् को नहीं, क्योंकि मन्त्र में अश्वपर्शु का उल्लेख है[५]। इसके बाद आहवनीय की ओर जाता है[६]।

आहवनीय की ओर जाने में "प्रेयमगादधृष्ण"[७] मन्त्र का प्रयोग होता है। पुनः वेदि का प्रत्यवेक्षण (इध्मवर्हिरासदे)[८] मन्त्र से होता है[९]। बौधायन का कहना है कि आहवनीय के पास से पहले तीन या चार डग पूर्व की ओर चलकर फिर जिस दिशा में इध्म और कुशों की सहज रूप में उपलब्धता हो उस दिशा में जाना उचित है[१०]। शालीकि का अभिमत है कि वेदि के दक्षिण द्वार से नहीं निकलना चाहिये। कुश आदि को लेने के लिये जिधर जाना है उधर चले जाना चाहिये। आहवनीय से पूर्व की ओर चलने की कोई आवश्यकता नहीं है[११]। अधिक कुशों का प्रयोग परिस्तरण के लिये होता है। यदि अधिक कुश न मिल सके तो उसके स्थान पर सरपत, कुतप, अश्ववाल, मुंज, सुगन्धित तेजन, अर्जुन, आदार, दूब, सावाँ, सीरतरू (बेपेड) जिनसे दूध निकलता है तथा इक्षु आदि का प्रयोग परित्तरण में किया जा सकता है[१२]। कुश भरित स्थान में पहुँचकर प्रस्तर के लिये (देवानां परिषुतमसि)[१३] मन्त्र से दर्भ स्तम्भ को ले लेना चाहिये[१४]।

इस सम्बन्ध में बौधायन का कहना है कि इस कार्य को तीन बार करना चाहिये तथा इसमें मन्त्र का विनियोग भी तीन बार आवश्यक है[१५]। इसके विपरीत शालीकि मन्त्र का विनियोग एक ही बार उचित मानते है[१६]। (वर्ष वृद्धिमसि)[१७] मन्त्र से कुश के ऊपरी भाग को झाड़-फूँक देना चाहिये। तदनन्तर "दैववर्हिमा"[१८]

---

१. आप.श्रौ. १.३.१, उत्तरेणगार्हपत्यमसिदोश्वपर्शुरनत्पर्शुर्वानिहिता। तै.सं. १.१.२, काठ.सं. १.२, कपि. १.२, अ.सं. १९.५१.१२
२. काठ.सं. १.२, मै.सं.ब्रा. ४.१.२-३, तै.ब्रा. ३.२.२-३, काठ.सं.ब्रा. ३१.१,
३. तै.सं. १.१.२, मै.सं.ब्रा. १.१-२, कपि.सं. १.२, काठ.सं. १.२, मै.सं.ब्रा. ४.१.२
४. बौ.श्री. १.२-३, आप.श्री. १.२.३.२.३, स. श्री. १.२.५, मानव श्री. १.१२३-१२७, तै.ब्रा. ३.२.२, बैखा.श्री. ३.३, वा.श्री. १.२.१.१२-१४, भा.श्री. १.३.६
५. बौ.श्री. १.२.३
६. बौ.श्री. १.२.३, आप.श्री. १.२.३.५, स. श्री. १.२.५, मानव श्री. १.१.१.२७-२८, वैखा.श्री. ३.३, वा.श्री. १.२.१.१२-१४, भा.श्री. १.३.७
७. तै.सं. १.१.२, मै.सं. १.१-२, कपि.सं. १.२, काठ.सं. १.२, मै.सं. ब्रा. १.१-२,
८. तै.सं. १.१.२,
९. बौ.श्री. १.२.३, वैखा.श्री. ३.४
१०. बौ.श्री., तथा स.श्री. १.२.५, आप.श्री. १.२.६, धूर्तस्वामी, भा.श्री. १.३.७
११. बौ.श्री. १.२.३
१२. बौ.श्री. १.२.३
१३. मै.सं. १.१-२, तै.सं. १.१.२, काठ.सं.१.२, कपि.सं. १.२,
१४. बौ.श्री. २.२.३, १.२
१५. बौ.श्री. २०-२.३, १.२
१६. बौ.श्री. २०-२.३, १.२
१७. तै.सं. १.१.२
१८. मै.सं. १.१-२, तै.सं. १.१.२, काठ.सं. १.२, कपि.सं. १.२

मन्त्र से तथा "आच्छेताते"[१] मन्त्र से कुशों को काट देना चाहिये[२]। काटे गये कुश को अभिमर्शन (देववर्हिशतवल्श)[३] मन्त्र से अभिमर्शन करता है[४]। (सहस्रवल्सा)[५] मन्त्र से अपने शरीर का अभिमर्शन करना चाहिये[६]। कुशों को काटकर उन्हें प्रस्तर का रूप देकर (पृथिव्याःसपृच्चः पाहि)[७] मन्त्र के द्वारा रख दिया जाता है[८]। प्रस्तर की लम्बाई के बारे में बहुत से मतभेद हैं।

कुछ लोग नख के बराबर १३ विशारू के बराबर, स्रुचि के दण्ड के बराबर, स्रुव दण्ड के समान, उर्वस्थि (जाङ्घ की हड्डी) के बराबर तथा अंगूठे के पर्व के बराबर प्रस्तर की लम्बाई को मानते हैं[९]। अन्य याज्ञिकों का मत है कि किसी प्रकार की लम्बाई वाले कुशों को लेना चाहिये[१०]। प्रस्तारार्थ कुश लेने के पश्चात् विषम मुट्ठी में कुशों को काटा जाता है, जितने कुशों की आवश्यकता हो तीन, पाँच, सात, नौ अथवा ग्यारह मुट्ठियों में लेना चाहिये[११]। इसके बाद गट्ठर बनवाना चाहिये। कुशों को अग्रभाग में रखकर उस पर (सुसंभृता)[१२] मन्त्र से कुश प्रस्तर को रख दिया जाता है[१३]। बौधायन का मत है जो यजुषों का प्रयोग करके लिये गये हैं, पहले गट्ठर करके पुनः उन कुशों को उन पर रखना चाहिये[१४]। जिनमें यजुषों का प्रयोग नहीं किया गया है, परन्तु शालीकि का मत है कि मन्त्रों के प्रयोग वाले कुशों को पहले मौन हो कर रखना चाहिये[१५]। पुनः जिनमें मन्त्रों का प्रयोग नहीं हुआ है उन्हें उपरितन निर्दिष्ट मन्त्र प्रयोग से रखना चाहिये[१६]। औपमन्यव नामक आचार्य का कथन है कि जिन कुशों को पहले काटा जायेगा उन्हीं का गट्ठर पहले रखना चाहिये[१७]। "इन्द्राण्यै सन्नहन"[१८]। मन्त्र से गट्ठर को बाँध दिया जाता है[१९]।

पुनः-पुनः " उच्चाते ग्रन्थि"।[२०] मन्त्र से गाँठ लगा दी जाती है[२१]। शालीकि का कहना है कि गांठ

---

१. बौ.श्रौ. २०.२.३, आप.श्रौ. १.३.१२, तै.ब्रा. ३.२.२,
२. तै.सं. १.१.२, मै.सं. १.१-२, काठ.सं. १.२ कपि.सं. १.२
३. बौ.श्रौ. २०.२.३, स.श्रौ.वही, मान.श्रौ. १.१.१, ३८, आप.श्रौ. १.४.७, तै.ब्रा. ३.२.२
४. तै.सं. १.१.२, मै.सं. १.१-२, काठ.सं. १.२, कपि. सं. १.२
५. बौ.श्रौ. २०.२.३, स.श्रौ., मान. श्रौ. १.१.१.३९, तै.ब्रा. ३.२.२
६. तै.सं. १.१.२,
७. बौ.श्रौ. २०.२.३, स.श्रौ., वैखा.श्रौ. ३.४, भा.मै. ११.४.
८. वैखा.श्रौ. ३.४, सनखंमुष्टिंददाति, स.श्रौ., वा.श्रौ. १.२.१.१७, आप.श्रौ. १.२.३.१५, भा.श्रौ. १.२.१३,
९. बौ.श्रौ. २०.२.३, तु.स.श्रौ., स्रुवदण्डमात्रंमुर्वस्थिकुल्मिमात्रं वा, आप.श्रौ. १.२.३.१६, भा.श्रौ. १.३.१४-१७
१०. भा.श्रौ. १.३.१८, अपरिमितइत्येकेषाम्।
११. वैखा. श्रौ. ३.४, भा.श्रौ. १.४.३-५
१२. तै.सं. १.१.२
१३. बौ.श्रौ. २०.२.३
१४. वही, २०.२.३, स.श्रौ. १.२.५
१५. बौ.श्रौ., २०.२.३
१६. वही, २०.२.३
१७. वही, २०.२.३
१८. मै.सं., १.४.१, तै.सं. १.१.२, कपि.सं. १.२, काठ.सं. १.२
१९. बौ.श्रौ. २०.२.३, स.श्रौ. १.२.५, मा.श्रौ. १.१.१४४ वा.श्रौ. १.२.१.२४, भा.श्रौ. १.४.११
२०. तै.सं. १.१.२, मै.सं. १.४.१, कपि.सं. १.२, काठ. १.२
२१. भा.श्रौ. १.४.१२, ग्रन्थि करोति,

बाँधते समय मन्त्र को जपना चाहिय[१]। बौधायन के अनुसार (सन्तेमास्ताम्)[२] के मन्त्र के द्वारा पश्चिम से पूर्व की ओर गांठ लगाना चाहिये[३] परन्तु शालीकि का मत है कि पूर्व से पश्चिम की ओर ही गांठ का बन्धन लगवाना चाहिये[४]। कुश के इस गट्ठर को (इन्द्रस्यत्वाबाहुभ्या)[५] इस मन्त्र से उठाकर (बृहस्पतेमूर्न्धा)[६] मन्त्र से अपने शिर पर रख लेता है[७]। (उर्वन्तरिक्ष मन्विहि)[८] मन्त्र के द्वारा उसे उठा के ले जाता है तथा गार्हपत्य के पास अथवा जहाँ भी उसे सुरक्षा समझे वहाँ (देवंगममसि)[९] मन्त्र के द्वारा वहाँ रख देता है[१०]।

बोधायन का कहना है कि स्फय अथवा किसी लकड़ी के टुकड़े को वेदि के बीच में रखकर उस पर कुश के गट्ठर को रखना चाहिये[११]। शालीकि का अभिमत है जहाँ भी रखना हो कुश के गट्ठर को वहीं रखे, परन्तु मन्त्र का प्रयोग अवश्य करना चाहिये[१२]। भारद्वाज के अनुसार आह्वनीय के पास गट्ठर को रखना चाहिये[१३]।

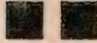
इध्म तथा परिधियाँ

उसी प्रकार से तिफरी रस्सी को बनाकर इक्कीस लकड़ियों के इन्धन को (य कृष्णरूपं कृत्वा)[१४] मन्त्र से बांध लेना चाहिये[१५]। बौधायन का कहना है कि पहले सामधेनी के लिये लकड़ियों को लेकर तब इध्म की लकड़ी लेनी चाहिये[१६]। शालीकि का मत है कि लकड़ियों की संख्या सीमित होती है[१७]। समिधाएँ एक-एक प्रदेश की होती हैं[१८]। इंन्धन पलाश अथवा खदिर की लकड़ी की होता है[१९]। यदि उनकी उपलब्धि न हो तो याज्ञिक को वृक्षों की लकड़ियाँ लेनी चाहिये[२०]।

---

१. बौ.श्रौ. २०.२.३, समयाच्छन्नैवैतं मन्त्रं जपेदितिशालीकिः।
२. तै.सं. १.१.२, मै.सं. १.४.१, कपि.सं. १.२, काठ.सं. १.२
३. भा.श्रौ. १.४.१४, बौ.श्रौ. २०.२.३
४. वही, २०.२.३, पुरात्तात्प्रत्यचमितिशालीकिः। तु.वा.श्रौ. १.२.१.२६, तु.भा.श्रौ. १.४.१३
५. तै.सं. १.१.२, मै.सं. १.४.१, कपि.सं. १.२, काठ.सं. १.२
६. तै.सं. १.१.२, मै.सं. १.४.१, कपि.सं. १.२ काठ.सं. १.२
७. बौ.श्रौ. २४, मान.श्रौ. १.१.१.४७-४८, वा.श्रौ. १.२.२७-२९, आप.श्रौ. १.४.११, ता.ब्रा. , भा.श्रौ. १.४.१६-१७
८. तै.सं. १.१.२, मै.सं. १.४.१, काठ.सं. १.२, कपि.सं. १.२
९. तै.सं. १.१.२, काठ.सं. १.२
१०. बौ.श्रौ. २४, स.श्रौ. १.२.५, मान.श्रौ. १.१.१.४९-५१, तै.ब्रा. ३.२.२
११. बौ.श्रौ. २४,
१२. बौ.श्रौ. २४, वा.श्रौ. १.२.१.२४, आप.श्रौ. १.२.४.१३, भा.श्रौ. १.४.२१
१३. भा.श्रौ. १.४.१९-२०
१४. मै.सं. १.२.४.४
१५. बौ.श्रौ. २४.२५, वैखा.श्रौ. ४.५, भा.श्रौ. १.५.१२-१३,
१६. बौ.श्रौ. २४.२५, "अनुसामिधेनीध्मं कुर्यादिति बौधायनः।"
१७. बौ.श्रौ. २४.२५, "अपरिमितमितिशालीकिः"
१८. बौ.श्रौ. २४.२५, वैखा.श्रौ. ३.४, वै.श्रौ. ३.१, स.श्रौ. १.२.५, पृ. ८८, मान.श्रौ. १.१.५.५३, परिधयः समिधिमपि प्रादेशमात्र।
१९. बौ.श्रौ. २४.२५, स.श्रौ. १.२.५, पृ. ८७, मान.श्रौ. १.१.१.५२, वैखा.श्रौ. ३.४, वा.श्रौ. १.२.२.३०, आप.श्रौ. १.२.५.५, मा.श्रौ. १.५.२
२०. बौ.श्रौ. २४.२५, मान.श्रौ. १.१.१.५२

याज्ञवल्क्य ने कहा है कि इध्म की परिधियाँ नहीं बनाना चाहिये। जो लोग ऐसा करते हैं, वे उचित नहीं करते, क्योंकि इन्धन अग्न्याधान के लिये ही होता है[१], न कि परिधि निर्माण के लिये। याज्ञवल्क्य ने कहा है कि यज्ञीय वृक्षों में विकंकत, कापर्मय, बिल्व, खदिर, तथा उदुम्बर की बनवाना चाहिये[२]। उन्होंने यह भी कहा है कि परिधियों की लकड़ियाँ गीली ही होनी चाहिये[३]। कुछ लोगों का कहना है कि यदि यज्ञ में प्रयोज्य तरुओं की लकड़ियाँ उपलब्ध न हों तो किसी भी वृक्ष की लकड़ी का इन्धन बनाया जा सकता है[४], परन्तु अररू, कैथ, अनार, सेमर, श्लेष्यात्मक (लसोड़) कदम्ब, तिलका बार्धक, बहेड़ा, राजवृक्ष (सोनालु धन बहेड़) करञ्ज, पलाण्डु की लकड़ियों का इंधन नहीं बनवाना चाहिये[५]। परिधियों की लम्बाई बोधायन के अनुसार पैर से वक्ष तक होनी चाहिये। यह परिधि अग्नि के पश्चिम में लगायी जायेगी, अवशिष्ट दोनों परिधियाँ भी बाहु के बराबर हों[६]। कतिपय विद्वानों के अनुसार परिधि की लकड़ी प्रदेश मात्र के बराबर होनी चाहिये[७]। इन सबको ले आकर यथास्थान रख देना चाहिये, जिसमें (देवपुरश्चरस ऋध्यासं)[८] मन्त्र का प्रयोग होता है।



१. श.ब्रा. १.३.३.१८, तद्वैके। इध्मस्यैवेतान परिधीन परिदधाति तदुतथा न कुर्याद ———तस्योदन्यानवाहरेयुः।

२. श. ब्रा. १.३.३.१९-२०

३. श.ब्रा. १.३.४.१, तेवा आद्राःस्युः।

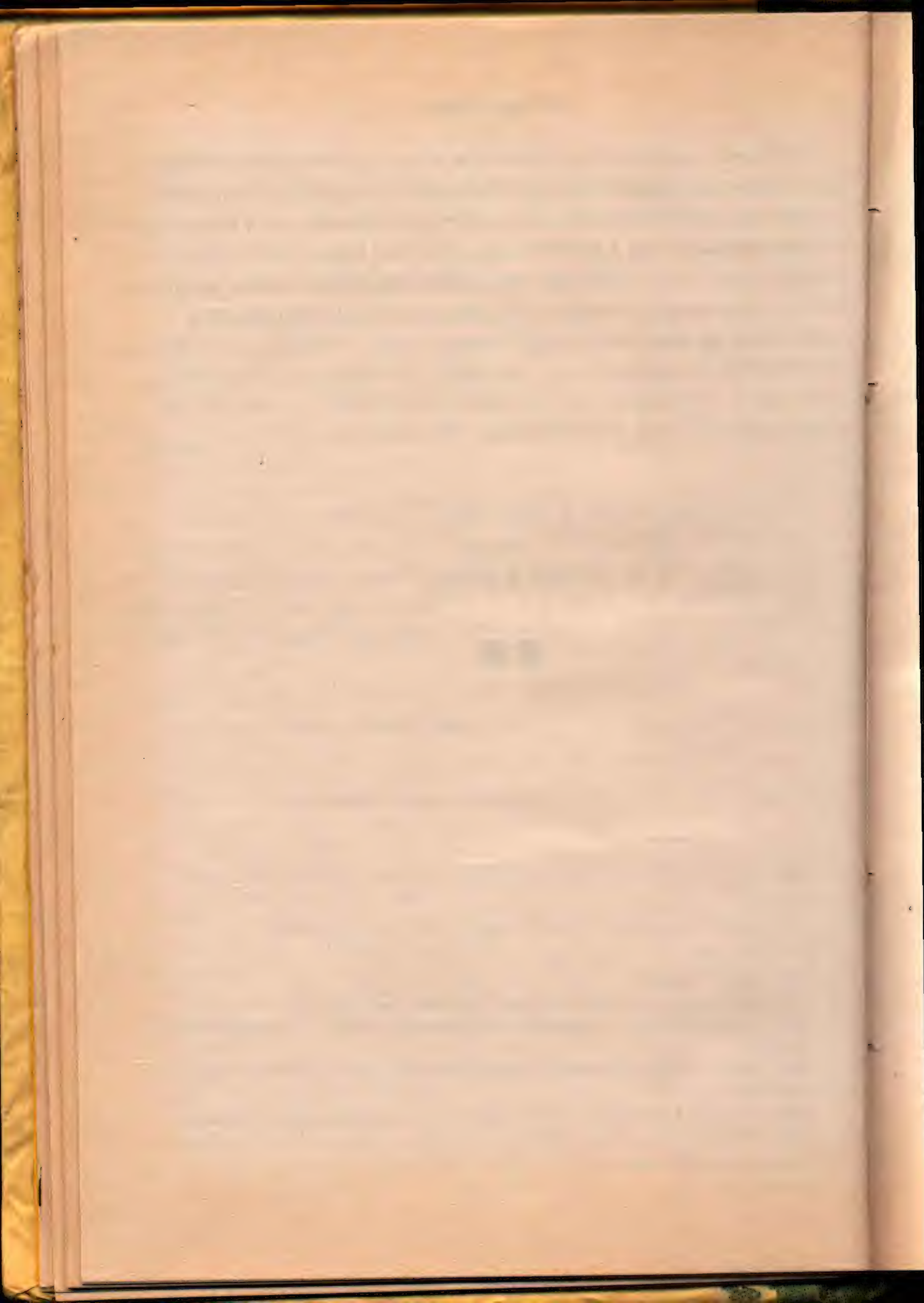
४. वा.श्री. १.२.२.३०, आप.श्री. १.२.५.७, भा.श्री. १.१.५.६-७ स.श्री. १.२.५, आप.श्री. १.२.५.७, भा.श्री. १.५.६
बौ.श्री.२४.२५, पालाशः खदिरोवेध्मः,। तमोरलाभयाज्ञिकानां वा वृक्षाणामन्यतमस्तेषामलाभे ——— सर्ववनस्पती नामिध्मे भवतीत्येके।

५. बौ.श्री. २४.२५, अरूरूकपित्थकोविरारशल्मलिश्लेष्मातकनीपनिम्बतिलकबाधक विभीतकराजवृक्ष करञ्ज पलाण्डुवर्जः सर्ववनस्पर्तानम्।

६. बौ.श्री. २४.२५, परिधीनां करण इति (सहस्था ह बौधायन उर संमितो मध्यमः स्यादथे तरौ बाहुमात्रौ स्यातामिति) सर्वस्व बाहुमात्राः स्युरिति शालीकिः।

७. वा.श्री. १.२.२.३३, आप.श्री. १.२.६.२, भा.श्री. १.५.१५,

८. मै.सं. ९.१.१२२.६



द्वितीय - अध्याय

दर्शपौर्णमास याग से सम्बद्ध सामान्य अनुष्ठान

द्वितीय अध्याय

दर्शपौर्णमास याग से सम्बद्ध सामान्य अनुष्ठान

ब्रह्मा का वरण

ब्रह्मा शब्द "वृहि वृद्धौ धातु" से "वृहेर्नोऽच्च" इस उणादिक सूत्र से "मनिन्" प्रत्यय होकर अकार तथा रत्व होकर ब्रह्मा शब्द निष्पन्न होता है।[१] ब्रह्मा नामक ऋत्विक तीन वेद को जानने वाला तेज से पूर्ण ब्रह्मा कहलाता है[२]।

यद्यपि दर्शपूर्णमास इष्टि में ब्रह्मा के वरण की विधि का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में नहीं है। अन्य याजुष ब्राह्मणों में भी उल्लेख नहीं है, तथापि दर्शपूर्णमास इष्टि में एक ऋत्विज ब्रह्मा भी होता है। अतएव उसके वरण की विधि का वर्णन यहाँ कहा जा रहा है और यह वर्णन प्रसङ्ग के अनुसार भी है। यज्ञ में ब्रह्मा को नियोजित करने के लिये ब्रह्मा का वरण किया जाता है। यह कार्य अग्निहोत्र में होम करने के पश्चात् प्रतिपदा को तिथि में सूर्य के उदित हो जाने पर किया जाता है[३], परन्तु दर्शयाग में सूर्योदय के पूर्व करना चाहिये[४]। सर्वप्रथम ब्रह्मा का वरण करने के लिये विहार के उत्तर ब्रह्मा तथा यजमान के लिये कुशों का दो आसन बनाया जाता है[५]। वरण के समय ब्रह्मा का मुख पूर्व की ओर रहता है तथा यजमान का मुख उत्तर की ओर रहता है[६]। ब्रह्मा बनने वाले व्यक्ति के दाहिने घुटने को छूकर गोत्रादि का उच्चारण पूर्वक (भूपते भुवनपते)[७] इत्यादि मन्त्र के द्वारा ब्रह्मा का वरण करता है।

वरण हो जाने पर ब्रह्मा (अहं भूपतिः)[८] इत्यादि मन्त्र को पढ़ता है। तदनन्तर ही ब्रह्मा (वाचस्पते यज्ञं गोपाय)[९] मन्त्र को पढ़ता है[१०] तथा जिस स्थान पर उसका वरण किया गया है उस स्थान से उठकर आहवनीय के पूर्व अथवा पश्चिम की ओर होता हुआ वेदि के दक्षिण भाग में रखे गये ब्रह्मा के आसन के पास जाता

---

१. पा. व्या. ३.४.१४६, द्र. श. क. भाग १११, पृ. ४४२, अ. को. - पृ.८ । प्रथम खण्ड ।
२. शां. ब्रा. ६.१०-१३, तु. जै. ब्रा. १.३५८, श. ब्रा. ११.५.८.७, का. श. ब्रा. १३.५.८.८
३. आप. श्रौ. १.१५.१ , का. श्रौ. २.१.१७
४. आप. श्रौ. १.१५.१
५. बेवर का. श्रौ., पृ. १७७
६. वही, पृ. १७७
७. तै. ब्रा. ३.७.४.६०१, का. श्रौ. २.१.१७, आप. श्रौ. ३.१८.२
८. तै. ब्रा. ३.७.४.६०१
९. तै. ब्रा. ३.७.४.३
१०. आप. श्रौ. ३.१८.२७

है[१] तथा उसके समीप उत्तर की ओर पूर्वाभिमुख खड़े होकर (अहैदधिपव्य)[२] मन्त्र के द्वारा अपने आसन को देखता है[३]। तदनन्तर वह ब्रह्मा सदन से कुश की एक पत्ती उठाकर (नैऋत) दिशा में "निरस्तः पाप्मा"[४] मन्त्र पढ़कर फैंक देता है। काठक और मानव के अनुसार ब्रह्मा कुश की पत्ती को दो टुकड़ों में करता है और दक्षिण दिशा में फेंक देता है[५]। शांखायन का कहना है कि "तृण निरसन्" होता को भी करना चाहिये[६]। इसके बाद (इदमहं बृहस्पतिः)[७] मन्त्र के द्वारा अपने स्थान पर ब्रह्मा आहवनीय की ओर मुख करके बैठता है[८]।

ब्रह्मा वैष्णव मन्त्र का जाप करते हुए सभी क्रियाओं के अधीक्षक के रूप में विराजमान रहता है[९], तथा अध्वर्यु ब्रह्मा से आज्ञा लेकर ही कोई कार्य करता है, यदि प्रमाद वश गलत मन्त्रों का उच्चारण हो जाता है तो वह वैष्णवी ऋचा तथा व्याहृति का जप करके मौन हो जाता है[१०]।

प्रणीता प्रणयन

दर्श इष्टि में शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा के दिन तथा पौर्णमासी इष्टि में कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को प्रातः काल सर्वप्रथम प्रणीता प्रणयन किया जाता है। इसका दूसरा नाम "अपां प्रणयन" भी है[११]। "प्र"उपसर्ग पूर्वक नी धातु से "क्त" प्रत्यय होकर प्रणीता शब्द निष्पन्न होता है[१२]। प्रणीता जल को कहा जाता है। अश्वस्थ काष्ठ से निर्मित चार अङ्गुल लम्बा आठ अङ्गुल गहरे पात्र में प्रणीता नामक जल को लाने से प्रणीता कहा जाता है[१३]। अभिचार काम के लिये कांस के पात्र, ब्रह्मवर्चसी के लिये लकड़ी के पात्र, प्रतिष्ठा काम के लिये मिट्टी के पात्र तथा पशु काम के लिये गोदन पात्र में जल का प्रणयन किया जाता है[१४]। कतिपय याज्ञिक प्रणीता प्रणयन पात्र आसटन के पश्चात् उचित समझते हैं[१५], परन्तु शुक्लयजुर्वेदीय प्रस्थान में प्रणीता प्रणयन करने के अनन्तर

---

१. का. श्रौ. २.१.२१, आप. श्रौ. ३.१८.२
२. का. श्रौ. २.१.२१
३. का. श्रौ. २.१.२१
४. का. श्रौ. २.१.२२, "निरस्तः पाप्मा सह तेन यं द्विष्मः" आप. श्रौ. ३.१८.२, शां. श्रौ. १.६.६, शां. ब्रा. ६.१०.१३, गो. ब्रा. २.१.२, वैखा. श्रौ. ४.२
५. का. श्रौ. वेबर पृ. १७७, शां श्रौ. १.६.६, काठ के तस्मात्तृणमादायोचयतः प्रतिच्छिध्य दक्षिणा प्रत्यत्कृणं निरस्यतीति मानवेऽप्येवमेवास्ति।
६. का. श्रौ. वेबर पृ. १७७, शां. श्रौ. ४.६.५, "होत्रातृणनिरसनमिति"।
७. श. ब्रा. १.७.४.१९, तै. ब्रा. ३.७.४.६ शां. ब्रा. ६.१०.१३, गो. ब्रा. २.१.१
८. वा का सं. २.३ का श्रौ. २.२.१, आप. श्रौ. ३.१८.३
९. का. श्रौ. २.२.६, आप. श्रौ. ३.१८.२४
१०. श. ब्रा. १.१.९.४, का. श्रौ. २.२.७, आप. श्रौ. ३.१८.५, तु. वै. श्रौ. १.२.३
११. श. ब्रा. १.१.१२
१२. पा. व्या. ३.३.५६, द्रुम. शब्द क. द्रुम पृ. २५० भाग १११,
१३. श्रौत प. नि., पृ.९
१४. का. श्रौ. सू. २.३.५, आप. श्रौ. १.१६.२, वैखा. श्रौ. ४.२, भा. श्रौ. १.१७.११, तु. बौ. श्रौ. सू. सायण भाष्य दर्शपूर्णमास भाग पृ. १२०, सं. श्रौ. १.४.१३, वा. श्रौ. १.२.४.५, वैखा. श्रौ. ४.२
१५. बौ. श्रौ. सायण भाष्य दर्शपूर्णमास भाग, पृ. ११५, भा. श्रौत पृ. ११, स. श्रौ. १.४, ब्रा. श्रौ. पृ. २०, वै. श्रौ. पृ. ४१, आप. श्रौ. १.१५.९

ही पात्रासादन होता है। याज्ञवल्क्य का कहना है कि प्रतिपदा के दिन सर्वप्रथम प्रणीता प्रणयन कर्म को ही करना चाहिये[१]। इसके लिये उन्होंने अनेक तर्क प्रस्तुत किये हैं। आप शब्द "आप्" लृ व्याप्तौ धातु से निष्पन्न होता है[२]। इस निरूक्ति को दृष्टि में रखते हुए जल व्यापक है। यज्ञ करते समय अध्वर्यु, यजमान अथवा कोई भी यदि कोई त्रुटि पूर्ण कार्य करता है तो वह त्रुटि प्रणीता जल से समाप्त हो जाती है और यज्ञ के सभी कर्मों की आप्ति हो जाती है[३]। जल वज्र के द्वारा विघ्नकारक असुर, राक्षसों को मार भगाने का काम भी जल ही करता है[४]। जल वज्र होने का हेतु भी है[५]। धरती पर जल जिधर से जाता है उधर धरती को गड्ढे में परिणित करता है। वहाँ जल प्रवाह से नाली या नाले बन जाते हैं और वहाँ बाढ़ के समय जल भर जाता है उसे औरूकार कहते हैं। वहाँ के सारे पौधे झुलस जाते हैं। इस प्रकार ऋषियों ने जल की शक्ति को देखते हुए इसे वज्र कहा है। अतएव प्रणीता प्रणयन का प्रारम्भ युक्ति संगत है। जो लोग पात्र संसादन के पश्चात् प्रणीता प्रणयन का विधान मानते हैं वे यज्ञ के अयन से हट जाते हैं।

विधि -

इस विधि में सर्वप्रथम (वानस्पत्य)[६] मन्त्र से मौन होकर "देवेभ्य शुन्धध्वं"मन्त्र से प्रणीता को धोया जाता है[७]। सर्वप्रथम अध्वर्यु (ब्रह्मन् अपः प्रणेष्यामि)[८] कहकर ब्रह्मा से प्रणीता प्रणयन के लिये आज्ञा लेता है, जब वह ब्रह्मा से प्रणीता प्रणयन के लिये आज्ञा लेता है- तभी यजमान को मौन होने के लिये निर्देश देता है[९], तथा उस समय जल भरते तदनन्तर अध्वर्यु सर्वप्रथम प्रणीता पात्र में जल भरकर गार्हपत्य के उत्तर रखता है[१०] तथा उस समय जल भरते समय (कस्त्वायुनक्ति)[११] मन्त्र का प्रयोग होता है और (भूतस्त्वा भूत करिष्यामि) मन्त्र से उसका स्पर्श करता है[१२]। आचार्य कर्क के मत में केवल प्रणीता को ही स्पर्श करना उचित है[१३], परन्तु अन्य याज्ञिक जल के स्पर्श का विधान करते हैं। जिस समय यजमान को दिया जाने वाला प्रैषसमाप्त होता है उसी

---

१. श. ब्रा. १.१.१२,
२. शत. ब्रा. १.१.१३,
३. श. ब्रा. १.१.१४-१५,
४. श. ब्रा. १.१.१७, "यदेपवज्रोवाऽआपो व्रजेहि वाऽआप",
५. वही, . १.१.१७,
६. तै. ब्रा. १.२.४, मै. सं. १.२.८,
७. वा. श्रौ. १.२.४.६, वैखा. श्रौ. ४.२,
८. शां. ब्रा. ६.१०-१३, का. श्रौ. २.३.२, तु. आप. श्रौ. १.१६.४, वा. श्रौ. १.२.४.९, स. श्रौ. १.४.१३, भार श्रौ. १.१८.५, वैता. श्रौ. १.२.१, वैखा. श्रौ. ४.३, बौ. श्रौ. २४. २४—२५,
९. का. श्रौ. २.३.२, "यजमानं वाचं यच्छेत्याह", तु. को. सू. २.१०, वा. श्रौ. १.२.४.११,
१०. श. ब्रा. १.१.१.१८, "ता उत्सिच्योत्तरेण गार्हपत्यं सादयति" तु. का. श्रौ., वा. श्रौ. १.२.४.१०,
११. वा. सं. १.६, वा. का. सं. २.३,
१२. का. श्रौ. २.३.१,
१३. का. श्रौ. २.३.१, कर्क भाष्य, "पात्रस्येति कर्कः उदकस्येति याज्ञिकाः" तु. वा. श्रौ. १.२.४.१२, वैखा. श्रौ. ४.३,

समय ब्रह्मा (देवसिवतः) प्रणय इत्यादि मन्त्र को उपांशु रूप में पढ़ता है और मन्त्र की समाप्ति में उच्चस्वर से (ऊं प्रणय) कहकर प्रणीता को गार्हपत्य के समीप से उठाकर आहवनीय के समीप उत्तरी अंश पर दर्भ के ऊपर रखता है[१]। प्रणीता का प्रणयन करते समय (कस्त्वायुनक्ति)[२] इत्यादि याजुष् का उच्चारण किया जाता है। इस प्रसङ्ग में ध्यातव्य है कि आहवनीय से प्रणीता पात्र न बहुत दूर हो और नही बहुत समीप हो और वह आहवनीय की सिधाई में रहे[३]।रखे गये जल को कर्म समाप्ति पर्यन्त कुशों से ढककर रख देना चाहिये[४]। इस समय उसे हिलाना तथा उसमें कुछ डालना निषिद्ध है[५]। प्रणीता का जल जैमिनि के अनुसार हवि का आटा गूँथने के लिये होता है[६]। आचार्य कर्क का मत है कि यह प्रणीता जल से सम्बन्धित सभी कार्यों के लिये है। अन्य लोगों का कहना है कि प्रणीता का आधान अदृष्ट अर्थ के लिये है[७]। आहवनीय तथा प्रणीता के मध्य से कोई आ जा नहीं सकता है[८]।

पात्रासादन

यज्ञ में जिन पात्रों का उपयोग किया जाता है उन पात्रों को अग्नि के समीप बिछाये गये कुशों पर पात्रों को यथाक्रम से रखने को पात्र आसादन कहा जाता है[९]। "पा" पानो "पा" रक्षणे धातु से "सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्" सूत्र से ष्ट्रन् प्रत्यय होकर पात्र शब्द निष्पन्न होता है[१०]। इस विधि में सर्वप्रथम अध्वर्यु गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि के क्रम से चारों और कुश बिछाता है। इसको कुश परिस्तरण कहा जाता है[११]। ध्यातव्य है कि कुश सोलह-सोलह होते हैं। पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख करके प्रत्येक तरफ चार-चार कुश बिछाया जाता है[१२]। यह पात्रासादन आहवनीय या गार्हपत्य के पश्चिम या उत्तर में रखा जायेगा[१३]। बौधायन का अभिमत है कि गार्हपत्याग्नि के पास ही सर्वप्रथम कुश परिस्तरण करना चाहिये। परिस्तरण पहले पूर्व में किया जायेगा फिर दक्षिण में, फिर पश्चिम में, इसी प्रकार क्रमशः अन्वाहार्य पचन तथा आहवनीय अग्नि का भी परिस्तरण किया जायेगा[१४]। वस्तुस्थिति

---

१. बौ. श्रौ. १.४.२४-२५, श. ब्रा. १.१.१.२०, आप. श्रौ. १.१६.८, भा. श्रौ. १.१८.८, स. श्रौ. १.४.४, वैखा. श्रौ. ४.३

२. वा. सं. १.६

३. का. श्रौ. विद्याधर २.३.३, श. ब्रा. १.१.१.२

४. का. श्रौ. बेवर पृ. १८२, "प्रणीतानां दर्भेषुसादनंदर्भैरपिधान च कर्तव्यम्।" स. श्रौ. महादेव वैजयन्ती, १.४.१४

५. आप. श्रौ. १.१६.९, स. श्रौ. १.४.१३

६. जै. पू. मी, ४.२.१२-१५, सयंवनार्था एव,

७. का. श्रौ. बेवर, पृ. १८२, कर्काचार्याणा मते सर्वथा एव इतरेपा मदृष्टार्था एवेति।

८. श. ब्रा. १.१.१.२२, "ना अन्तरेणगच्छेयुः" का. श्रौ. २.८.४, स. श्रौ. १.४.१४

९. श्रौ. पा. नि., पृ. १७-१५

१०. पा. व्या. ३.४.१५९, तु. अ. को. पृ. २५६ (काण्ड, शब्द. क. पृ. १०८) १ भाग, श. ब्रा. १.१.१.२२, का. श्रौ. ४२.३.६, स. रौ. १.४.१२, आप. श्रौ. १.१५.३-४,

११. श्रौ. प. नि. पृ. १५, तत् आहवनीय दक्षिणाग्निगार्हपत्यान् क्रमेणदर्भैः परिस्तृणाति। भा. श्रौ. १.१६.१, वा. श्रौ. १.२.४.१

१२. श्रौ. प. नि. पृ. १५, अग्ने षोडशाभिदर्भैः प्राच्यादिषु परिस्तृतिः इति वचनात् प्राच्यां प्रथम मेखलोपरिचतुर्भिस्तथैव दक्षिणस्यां प्रतीच्यामुदीच्यां च क्रमेणस्तरणं परिस्तरण पदार्थः। द्र. का. श्रौ. २.३.९, तु. स. श्रौ. १.४.१०-१३

१३. का. श्रौ. २.३.९, श्रपणस्य पश्चाद्युत्तरतोवा, तु. आप. श्रौ. १.१५.७, वैखा. श्रौ. ४.१, सं. श्रौ. १.१३, वा. श्रौ. १.२.४.२

१४. श. ब्रा. १.१.२.२३, स यस्य गार्हपत्ये हवींषि श्रपयन्ति। गार्हपत्ये तस्य पात्राणि सं सादयति जघनेन तर्हिगार्हपत्यं सादयेधस्याहवनीये हवींषि श्रपन्त्याह्वनीये तस्य पात्राणि सं सादयन्ति -१ द्र. का. श्रौ. बेवर पृ. १८४

यह है कि यदि हवि आहवनीय अग्नि में पकाई जायेगी तो पात्र आह्वनीय के पास रखे जायेंगे। इस प्रकार यदि गार्हपत्याग्नि में हवि पकाई जायेगी तो सभी पात्र गार्हपत्य के समीप स्थापित किये जायेंगे[१]।

बौधायन के अनुसार गार्हपत्य के उत्तर में कुशास्तीर्ण भूमि पर रखना चाहिये[२]। इस कृत्य को अध्वर्यु या यजमान कोई भी कर सकता है[३]। सर्वप्रथम सभी पात्रों को धोया जाता है[४]। जिस क्रम से पात्रों का प्रक्षालन किया जाता है उसी क्रम से आग पर तपाकर दो-दो पात्रों को एक साथ रखा जाता है। इन पात्रों के पाँच युग्म हैं -

(क) शूर्प - अग्नि होत्रहवणी, (ख) स्फय - कपाल, (ग) शम्याकृष्णजिन, (घ) उलूखल - मुसल, (च) दृषद - उपल (सिल लोढ़ा)[५]। गार्हपत्य के पश्चिम में रखे गये पात्र का मुख पूर्व की तरफ तथा उत्तर की तरफ रखे गये पात्र का मुख पश्चिम की तरफ होना चाहिये[६]। बौधायन आदि का मत है कि इसी समय यज्ञ के उपयोग में आने वाले सभी पदार्थ तथा अन्य पात्र भी पूर्वतन निर्दिष्ट पात्रों के समीप में लाकर रखना चाहिये[७]।

तै. सं. में पात्रों को यज्ञ का आयुध कहा गया है[८]। उस का यह कहना उचित भी है, क्योंकि याज्ञवल्क्य के अनुसार यज्ञ एक संग्राम है, अतएव यज्ञ को जीतने के लिये आयुधों की आवश्यकता पड़ेगी ही, इसलिये यज्ञ के प्रयोज्य पात्रों को आयुध की संज्ञा दी गई है। तै. सं. ब्राह्मण में भी शतपथ ब्राह्मण में कहे गये सभी पात्रों का उल्लेख है तथा उनकी संख्या उतनी ही बताई गई है[९], परन्तु पात्रों के आसादन में क्रम भेद परिलक्षित होता है[१०]।

इसके बाद गौण पात्रों के रूप में अन्य पात्र आहवनीय के उत्तर में रखे जाते है[११]। पवित्र छेदन करने वाले कुश, दो पवित्र — धृष्टि, संयवन के लिये जल, स्थाली,आज्य, वेद, दक्षिणा में देय अभ्रिक, इध्म, विर्ह, स्रुव, जूहू, स्रुची, उपभृत स्रुची, धूंवा स्रुची, सम्मार्जन के लिये कुश, दो प्राशित्रहरण, श्रुतावदान, एक पुरोडाश पात्री, योक्त्र, नये कुश, तीन परिधियाँ, कुश, बिछा हुआ पीढ़ा, इड़ा पात्री, षड़वत्त, अन्तर्धानकट, पूर्णपात्र , समिधाएँ आदि यज्ञोपपयोगी वस्तुओं को पूर्ववत् दो-दो की संख्या में रखना चाहिये[१२]। गाड़ी गार्हपत्य के पीछे रखी जायेगी,

---

१. बौध. श्रौ. अत्रोऽस्माह बौधायन उत्तरेणगार्हपत्यं तृणानि संस्तीर्ण तेषु पात्राणि संसादयेदिति।

२. का. श्रौ.. २.३.७, यजमानोवा

३. श्रौ. प. नि., पृ. १५, भा. श्रौ. १.१६.१, आप. श्रौ. सू दीपिकाकार, १.१५.६, वा. श्रौ. १.२.४१

४. श. ब्रा. १.१.१.२२, द्वन्दं पात्राण्युदाहरिति, तै. सं. बा. १.६.८, का. शं. बा. २.१.१, मै. सं. बा. १.४.१०, का. श्रौ. २.३.६, आप. श्रौ. १.१५-१६, बौ. श्रौ. २०.५, स. श्रौ. १.४१३, भा. श्रौ. १.१६.२, वैखा. श्रौ. ४.१, वा. श्रौ. १.२.४.२, आश्व. आप. श्रौ. विमर्श, पृ. ८२

५. श. ब्रा. १.१.१.२२, शूर्पचाऽग्निहोत्रहवणी च, स्फयं च कपालानि च शम्यां च कृष्णाजिनं च। उलूखमुसले। दृषदुपले ! वा. श्रौ. १.२.४.२, का. श्रौ. २.३.८

६. का. श्रौ. २.३.८, आप. श्रौ. १.१५-१६, बौ. श्रौ. २०.५, स. श्रौ. १.४.१३ भा. श्रौ. १.१६.२, आश्व. आ. श्रौ. विमर्श:, पृ. ८२

७. बौ. श्रौ. १.४.३.२३-२४, "यानि कानि चान्यानि पात्राणि नान्येवमेव द्वन्दं सं साध। वा. श्रौ. १.२.४.३

८. तै. सं. बा. १.६.८.३,

९. तै. सं. बा. १.६.८.३, "चैतानिवै दश यज्ञायुधानि", तु. वैखा. श्रौ. पृ. ४।

१०. तै. सं. ब्रा. १.६.८.३, स्फयश्च कपालानि चाऽग्निहोत्रहवणी चशूर्प च कृष्णाजिन च शम्यां योलूखलं च मुसलं दृषच्चोपला चैतानि। तु. बौ. श्रौ. १.४.३.२३-२४, वैखा. श्रौ. ४.१, स. श्रौ. १.४.१३, आप. श्रौ१.१५.७, भा. श्रौ. १.१६.२-:

११. बौ. श्रौ. १.४.२.२३-२४, आप. श्रौ. १.१५.८, तु. मै. सं., पृ.१०, वैखा. श्रौ. ४.१, भा. श्रौ. १.१६.३

१२. बौ. श्रौ. १.४.३.२३-२४, का. श्रौ. वेबर टीका, पृ. १९०, वैखा. श्रौ.४.१, स. श्रौ. १.४.१३, आप. श्रौ. २.१५.८, भा. श्रौ. १.१६.४.६, तु. वा. श्रौ. १.२.४.४,

गाड़ी में हवि के लिये अन्न भरा रहेगा, गाड़ी का अगला भाग पूर्व की ओर रहेगा[१]। पात्रों की विशेष विधायें उनका उललेख स्थान-स्थान पर किया जायेगा।

हवि निर्वाप

हवि निर्वाप शब्द का अर्थ यज्ञ के लिये नियत परिमाण में हवि को ग्रहण करना है, हवि का निर्वाप हविष्य अन्न से भरी गाड़ी से किया जाता है। इस सन्दर्भ में यह भी ध्यातव्य है कि यजमान स्वयं हवि है। यह तथ्य वेद वर्णित पुरुष सूक्त में प्रतिपादित पौरूष यज्ञ से भी सिद्ध होता है [२], क्योंकि पुरुष ने अपने आप को यज्ञ में होम दिया था। सामान्यतया इस प्रसङ्ग में हवि निर्वाप का अर्थ तन्निमित्त हवि अन्न को ग्रहण करना है।[३]

इस कर्म में " कर्मणे वां " मन्त्र के द्वारा दाहिने हाथ से अग्निहोत्र हवणी तथा बायें हाथ से शूर्प को उठा लेता है।[४] उन दोनों को गार्हपत्याग्नि पर (प्रत्युष्टं) अथवा (निष्टप्तं) [५] मन्त्र से तपाता है[६]। तदनन्तर पूर्व वर्णित बैलगाड़ी की ओर "उर्वन्तरिक्षमन्वेमि"[७] मन्त्र पढ़ता हुआ जाता है[८]। बैलगाड़ी के पास पहुँचकर अध्वर्यु बैठ जाता है[९]! इसके बाद "धूरसि"[१०] मन्त्र से जुवा के दाहिने तथा वाम भाग को छूता है[११]। कृष्ण यजुर्वेदीय प्रस्थान में जुवा के उत्तर भाग के स्पर्श का विधान है।[१२] कर्क के अनुसार पहले जुवा के दक्षिण भाग तदनन्तर उत्तर भाग का अध्वर्यु अभिमर्शन करता है।[१३] परन्तु यह मत युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि श्रुति में "धू" एक वचन का ही प्रयोग मिलता है।

---

१. का. श्रौ. वेबर, पृ. १९०, "हविष्य सहित मनो गार्हपत्यस्य पश्चात् प्राङेष्ववस्थापयेत् अनः शकटम्।

२. वा. सं. ३१.९-१०, १४-१६

३. आप. श्रौ. १.१७.१९, रूद्रदत्त भाष्य, "देवतार्थत्वेन पृथक करणं निर्वापः।"

४. वा. सं. १.६ काठ. सं. १.४१, कपि. १.४-५, तु तै. सं. १.१.४.२, ४- श. ब्रा. १.१.२.१, का. श. ब्रा. २.१.२.३., काठ. सं. ब्रा. ३१.३.४ मै. सं. ब्रा, ४.१.४-६, तै. ब्रा. ३.२.४३, कपि. सं. बा. ४७.३-४, का. श्रौ. २.३.१०, मान. श्रौ. १.२.१.२०, वा. श्रौ. १.२.४.१३-१६, आप. श्रौ. १.१७.१ स. श्रौ. १.५.१५, भा. श्रौ. १.१८.१० बौ. श्रौ. १.४.६.३५

५. वा. सं. १-७, कपि सं. १.४-५, काठ. सं. १.४.१, मै. सं., तै. सं. १.१-४.३,

६. श. ब्रा. १.१.२.२, का. श. बा. २.१.२-३, का. श्रौ. २.३.११.१२, आप. श्रौ. १.१७.१, मान. श्रौ. १.२.१.२२, वा. श्रौ. १.२.४.१५-१६, स. श्रौ. १.५.१५, मा. श्रौ. १.१८.१२, बौ. श्रौ. १.४.६.१५

७. वा. सं. १-७, काठ. सं. १.४.१, कपि. सं. १.४-५

८. श. ब्रा. १.१.२.३, का. श. बा. २.१.२-३, का. श्रौ. २.३.११-१२, आप. श्रौ. १.१७.३, मान. श्रौ. १.२.१.२२, वा. श्रौ. १.२.४.१५-१६, स. श्रौ. १.५.१५, भा. श्रौ. १.१८.१२

९. का. श्रौ. वेबर, पृ. १९१

१०. वा. सं. १.८, तु.वा.का.सं. १.३-४, काठ. सं. १.४.१, मै.सं. १.१.४.६, तै.सं. १.१.४.४

११. श.ब्रा. १.१.२.१०-१२, का.श.ब्रा. २.१.२३, मै.सं.ब्रा. ४.१.४-६, का. श्रौ. २.३.१३, आप. श्रौ. १.१७.५, तु.भारश्रौ. १.१९.४५, वा. श्रौ. १.२.४.२२, स. श्रौ. १.५.१५, मान. श्रौ. १.२.१.२४, बौ. श्रौ. १.४.६.१५

१२. आप. श्रौ. १.१७.५, "दक्षिणां युगधुरमभिमृशत्युत्तरां वा"।

१३. का. श्रौ. कर्क भाष्य, पृ. १०६, "दक्षिणामभिमृश्य तत् उतराम्"।

याज्ञवल्क्य भी इसी को मानते तथा कात्यायन भी इसका समर्थन करते हैं[१]। "देवानामसिवह्नितमम[२]" मन्त्र का जाप करके कस्तम्भी तथा इषा का स्पर्श अध्वर्यु करता है।[३] तदनन्तर "विष्णुस्त्वाक्रमताम्"[४] मन्त्र को पढ़कर हवि के लिये रखे गये अन्न को लेने के लिये बैलगाड़ी पर आरोहण करता है[५]। बैलगाड़ी पर आरोहण उसके किस हिस्से पर होगा इसका उल्लेख न तो याज्ञवल्क्य ने किया है तथा न ही कात्यायन ने, किन्तु कात्यायन की टीका में तथा याज्ञिक देव आदि का मत है कि दाहिने ओर के पहिये के ऊपर से बैलगाड़ी पर चढ़ना चाहिये[६]। आपस्तम्ब ने बायीं ओर के पहिये पर से बैलगाड़ी पर चढ़ने का विधान किया है।[७] बैलगाड़ी पर चढ़कर अध्वर्यु "उरू वाताय भर्व" मन्त्र के द्वारा हविष्य अन्न को स्पर्श करता है[९]। यदि हविष्यान्न में कोई तिनका या मिट्टी पड़ी हो तो उसे "अपहतं रक्ष ६"[१०] मन्त्र पढ़कर निकालता है और बाहर फेंक देता है[११]। यदि कोई तिनका आदि हविष्य अन्न में न हो तो भी मन्त्र पढ़कर उसका स्पर्श करना चाहिये।[१२] तदनन्तर (यच्छन्तापञ्च) मन्त्र को पढ़कर दाहिने हाथ की पाँच अङगुलियों को हविष्य अन्न में डाल देता है।[१३] इस कर्म के बाद बायें हाथ में शूर्प को लेता है और उसके ऊपर अग्निहोत्र हवणी को उत्तान करके रख देता है[१४] और पूर्वाभिमुख बैठ जाता है। तदनन्तर "देवस्यत्वा"[१५] मन्त्र के द्वारा मुट्ठी में अन्न लेकर शूर्प तथा अग्निहोत्र हवणी में डालता है।[१६] अभीष्ट देवता के लिये तीन मुट्ठी अन्न मन्त्र के द्वारा लिया जाता है तथा चौथी मुट्ठी में अन्न को बिना मन्त्र के लिया जाता है।[१७] इस प्रकार पूर्णमासी इष्टि में अग्निदेवता के लिये तथा अग्नि और सोम देवता के लिये चार-चार

---

१. श. ब्रा. १.१.२.१०, का. श्री. २.३१३

२. वा. सं. १.८-९, वा. का. सं. कपि. सं. १.४-५, मै.सं. १.१.४.६, तै. सं. १.१.४.५-६,

३. श. ब्रा. १.१.२.१२, का. श. ब्रा. २.१.२.३, का. श्री. २.३.१४, तु. आप. श्री. २.१७.४, तु. भार श्री. १.१९.६, वा. श्री. १.२.४.२३, स. श्री. १.५.१५, मान. श्री. २.१.२७, बौ. श्री. १.४.६.१५

४. वा. सं. १.९, मै. सं. १.१.४-६, काठ. सं. १.४.५, तै. सं. १.६.५.१२०,

५. श. ब्रा. १.१.२.१३, तु. का. श. ब्रा. २.१.२-३, का. श्री. २.३.१५, मान. श्री. २.१.२.२६, वा. श्री. १.२.४.२४, आप. श्री. २.१७.७, स. श्री. १.५.१५, भार श्री. १.१९.७, मान. श्री. १.२.१.२६, बौ.श्री. १.४.६.१५

६. का. श्री. वेबर, पृ. १८५, "दक्षिण चक्रस्योपर्यारोहणं करोति"।

७. आप. श्री. १.१७.७, सव्ये चक्रे दक्षिणं पादमत्वाधाय आरोहति। तु. सं. श्री. भार श्री. १.१९.७

८. वा. सं. १.९, तै. सं. १.१.४.८, मै. सं. १.१.४.६, काठ. सं. १.४-५, कपि. सं. १.४-५,

८. श. ब्रा. १.१.२.१४, तु. का. श. ब्रा. २.१.२-३, का. श्री. २.३.१६, तु. आप. श्री. १.१७.८, मान. श्री. १.२.१.२७, वा. श्री. १.२.४.२६, स. श्री. १.५.१५, भार श्री. १.१९.९, मान. श्री. १.२.१.२८-२९, बौ. श्री. १.४.६.१५

९. वा. सं. १.९

१०. श. ब्रा. १.१.२.१५, तु. का. श. ब्रा. २.१.२-३, का. श्री. २.३.१७, तु. आप. श्री. १.१७.९, मान. श्री. १.२१.२८, वा. श्री. १.२.४.२७, स.श्री. १.५.१५, बौ. श्री. १.४.६.३.१५

११. का. श्री. २.३.१८, "अविद्यमानेऽभिमृशेत्"

१२. वा. स. १.९, मै. सं. १.१.४-६, काठ. सं. १.४-५

१३. श. ब्रा. १.१.२.१६, तु. का. श. ब्रा. २.१.२-३, का. श्री. २.३.१९, तु. आप. श्री. १.१७.१०, मान. श्री. १.२.१.२९, वा. श्री. १.२.४.२७, स. श्री. १.५.१५, भार श्री. १.१९.१०, बौ. श्री. १.४.६.१५

१४. का. श्री. वेबर, पृ. १२१

१५. वा. स. १.१०, तु. तै. सं. १.१.४.९, मै. सं. १.४.५.६, काठ. सं. १.४.५,

१६. श. ब्रा. १.१.२.१७, तु. तै. ब्रा. ३.२.४.५, का. श. ब्रा. २.१.२-३, मै. सं. ब्रा. ४.१.४-६, काठ. सं. ब्रा. ३१.३.४, का. श्री. २.३.२०, तु. आप. श्री. १.१७.११, मान. श्री. १.२.१.३०-३१, वा. श्री. १.२.४.२८, स. श्री. १.५.१५, भार श्री. १.१९.१०, बौ. श्री. १.४.६.१५

१७. तै. ब्रा. १.२.४, "तूष्णी चतुर्थम्"। का. श्री. २.३.२०, आप. श्री. २.१७.७, वा. श्री. १.२.४.२८, स. श्री. १.५.१५, भार श्री. १.१९.११, मान. श्री. १.२.१.३०-३१, बौ. श्री. १.४.६.१५

मुट्ठी अन्न लिया जाता है[१]। दर्श इष्टि में अग्नि देवता के लिये चार मुट्ठी अन्न लेने का विधान है[२]। इसके बाद बैलगाड़ी में जो अन्न बचा हुआ है उसका अभिमर्शन "भूतायत्वा"[३] मन्त्र से करता है[४]। बैलगाड़ी पर बैठा रहकर ही पूर्व दिशा की ओर "स्वरभिविरथ्येषम्"[५] मन्त्र से देखता है।[६] अब अध्वर्यु "दृहन्ता"[७] मन्त्र को पढ़कर बैलगाड़ी से उतरता है[८] तथा "उर्वन्तरिक्षं"[९] मन्त्र को पढ़ता हुआ, गार्हपत्य अग्नि के उत्तर की ओर जाता है[१०]। यदि अध्वर्यु आहवनीय अग्नि में हवि को पकाना चाहता है तो उसे आहवनीय अग्नि के समीप जाना चाहिये[११]। तदनन्तर हवि सहित शूर्प को "पृथिव्यास्त्वा"[१२] मन्त्र के द्वारा जिस अग्नि में हवि को पकाना है उसके समीप ले जाकर रख देता है[१३]। हवि बनाने के लिये मुख्य रूप से ब्रीहि शंका अथवा यव का विनियोग होता है, यदि वे दोनों न मिल सकें तो श्यामानीवार वेणुयव आदि का प्रयोग किया जा सकता है, परन्तु ध्यान रहे कि प्रियङ्गु कोद्रव तथा वरका का प्रयोग नहीं होगा[१४]।

प्राचीनकाल में बैलगाड़ी में ही हविष्य अन्न रहता था, क्योंकि उस समय बैलगाड़ी रहने का स्थान था, घर तो बाद में बने। इसी दृष्टि से याज्ञवल्क्य का कथन है कि कुठिला (कोष्ठ), कुम्भी तथा यप्मा (चमड़े की भांवि) से हविष्य अन्न नहीं लिया जा सकता, क्योंकि यजुप् बैलगाड़ी से सम्बन्धित है। कुछ लोगों का कहना है कि भस्त्रा से प्राचीनकाल में ऋषि हवि बनाने के लिये अन्न लिया करते थे। याज्ञवल्क्य इसका उत्तर देते हुए कहते है कि जो ऋषि भस्त्रा से हविष्य अन्न ग्रहण करते थे, निश्चय ही उनके पास भस्त्रा के लिये यजुप् रहे होंगे, किन्तु हमारे जो यजुप् हैं उनमें बैलगाड़ी का वर्णन है, अतएव बैलगाडी से ही हविष्य अन्न लेना चाहिये।[१५]

कतिपय विद्वानों के अनुसार किसी पात्र में रखे हुए हवि को लिया जा सकता है परन्तु यजुः मन्त्रों को पूर्ण रूप से पढ़ना चाहिये। इससे यह ज्ञात होता है कि याज्ञवल्क्य के समय में दोनों प्रकार की विधायें प्रचलित थीं, यदि पात्र से हविष्य अन्न लिया जायेगा तो भी शकट सम्बन्धित यजुप् का ही विनियोग होगा और

---

१. ऐ ब्रा. १.३०.१, का. श्री. २.३.२०-२१, अग्नेयं चतुरोमुष्टीन् एवं अग्निपोमीयम्। आप. श्रौ. १.१६.१, १.१८.१, मा. श्री. १.२.१.३२, भार श्री. १.१९.१३,

२. ऐ ब्रा. १.३०.१, का. श्री. २.३.२२, आप. श्री. १.१६.१, १.१८.१, मान. श्री. १.२.१.३०-३१, भार श्री. १.१९.१३

३. वा. स. १.११, तु. तै. सं. १.१.४

४. श. ब्रा. १.१.२.२०, तु. का. श. ब्रा. २.१.२-३, का. श्री. २.३.२३, मान. श्री. १.२.१.३९, आप. श्री. १.१८.३, वा. श्री. १.२.४.२९, भार श्री. १.२०.१, मान. श्री. १.२.१.४१, बौ. श्री. १.४.६.१५

५.

६. वा. सं. १.११, कपि. स. १.४.५, तु. काठ. सं. १.४-५, मै. सं. १.१.४.६, तै. सं. १.१.४.१४-१५,

७. श. ब्रा. १.१.२.२१, का. श. ब्रा. २.१.२-३, का. श्री. २.३.२४, मान. श्री. १.२.१.४०, बौ. श्री. १.४.६.१५

८. वा. सं. १.११, तै. सं. १.१.४.१४-१५, मै. सं. १.१.४.६, काठ. सं. १.४-५

९. श. ब्रा. १.१.२.२२, अथावरोहति, काठ. सं. ब्रा. ३१.३.४, मै. सं. ब्रा. १.४.५-६, का. श. ब्रा. २.१.२-३, का. श्री. २.३.२६-२७, आप. श्री. १.१८.४.८, मान. श्री. १.२.१३७, वा. श्री. १.२.४. ३६-३७, स. श्री. १.५.१५, भार श्री. १.२०.४

१०. वा. सं. १.११, कपि. सं. १.४.५,काठ. सं. १.४-५, मैः सं. १.१.४.६, तै. सं. १.१.४१.७

११. श. ब्रा. १.१.२.२२, काठ. सं. ब्रा. ३१.३.४, मै. सं. ब्रा. ४१.४-६, का. श. ब्रा. २.१.२-३, का. श्री. २.३.२३, आप. श्री. १.१८.५, स. श्री. १.५.१५, वा. श्री. १.२.४, ३६, बौ. श्री. १.४.६.१५

१२. आप. श्री. १.१८.६, स. श्री. १.५.१५, भार श्री. १.२०.६, मान. श्री. १.२.१४२, बौ. श्री. १.४.६.१५

१३. वा. सं. १.११

१४. स. श्री. १.५.१५, (यतरस्मिनऽग्नौ श्रपयति) आप. श्री. १.१८.६, बौ. श्री. १.४.६.१५,

१५. श. ब्रा. १.१.२.५-७, सवाऽअनस एव गृहणीयात्। भूमा वा अनः। यज्ञो वा अनः।

स्फय को पात्र के नीचे रख दिया जायेगा, तब उससे हविष्य अन्न लिया जायेगा। ध्यातव्य है कि सारे कार्य जिनका विधान बैलगाड़ी से हविष्य अन्न लेने का विधान है[१] उनका प्रयोग पात्र से भी हविष्य अन्न लेने में करना पड़ेगा।[२] तदनन्तर "अग्ने हव्यं रक्ष"[३] मन्त्र से हवि की रक्षा के लिये अग्नि देवता से निवेदन करना है।[४]

हवि प्रोक्षण

"प्र" उपसर्ग पूर्वक "उक्ष्" सेचने धातु से ल्युट् प्रत्यय होकर प्रोक्षण शब्द बना है।[५] प्रोक्षण शब्द का अर्थ है जल के द्वारा किसी वस्तु का सेचन, हवियों, का प्रोक्षण का अर्थ है जल में पवित्र को डुबोकर मन्त्र द्वारा उस पवित्री से हवियों ऊपर जल छिड़कना, इस प्रकार मन्त्र कुश मय पवित्र तथा जल के समूह से सारी हवियों को पवित्र बनाना हवि प्रोक्षण है।[६] पवित्र कुश की दो पत्तियों या तीन पत्तियों का होता है। कुश लेकर उसके भीतर डण्ठल को निकाल देने के बाद जो पत्तियाँ बचती है उन्हीं का पवित्र बनाया जाता है[७] इस विधि में सर्वप्रथम "पवित्रेस्थो वैष्णव्यौ"[८] मन्त्र से अनन्त गर्भ प्रादेश मात्र के दो कुशों को उखाड़ कर, अध्वर्यु दोनों कुश की पत्ती को वाम हस्त में लेकर प्रादेशमात्र परिमाण जड़ से घुमाया जाता है, पुनः प्रादेशमात्र अग्र भाग वाले कुश को लेकर घुमाकर तीन कुश को तोड़ दिया जाता है। शेष बचे हुए कुश से पवित्री बनाया जाता है।[९]

तदनन्तर "सविर्तुवः प्रसवे"[१०] मन्त्र से अग्निहोत्र हवणी में जल लेकर पवित्री से जल को उत्पवन किया जाता है।[११] पवित्र से जल को ऊपर की ओर छिड़क कर जिस वस्तु को पवित्र किया जाता है इस कर्म को यज्ञीय भाषा में उत्पवन कहते हैं।[१२] इसी क्रम में ही अग्निहोत्र हवणी के जल को प्रोक्षणी पात्र में पवित्र सहित लेकर "देवीरापो" "[१३] [illegible] से ऊपर की ओर जल छिड़क जाता है।[१४] तदनन्तर अध्वर्यु "प्रोक्षितास्थ" मन्त्र से प्रोक्षणी जल को वाम हस्त में लेकर तथा यज्ञीय हवि का प्रोक्षण करता है।[१५] इस विधि में सर्वप्रथम अध्वर्यु

---

१. श. ब्रा. १.१.२.८, उतो.पात्रयै गृहणीयात्। अन्तरांयमुतिर्हि यजूंषि जपेत्———।

२. श. ब्रा. १.१.२.८, तु. का. श्री. २.३.२८-३०, आप. श्री. १.१८.७, स. श्री. १.५.१५, भार श्री. १.१९.१४

३. वा. सं. १.११, तै. सं. १.१.४.१९

४. श. ब्रा. १.१.२.२३, स. श्री. १.५.१५, भार श्री. १.२०.७.८, मान. श्री. १.२.२.४, वा. श्री. १.२.४.३७, बौ. श्री. १.४.६.१५

५. पा. व्या.३.३.११५, तु वा., पृ. ५४४१, भाग ६, अ. को, पृ. २५८,

६. श्री. प. नि.,पृ. १५, सं. ११०

७. श.ब्रा. १.१.३.२-३, ते वै द्वे भवतः, अथोऽअपित्रीणिस्युः का. श्री. २.३.३०-३१

८. वा.सं. १.१२, तु. का. सं. १.४-५, तै. सं. १.१.५

९. का. श्री. विद्याधर टीका, पृ. ७३

१०. वा. सं. १.१२तै. सं. १.१.५.१, मै. सं. १.१.४-६, का. सं. १.४.५, कपि . सं. १.४.५

११. श.ब्रा. १.१.३.६, स उत्पुनाति, तै. ब्रा. ३. २४. ५, मै. सं. ब्रा. १.४.५.६, तु. तै. ब्रा. १.१.५, काठ सं. ब्रा. ३१.३.४., आप. श्री. १.१९.१ स. श्री. १.५.१५ भार श्री. १.२०९, मान. श्री. १.२०२.१, वा. श्री. १.२.४.३८, बौ. श्री. २०.२. ५-६,

१२. का.श्री. विद्याधर टीका, पृ. ३७

१३. वा.सं. १.१३, तै. सं. १.१.५.१; मै. सं. १.१.४.६,

१४. का. श्री. २.३.३४

१५. श.ब्रा. १.३.१. प्रोक्षितास्थेति तु. तै.ब्रा. ३.२.४५, मैं. सं. ब्रा. १.४.५.६, का. श. ब्रा. २.१.२-३, का. श्री. २.३.३५, मान श्री. १.२.२.२.२, आप. श्री. १.१९.१, स. श्री. १.५.१५, भार श्री. १.२०-११, वा.श्री. १.२.४.३८, बौ. श्री. २०.२.५-६,

"अग्नयेत्वा जुष्टं प्रोक्षामि"[१] मन्त्र से शूर्प में रखे गये हवि को प्रोक्षण करता है।[२] पुनः उल्टे रखे गये पात्रों को क्रमशः सीधा करके एक-एक पात्र का "देव्याय कर्मणो"[३] मन्त्र से प्रोक्षण किया जाता है।[४] प्रत्येक पात्र का प्रोक्षण तीन बार किया जाता हे। एक बार प्रोक्षण में मन्त्र का विनियोग किया जाता है तथा दो बार प्रोक्षण निर्मन्त्रक किया जाता है।[५]

प्रणीता तथा आहवनीय कुण्ड के बीच में या आहवनीय गार्हपत्य के बीच में प्रोक्षणी का स्थापन किया जाता है।[६] ध्यान रहे प्रोक्षणी तथा प्रणीता के बीच में से कोई गमनागमन न करें।[७] हवि प्रोक्षण के समय अग्नि का प्रोक्षण नहीं करना चाहिये, परन्तु जिसके प्रति द्वेष हो उसके लिये अग्नि का प्रोक्षण किया जा सकता है।[८]

पुरोडाशकरण

हवि प्रोक्षण के अनन्तर हवि काण्डन किया जाता है। हवि कण्डन में हविष्य अन्न की कणाई- कुटाई होती है। सर्वप्रथम "शम्मीसि"[९] मन्त्र से अध्वर्यु कृष्णाजिन को हाथ में उठा लेता है तथा फिर वह रखे गये पात्रों तथा अग्नियों से दूर जाकर "अवधूत"[१०] मन्त्र से झटकता है।[११] झटकते समय कृष्णाजिन को बहुत नीचे रखना चाहिये।[१२] तदनन्तर "अदित्यास्त्वगसि"[१३] मन्त्र से श्रपणीय अग्नि के पास कृष्णाजिन को बिछा दिया जाता है।[१४]

ध्यातव्य है कि बिछाते समय कृष्णाजिन का गर्दन वाला भाग पश्चिम की ओर रहे तथा पूँछ वाला हिस्सा पूर्व की ओर रहे तथा रोयेंदार अशं ऊपर की ओर रहे,[१५] कृष्णाजिन पर बायाँ हाथ रखे हुए ही दाहिने

---

१. वा. सं. १.१३, तु. तै. सं. १.१.२.१८, तु. का. सं. १.४-५, कपि. सं. १.४.५, मै. सं. १.१.४-६

२. श.ब्रा. १.१.३.११, तै. ब्रा. ३.२४-५, मै. सं. १.४.५-६, का. सं. ब्रा. २.१.२-३, का. श्रौ. २.३.३६, वा. श्रौ. २.४.३८, भार श्रौ. १.२०.९, स. श्रौ. १.५.१५, भार श्रौ. १.२०.११

३. वा. सं. १.१३, तै. सं. १.१.३.१, का. सं. १.४.५, मै. सं. १.१.४-६, तै. सं.

४. श. ब्रा. १.१.३.१२, "अथ यज्ञ पात्त्राणी प्रोक्षति," तु. का. श. ब्रा. २.१.२-३, आप. श्रौ. १.१९.३, स. श्रौ. १.५.१५, भार श्रौ. १.२०.१३, मान. श्रौ. १.२.२.४.५, वा. श्रौ. १.२.४.३९, बौ. श्रौ. २४.२५, २८.१३,

५. आप. श्रौ. १.१.१९.३, वा. श्रौ. १.२.४.३९, स. श्रौ. १.५.१५, भार श्रौ. १.२०. १४, बौ. श्रौ. २४.२५, २८. १३,

६. का. श्रौ. २.३.३८, आप. श्रौ. १.१९.३, मान. श्रौ. १.२.२.४, वा. श्रौ. १.२.४.३९, वैखा० श्रौ० स० श्रौ० १.५१५

७. का०श्रौ० २.३.३९, "नान्तरेण गच्छेयुः",

८. आप. श्रौ. १.१९.२, भार श्रौ. १.२०.१२, स. श्रौ. १.५.१५

९. वा. सं. १.१५, तु. वाणक. सं. १.५-७

१०. वा. सं. १.१४, तु. तै. सं. १.१.५.६, मै. सं. १.१.६-८, काठ. सं. १.५-७,

११. श. ब्रा. १.१.४, अथ कृष्णाजिनमादत्ते— —तद्वधूनोति। तु. तै. ब्रा. ३.२.५-७, मै. सं. ब्रा. ४.१.६-८, का. श. ब्रा. २.१.३.४, का. श्रौ. २.४.१.२, मान. श्रौ. १.२.५-६, वैखा. श्रौ. ४.६, भा. श्रौ. १.२१.१२, आप. श्रौ. १.१९.४, स. श्रौ. १.५.१६, वा. श्रौ. १.२.४.४० बौ. श्रौ. १.८.८.३.१५

१२. का. श्रौ. वेबर पृ. १९३

१३. वा. सं. १.१४, मै.सं. १.१.६-८, तै. सं. १.१.५.७, का. सं. १.४.५, कपि. सं. १.४.५

१४. श. ब्रा. १.१.४.५, तु. का. श. ब्रा. २.१.२-३, तै. ब्रा. ३.२४-५. मै. सं. ब्रा-१.४.५.६, का. श्रौ. १.२.४१, मान. श्रौ. १.२.२.७, बौ. श्रौ. १.८.८.३.१५, वैखा. श्रौ. ४.६,

१५. श. ब्रा. १.१.४.५, तु. ,, मै. सं. १.४.५.६, का. श्रौ. २.४.३, स. श्रौ. १.५.१६, आप. श्रौ. १.१९.५, भार श्रौ. १.२०.१४, वा. श्रौ. १.२.४.४२, मान. श्रौ. १.२.२.७, बौ. श्रौ. १.८.८.३.१५, वैखा. श्रौ. ४.६,

हाथ से ओखली को उठाता है तथा "अद्रिरसि"[१] मन्त्र से उसे रख देता है।[२] इसके बाद "अग्नेस्तनूरसि"[३] मन्त्र से हवि को ओखली में डाल देता है।[४] ध्यातव्य है कि अध्वर्यु अथवा यजमान ने हवि निर्वाप के पहले जो मौन व्रत धारण किया " **वाचंयम** " हुआ अब वह अपने मौन को तोड़कर वाणी का प्रयोग कर सकता है।[५] वाचंयम अर्थात् मौन रहने पर यदि भूल से कही वाणी का प्रयोग हो जाता है तो उसके प्रायश्चित का विधान है। ऐसी स्थिति में प्राश्यचित रुप में उसे विष्णु से सम्बन्धित ऋचा अथवा यजुष का जप करना चाहिये।[६] ओखली में हवि को डालने के बाद "बृहद ग्रावाऽसि"[७] मन्त्र से मूसल को उठाकर "स इदं देवेभ्यः"[८] मन्त्र के द्वारा ओखली के बीच में रख देता है।[९] अध्वर्यु स्वयं हवि को कूटने में लग जाता है। और "हविष्कृत"[१०] (हवि की कुटाई पिसाई करने वाले) को उच्च स्वर से बुलाता है।[११] जिस समय हविष्कृत को बुलाया जाता है। उस समय अग्निध्र, सिल-लोढ़े को बजाता है।[१२] प्राचीन समय में यजमान पत्नी हवि का निर्माण करती थी, ऐसा प्रतीत होता है।[१३] याज्ञवल्क्य के समय में अन्य लोग भी हवि बना सकते थे। इसलिये हविष्कृत को बुलाने के लिये चारों वर्णों। के अनुसार अलग-अलग क्रिया पदों का प्रयोग का विधान किया गया है।[१४]

हविष्कृत यदि ब्राह्मण हो तो उसके लिये "क्रमशः आगाहि" (सुविधा के अनुसार आओ), यदि हविष्कृत क्षत्रिय हो या वैश्य हो तो उसके लिये "आद्रव" (द्रुतगति से आओ), यदि हविष्कृत शूद्र हो तो उस के लिये "आधव" (दौड़कर आओ) क्रियापद का प्रयोग किया जाता था, इस प्रकार से यह सिद्ध होता है कि याज्ञवल्क्य के समय में द्विजों की भाँति शूद्रों को भी वेदि पर बैठकर यज्ञ से सम्बन्धित कार्य करने का पूर्णतया अधिकार प्राप्त था, छुआछूत की कोई समस्या नहीं थी, परन्तु इस प्रकरण में याज्ञवल्क्य का कहना है हविष्कृत चाहे जिस वर्ण का हो सब के लिये "एहि" क्रियापद का प्रयोग करना उचित है, क्योंकि "एहि" वाणी का शान्ततम प्रयोग है।[१५] पहले यह कहा गया है कि हविष्कृत बुलाने के समय सिल-लोढ़ा एक बार ऊपरी भाग में दो बार अन्दर

---

१. वा. सं. १.१४, तै. सं. १.१.५.१०
२. श. ब्रा. १.१.४.६.७, "अथ दक्षिणेनोलूखलमाहरति—अथोलूखलं निदधाति"। का. श्रौ. २.४.४, स. श्रौ. १.५.१६, आप. श्रौ. १.१९.६, भार. श्रौ. १.२१-.७, वा.श्रौ. ४.६,
३. वा. सं. १.१५, तै. सं. १.१.५.९,
४. श. ब्रा. १.१.४.८, अथ हविरापवति, का. श्रौ. २.४.६, स. श्रौ. १.५.१६, भार श्रौ. १.२१.५, वा. श्रौ. १.२.४.४४-४५, मान. श्रौ. १.२.२.११, बौ. श्रौ. १.८.८ ३.१५, वैखा. श्रौ. ४.६,
५. श. ब्रा. १.१.४.९१, "सयदिदंपुरामानुषी वाचं व्याहरेत्", काठ. सं. ब्रा. ३१.४.६, का. श्रौ. २.४.७.८, मान. श्रौ. १.२.२.१४,
६. श. ब्रा. १.१.४.८, "तत्रौ वैष्णवी मृचं वा यजुषो जपेद———।"
७. वा. सं. १.१५, तु. कपि. सं. १.५-७ मै. सं. १.१.६.८,
८. वा. सं. १.१५. तै. सं. १.१.५.९, का. स. १.५-७, कपि. सं. १.५-७,
९. श. ब्रा. १.१.४.१०, "अथमुसलमादत्ते" का. श्रौ. २.४.११-१२, वा. श्रौ. १.२.४. ४६, वा. श्रौ. १.२.२.१२, वैखा. श्रौ. ४.६,
१०. वा. सं. १.१५, तै. सं. १.१.५, १०, तु. मै. सं. १.१.६.-८, का. सं. १.५.७, कपि. सं. १.५.७
११. श. ब्रा. १.१.४.११, का. श्रौ. २.४.१३, तै. ब्रा. १.२.४, मै. सं. ब्रा. १.४.५.६, काठ. सं. ब्रा. ३१. ४.६, कपि. सं. ब्रा. , स. श्रौ. १.५.१६, आप. श्रौ.१.१९.८, बौ. श्रौ. १.१९.८, बौ. श्रौ. १.८.८.३.१५, वैखा श्रौ. ४.६
१२. का. श्रौ. २.४.१५, "स यत्रैप हविष्कृत मुद्वापति तरॅको दृषदुपले समाहन्तितद्यदेतामत्रंवाचं प्रत्युद्वाहयन्ति" तु. मै. सं. १.४.६-८,
१३. श. ब्रा. १.१.४.१३, तद्वस्मैतपुरा जायैव हविष्कृदुपतिष्टति तददिमध्ये तर्हि ए एव कश्योपतिष्ठति—। का. श्रौ. २.४.१४
१४. श. ब्रा. १.४.१२, तानि वाऽएतानि। चत्वारि वाच एहीति ब्राह्मणस्यागहयाद्रवेति वैश्यस्य च राजन्य बन्धोश्चाधावेति शूद्रस्य स यदेव ब्राह्मणस्य तदाहैतद्रियज्ञियतममेतदु——। तु. तै. ब्रा. ३.२.५-७०, स. श्रौ. १.५.१६. आप. श्रौ. १.१९.९, भार श्रौ. १.२१.७, वा. श्रौ. १.२.४.४७-४९, मान. श्रौ.१.२.२.१५, बौ. श्रौ. १.८.३.१५, वैखा, श्रौ. ४.६,
१५. श. ब्रा. १.१.४.१२, "ह वै वाचः शान्ततमंयदेहीतितस्माद्वदेहीत्येव ब्रूयात्।"

में बजाया जाता है। इस क्रम में "कुक्कुटोसि"[१] मन्त्र का विनियोग किया जाता है। कुटाई कर लेने के बाद शूर्प को "वर्षवृद्रमसि"[२] मन्त्र से उठा लेता है।[३] यह शूर्प नरकट, बॉस अथवा सर्पत की सरई का बना हुआ रहता है।[४] बस सूर्प में हवि निर्माता या हविष्कृत हवि को "प्रतित्वावर्ष वृद्धं"[५] मन्त्र से डाल देता है[६] इसके बाद सूर्प से कूटी हुई हवि को फटकता है। इसमें "परापूतंरक्ष"[७] मन्त्र का प्रयोग करता है।

इसके बाद बड़े और छोटे टुकड़े को बीनकर अलग करता है[८], तथा "देवी वः सविता"[९] मन्त्र से हवि को अनुमन्त्रित करता है।[१०] इसी प्रकार तीन बार कुटाई करके अन्न को खूब छोटे-छोटे टुकड़ों में अलग करता है।[११] कुछ लोग "देवेभ्य शुन्धध्व" मन्त्र के द्वारा फ्लीकरण करते हैं- हविष्य अन्न को कूटकर टूकड़ों में बाँटते हैं,[१२] किन्तु याज्ञवल्क्य का कहना है कि ऐसा करना उचित नहीं है, क्योंकि इस मन्त्र में देव पद का बहुवचन में प्रयोग है ऐसा करने पर हवि सभी देवताओं की हो जायेगी और यह हवि अग्नि विशेष देवता के लिये है।[१३]

हविपेषण और कपालोपधान

सिल पर लोढ़े से हविष्य अन्न की पिसाई ही हविपेषण है। यह स्मरण रखना चाहिये कि कपालोपधान, हविपेषण एक साथ होता है।[१४] इसका कारण यह है कि पुरोडाश यज्ञ का शिर है।[१५] जिस प्रकार शिर में

---

१. वा. सं. १.१७
२. वा. सं. १.१७, तै. सं. १.१.५
३. श. ब्रा. १.१.४.१९, "अथशूर्पमादत्ते" का. श्रौ. २.४.१६, स. श्रौ. १.५.१६ आप. श्रौ. १.२०.५, वा. श्रौ. १.२.४.५२, बौ. श्रौ. १.८.८.३.१५,
४. श. ब्रा. १.१.४.१९,
५. वा. सं. १.१६, तै. सं. १.१.५, मै. सं. १.१.६-८,
६. श. ब्रा. १.१.४.२०, " अथ हविर्निर्वपति।" का. श्रौ. २.४.१७, स. श्रौ. १.५.१६, आप. श्रौ. १.२०.६, भार. श्रौ. १.२२.२, वा. श्रौ. १.२.४.५४, मान. श्रौ. १२.२.१९, बौ. श्रौ. १.८.८.३.१५, वैखा. श्रौ. ४.७,
७. वा. सं. १.१६, तै. सं. १.१.५, मै. सं. १.१.६-८
८. श. ब्रा. १.१.४.२१, " अथ निष्पुनाति" का. श्रौ. २.४.१८, आप. श्रौ. १.२०.७, भार. श्रौ. १.२२.३, वा. श्रौ. १.२.४.५५, मान. श्रौ. १.२.२.२०, बौ. श्रौ. २०.६.८ वैखा. श्रौ.४.७
९. वा. सं. १.१६, तै. सं. १.१.५
१०. श. ब्रा. १.१.४.२३, "अथानुमन्त्रयते", मै. सं. ब्रा. ४.६-८, श. ब्रा. २.१.३-४
११. श. ब्रा. १.१.४.२३, तै. ब्रा. ३.२.५-७, मै. सं. १.१.६-८, काठ. सं. ब्रा. ३१.४.६, कपि. सं. ब्रा. ४७.४.६, तै. ब्रा. ३.७.६, का. श्रौ. २.४.१९-२१, स. श्रौ. १.५.१६, आप. श्रौ. १.२०.८, भार. श्रौ. १.२२.४, वा. श्रौ. १.२.४.५४, मान. श्रौ. १.२.२.२०, बौ. श्रौ. २०.६-८, वैखा. श्रौ. ४.७
१२. श. ब्रा. १.१.४.२४, तद्वैके देवेभ्यः शुन्धध्वं देवेभ्यः शुन्धध्वमिति फली कुर्वन्ति। तु. का. श. ब्रा. २.१.३, तै. सं. १.१.५, का. श्रौ. २.४.२२
१३. श. ब्रा. १.१.४.२४, "तदु तथा न कुर्य्यादिष्टि वाऽएतद्देवतायै हविर्भवत्यथै तद्वैश्वदेवं करोति यदाह देवेभ्यः शुन्धध्वमिति ततसमदं करोति तस्मादु तूष्णीमेव फली कुर्य्यात्।"
१५. श. ब्रा. १.२.१.१, का. श्रौ. २.४.२४
१६. श. ब्रा. १.२.१.२, शिरोहवाऽएतद्यज्ञस्यपत्पुरोडाशः। मै. सं. ब्रा. ४.१.६.८, काठ. सं. ब्रा. ३१.४-६, कपि. सं. ब्रा. ४७.४-६, का. श. ब्रा. २.१.३-४

कपाल होता है उसी प्रकार से शिर रूपी कपाल के उपधान हैं, जिनका कपालोपधान किया जायेगा और कपाल के अन्दर रहने वाला मस्तिष्क पिसान है। ऐसा नहीं हो सकता कि पहले शिर की रचना हो और फिर कपाल की, तदनन्तर मस्तिष्क की। वस्तुस्थिति यह है कि शरीर के तीनों अंगों की रचना एक साथ ही होती है। अतएव अंगों से समानता रखने के लिये कपालोपधान तथा हविपेषण एक साथ किया जायेगा।[१] इस प्रकार अध्वर्यु हविपेषण और अग्निध्र कपालोपधान करता है।[२]

कपालोपधान

कपाल मिट्टी के छोटे-छोटे कसोरों को कहते हैं। विभिन्न देवताओं के लिये पुरोडाश विभिन्न संख्याओं के कपालों पर पकाये जाते हैं। यदि एक कपाल से अधिक कपाल होते हैं तो उन्हें जमीन पर एक विशेष क्रम से रखा जाता है। विशेष पद्धति से कपालों को रखने की क्रिया को ही कपालोपधान कहा जाता है।[३] सर्वप्रथम अग्निध्र कपालों को प्रक्षालित कर लेता है।

कपालोपधान और हवि का श्रपण गार्हपत्य या आहवनीय अग्नि में किया जाता हैं, जिसमें इच्छा हो उसमें पकाना चाहिये। तैत्तिरीय शाखा में बताया गया है कि प्रयोज्य कपालों को पहले से ही धोकर गार्हपत्य के समीप रख दिया जाता है।[४] अग्नि देवता से सम्बन्धित आठ कपाल अग्नि के दक्षिण में तथा अग्नि और सोम के लिये एकादश कपाल गार्हपत्य के उत्तर में रखा जाता है।[५] अग्निध्र गार्हपत्य के सामने बैठकर "धृष्टरसि"[६] मन्त्र से उपवेष को उठा लेता है।[७] तदनन्तर "अपाग्ने"[८] मन्त्र से उपवेष के द्वारा पूर्व में एक अङ्गार को खिसका देता है। तथा इसी प्रकार एक दूसरे अङ्गार को "निष्क्रिव्यादं"[९] मन्त्र से पूर्व में दूसरी जगह खिसका देता है।[१०] तदनन्तर "आ देवयजं"[११] मन्त्र से एक अङ्गार को अपने सामने खींच लेता है।[१२] गार्हपत्य खर को अत्यन्त

---

१. श. ब्रा. १.२.१.१, स यान्येवेमानि शीर्ष्णं, कपालन्येतान्येवास्ये कपालानि मस्तिष्क एवं पिष्टानि तद्वाऽएतदेकमङ्गलमेकं स करवाव समानं करवावेति तस्माद्वाऽएतदुभयं सह क्रियते।

२. श. ब्रा. १.२.१.१, तु. का. ब्रा. ३१.४.६, मै. सं. ब्रा. १.१.६-८, का. श्री. २.४.२४, पेषणोपधानेयुगपत्।

३. का. श्री. वेबर पृ. १९९

४. का. श्री. वेबर पृ. १९९, आप. श्री. १.१५-६, सूत्रदीपिकार तत्रप्रक्षाल्यैव प्रयुनक्तीत, स. श्री. १.५.१७

५. का. श्री. वेबर पृ. १९९, आप. श्री. १.१५.६ सूत्रदीपिकार तत्रप्रक्षाल्यैव प्रयुनक्तीत,

६. वा. सं. १.१७, तै. सं. १.१.६-७, मै. सं. ११.६-८, वा. का. सं. १.५.७ का. सं. १.५-७

७. श. ब्रा. १.२.१.३, का. श्री. २.४.२५, आप. श्री. १.२२.२, स. श्री. १६.१९ भार श्री. १.२४.२, वा. श्री. १.२.१.१, मान. श्री. १.२.२.३४, वैखा. श्री. ४.८

८. वा. सं. १.१७, तै. सं. १.१.६-७, मै. सं. १.१.६-८, वा. का. सं. १.५.७, का. सं. १.५-७

९. वा. सं. १.१७, तै. सं. १.१.६-७, मै. सं. १.१६-८, वा. का. सं. १.५.७, का. सं. १.५-७

१०. श. ब्रा. १.२.१.४, तेन प्राचोऽङ्गारानुद्हति। अपाग्ने अग्निआमादं जहि निष्क्रव्यादं से धेत्ययंवा———। मै. सं. ब्रा. ४.१.६-८, का. श्री. २.४.२५, आप. श्री. १.२२.२, स. श्री. १.६.१०, भार श्री. १.२४.२, वा. श्री. १.३.१.२, मान. श्री. १.२.३.१-२, वैखा. श्री. ४.८

११. वा. सं. १.१७, तै. सं. १.१.६-७, मै. सं. १.१.६-८, वा. का. सं. १.५.७, काठ. सं. १.५-७

१२. श. ब्रा. १.२.१.५, अथाङ्ऽगरमास्केति।, का. श्री. २.४.२६, आप. श्री. १.२२.२, स. श्री. १.६.१९, भार श्री. १.२४.३, वा. श्री. १.३.१.३, मान. श्री. १.२.३.३, वैखा. श्री. ४.८,

गरम भूमि पर ही कपालों का उपधान किया जाता है।[१] "ध्रुवमसि"[२] मन्त्र से उस देवयज् अङ्गार पर उत्तान रूप में कपाल को रख दिया जाता है।[३] इस कपाल का नाम मध्यम कपाल है। तदनन्तर "पृथ्वीदृहह"[४] मन्त्र से कपाल के ऊपर अङ्गार रखकर "ब्रह्मवनित्वा" मन्त्र से प्रार्थना करता है।[५] यदि कोई व्यक्ति अभिचारक क्रिया कर रहा हो तो उसे चाहिये कि मन्त्र में आये हुये "भातृव्यस्य" पद के स्थान पर उस व्यक्ति के "षष्ठयन्त" नाम रख देना चाहिये।[६]

यदि अभिचारक क्रिया हो तो मध्यम कपाल रखने के बाद जल का स्पर्श करना चाहिये।[७] तदनन्तर बायें हाथ की अङ्गुलियों को मध्यम कपाल पर रखे हुए ही "धरूणमस्य"[८] मन्त्र से दूसरे कपाल को दाहिने हाथ में उठाकर मध्यम कपाल के पीछे रख देना चाहिये।[९] इसी प्रकार "धर्त्रमसि"[१०] मन्त्र से मध्यम कपाल के आगे तीसरे कपाल को रखना चाहिये।[११] इसी रीति से "विश्वाभ्यस्त्वा"[१२] मन्त्र से मध्यम कपाल के दक्षिण में चतुर्थ कपाल को रखना चाहिये।[१३]

"चितस्थ"[१४] मन्त्र से चतुर्थ कपाल के पूर्व में पाँचवे कपाल को रखना चाहिये। चतुर्थ के पश्चिम में उत्तर की ओर दो कपाल को एक के बाद दूसरे के क्रम से रखना चाहिये।[१५] यदि कोई व्यक्ति चाहे पाँचवे, छठें, सातवें, आठवें कपालों को रखने में मन्त्रों का प्रयोग न करे।[१६] इसी प्रकार अग्निषोमयीय पुरोडाश के लिये ग्यारह कपालो का उपधान किया जाएगा। ध्यातव्य है कि चतुर्थ कपाल के पूर्व एक कपाल के स्थान को छोड़कर पाँचवे कपाल को रखना चाहिये। चौथे, के पश्चात् सातवे को, सातवें के पश्चात् आठवें को रखना चाहिये। सभी कपाल के उत्तर में नवें, दसवें तथा ग्यारहवें कपाल को क्रमशः पश्चिम से पूर्व की ओर रखना चाहिये।[१७]

---

१. का. श्रौ. वेबर पृ. २००
२. वा. सं. १.१७, तै. सं. १.१.६.७, मै. सं. १.६-८, काठ. सं. १.५.७, वा. का. सं. १५.७
३. श. ब्रा. १.२.१.६, "तं मध्यमेन कपालेनाभ्युपदधाति"। का. श्रौ. २.४.२६, आप. श्रौ. १.२२.२, स. श्रौ. १.६.१९, भार श्रौ. १.२४.३, वा. श्रौ. १.३.१.३, मान. श्रौ. १.२.३.४, वैखा श्रौ. ४.८
४. वा. सं. १.१७
५. श. ब्रा. १.२.५.७, "स उपदधाति"।
का. श्रौ. २.४.२९, आप. श्रौ. १.२३.३, स.श्रौ. १.६.१९, भार श्रौ. १.२४.३, वा. श्रौ. १.३.१.४, मान. श्रौ. १.२.३.४, वैखा. श्रौ. ४.९।
६. श. ब्रा. १.२.५.७, का. श्रौ. २.४.२७-२८,
७. का. श्रौ. वेबर पृ. २००
८. वा. सं. १.१८, का. सं. १.५-७, मै. सं. १.१.६-८, तै.सं. १.१.६-७,
९. श. ब्रा. १.२.५.१०, "पश्चाद्उपधाति"।
का. श्रौ. २.४.३०, आप. श्रौ. १.२२.२, स. श्रौ. १.६.१९, भा. श्रौ. १.२४.५, वा. श्रौ. १.३.१.५, मान. श्रौ. १.२.३.४, वैखा. श्रौ. ४.८,
१०. वा. सं. १.१८, का. सं. १.५.७, मै. सं. १.१.६-८. वै. सं. १.१.६-७
११. श. ब्राह्मण १.२.५.११ "अथ यतपुरस्तात्दुपदधाति"- - - - - - - -।
का. श्रौ. २.४.३१, आप. श्रौ. १.२२.२, स. श्रौ. १.८.१.९, भा. श्रौ. १.२.४.५, वा. श्रौ. १.३.१.५, मान. श्रौ. १.२.३.४, वैखा. श्रौ. ४.८
१२. वा. सं. १.१८, तु. का. सं. १.५.७, मै. सं. १.१.६.८, तै. सं. १.१.६-२,
१३. श. ब्रा. १.१.५.१२, "अथ यद्क्षिणतस्तदुपदधाति"।
का. श्रौ. २.४.३२, आप. श्रौ. १.२२.२, स. श्रौ. १.६.१.९, भा. श्रौ. १.२४.५, वा. श्रौ. १.३.१.५, मान. श्रौ. १.२.३.४, वैखा. श्रौ. ४.९
१४. वा. सं. १.१८, मै. सं.. १.८.१०.९-१०, तै. सं. १.१.६-७, का. सं. १.५७,
१५. का. श्रौ. २.४.३३, आप. श्रौ. १.२२.२, स. श्रौ. १.६.१-९, भा. श्रौ. १.२४.६, वा. श्रौ. १.३.७, मान. श्रौ. १.२.३.७, वैखा. श्रौ. ४.८
१६. श. ब्रा. १.२.५.१२, का. श्रौ. २.४.३४, तूर्ष्णी वा, आप. श्रौ. १.२३.५
१७. का. श्रौ. वेबर पृ.२००, का. श्रौ. २.४.३५-३६, विद्याधर स. श्रौ. १.६.१.९, भा. श्रौ. १.२४.८, मान. श्रौ. १.२.३.७, वैखा. श्रौ. ४.८

तदनन्तर पूर्ववत् सभी कपालों के ऊपर अङ्गार रखकर क्रमशः प्रार्थना करनी चाहिये।[१] तदनन्तर "भृगुणां"[२] मन्त्र से अङ्गारों से आच्छादित करना चाहिये।[३]

इस तरह से दर्श इष्टि में इन्द्राग्नि देवता के लिए द्वादश कपाल की स्थापना की जाती है। इसकी विधि में भी एकादश कपाल स्थापना की तरह अष्ट कपाल स्थापना के अनन्तर शेष चार कपाल को उसके उत्तर में स्थापना किया जाता है।[४]

हविपेषण

इस विधि में अध्वर्यु सर्वप्रथम "शर्म्माऽसि"[५] मन्त्र का उच्चारण करते हुए कृष्ण मृगचर्म को उठाता है।[६] तदनन्तर "अवधूतं"[७] मन्त्र का विनियोग कर कृष्णाजिन् को झाड़कर "आदित्यास्तवगऽसि"[८] मन्त्र से पश्चिम की ओर उसकी गर्दन को करके बिछाता है।[९] तदनन्तर "धिषणासि पर्वत"[१०] मन्त्र से मृगचर्म के ऊपर सिल को रखकर "दिवस्कम्भनीरसि"[११] मन्त्र से दृषत् (सिल) के पिछले भाग के नीचे "शम्या" की उत्तराग्र करके रख देता है।[१२] तदनन्तर "धिषणासि पार्वतेयी"[१३] मन्त्र से शिला के ऊपर उपल (लोढ़ा) को रखता है[१४]। इसी क्रम में ही "धान्यमसि"[१५] मन्त्र का विनियोग कर हवि को सिल के ऊपर रख देता है।[१६] इसके बाद "प्राणायत्वापिनस्मि"[१७] "उदानायत्वा पिनस्मि" "व्यानायत्वापिनस्मि" मन्त्र के द्वारा हवि को पीस दिया जाता है। इसी तरह तीन बार पीसा

---

१. श. ब्रा. १.२.५.१२,
२. वा. सं. १.१८, मै. सं. १.१.६-८, तै. सं. १.१.६-७, का. सं. १.५-७,
३. श. बा. १.२.१.१३, का. श्रौ. २.४.३७, आप. श्रौ. १.२३.६, स. श्रौ. १.६.१.९, भा. श्रौ. १.२४.९, मान. श्रौ. १.२.३.६, वैखा. श्रौ. ४.८
४. तै. बा. ३.२.५.७, मै. सं. ब्रा. ४.१.६.८, का. सं. बा. ३१.४.६,
"द्वादश कपालस्य यथैकादशकपालस्यैवम्"। स. श्रौ. १.६, वा. श्रौ. ४.९
५. वा. सं. १.१९, तु. वा. का. सं. १.५.७
६. श. बा. १.२.१.१४, स कृष्णाजिनमादत्ते, का. श्रौ. २.५.१, आप. श्रौ. १.२१.३, स. श्रौ. १.५.१७, भा. श्रौ. १.२३.२, वा. श्रौ. १.२.४.६, वैखा. श्रौ. ४.८, मान. श्रौ. १.२.२.२५, बौ. श्रौ. १.६.७.२०.८
७. वा. सं. १.१९, तै. सं. १.१.५, मै. सं. १.१.६.८, का. सं. १.५.७, वा. का. सं. १.५.७
८. वा. सं. १.१९, तै. सं. १.१.५, मै. सं. १.१.६.८, का. सं. १.५.७, वा. का. सं. १.५.७
९. श. ब्रा. १.२.१.१४, तै. बा. ३.२.५-७, मै. सं. बा. १.१.६.८, का. सं. बा. २.१.३-४, भा. श्रौ. १.२३.२, वा. श्रौ. १.२.४.६१-६२, वैखा. श्रौ. ४.८, मान. श्रौ. १.२.२.२६, बौ. श्रौ. ६७.२०.८१,
१०. वा. सं. १.१९ तै. सं. १.१.५, मै. सं. १.१.६.८, क्रठ. सं. १.५.७, वा. का. सं. १.५.७
११. वा. सं. १.१९
१२. श. ब्रा. १.२.१.१५-१६, अथ दृषदमुपदधाति " अथ शम्यामुदीचीनाग्रामुपदधाति", मै. सं. बा. १.६.८, काठ. सं. ब्रा. ३.१.४.६, का. सं. ब्रा. २.१.३.७, का. श्रौ. २.५.३-४, आप श्रौ. १.२१.३, स. श्रौ. १.५.१८
१३. भार. श्रौ. १.२.३.३, वा. श्रौ. १.२.६.११-१६, वैखा. श्रौ. १.२.२.२.२६, बौ. श्रौ. ६१.२०.८१
१४. श. ब्रा. १.२.१.१७, अथोपलामुपदधाति, मै. सं. बा. १.१.६.८९, का. सं. बा. २.१.३.४, का. श्रौ. २.५.५, आप. श्रौ. १.२१.५, स. श्रौ. १.५.१८, भार. श्रौ. १.२३.३, वा. श्रौ. १.२.६.११-१६, मान. श्रौ. १.३.२.२६, वैखा. श्रौ. ४.८, बौ. श्रौ. १.६१.२०.८१
१५. वा. सं. १.२०
१६. श. ब्रा. १.२.१.१८, अथहविरधिवपति। तै. बा. ३.२.५-७, मै. सं. बा. १.१-६.८९, का. सं. बा. २.१.३.४, का. श्रौ. २.५.६, स. श्रौ. १.५.१८, भा. श्रौ. १.२३.४, वा. श्रौ. १.२.४, वैखा. श्रौ. ४.८, मान. श्रौ. १.२.२.२५, बौ. श्रौ. १.६१.२०.८१
१७. वा. सं. १.२०,

जाता है।[१] तदनन्तर "दीर्घामनुः"[२] मन्त्र से पीसे गये हवि को दृषद् के नीचे कृष्ण मृगचर्म पर गिरा देता है।[३] तदनन्तर पीसे गये हवि को "चक्षुषेत्वा"[४] मन्त्र से देखता है।[५]

पुरोडाश के लिये पिष्ट संयवन : ––

हवि के निमित्त पीसे गये आटे को सानना "पिष्ट संयवन" संयवन है।[६] अग्निध्र हाथ में स्फय को लिये हुए उपसर्जनी जल को गार्हपत्य अग्नि के ऊपर से उठाकर अध्वर्यु के दक्षिण से जाता है।[७] जिस जल से आटे को साना जाता है उसे उपसर्जनी जल कहा गया है। इस जल को अग्निध्र पहले ही गार्हपत्य अग्नि पर गरम होने के लिये चढ़ा देता है। अग्निध्र यह कार्य हविपेषण के पूर्व करता है।[८] जिस पात्र में हवि का आटा साना जायेगा वह पात्र बड़ा होता है। इस समय अध्वर्यु गार्हपत्य के पश्चिम अथवा वेदी के मध्य बैठा रहता है।[९] वह कृष्णाजिन को उठाकर "देवस्यत्वा"[१०] मन्त्र से आटे को सानने के पात्र में डाल देता है ऐसा हरिस्वामी का मत है।[११] आटे ऊपर दोनो पवित्री को हाथ में लिये हुए अध्वर्यु की हथेली पर अग्निध्र उपसर्जनी जल को डालता है।[१२] जल डालने के समय "समापोओषधिभिः"[१३] इत्यादि मन्त्र का प्रयोग होता है।

अग्निध्र को जल इस प्रकार डालना चाहिये जिससे मन्त्र के अन्त में अध्वर्यु द्वारा जल ग्रहण सम्पन्न हो सके।[१४] अध्वर्यु "जनयत्यैत्वा"[१५] मन्त्र के द्वारा जल और आटा को मिलाकर गूँथता है[१६]। पूर्णमासी इष्टि

---

१. श. ब्रा. १.२.१.१९-२०, तद्यदेवंपिनष्टि, सयदाह, तै. ब्रा. ३.२.५-७, का. सं. ब्रा. २.१.३.४, का. श्रौ. २.५.६, आप. श्रौ. १.२१.६, स. श्रौ. १.५.१०, भार श्रौ. १.२३.५-६, वा. श्रौ. १.२.४.६५-६६, वैखा. श्रौ. ४.८, मान. श्रौ. १.२.२.२८-२९, बौ. श्रौ. १.६१.२०.८१

२. वा. सं. १.२०, तै. सं. १.१.६.७, काठ. सं. १.५.७

३. श. ब्रा. १.२.१.२१, का. सं. ब्रा. ३१.४-६, तै. ब्रा. ३.२.५-७, का. श्रौ. २.५.७, आप. श्रौ. १.२१.७, भा. श्रौ. १.२५.८, वा. श्रौ. १.२.४.६५-६६, वैखा. श्रौ. ४.८, मान. श्रौ. १.२.२.३०, बौ. श्रौ. १.६१.२०.८१

४. वा. सं. १.२०, तु. मै. सं. १.१.६-८, काठ. सं. १.५.७, कपि. सं. १.५.७, वा. का. सं. १.५.७

५. श. ब्रा. १.२.१.२१, का. श्रौ. २.५.८, आप. श्रौ. १.२१.७, स. श्रौ. १.५.१८, भा. श्रौ. १.२३.९, वा. श्रौ. १-२.४.६७, वैखा. श्रौ. ४.८, मान. श्रौ. १.२.२.३१, बौ. श्रौ. ६१.२०.८१

६. श्रौ. प. नि. पृ. १८

७. श. ब्रा. १.२.२.२, उपसर्जनी भिरौतिता आनयति।

८. उसर्जनीरधिश्रयति। अग्नीगार्हपत्येपिष्टसंयवनार्था अप अधिश्रयति तप्ताभिर्हि संयवनं यदा क्रियते तदा पिष्टानां मर्दवं भवति।, का. श्रौ. २.५.१, वेबर पृ. २००

९. अथान्तर्वेधुपाविशति" श. ब्रा. १.२.२.२, का. रौ. २.५.११

१०. वा. सं. १.२१. तै. सं. १.१८, मै. सं. १.१.९, का. सं. १.८

११. का. श्रौ. २.५.१०, आप. श्रौ. १.२१.७, स. श्रौ. १.६.१९, वा. श्रौ. १.२.४.६८, वैखा. श्रौ. ४.९, मान. श्रौ. १.३.१.१०, बौ. श्रौ. १.९.२०.८

१२. श. ब्रा. १.२.२.२, उपसर्जनीभिरैतिता आनयतिताः, पवित्राभ्यां प्रतिगृहणाति- - - - -। तु. का. सं. ब्रा. ३१.४.६, कपि. सं. ब्रा. १.५.७, का. श. ब्रा. २.२.१, का. श्रौ. २.५.१२-१३, वा. श्रौ. १.३.१.१४.६, भा. श्रौ. १.३.१.१४-१५, बौ. श्रौ. १.९.२०.८

१३. वा. सं. १.२१, तै. सं. १.१८, मै. सं. १.१.९, का. सं. १.८, वा. का. सं. १.८

१४. श. ब्रा. १.२.२.२

१५. वा. सं. १.२१, जा. का. सं. १.८, का. सं. १.८, मै. सं. १.१.९, तै. सं. १.१.१८

१६. श. ब्रा. १.२.२.३, अथ संयौति। तै. ब्रा. ३.२.८, का. सं. ब्रा. ३१.४.६, कपि. सं. ब्रा. १.५.७, का. श. ब्रा. २.२.१, का. श्रौ. २.५.१४, आप. श्रौ. १.२४.५, भा. श्रौ. १.२४.७, वा. श्रौ. १.३.१.१६, बौ. श्रौ. १.९.२०.८

में गूँथे हुए आटे का दो गोला बनाना चाहिये। दोनों को दक्षिण - उत्तर में रख देना चाहिये। पहले गोला को हाथ से छूकर "यह अग्नि देवता का है (इदं अग्नेः)" इसी प्रकार दूसरे लोंदे को छूता है। यह अग्नि और सोम का है। (इदं अग्निषोमयोः) कहना चाहिये।[१] दर्श इष्टि में अग्नि और सोमदेवता के स्थान पर अध्वर्यु दूसरे गोले को छूकर "यह इन्द्र और अग्नि देवता का है -"

(इदं इन्द्राग्नयोः) कहता है।[२] अग्नि देवता से सम्बन्धित पुरोडाश इष्टि तथा पूर्णमास इष्टि दोनों में नियत रूप से प्रयुक्त होता है। अध्वर्यु अग्नि देवता से सम्बन्धित पुरोडाश को "घर्म्मोसि"[३] मन्त्र से आठ कपालों के ऊपर पकने के लिये रख देता है।[४] पास में वह स्फय को लिये रखता है। इसके बाद ग्यारह कपालों के ऊपर दूसरे पुरोडाश को भी पुरोडाश पकने के लिये रख देता है।[५] तदनन्तर "उरूप्रथाय"[६] मन्त्र से पूरे कपालों पर सने हुए आटे को फैला देता है।[७]

यह क्रिया दूसरे पुरोडाश से सम्बन्द्ध की जायेगी। पुरोडाश अधिक पृथु नहीं बनवाना चाहिये।[८] कुछ लोगों के अनुसार पुरोडाश अश्व के टापू की तरह होता है,[९] परन्तु याज्ञवल्क्य का कहना है कि अध्वर्यु अपने मन से जितना उचित समझे उतना ही पृथु पुरोडाश को बनाये।[१०] आपस्तम्ब का मत है कि पुरोडाश को बहुत पृथु नहीं होना चाहिये, न ही उसे अपूप (पुआ) के आकार में ही बनाना चाहिये, वस्तुतः पुरोडाश कूर्म्म के स्वरूप का होना चाहिये।[११] तै. सं. ब्राह्मण के अनुसार कूर्म के आकार का पुरोडाश बनता है।[१२] तदनन्तर "अग्निष्टेत्वचं"[१३] मन्त्र द्वारा एक बार या तीन बार हाथ में पानी लगाकर पुरोडाश को चिकना किया जाता है।[१४]

---

१. "अथद्वेधा करोति । यदि द्वे हविषी भवतः पौर्णमास्यां वै द्वै हविषी भवतः स यत्र पुनर्न सं हरिष्यन्त्स्यात्तदभिमृशती दमग्नेरिदमभग्नीषोमयोरिति नाना वाऽएतदग्ने हविगृहणन्ति तत्सहावध्नन्दितत्सह पिपन्ति तत्पुनर्नाना करोति तस्मा देवमभिभृशत्यधि वृणकत्येवेषे पुरोडाशमन्धि श्रयत्यसावाज्यम्" श. ब्रा. १.२.२.४
तु. तै. सं. ब्रा. २.६.३, मै. सं. ब्रा. १.१.६.३.९, का. श्रौ. २.५.१७, आप. श्रौ. १.२४.५, स. श्रौ. १.६.१९, भा. श्रौ. १.२४.७, वा. श्रौ. १.३.१.१७-१८, वैखा. श्रौ. ४.१०, मान. श्रौ. १.३.१.१६-१८, बौ. श्रौ. १.९.२०.८

२. का. श्रौ. २.५.१६, "यथा देवतमन्यत"।

३. वा. सं. १.२२

४. श. ब्रा. १.२.२.७, "अथपुरोडाशमधिवृणकित", तु. तै. सं. ब्रा. २.६.३, मै. सं. ब्रा. १.१.६.८, का. श्रौ. २.५.१८, आप. श्रौ. २.२४.६, स. श्रौ. १.६.१९, भा. श्रौ. १.२४.८, वा. श्रौ. १.३.१.१९-२०, वैखा. श्रौ. ४.१०, बौ. श्रौ. १.९.२०.८१

५. श. ब्रा. १.२.२.७, तै. सं. ब्रा. २.६.३, मै. सं. ब्रा. १.१.६.८-९, का. श्रौ. २.५.१९

६. वा. सं. १.२२, तै. सं. ब्रा. २.६.३, मै. सं. १.१.९, का. सं. १.८

७. "तं प्रथयति" श. ब्रा. १.२.२.८, तै. सं. ब्रा. २.६.३, मै. सं. बा. ४.१.९, का. श. ब्रा. २.२.१, का. श्रौ. २.५.२०, आप. श्रौ. १.२५.३, स. श्रौ. १.६.१९, भा. श्रौ. १.२६.२, वा. श्रौ. १.३.१.२१, मा. श्रौ. १.३.१.२२, बौ. श्रौ. १.९.२०.८१

८. "तं न सत्रा पृथुं कुर्य्यात् " श. ब्रा. १.२.२.९, का. श. ब्रा. २.२.१,

९. श. ब्रा. १.२.२१०. , अश्वशफमात्रं कुर्य्यादित्युहैकऽआहुः, का. श. ब्रा. २.२.१

१०. "कस्तद्वेदयावनश्वशफोयावन्तमेव स्वयं मनसा न सत्रा पृथुं मन्यतैवं कुर्य्यात्", श. ब्रा. १.२.२,१० का. श. ब्रा. २.२.१, आप. श्रौ. १.२५.५

११. का. श्रौ. वेबर, पृ. २०७, आप. श्रौ. १.२५.४, अतुङगमनपाकृति कूर्मस्येव प्रति कृतिभित्यास्तम्बः अपिपृथुं न करोति। स. श्रौ. १.६.१९, भा. श्रौ. १.२६.३, वा. श्रौ. १.२.१.२१, वैखा. श्रौ. ४.१०, मा. श्रौ. १.३.२२, बौ. श्रौ. १.९.२०.८१

१२. तै. सं. ब्रा. २.६.३, पुरोडाशं कूर्मोभूत।

१३. वा. सं. १.२२, वा. का. सं. १.८

१४. श. ब्रा. १.२.२.११, "तमद्भिरभिमृशति", का. श. ब्रा. २.२.१, तै. ब्रा. २.६.३, का. श्रौ. २.५.२१, आप. श्रौ. १.२५.७, भा. श्रौ. १.२६.४, वा. श्रौ. १.३.१.२२, वैखा. श्रौ. ४.१०, मा. श्रौ. १.२.३.२३

चिकना करने क्रिया तीन बार होने पर भी मन्त्र का विनियोग एक ही बार किया जायेगा। पुरोडाश जल से चिकना करने का कार्य दूसरी बार भी किया जाता है। पहली बार चिकना करने पर पुरोडाश में यदि कहीं ठीक से चिकनाई न हुई हो तो दूसरी बार उसे ठीक से चिकना किया जाता है।[१] इसके बाद अग्नि से एक अङ्गार को लेकर पुरोडाश के चारों ओर प्रदक्षिणा क्रम से अङ्गार को घुमाया जाता है।[२] कृष्ण यजुर्वेदीय ब्राह्मणों के अनुसार तीन बार अङ्गार घुमाया जाता है।[३] इस कर्म को पर्यग्निकरण कहते हैं। उस अङ्गार को गार्हपत्याग्नि में डालकर हाथ को बायीं ओर से ले आना चाहिय और जल का स्पर्श करना चाहिये।[४] (तदनन्तर वह देवस्यत्वा)[५] मन्त्र के द्वारा जलते हुए कुश तृणों से पुरोडाश को पकाता है[६] तथा पक गये हैं अथवा नहीं पके हैं इसका ज्ञान करने के लिये (मार्भेर्मा संविक्था:)[७] मन्त्र के द्वारा दोनों पुरोडाश को छूता है।[८] यदि पुरोडाश पके न हो तो उन पर पुनः जलते हुए कुश तृणों को डालना चाहिये। यदि पुरोडाश पक गये हो तो (उत्तमेरु)[९] मन्त्र द्वारा वेद अथवा उपवेष से गरम अङ्गारों वाले भस्म से पुरोडाश को आच्छादित करना चाहिये।[१०]

आप्त्य देवताओं के लिये जल देना :—

एकत द्वित और त्रित नामक आप्त्य अथवा आप्य नामक तीन देवता है।[११] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार ये तीनों अग्नि के रूप हैं जो पहले यज्ञ में नष्ट हो गये थे। दूसरा रूप जो अग्नि है वह यज्ञ कार्य करने के लिये तभी उद्यत हुआ था, जब देवों ने उसके मरे हुए तीन बड़े भाइयों को यज्ञ में सम्मिलित करने का विचार मान लिया था। इन देवताओं को अङ्गुली प्रणेजन (आटा गूँथने के आद अङ्गुलियों को धोने से उत्पन्न हुआ जल) तथा पात्री निर्णेजन (जिस पात्र में हवि के लिये आटा साना गया था उस को धोने वाला जल) जल दिया

---

१. "प्रथमे क्रियमाणे यत्र यत्र विदीर्ण भवति तद्द्भिः संदधाति संयोजयति - सकृन्मन्त्रेण द्विस्तूष्णीम्" का. श्रौ., वेबर, पृ. २०४।

२. श. ब्रा. १.२.२.१३, "तं पर्यग्निकरोति", का. श. ब्रा. २.२.१, तै. ब्रा. ३.२.८, मै. सं. ब्रा. ४.१.९, काठ. सं. ब्रा. ३१.७, कपि. सं. ब्रा. ४७.७, का. श्रौ. २.५.२२, आप. श्रौ. १.२५.८, वैखा. श्रौ. ४.१०, बौ. श्रौ. १.९.२०.८१

३. तै. ब्रा. ३.२.८, त्रिःपर्यग्निकरोति, मै. सं. ब्रा. ४.१.९, काठ. सं. ब्रा. ३१.७, कपि. सं. ब्रा. ४७.७, आप. श्रौ. १.२५.८, वैखा. श्रौ. ४.१०, मा. श्रौ. १.२.२६, बौ. श्रौ. १.९.२०.८१

४. का. श्रौ. वेबर, पृ. २०७
का. सं. ब्रा. ३१.७, मै. सं. ब्रा. ४.१.९, तै. ब्रा. ३.२.८

५. वा. सं. १.२२, तै. त. १.१.८.११, का. सं. १.८, तै. सं. १.१.८, मै. सं. १.१.९

६. श. ब्रा. १.२.२.१४, तं श्रपयति, का. श्रौ. २.५.२३, आप. श्रौ. १.२५.९, स. श्रौ. १.१.१९, भा. श्रौ. १.२६.४, वा. श्रौ. १.३.१.२५, मा. श्रौ. १.२.३.७७, बौ. श्रौ. २४.२६.२७.२८.१३

७. वा. सं. १.२३

८. श. ब्रा. १.२.२.१५, सोऽभिमृशति। का. श. ब्रा. २.२.१, का. श्रौ. २.५.२४, आप. श्रौ. १.२५.११, स. श्रौ. १.१.१९, वा. श्रौ. १.३.१.२६, वैखा. श्रौ. ४.१०, मा. श्रौ. १.२.३.२८, बौ. श्रौ. २४.२६.२७.२८.१३, भा. श्रौ. १.२६.४

९. वा. सं. १.२३

१०. श. ब्रा. १.२.२.१६-१७, यदा श्रृतोऽथाभिवासयति, सोऽभिवासयति। काठ. सं. ब्रा. ३१.७, मै. सं. ब्रा. ४.१.९, तै. ब्रा. ३.२.८, तै. सं. ब्रा. २.६.३, का. श्रौ. २.५.२५, आप. श्रौ. १.२५.१२, स. श्रौ. १.१.१९, भा. श्रौ. १.२६.६.९, वा. श्रौ. १.३.१.२७, वैखा. श्रौ. ४.१०, भा. श्रौ. १.२.३.३०, बौ. श्रौ. ३४.२६.२७.२८.१३

११. श. ब्रा. १.२.३.१

जाता है।[१] इस जल को पहले गार्हपत्य अग्नि में जलाये गये तृणों से तपा लिया जाता है।[२] यज्ञ विहार के उत्तर में स्फय के द्वारा तीन गहरी रेखाएँ क्रमशः पश्चिम से पूर्व की ओर बनाई जाती हैं।[३] रेखाओं का निर्माण करते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि इन रेखाओं में डाला गया जल एक रेखा से दूसरी रेखा में न पहुँचे।[४]

इन्हीं रेखाओं में पूर्व से पश्चिम की ओर क्रम से आप्त्य देवताओं के लिये जल गिराया जाता है।[५] इस जल निनयन में क्रमशः "इदं त्रितायत्वा"[६] द्वितायत्वा,[७] इदं एकतायत्वा आपत्या[८] मन्त्रों का प्रयोग किया जाता है।

आज्य हवि का ग्रहण : —

जिस हवि के लिये अध्वर्यु आटा की पिसाई करता रहता है उसी समय एक ऋत्विज् यज्ञ में हवि के रूप में प्रयुक्त होने वाले आज्य को आज्यस्थाली में लेता है।[९] शतपथ ब्राह्मण का वाक्य है - "अथैक आज्यं निर्वपति"[१०] एक ऋत्विक् आज्य को लेता है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि ऋत्विक् जो आज्य हवि का ग्रहण करता है, अध्वर्यु तो हवि की पिसाई में संलग्न है। अग्निध्र कापालोपधान में व्यावृत्त है। अतएव वे दोनों तो आज्य ग्रहण नहीं कर सकते, क्योंकि वे काम में लगे हुए हैं। सायण ने अपने भाष्य में पूर्वोक्त वाक्य में आये हुए "एक" पद की व्याख्या करते हुए कहा है कि अग्निध्र आदि आज्य को ग्रहण करते है।[११]

जब एक ही ऋत्विक् को आज्य लेना है तब सायण की दृष्टि में अग्निध्र पद से संयुक्त आदि शब्द का क्या अर्थ है यह वे ही जानते हैं। इसलिये सायण का यह भाष्य चिन्त्य है। इसका अर्थ है अग्निध्र भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह तो अन्य कार्यों में (कपालोपधान में) संलग्न है। अतएव परिशेष्यात्- ब्रह्मा नामक ऋत्विक् बचता है और वही आज्य ग्रहण करता है। इस दृष्टि से कात्यायन श्रौतसूत्र के टीकाकार विद्याधर का मत यह है कि ब्रह्मा नामक ऋत्विक् आज्य ग्रहण करता है[१२] यह ठीक प्रतीत होता है। आज्य ग्रहण में "महिनाम्पयोसि"[१३] मन्त्र का विनियोग किया जाता है। आज्य किसी विशेष देवता को निर्दिष्ट करके नहीं लिया

१. श. ब्रा. १.२.२.१८, ३.२३, का. श्रौ. २.५.२६, आप. श्रौ. १.२५.१४, स. श्रौ. १.६.१९, भा. श्रौ. १.२६.१०, वा. श्रौ. १.३.१२९, वैखा. रौ. ४.१०, मान. श्रौ. १.२.३.२,
२. का. श्रौ. २.५.२५,
३. का. श्रौ. वेबर, पृ. २०७, आप. श्रौ. १.२५.१५, स. श्रौ. १.६.१९, भा. श्रौ. १.२६.१०, वैखा. श्रौ. ४.१०, मान. श्रौ. १.२.३.२
४. आप. श्रौ. १.२५.१५
५. का. श्रौ. वेबर, पृ. २०७, आप. श्रौ. १.२५.१६, स. श्रौ. १.६.१९, भा. श्रौ. १.२६.१०, वा. श्रौ. १.३.१.२९, वैखा. श्रौ. ४.१०, मान. श्रौ. १.२.३.३
६. वा. सं. १.२३, तै. सं. १.१. ८, का. सं. १. ८,
७. वा. सं. १.२३, तै. सं. १. ८,
८. वा. सं. १.२३, का. सं. १. ८,
९. श. ब्रा. १.२.१.२२
१०. श. ब्रा. १.२.१.२२, तु. भा. श्रौ. २.५.१२, वा. श्रौ. १.३.१.२३, बौ. श्रौ. २०. ८
११. श. ब्रा.-१.२.१.२२, सायण भाष्य।
१२. का. श्रौ. - विद्याधर टीका, पृ. ८३, ब्रह्माऽज्यधिश्रयेत्।
१३. वा. सं. १.२०

जाता है, क्योंकि आज्य में अलगाव नहीं किया जा सकता है।[१] इस आज्य को गार्हपत्य अग्नि में दोनों पुरोडाशों से रिक्त स्थान में गरम होने के लिये चढ़ा दिया जाता है[२]। गार्हपत्य पर रखने में "इषेत्वा"[३] मन्त्र का प्रयोग होता है। आज्य जब गरम हो जाता है तो उसे उतार लिया जाता है तथा उसमें "उर्जेत्वा"[४] मन्त्र का प्रयोग किया जाता है।[५]

अन्वाहार्य पाचन

यज्ञ हो जाने पर उसमें जो न्यूनातिरिक्त दोष होता है अथवा जो अङ्गहीन हो जाता है उसे दूर करने वाला अन्वाहार्य है। अन्वाहार्य ओदन का नाम है।[६] दाक्षिणाग्नि को भी पाच्य, पाचक सम्बन्ध से अन्वाहार्य कहा जाता है अथवा अन्वाहार्य पचन नाम दिया जाता है। यह ओदन दर्शपूर्णमास इष्टि में काम करने वाले चारों ऋत्विजों को यज्ञ की समाप्ति में दक्षिणा के रूप में दिया जाता है।[७] ओदन का परिमाण इतना होना चाहिये कि उसमें चारों ऋत्विजों की पूर्ण तृप्ति हो जाये, इसे अध्वर्यु दाक्षिणाग्नि पर पकाता है।[८] इसमें किसी मन्त्र का विनियोग नहीं किया जाता है। कुछ लोग अन्वाहार्य ओदन पक जाने पर व्रतोपायन करते हैं।[९]

वेदि संरचना

वेदि शब्द का अर्थ : ––

परिष्कृत भूमि को वेदि कहा जाता है।[१०] "विद्"लाभे धातु से "दृपिषिरूहिवृत्तिविदौति" सूत्र से इन् होकर वेदि शब्द निष्पन्न होता है।[११] असुरों से पराजित देवताओं ने तीन ओर छन्दों से घिरे हुए विष्णु अर्थात् यज्ञ द्वारा सम्पूर्ण पृथ्वी को प्राप्त कर लिया, इस लिये इसका नाम वेदि है। जितनी वेदि है उतनी पृथ्वी, क्योंकि इस वेदि के द्वारा उन्होंने पृथ्वी को प्राप्त कर लिया।[१२] वेदि को एक दूसरे ढंग से भी पारिभाषित किया गया

---

१. श. ब्रा. १.२.१.२२
२. श. ब्रा. १.२.२.५, "आज्यंमधिश्रयति", बौ. श्रौ. २०. ८
३. वा. सं. १.२२
४. वा. सं. १.३०
५. श. ब्रा. १.२२.५
६. का. श्रौ. वेबर, पृष्ठ २०५
७. का. श्रौ. वेबर, पृष्ठ २०५
८. का. श्रौ. , विद्याधर, २.५.२७, चतुर्णां ऋत्विजां तृप्तिसमं दक्षिणाग्नावधि श्रपेदध्वर्युः।
९. का. श्रौ. २.५.२८, "अत्र वा व्रतोपायनम्"।
१०. अ. को. पृ. २५५, श्लोक सं. ५६, तु. श. क. ४ भाग, पृ. ५०३
११. उणादि ४.११८, १.२.५.१०
१२. तं छन्दोभिरभितः परिगृह्य अग्निपुरस्तात् समाधाय तेनार्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरूस्तेनेमांꣳ सर्वां पृथिवी ꣳ समविन्दन्त तद्यदेननेमांꣳ सर्वां ꣳसमविन्दन्त तस्माद्वेदिर्नाम तस्मादाहुर्य्यावती वेदिस्तावती पृथिवीत्येत्यर्यमां सर्वां समविन्दन्तैवꣳह वाऽइमां ꣳसर्वां सपत्नानांꣳ संवृङक्ते निर्भजत्यस्यै स पत्नान्यएव मेतद्वेद। श. ब्रा. १.२.५.७

है - विष्णु (यज्ञ) को खोजते हुए देवताओं ने औषधियों के मूल में उसे (विष्णु) को प्राप्त किया इसलिये इसे वेदि कहते हैं।[१]

वेदि का परिमाण तथा स्वरूप : ——

यह पहले कहा जा चुका है कि यज्ञ के लिये परिष्कृत भूमि को वेदि कहते हैं। वेदि की भूमि को उच्च होना चाहिये। समतल तथा धसकने वाली भूमि से रहित भूमि वेदि के लिये उत्तम कहीं गई है। सभी यज्ञ वेदियों का एक निश्चित परिमाण होता है। यज्ञीय कार्य वेदि के भीतर ही सम्पन्न किये जाते हैं। वेदि का निर्माण पश्चिम से पूर्व की ओर होती है। वेदि के पूर्वी अंश के मध्य में आह्वनीय अग्नि स्थापित होती है तथा पश्चिम अंशों के बीचोबीच गार्हपत्याग्नि रहती है। दक्षिणी सीमा के पूर्वी छोर के पास दक्षिण रेखा पर ही दक्षिण अग्नि की स्थिति होती है, परन्तु याज्ञवल्क्य के अनुसार जितनी इच्छा हो उतनी लम्बाई रखी जा सकती है।[२]

वेदि का परिमाण : ——

वेदि पश्चिम से पूर्व तक एक व्याम (चारअरत्नि) लम्बी होती है अर्थात् मनुष्य के बराबर।[३] पूर्व अंश की चौड़ाई एक व्याम होती तथा पश्चिम अंश की चौड़ाई तीन अरत्नि होती है। मध्य में पूर्व तथा पश्चिम की अपेक्षा चौड़ाई कुछ कम होगी,[४] क्योंकि इस प्रकार की स्त्री अच्छी मानी जाती है। नीचे के भाग भारी कन्धों के निकट कुछ कम चौड़ी और कमर पर पतली। इस प्रकार के स्वरूप वाली वेदि देवताओं के लिये अभीष्ट सिद्धि प्रदान करती है।[५] वेदि दक्षिण की ओर ऊंची होनी चाहिये तथा उत्तर पूर्व की ओर नीची होनी चाहिये। वह पूर्व की ओर ढालू होनी चाहिये,[६] क्योंकि पूर्व देवों की दिशा है उसे उत्तर की ओर भी ढालू होनी चाहिये, क्योंकि उत्तर मनुष्य की दिशा है। यदि पूर्व की ओर ढालू हो तो यजमान बहुत दिन तक जीवित रहता है। यदि दक्षिण की ओर वेदि ढालू हो तो यजमान शीघ्र ही परलोक गमन करता है।[७]

---

१. औषधिनां वै स मुलान्युपाम्लोचन्तस्मादोषधीनामेवमूलान्युच्छैत्तैव बूयाद्यन्नवोत्र विष्णु मन्विविन्दंस्तस्माद्वेदिर्नाम् ।श. ब्रा. १.२.५.१०

२. श. ब्रा. १.२.५.१०, का. शु. प. १.२३

३. श. ब्रा. १.२.५.१४, का. श. ब्रा. २.२.३.१२-१३, का. श्री. वैखा. श्री. ४.११, आप. श्री. २.९.२.१

४. सा वै पश्चाद्वरीयसी स्यात्। मध्ये सं हवारिता पुनः पुरस्तादुर्व्येवमिव - - - - - - - - - - - ।श. ब्रा. १.२.५.१६

५. योषां प्रशंसन्ति पृथुश्रोणिर्विमृष्टानतरांसा मध्ये सङगग्राह्येतिजुष्टामेवैनामेत् देवेभ्यः करोति। श. ब्रा. १.२.५.१६

६. तस्माद्दक्षिणतः पुरीषं प्रत्युदुहन्ति पुरीषवती कुर्वीत पशवो वै पुरीष पशुमतीमेवैनामेतत्कुरुते। द.पू.प्र. पृ. ३९, आप. श्री. २.३.२, तु. का. श. ब्रा. २.२.३.१४-१५
सा वै प्राक् प्रवणास्यात्। प्राची ही देवानां दिगथोऽउदकप्रवणोदीचि हि मनुष्याणां दिग् दक्षिणतः।
पुरीषं प्रत्युदूहत्येषा वैदिक् पितृणां सा चदक्षिणप्रवणास्यात् क्षिप्रेह यजमानोऽमुं लोकमियान्तथोह यजमानोज्योग्जीवति। श. ब्रा. १.२.५.१७

७. का. श्री. २.६.२-३, औषधीनांमूलान्युच्छेत्रवै बूयात।
श. ब्रा. १.२.५.१०, तै. ब्रा. ३.२.९-१०,
तै. सं. ब्रा. २.६.४, मै. सं. ब्रा. ४.१०१०. ६०-६४

वेदि संस्कार : ––

वेदि की भूमि में जो भी छोटे-छोटे पौधे जमें हुए हों अध्वर्यु अग्नीध्र को उन्हें खोदकर निकाल फेंकने के लिये निर्देश देता है। अग्निध्र शस्य मूलों का उन्मूलन कर देता है।[१] शस्यों का उन्मूलन स्फय के द्वारा ही किया जाता है, न कि नाखूनों से।[२] यदि यजमान पशुकामी हो तो उसे बाहर से मिट्टी लाकर वेदि को पुरीषवती बनाना चाहिये।[३] तदनन्तर वेदि को समुचित रूप से बना लेना चाहिये। वेदि को समतल कर लेना चाहिये। तदनन्तर वेदि की धरती को तीन अङ्गुल गहरा खोदना चाहिये।[४] शतपथ ब्राह्मण में इसका उल्लेख है कि आचार्य. पांचि भी तीन अङगुल गहरी वेदि को उचित मानते हैं।[५] कुछ लोग दो अङ्गुल[६], कुल लोग चार अङ्गुल[७], तथा कुछ लोग कुण्ड की गहराई के बराबर[८] तथा अन्य रथ की पहिया चलने से उत्पन्न गहराई तक खोदना उचित मानते है।[९] आगे यह भी कहा गया है कि उपर्युक्त मात्रा से अधिक खोदना वर्जित है।

स्तम्बयजुर्हरण का अर्थ : ––

स्तम्बयजुर्हरण की व्युत्पत्ति बताते हुए सत्याषाढ़ ऋषि बताते हैं कि स्तम्ब और यजुष् से संयुक्त धूलि को ले जाना स्तम्बयजुर्हरण कहलाती है। ध्यातव्य है कि जिस जगह वेदि के घास पास आदि को फेंका जाता है उसे उत्कर कहा जाता है।[१०] वेदि को समतल कर लेने के पश्चात् आह्वनीय के उत्तर की ओर कूड़ा आदि फेंकने के लिये तीन अङगुल गहरी षड़ अङगुल चौड़ी एक उत्कर बनायी जाती है।[११] दूसरे शब्दों में स्तम्बयर्जु का अर्थ है मन्त्र को पढ़कर वेदि के ऊपर जमे हुए पौधों को जड़ सहित मिट्टी को ले जाकर उत्कर में डालना। यह कार्य वेदि के संस्कार के पूर्व किया जाता है। आप. श्रौ. सू. के अनुसार यह सतम्बयजुर्हरण वेदि के पूर्वार्ध भाग के तीसरे भाग में किया जाता है।[१२]

---

१. का. सं. ब्रा. ३१.८, का. श. ब्रा. २.२.२.३, आप. श्रौ. २.२.६, स. श्रौ. सू. १.६.१९, भारे श्रौ. १.२.१०,
२. काठ. सं. ब्रा. ३१.८, आप श्रौ. २.३.३, भा. श्रौ. १.२.१.१४
३. का. श्रौ. २.६.४, आहर्यपुरीषां पशुकामस्य तु. आप. श्रौ. २.३.५, वा. श्रौ. १.३.२.४७, भार श्रौ. २.३.१, वैखा. श्रौ. ५.१, स. श्रौ. २.६.२१
४. श. ब्रा. १.२.५.९, का. श्रौ. २.६.१, आप. श्रौ. २.२.७, तथा रूद्रदत्त भाष्य, तु. बौ. क. सू. २४.२४
५. श. ब्रा. १.२.५.९
६. वा. श्रौ. १.३.२.४६, भा. श्रौ. २.१.२.८, स. श्रौ. १.६.२२,
७. तै. ब्रा. ३.२.९-१०
८. आप. श्रौ. २.२.७, तथा रूद्रदत्त भाष्य तु. वै. क. सू. २४.२४, वैखा. श्रौ. ५.१-५
९. आप. श्रौ. २.२.७, वैखा. श्रौ. ५.१- ५
१०. स. श्रौ. १.६ स्तम्बेन यजुषां च संयुक्तः उपांशु तस्योक्तः तस्य हरणम् स्तम्बयजुर्हरणम् इति।
११. वेदि परिसमुहयवितृतीयोग्निदुत्तरत उत्करं करोति, का. श्रौ. २.५, तु. वा. श्रौ. १.३.१.३६,
१२. आप. श्रौ. २.१.४, पूर्वार्ध वेदेः तृतीय देशात् स्तम्ब यजुर्हरति, तु. वैखा. श्रौ. ४.११

स्तम्बयजुर्हरण की विधि : ——

इस विधि में सर्वप्रथम अध्वर्यु वेदि के ऊपर उत्तराग्र करके कुश को बिछाता है।[१] "जिसमें पृथिव्यै वर्म्मासि" मन्त्र का उच्चारण करता है। तदनन्तर अध्वर्यु "देवस्यत्वा"[२] मन्त्र के द्वारा स्फय को उठा लेता है।[३] स्फय को कुश के एक तृण के साथ बायें हाथ में रखकर "इन्द्रस्य वाहुः"[४] मन्त्र के द्वारा उसे छूता है और इस मन्त्र को जप करने का विधान है। हथेली के द्वारा स्फय को पूर्णतया स्पर्श करके स्फय को अध्वर्यु तेज बनाता है।[५] ध्यातव्य है कि स्पर्श किया गया स्फय स्तम्बयजुर्हरण से पूर्व पृथ्वी तथा अपने शरीर से कदापि स्पर्श न करे।[६] तदनन्तर पुनृ "पृथिवी देवयजनि"[७] मन्त्र के द्वारा तृण के नीचे पृथ्वी पर स्फय से प्रहार करता है।[८] इसके बाद प्रहार से उखड़ी हुई मिट्टी को "व्रजंगच्छ"[९] मन्त्र के द्वारा ग्रहण करता है,[१०] परन्तु मन्त्र का उच्चारण उपांशु रूप में उच्चारण करना चाहिये।[११] जिस स्थान से मिट्टी ली गई है उस स्थान को "वर्षतुते"[१२] मन्त्र को उपांशु उच्चारण करते हुए जल का अभिसिञ्चन करता है।[१३] तदनन्तर जिस मिट्टी को लिया गया है उसे उत्कर में फेंक दिया जाता है।[१४] जिसमें "वधान देवसवितः"[१५] मन्त्र का उच्चारण किया जाता है।

इस प्रसङ्ग में ध्यातव्य है कि अभिचार क्रम में "द्विपतः" तथा तम पद के स्थान पर शत्रु का नाम लेना यदि अभिचार कर्म हो तो जल का स्पर्श करना चाहिये अन्यथा नहीं।[१६]

---

१. श. ब्रा. १.२.४.१५, अथ तृणमन्तर्धाय प्रहरति, का. श. ब्रा. २.२२.३, तै. ब्रा. ३.२.९.१०, तै. सं. ब्रा. २.६.४, तै. सं. ब्रा. ४.१.१०, का. सं. ब्रा. ३१.८, का. श्रौ. २.६.८-९, तु. बौ. श्रौ. १.१०-११, आश्वा. श्रौ. २.१.५, वा. श्रौ. १.३.१३२-१३३, भा. श्रौ. २.१.१.६-७, मा. श्रौ. १.२.४.९-१०, स. श्रौ. १.६.२०, श्रौ. को. पृ. १७५-१८०, वैखा. श्रौ. ४.११.१०

२. वा. सं. १.२४, वा. का. सं. १.८, का. सं. १.९.३.८, तै. सं. १.१.९. २.६.४, मै. सं. १.१.१०, कपि. सं. १.९

३. श. ब्रा. १.२.४.३, स यत्स्फयमादत्ते। का. श. ब्रा. २.२२.३, तै. ब्रा. ३.२.९.१० ऐ. ब्रा. १.८.७, का. श्रौ. २.६.६, बौ. श्रौ. सू. १.१०-११, ३.२३.१०, भा. श्रौ. २.१.१.३७.६, वा. श्रौ. १.३.१.३२, मा. श्रौ. सू. १.२.४-६, स. श्रौ. १.६.२०, वैखा. श्रौ. ४.११, आप. श्रौ. २.९.२.१

४. वा. सं. १.२४, वा. का. सं. १.८, का. सं. १.९.३१. ८, तै. सं. १.१.९.२.६.४, मै. सं. १.१:१०, कपि. सं. १.९

५. श. ब्रा. १.२.४.५.६, स जपति, का. श. ब्रा. २.२२.३, तै. ब्रा. ३.२.९.१०, ऐ. ब्रा. १.८.७, का. श्रौ. २.६.६, बौ. श्रौ. १.१०.११, भा. श्रौ. २.१.१, वा. श्रौ. १.३.१.३२, मा. श्रौ. १.२.४.६, स. श्रौ. १.६.२०, वैखा. श्रौ. ४.११

६. का. श्रौ. २.७, नोपस्पृशेत्पार्थिवात्यनीतेनस्ताम्बयजुर्हरिष्यन्",
श. ब्रा. १.२.४.७, "तस्मान्नात्मानमुपस्पृशति न पृथिवीम्",

७. वा. सं. १.२५, वा. का. सं. १.९.२५, तै. सं. १.९.३, मैः सं. १.१.१०, का. सं. १.९

८. श. ब्रा. १.२.४.६, स प्रहरति।, तै. ब्रा. ३.२.९-१०, तै. सं. ब्रा. २.६.४, मै. सं. ब्रा. ४.१.१०, का. श. ब्रा. २.२२.३, का. श्रौ. २.६.९, वैखा. श्रौ. ४.११, मान. श्रौ. १.२.४.१०, आप. श्रौ. २.४.५.२.५, स. श्रौ. १.६.२०, बौ. श्रौ. १.१०.११, दर्श. पू. भा. प. पृ. ४०

९. वा. स. १.२५, वा. का. सं. १.९.२५, तै. सं. १.९.३, मै. सं. १.१.१०, काठ. सं. १.९, कपि. सं. १.९

१०. श. ब्रा. १.२.४.६, का. श्रौ. २.६.१०, वैखा. श्रौ. ४.११, मा. श्रौ. १.२.४.१०, आप. श्रौ. २.४.५.२.६, स. श्रौ. १.६.२०, बौ. श्रौ. १.१०.११, दर्श. पू. प. पृ. ४०

११. का. श्रौ. वेबर, पृ. २१८

१२. वा. सं. १.२५, मै. सं. १.१.१०, तै. सं. १.१.९

१३. श. ब्रा. १.२.४.६, वा. श्रौ. २.६.१२, भार. श्रौ. १.१०.११, दर्श. पू. प. पृ. ४०,

१४. वा. सं. १.२५, मै. सं. १.१.१०, काठ. सं. १.९, तै. सं. १.१.९

१५. श. ब्रा. १.२.४.६, का. श्रौ. २.६.११, वैखा. श्रौ. ४.११, मान. श्रौ. १.२.४.१०, स. श्रौ. १.६.२०, आप. श्रौ. २.४.५.२.६, दर्श. पू. प. पृ. ४१

१६. श. ब्रा. १.२.४.१६

इसी तरह से "अपारूरय" १ मन्त्र के द्वारा दूसरी बार भी भूमि पर पूर्ववत प्रहार करता है, तदनन्तर पहले के समान मिट्टी को लेना वेदि को देखना तथा मिट्टी का उत्कर में प्रक्षेपण आदि कार्य किये जाते हैं।२ इसके बाद अग्नीध्र स्फय को लेकर दोनों हथेलियों से उत्कर को स्पर्श करता है।३ तीसरी बार पुनः "द्रपूसस्ते"४ मन्त्र के द्वारा वेदि में जिस स्थान पर दूसरी बार प्रहार किया गया है उसके उत्तर में तीसरी बार प्रहार करता है।५ पुनः पहले के समान मिट्टी का लेना, वेदि को देखना तथा ली गई मिट्टी को उत्कर में प्रक्षेपण कार्य भी किये जाते हैं। जिस स्थान पर स्फय से तीसरी बार प्रहार किया गया है उसके उत्तर में पुनः चौथी बार प्रहार करता है। इस समय भी पूर्ववत् सारे कार्य किये जायेंगे, परन्तु चौथी बार क्रियाओं में किसी मन्त्र का प्रयोग नहीं होगा।६

वेदि का परिग्रह : ——

चारों ओर से किसी वस्तु को गृहीत करना अथवा पकड़ना। वेदि के सन्दर्भ में परिग्रह का पारिभाषिक अर्थ है वेदि के क्रमशः दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर की ओर स्फय के द्वारा रेखा खींच कर वेदि की सीमा को निर्धारित करना।[७] यह परिग्रह दो बार किया जाता है। प्रथम परिग्रह को पूर्व परिग्रह कहते हैं तथा दूसरे परिग्रह को उत्तर परिग्रह कहते हैं।

पूर्व परिग्रह : ——

वेदि खोदने के पूर्व जो कार्य किया जाता है उसे पूर्व परिग्रह कहा जाता है।[८] पूर्व परिग्रह की रेखाओं को खींचने के पहले अध्वर्यु ब्रह्मा नामक ऋत्विक् से है।ब्रह्मा (में) "पूर्व परिग्रह को परिगृहीत कर रहा हूँ" कहकर रेखाओं को खींचने की आज्ञा लेता है। ब्रह्मा "वृहस्पते" इत्यादि मन्त्र को उपांशु रूप में पढ़कर पूर्व परिग्रह की रेखाओं को खींचने का आदेश देता है।[९] ब्रह्मा के द्वारा अनुज्ञात होने पर अध्वर्यु स्फय से दक्षिण श्रोणी

---

१. श. ब्रा. १.२.४.१६

२. वा. सं. १.२६, तै. सं. १.१.९.८-१४, वा. का. सं. १.९, मै. सं. १.१.१०, कपि. सं. १.९, का. सं. १.९.२५-२८,

३. श. ब्रा. १.२.४.१७-१८, अथद्वितीयं प्रहरति। तै. ब्रा. ३.२.९-१०, तै. सं. ब्रा. २.६.४, मै. सं. ब्रा. ४.१.१०, काठ. सं. ब्रा. १.९, का. श. ब्रा. २.२२.३, का. श्रौ. २.६.१४, वैखा. श्रौ. ४.१२, भा. श्रौ. १.२.४.१४, स. श्रौ. १.६.२, आप. श्रौ. २.२.१, बौ. श्रौ. १.१०.११

४. वा. सं. १.२६, तै. सं. १.१.९.१५, वा. का. सं. १.९, मै. सं. १.१.१०, कपि. सं. १.९, का. सं. १९.२५-२८

५. श. ब्रा. १.२.४.१९, अथ तृतीयं प्रहरति।, का. श. ब्रा. २.२२.३, तै. सं. ब्रा. २.६.४, तै. ब्रा. ३.२.९-१०, काठ. सं. ब्रा. ३१.८, मै. सं. ब्रा. ४.१.१०.६०-६४, का. श्रौ. २.६.१६, तु. आप. श्रौ. २.२.१, बौ. श्रौ. १.१०.११, आश्व. श्रौ. २.२.३, वै. श्रौ. १२.४, वा. श्रौ. १.३.१.४०, स. श्रौ. सू. १.६.२१, भा. श्रौ. २.१.१.१३, वैखा. श्रौ. ४.१२

६. श. ब्रा. १.२.४.२१, "तूष्णीं चतुर्थम्", तै. सं. ब्रा. २.६.४, तै. ब्रा. ३.२.९-१०, मै. सं. ब्रा. ४.१.१०.६०-६४, काठ. सं. ब्रा. ३१.८, का. श. ब्रा. २.२२.३, का. श्रौ. २.६.१७, तु. बौ. श्रौ. १.१०११.३.२३, वा. श्रौ. १.३.१.४०, भा. श्रौ. २.२, वैखा. श्रौ. ४.१२, मान. श्रौ. २.१.१.१३, आप. श्रौ. २.२.२, स. श्रौ. १.६.२१

७. का. श्रौ. २.६.१८, आप. श्रौ. २.३७, वै. श्रौ. ४.१२.१५

८. वा. सं. महीधर भाष्य, पृष्ठ २०, "वेदिखननात् पूर्व क्रियमाणः पूर्व परिग्रहः।"

९. का. श्रौ. २.२.१०, आप. श्रौ. २.३.७, स. श्रौ. १.६.२२, कौ. सू. १३७.११, वै. श्रौ. १.२.५, ३.१९.३, वा. श्रौ. सू. १.३.२.४, वैखा. श्रौ. ५.१.१०

से प्रारम्भ करके दक्षिण अंश तक रेखा खींचता है[१] " गायत्रेणत्वा"[२] मन्त्र का प्रयोग करता है। तदनन्तर दक्षिण श्रोणि से प्रारम्भ कर उत्तर श्रोणि के अन्त तक "त्रैष्टुभेनत्वा"[३] मन्त्र के द्वारा रेखा बनाता है।[४] इसके बाद वह उत्तर श्रोणी से प्रारम्भ कर उत्तर की ओर उत्तरांश तक तीसरी रेखा खींचता है।[५] इसमें "जागतेनत्वा"[६] मन्त्र का विनियोग करता है। तदनन्तर वेदि में पूर्व की ओर फैली हुई तथा उत्तर की ओर जाने वाली तीन रेखाओं को स्फय के द्वारा मौन रहकर बनाता है। जिसमें " हरात्रः " मन्त्र से ऐसा अग्निध्र को आदेश देता है कि यहाँ से तीन बार मिट्टी को ले जाकर उत्कर में छोड़े।

अग्निध्र उन तीन रेखाओं में से उखड़ी हुई मिट्टी को उठाकर उत्कर में छोड़ देता है[७] तथा उन रेखाओं को अच्छी तरह से मूंद देता है। यह क्रिया करने के बाद ही प्रदक्षिणा क्रम से जितनी गहराई तक वेदि को खोदता है तथा जिन गहराईयों का ऊपर वर्णन किया जा चुका है, वह उतना खोदता है।[८]

उत्तर परिग्रह : ——

पूर्व परिग्रह को स्पष्ट करने के लिये परिग्रह का अर्थ बताया जा चुका है। वेदि परिष्कार करने के अनन्तर सीमा को निर्धारित करने के लिये पूर्ववत् जो रेखा खींची जाती है उसे उत्तर परिग्रह कहा जाता है।[९]

पूर्ववत् ब्रह्मा से अध्वर्यु : ——

उत्तर परिग्रह की संरचना के लिये आज्ञा लेता है। ब्रह्मा से आज्ञा मिलने पर पहले के समान ही तीन रेखाएँ खींचता है। इसको उत्तर परिग्रह कहते हैं।[१०] पहली रेखा खींचने में "सूक्ष्माचासि"[११] दूसरी रेखा खींचने में "स्योनाचासि"[१२] तथा तीसरी रेखा खींचने में "उर्जस्वती"[१३] मन्त्र का प्रयोग करता है। तदनन्तर अध्वर्यु दक्षिण

---

१. श. ब्रा. १.२.५.६, तु. का. श. ब्रा. २.२.२-३, तै. सं. ब्रा. २.६.४, तै. ब्रा. ३.२.९-१०, मै. सं. ब्रा. ४.१.१०.६०-६४, काठ. सं. ब्रा. ३१.८, कपि. सं. ब्रा. १.९, का. श्रौ. सू. २.६.१८, तु. बौ. श्रौ. सू. १.१०-११, आश्व. श्रौ. २.३-७, वै. श्रौ. सू. १.१.२.४, वा. श्रौ. १.३.२.४, स. श्रौ. सू. १.६.२१, भा. श्रौ. २.१.२-४, आप. श्रौ. २.२.३, वैखा. श्रौ. ४.१२, मा. श्रौ. १.२.४.१५,

२. वा. सं. १.२७, तै. सं. १.१.९.१६-१८, मै. सं. १.१.१६, काठ. सं. १.९.२५-२८, कपि. सं. १.९

३. तै. सं. १.१.९, वा. सं. १.२७, मै. सं. १.१.१०, का. सं. १.९, कपि. सं. १.९

४. श. ब्रा. २.५.६, का. श. ब्रा. २.२.२-३, तै. सं. ब्रा. २.६.४, तै. ब्रा. ३.२.९-१०, मै. सं. ब्रा. ४.१.१०६ -६४, काठ. सं. ब्रा. ३१.८, कपि. सं. ब्रा. १.९, का. श्रौ. २.६.१०, वैखा. श्रौ. ४.१२, मा. श्रौ. १.२.४.१५, स. श्रौ. सू. १.६.२१, आप. श्रौ. २.२.३, बौ. श्रौ. १.१०-११,

५. श. ब्रा. १.२.५.६, का. श. ब्रा. २.२.२-३, तै. सं. ब्रा. २.६.४, तै. ब्रा. ३.२.९-१०, मै. सं. ब्रा. ४.१.१०६-६४, काठ. सं. ब्रा. ३१.८, कपि. सं. ब्रा. १.८, का. श्रौ. २.६.१०, वैखा. श्रौ. ४.१२, मा. श्रौ. १.२.४.१५, स. श्रौ. सू. १.६.२१, आप. श्रौ. २.२.३, बौ. श्रौ. १ १०-११

६. वा. सं. १.२७, तै. सं. १.१.९, मै. सं. १.१.१०, काठ. सं. १.९, कपि. सं. १.९

७. का. श्रौ. २.६.१९, आप. श्रौ. २.२.५, स. श्रौ. १.६.२१,

८. का. श्रौ. वेबर २.६.१९

९. का. श्रौ. २.६.१९, श. ब्रा. १.२.४-५, ११, तै. सं. ब्रा. २.६.४, तै. ब्रा. ३.२.९-१०, का. श. ब्रा. २.२.३.३, वैखा. श्रौ. ५.१,

१०. का. श्रौ. २.६.२३, वा. श्रौ. १.३.२.४, वैखा. श्रौ. ५.१, भा. श्रौ. १.४.३.८, आप. श्रौ. २.३.७, मा. श्रौ. १.२.४.२१, स. श्रौ. १.६.२१, बौ. श्रौ. १.१०-११

११. वा. सं. १.२७

१२. वा. सं. १.२७ .

१३. वा. सं. १.२७, का. श्रौ. वेबर पृष्ठ २१९, श. ब्रा. १.२.५.१७, मा. श्रौ. १.२.४.२२

दिशा में वेदि के ऊपर मिट्टी को चढ़ाकर वेदि को ऊंचा करता है।[१] इसके बाद पूर्व दिशा से आरम्भ कर पश्चिम दिशा तक "पूरा क्रूरस्य"[२] मन्त्र के द्वारा वेदि का मार्जन करता है।[३] मार्जन का यहाँ अर्थ है वेदि को खोदने के बाद उसे समतल बनाना।[४] पुनः इसी मन्त्र से ही अग्निध्र पूर्व से पश्चिम तक लीप देता है।[५] शाखान्तर के अनुसार दोनों परिग्रह विपरीत ढंग से भी किये जा सकते हैं।[६] इसके बाद स्फय को यथास्थान रख दिया जाता है, परन्तु स्फय के ऊपर प्रोक्षणी पात्र को रखने के पूर्व स्फय को उठा लिया जाता है।[७] इसके बाद वेदि के तृतीय भाग में कम से कम दो हाथ दूरी पर प्रोक्षणी पात्र, समिधा, कुश को रखना, स्रुक् समांर्जना, पत्नी सन्नहन इत्यादि करने हेतु अध्वर्यु आग्निध्र को आदेश देता है।[८] अध्वर्यु चाहे तो इन कर्मों को स्वयं कर सकता है।[९] उपर्युक्त आज्ञा अध्वर्यु को तब देना चाहिये, जब इन कर्मों को आग्निध्र से करवाना चाहता हो। यदि स्वयं करने की इच्छा हो तो संप्रैष अर्थात् (आज्ञा) नहीं देता है।[१०] जैमिनी सूत्र के अनुसार आग्निध्र या अध्वर्यु कोई भी प्रेष कृत्य कर सकता है।[११] तदनन्तर वेदि पर कुश बिछा दिया जाता है, किन्तु कुश बिछाने से पूर्व प्रधान याग हेतु पकाये गये हवि का स्पर्श नहीं करना चाहिये।[१२]

जैमिनी के अनुसार लकड़ी के द्वारा बनाए गये हाथ से स्पर्श किया जा सकता है।[१३] तदनन्तर पुनः वेदि के ऊपर गिरे हुए तृण के अवयव को उठाकर उत्कर में डाल देना चाहिये।[१४]

स्फ्य प्रक्षेप : ——

वेदि की विधि पूर्वक खुदाई कर लेने के बाद स्फय को "द्विषतोवधोऽसिः"[१५] मन्त्र के द्वारा उत्तराग्र करके उत्कर में फेंक देता है।[१६] यदि यज्ञ को अभिचारक रूप में करना है तो उस शत्रु का नाम लेकर स्फय

---

१. का. श्रौ. वेबर, पृ. २१९ श. ब्रा. १.२.५.१७, मा. श्रौ. १.२.४.२२,
२. वा. सं. १.२८, का. सं. १.९, कपि. सं. १.९, मै. सं. १.१.१०, तै. सं. १.१.९
३. श. ब्रा. १.२.५-१८, "तां प्रतिमार्ष्टि", वा. श्रौ. १.३.२५, का. श्रौ. २.६.२४, मान. श्रौ. १.२.४.२२, स. श्रौ. १.६.२१, बौ. श्रौ. २४.२३-२४, वैखा. श्रौ. ५.२
४. का. श्रौ. विद्याधर, पृ. ९५, "वज्रेणवेदि समी कुर्याद।"
५. श. ब्रा. १.२.५.१९, "स प्रतिमार्ष्टि"
६. आप. श्रौ. २.३.८, विपरीतो परिग्रहावेके समामनन्ति", तु. वा. श्रौ. १.३.२.४, वैखा. श्रौ. ५.२, स. श्रौ. १.६.२१, बौ. श्रौ. २४.२३-२४
७. श. ब्रा. १.२.५.२०, वा. श्रौ. १.३.२.७, मान. श्रौ. १.२.४.२४, स. श्रौ. १.६.२१
८. श. ब्रा. १.२.५.२१, का. श्रौ. २.६.२६, वा. श्रौ. १.३.२.५, वैखा. श्रौ. ५.२, मान. श्रौ. १.२.४.२३, स. श्रौ. १.६.२१, आप. श्रौ. २.३.११,
९. का. श्रौ. २.६.२८, स्वयंवाऽविरोधात्", आप. श्रौ. २.३.१२, भा. श्रौ. २.४.३.१४,
१०. का. श्रौ. २.६.२९, सम्प्रेषवचनाच्च, आप. श्रौ. २.३.१२,
११. जै. सू. २३.२४
१२. श. ब्रा. १.२.५.२६, तु. का. श. ब्रा. २.२.२-३,
१३. जै. सू. १.४.१९
१४. का. श्रौ. २.६.३३, आपन्नस्तृणन् निरस्येत्। आप. श्रौ. २.३.९,
१५. वा. सं. १.२८, वा. का. सं. १.९, मै. सं. १.१.१०, तै. सं. १.१.९,
१६. श. ब्रा. १.२.५.२२, तै. ब्रा. ३.२.९-१०, का. श्रौ. २.६.३४, वैखा. रौ. ५.२, भा. श्रौ. १.४.३.१५, आप. श्रौ. २.३.१४, मा. श्रौ. १.२.४.२६, स. श्रौ. १.६.२२, वौ. श्रौ. २४.२३-२४, वा. श्रौ. १.३.२.९,

को उत्कर में फेंकना चाहिये।[१] इसके बाद जल का स्पर्श करना चाहिये।[२] अध्वर्यु के लिये स्पष्ट निषेध है कि जब तक हाथ न धो ले तब तक पात्रों को स्पर्श करने का विधान नहीं है।[३] तदनन्तर अध्वर्यु स्फय तथा हाथ को धो-कर प्रणीता के पश्चिम भाग मे पूर्वाग्र अथवा उत्तराग्र रूप में रख देता है।[४] अथवा प्रणीता के दक्षिण से प्रणीता तथा आहवनीय के अन्तराल में परिक्रमा करके समिधा और वर्हि को प्रणीता से पश्चिम रखा जा सकता है।[५]

स्रुक् सम्मार्जनम्

ध्रुव, उपभृत, जुहू, स्रुव, इन चार पात्रों को स्रुक् शब्द से अभिहित किया गया है।[६] श. ब्रा. के अनुसार स्रुक् देवताओं के वर्तन हैं। जिस प्रकार मनुष्य अपना भोजन पकाने के लिये वर्तनों को शोधित करता है उसी प्रकार देवताओं की हवि पकाने के लिये तथा देवताओं को हवि देने के लिये जो साधन हैं, ऐसे स्रुक् प्रक्षालन को स्रुक् मार्जन कहा जाता है।[७] मनुष्य के उपयोग में आने वाले पात्र सिर्फ जल से धोये जाते हैं, परन्तु देवताओं के पात्र कुश के अभिषिचित जल से शोधित किया जाता है।[८]

सम्मार्जन की विधि : ——

इस विधि में सर्वप्रथम आग्नीध्र स्रुक् को माँजता है।[९] इसके बाद सर्वप्रथम स्रुक् को लेकर "प्रत्युष्टछरक्षः"[१०] मन्त्र से गार्हपत्याग्नि पर तपाता है।[११] इसके बाद पूर्व दिशा में आहवनीय अग्नि के पास जाकर स्रुव् को वाम हस्त में लेकर "अनाशितोऽसि"[१२] मन्त्र से वेद अर्थात् कुशमुष्टि के अग्र भाग से सर्वप्रथम स्रुव के खुदे हुए स्थान को, तदनन्तर मूल से लेकर अग्र भाग पर्यन्त पुनः अग्र भाग से लेकर मूल भाग पर्यन्त सम्मार्जन करता

---

१. श. ब्रा. १.२.५.२२, का. श्रौ. १.३.२.९, वैखा. श्रौ. ५.२, भा. श्रौ. १.४.३.१४. १६, आप. श्रौ. २.३.१३, स. श्रौ. १.६.२२, वौ. श्रौ. २४.२३-२४, वा. श्रौ. १.३.२.९,

२. श. ब्रा. १.२.५.२३, तु. तै. ब्रा. ३.२.९-१०, का. श्रौ. २.६.३५, वैखा. श्रौ. ५.२, भा. श्रौ. १.२.४.१७, आप. श्रौ. २.३.१६, स. श्रौ. १.६.२२, वा. श्रौ. १.३.२.१०, बौ. श्रौ. २४.२३-२४,

३. स. श्रौ. २.६.२२,

४. स. श्रौ. २.६.२२, भा. श्रौ. २.४.२.१७, वै. श्रौ. ५.२.१०, वा. श्रौ. १.३.२.१०, का. श्रौ. २.६.३५, मा. श्रौ. १.२.४.२७,

५. आप. श्रौ. २.३.१७, वौ. श्रौ. १.१२, भा. श्रौ. १.४.३.१९, स. श्रौ. २.६.२२,

६. श्रौ. प. नि., पृ. १०, ध्रुवोपभृज्जुहूनीतुस्रुवोभेदाः स्रुचःस्त्रियाम्।

७. श. ब्रा. १.३.१.१-२,

८. श. ब्रा. १.३.१.३

९. श. ब्रा. १.३.१.१, "सर्वैस्रुच्सम्मार्ष्टि", तै. ब्रा. ३.३.१-५, मै. सं. ब्रा. ४.१.१२, का. सं. ब्रा. ३१.९, स. श्रौ. १.७.२३,

१०. वा. सं. १.२९, तु. मै. सं. ४.१.११ - १२, तै. सं. ११.१.१०, का. सं. १.१०, कपि. सं. ४७.९, वा. का. सं. १.१०,

११. श. ब्रा. १.३.१.४, स्रुवमादत्ते तं प्रतपति"। का. श. ब्रा. २.२.४२.३.१, तै. ब्रा. ३.३.१-५, मै. सं. ब्रा. ४.१.१२, का. सं. ब्रा. ३१.९, का. श्रौ. २.७.३९, भा. श्रौ. २.४.२-११, वौ. श्रौ. १.१२, वैखा. श्रौ. १६.२.१०.५.२, मा. श्रौ. १.२.५.१-११, वा. श्रौ. १.३.२.१९, आप. श्रौ. २.४.२, स. श्रौ. १.७.२३

१२. वा. सं. १२.९, मै. सं. ४.१.११-१२, तै. सं. ११.१.१०, का. सं. १.१०, कपि. सं. ४७.९, वा. का. सं. १.१०,

है।[१] पुनः गार्हपत्याग्नि के समीप आकर पूर्ववत् पूर्व मन्त्र से तपाकर अध्वर्यु का देता है।[२] ध्यान रहे सम्मार्जन काल में स्रुव उत्तर अथवा पूर्व दिशा में रहता है।[३] अध्वर्यु के प्रतपन पक्ष में पात्रों को तपाकर आग्नीध्र को देना चाहिए।[४] इसी तरह जुहू, उपभृद, ध्रुवा का भी पूर्व विधि के अनुसार सम्मार्जन किया जाता है,[५] परन्तु प्राशित्र हरण पात्र का तथा पुरोडाश पात्र का मौन होकर सम्मार्जन किया जाता है।[६] परन्तु अलग-अलग पात्रों के प्रतपन में जल का स्पर्श करके अगले पात्र का सम्मार्जन करना चाहिये, परन्तु मौन होकर पात्र सम्मार्जन करने के पक्ष में जल का स्पर्श कोई आवश्यक नहीं है।[७] आचार्य कर्क के अनुसार वेदाग्रमूलैः अर्थात् वेद (कुशमुष्टि के) जड़भाग को समझना चाहिये।[८] कृष्णयजुर्वेदीय श्रौतसूत्र के अनुसार जुहू के सम्मार्जन में सर्वप्रथम वेदाग्र के द्वारा जुहू के भीतर सम्मार्जन करते हुए पूर्व में समाप्ति करनी चाहिये। तदनन्तर वेद के मध्य भाग के द्वारा जुहू के बाहर बार-बार सम्मार्जन किया जाता है, पुनः वेद के मूल भाग के द्वारा जुहू दण्ड का सम्मार्जन होता है, परन्तु सम्मार्जन की समाप्ति पश्चिम में होती है।[९] तै. शाखा के अनुसार उपभृद् के सम्मार्जन में "वाचं प्राण"[१०] मन्त्र विहित है और उपभृद् को उत्तर दिशा में करके सम्मार्जन किया जाता है।[११] इस विधि में सर्वप्रथम वेदाग्र के द्वारा उपभृत् का बिल भाग में समाप्ति के साथ बाहरी भाग वेद के मध्य भाग द्वारा पूर्व में समाप्ति के साथ, मूल भाग के द्वारा उपभृद दण्ड का सम्मार्जन विहित होता है।[१२] ध्रुव का सम्मार्जन स्रुववत् होता है अन्तर सिर्फ मन्त्रों में पाया जाता है।[१३] एक बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि सम्मार्जन पात्रों का असम्मार्जित पात्रों में स्पर्श नहीं कराना चाहिये।[१४] इसी तरह पात्रों को सम्मार्जित करके उत्कर के आगे अथवा उत्कर के पीछे बिछे हुए कुशों पर रख देने का विधान है। ध्यान रहे स्रुक सम्मार्जन में प्रयुक्त तृण तथा निकले मैल को अग्नि में नहीं डालना चाहिए,[१५] परन्तु कतिपय आचार्यों के अनुसार जिस अग्नि में पात्रों का मार्जन प्रतपन होता है। उसी अग्नि पर माँजे गये तृणों को डाल देना चाहिये,[१६] परन्तु इस मत का खण्डन करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जिसके लिये भोजन लाया गया उसी के लिये मैल का भाग खिलाने के तुल्य होगा। अतः इन तृणों को बाहर फेंकना चाहिये।

---

१. श. ब्रा. १.३.१.६, "स वा इत्यग्रैरन्तरतः सम्मार्ष्टि"। तै. ब्रा. ३.३.१-५, का. श. ब्रा. २.२.४२.१, का. सं. ब्रा. ३१.९, का. श्रौ. २.७.३९, वा. श्रौ. ६.३.२.१९, भा. श्रौ. १.२.४.४, आप. श्रौ. २.४.२, स. श्रौ. १.७.२३,
२. श. ब्रा. १.३.१.८, स वै सम्मृज्य सम्मृज्य प्रतप्य प्रतप्यप्रयच्छादधाति, का. श्रौ. २.७.४०, वा. श्रौ. १.३.२.१४, भा. श्रौ. १.२.४.१०, आप. श्रौ. २.४.२, स. श्रौ. १.७.२३,
३. आप. श्रौ. २.४.२, तु. मान. श्रौ. १.२.५.११,
४. का. श्रौ. वेबर, पृ. २१६, अप्रैषपक्षे अध्वर्योः प्रतपनपक्षेचार्याग्नीध्र समर्पणम्।
५. श. ब्रा. १.३.१.६, सर्वाः स्रुचः सम्मार्ष्टि, का. श. ब्रा. २.२.४२.३.१, तै. ब्रा ३.३.१-५, वा. श्रौ. १.२.३.१४-१७, स. श्रौ. १.७.२३, बौ. श्रौ. १.१२,
६. श. ब्रा. १.३.१.६, स्रुचं तुष्णीं प्राशित्रहरणं।
७. का. श्रौ. वेबर, पृ. २१६, "तूष्णीं प्रतपेन चोदकस्पर्शनाभावः"।
८. "मूलैरिति वेदाग्रमूलैः"। का. श्रौ. कर्क भाष्य
९. आप. श्रौ. २.४.५, भा. श्रौ. २.४.५, वैखा. श्रौ. १०.५.२, तै. ब्रा. ३.३.१-५, वा. श्रौ. १.२.३.१५, स. श्रौ. १.७.२३,
१०. तै. सं. १.१.१०.४,
११. आप. श्रौ. २.४.६, वैखा. श्रौ. १०.५.२, वा. श्रौ. १.२.३.१६, मा. श्रौ. १.२.४.७, स. श्रौ. १.७.२३,
१२. आप. श्रौ. २.४.६, वा. श्रौ. १.२.३.१६, मा. श्रौ. १.२.४.६,
१३. आप. श्रौ. २.४.७, यथा स्रुवमेवध्रुवाम्, वा. श्रौ. १.३.२.१७,
१४. आप. श्रौ. ३.४.९, न सम्पृष्टान्यसम्भवष्टेस्यं स्पर्शयति। भा. श्रौ. २.४.१०,
१५. आप. श्रौ. २.४.१०, भा. श्रौ. २.५.२, वैखा. श्रौ. १०.५.२,
१६. श. ब्रा. १.३.१.१०, तु. ब्रा. ३.३.२.१, भा. श्रौ. २.५.१, वैखा. श्रौ. ५.३, का. श्रौ. २.७.४४, श. ब्रा. १.३.१.१, वा. श्रौ. १.३.२.१८, आप. श्रौ. २.५.१, बौ. श्रौ. १.१२, श. ब्रा. १.३.१.११, का. श्रौ. २.६.११२, सम्मार्जनान्यपास्यति। तु. आप. श्रौ. २.४.११, २.५.१,

तृतीय अध्याय

दर्शपौर्णमास याग से सम्बद्ध सामान्य अनुष्ठान

तृतीय अध्याय

दर्शपौर्णमास याग से सम्बद्ध सामान्य अनुष्ठान

पत्नी सन्नहन ––

यजमान पत्नी को मुञ्जमयी मेखला से कटि देश में बांधा जाता है अतः इसको पत्नी सन्नहन कहा जाता है।[१] क्योंकि यजमान-पत्नी यज्ञ का पश्चिम भाग है और या यह दर्शपूर्णमास भाग पूर्व की ओर बढ़ता चले - इस अभिप्राय से पत्नी सन्नहन कृत्य किया जाता है। इसलिए पत्नी को यज्ञ में युक्त करते हैं। इसलिए कि यज्ञ में युक्त होकर वह पत्नी यज्ञ समाप्ति पर्यन्त यज्ञ में प्रतिष्ठित रहने के लिए यह बन्धन क्रिया किया जाता है।[२] दूसरे शब्दों में "योक्त्र" नाम से भी जाना जाता है।

विधि ––

इस विधि में सर्वप्रथम यजमान पत्नी ईशानाभिमुख गार्हपत्य के दक्षिण और नेऋत कोण में बैठती है।[३] तदनन्तर आग्नीध्र "आदित्यैरास्नासि"[४] मन्त्र से मुञ्जमयी मेखला के द्वारा यजमान पत्नी की कमर को कसता है।[५] ध्यान रहे " योकत्र" को कपड़े के ऊपर नाभि के नीचे बांधा जाता है।[६] क्योंकि पत्नी की नाभि के नीचे का भाग अपवित्र है और इस दर्शपूर्णमास याग में थोड़ी देर में आज्यदर्शन करने वाली है और इस योकत्र बन्धन से अशुद्ध भाग को बांध दिया जाता है, और शेष भाग से आज्य का दर्शन करती है। अतएव पत्नी सन्नहन कृत्य करना अत्यन्त उपयोगी है। आग्निध्र नामक ऋत्विक् वस्त्रों के ऊपर ही योकत्र से सन्नहन क्रिया करता है, क्योंकि वस्त्र औषधि रूप है और यह योकत्र रूपी रज्जु वरूण देवतामयी है। वस्त्र के ऊपर योकत्र से सन्नहन करता हुआ अध्वर्यु पत्नी बारूण बन्धन से बचाता है और बारूण मयी रज्जु पत्नी को पीड़ा नहीं पहुँचाती अतः इस हेतु वस्त्रों के ऊपर योकत्र को सन्नहन करते हैं।[७] "विष्णेविपोऽसि"[८] मन्त्र को दो बार कमर में घुमाकर दक्षिण की ओर मोड़ दिया जाता है, देवयाज्ञिक पद्धति के अनुसार योकत्र को एक ही बार घुमाना चाहिए।[९] उसमें गाँठ नहीं दिया जाता है,[१०] क्योंकि गाँठ वरूण की होती है। गाँठ बांधने से वरूण यजमान पत्नी को पकड़

१. का. श्रौ., मू. पृ. ३४, विद्याधर टीका,

२. श. ब्रा. १.२.३.१२,

३. का. श्रौ. २.७.१, वा. श्रौ. १.३.२.२०, आप. श्रौ. २.५.७, बौ. श्रौ. ३.१६, वैखा. श्रौ. ५.३,

४. वा. सं. १.३०, तु. क. का सं. १.१०

५. श. ब्रा. १.३.१.१३, का. श. ब्रा. २.२.४.२३.१, तै. ब्रा. ३.३.१-५, का. श्रौ. २.७.१, वा. श्रौ. १.३.२.२१, भा. श्रौ. १.२.५.३, मा. श्रौ. १.२.४.१२, स. श्रौ. १.६.२३, वैखा. श्रौ. ५.३, बौ. श्रौ. ३.१६,

६. श. ब्रा. १.३.१.१३-१४, का. श्रो. २.७.१, वा. श्रौं. १.३.२.२१, आप. श्रौ. २.५.४, स. श्रौ. १.६.२३, वैखा. श्रौ. ५.३, बौ. श्रौ. ३.१६

७. श. ब्रा. १.२.३.१३,

८. श. ब्रा. १.३.१.१७, उर्ध्वोमेवोगूहति"। तै. बा. ३.३.१.५,

९. का. श्रौ. देवयाज्ञिक पद्धति। एकवेष्टेनउद्गूहनस्याशक्यत्वादिति देवयाज्ञिकः।

१०. श. ब्रा. १.३.१.१६, स वै न ग्रन्थिं कुर्य्यात्"।

लेगा, इसलिए गाँठ नहीं बांधी जाती है।[१] तै. ब्रा. के अनुसार गाँठ दी जाती है।[२] शाखान्तर के अनुसार उक्त मन्त्र पत्नी के द्वारा पाठ कराया जाता है।[३] ध्यान रहे यह मेखला मुंज की बनी रहती है। इसके अतिरिक्त योकत्र को भी मेखला के रूप में प्रयोग किया जा सकता है।[४] भारद्वाज के अनुसार इस मेखला को पत्नी स्वयं पहन लेती है।[५] तैत्तिरीय शाखा के अनुसार इस समय पत्नी उठकर गार्हपत्याग्नि का उपस्थापन करती है।[६] जिसमें "अग्नेगृहपते"[७] मन्त्र का पाठ किया जाता है। पुनः गार्हपत्य के समीप खड़ी होकर देवताओं की पत्नियों का उपस्थापन करती है।[८] जिसमें "देवानांपत्नी"[९] मन्त्र का पाठ करती है। यजमान के एक से अधिक पत्नी होने पर भी सभी पत्नियों को इसी तरह मेखला बांधनी चाहिये।[१०]

आहवनीय अग्नि पर स्थित घृत को सर्वप्रथम आग्नीध्र उतार कर यजमान पत्नी के सामने रखता है। तदनन्तर यजमान पत्नी आज्य को देखती है[११] जिसमें "अदब्धेनत्वा"[१२] मन्त्र का उच्चारण किया जाता है। जिस तरह अनेक पत्नी को योक्त्र बन्धन किया गया था, उसी तरह अनेक पत्नी के पक्ष में भी आज्य का निरीक्षण करना चाहिये।[१३] पुनः इस क्रम में ही आज्य पत्नी को दिखाकर आग्नीध्र आह्वनीय या गार्हपत्याग्नि पर कुछ देर रखकर पुनः यजमान पत्नी को दिखाकर प्रोक्षणी से पश्चिम वेदी के भीतर उस आज्य को रखना चाहिये।[१४] ध्यान रहे पत्नी यदि मर गई हो तो चाहिए कि पहले से ही आह्वनीय अग्नि पर ही रखा रहने देना चाहिये। क्रमशः वहाँ से उठाकर वेदी के भीतर रख दिया जाता है।[१५] कतिपय विद्वानों के अनुसार आज्य को वेदी के भीतर नहीं रखना चाहिये।[१६] इसका खण्डन करते हुये याज्ञवल्क्य कहते हैं कि वेदी के भीतर ही आज्य को रखना चाहिये,[१७] क्योंकि पत्नी के लिये जो निश्चित है वहीं होना चाहिये। किसको चिन्ता है कि उसकी पत्नी किसी दूसरे से सम्बन्ध रखती है। वेदी यज्ञ है और आज्य भी यज्ञ है। "मैं यज्ञ से यज्ञ बनाऊंगा", अतः आज्य को वेदी में ही रखना चाहिये।[१८]

१. श. ब्रा. १.३.१.१६, वरूण्यो वै ग्रन्थिर्वरूणोहपत्नीगृहर्णीयाद्यग्रन्थि कुर्य्यात्स्मान्न ग्रन्थि करोति।
२. तै. ब्रा. ३.३.४, "ग्रन्थिगन्थाति", तु. वा. श्री. १.३.२.२२-२३, भा. श्री. २.४.४, आप. श्री. २.५.६, स. श्री. १.६.२३, वैखा. श्री. ५.३, बौ. श्री. ३.१६,
३. आप. श्री. २.५.३, वाचयततीत्येके। तु. बौ. श्री. १.१२.३.१६,
४. तु. बौ. श्री. ३.१६, योक्त्रेण सनहयति।
५. भार. श्री. २.५.३,
६. आप. श्री. २.५.६, बौ. सं. श्री. ५.३, भा. श्री. २.५.६, स. श्री. १.६.२३, बौ. श्री. १.१२, ३.१६, वा. श्री. १.३.३.२५,
७. काठ. सं. १.१०
८. आप. श्री. २.५.६, वैखा. श्री. ५.३, भा. श्री. २.४.७, स. श्री. १.६.२२, बौ. श्री. ३.१६,
९. तै. सं. १.६.४.२२,
१०. बौ. श्री. ३.१६
११. श. ब्रा. १.३.१.१८, अथाऽऽज्यमवेक्षते।, तै. ब्रा. ३.३.१-५, मै. सं. ब्रा. ४.१.१२, का. सं. ब्रा. ३१.९, कपि. सं. ब्रा. ४७.९, का. श. ब्रा. २.२.४-२३, ९- वा. सं. १.३११, का. श्री. २.७.४, वा. श्री. १.३.३.२५, भा. श्री. २.६.६,
१२. आप. श्री. २.६.२, मा. श्री. १.२.५.१२, स. श्री. १.६.२४, वैखा. श्री. ५.४, बौ. श्री. २०.१०,
१३. का. श्री., विद्याधर टीका, पृ. ९४
१४. श. ब्रा. १.३.१.२०, का. श. ब्रा. २.२.४.२३, वा. श्री. १.३.३.१९, मा. श्री. १.२.५१५, स. श्री. १.६.२४,
१५. श. ब्रा. १.३.१.२०, का. श. ब्रा. २.२.४-२३,
१६. श. ब्रा. १.३.१.२१, तदाहुः। नान्तर्वेद्यासादयेत् वै।
१७. श. ब्रा. १.३.१.२१, तदाहुः। नान्तर्वेद्या सादयेदतो वै,
१८. वही "
पुंसा वा पत्नीस्याद्यावा वा यज्ञो वेदिर्यज्ञ आज्यं यज्ञद्यज्ञं निर्मिमाऽति तस्मादन्तेर्वेद्येवासादयेत्। श. ब्रा. १.३.१.२१,

तैत्तिरीय शाखा के अनुसार गार्हपत्य के उत्तरार्द्ध भाग पर आज्य को रखना चाहिये।[१] पत्नी के न रहने पर या रज्स्वला की स्थिति में पितृ यज्ञ में आज्य का निरीक्षण स्वयं अध्वर्यु करता है।[२]

आज्योत्पवनम् : ——

आज्य का अर्थ पिघला हुआ घी, उत्पवन का अर्थ ऊपर की ओर उछालना। इस विधि में अध्वर्यु सर्वप्रथम वेद को वाम हस्त में लेता है। तदनन्तर प्रोक्षणी पात्र में स्थित पवित्री को लेकर "सवितुस्त्वाप्रसव."[3] मन्त्र से आज्य को उत्पवन करता है।[४] तदनन्तर उसी पवित्री से ही प्रोक्षणी का जल उत्पवन करता है।[५] ध्यान रहे दोनो पवित्री को आगे-पीछे करता हुआ तीन बार आज्य का उत्पवन करना चाहिये, साथ ही साथ पवित्री का छोर उत्तर की और होना चाहिये।[६] आपस्तम्ब के अनुसार आज्य तथा प्रोक्षणी के उत्पवन के समय यजमान "अद्‌भिराज्य." मन्त्र का पाठ करता है।[७] तैत्तिरीय शाखा के अनुसार प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय बार क्रमशः शुक्रमसि.[८], ज्योतिरसि.[९], तेजोसि.[१०] मन्त्र का पाठ किया जाता है।[११]

पुनराज्यावेक्षणम् : ——

इस क्रिया का अर्थ है पुनः घी का निरीक्षण करना। इस कृत्य को अध्वर्यु "तेजोऽसि."[७] मन्त्र से देखता है।[८] कुछ विद्वानों के अनुसार विकल्प में यजमान को देखना चाहिये,[९] परन्तु याज्ञवल्क्य इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि यजमान स्वयं अध्वर्यु क्यों नहीं बन जाते, स्वयं आशीर्वाद का मन्त्र क्यों नहीं पढ़ लेते। इनमें

---

१. आप. श्रौ. २.६.३; उत्तरार्धे गार्हपत्यस्याधिश्रयति। मै. सं. ब्रा. ४.१.१२, का. सं. ब्रा. ३१.९, कपि. सं. ब्रा. ४७.९, भा. श्रौ २.६.७, मा. श्रौ. १.२.५.१३, स. श्रौ. १.६.२२, बौ. श्रौ. ३.१६,

२. का. श्रौ., विद्याधर टीका, पृ. ९४

३. वा. सं. १.३१,

४. श. ब्रा. १.३.१.२२-२३, स उत्पुनाति, का. श. ब्रा. २.२.४, तै. ब्रा. ३.३.१-५, का. श्रौ. २.७७, मा. श्रौ. १.२.५.१७, मै. सं. ब्रा. ४.१.१२, वा. श्रौ. १.३.३.३०, भा. श्रौ. २.६.१२, आप. श्रौ. २.६.७, स. श्रौ. १.६.२२

५. श. ब्रा. १.३.१.२४-२५, आथाज्यलिप्ताभ्यांपवित्रीभ्याम् प्रोक्षणीरूत्पुनाति",
तै. ब्रा. , ३.३.१-५, का. श. ब्रा. २.२.४, आप. श्रौ. २.७.२, मा. श्रौ. १.२.५.१८, भा. श्रौ. २.६.१३, स. श्रौ. १.६.२२

६. तै. ब्रा. ३.३.१-५, आप. श्रौ. २.६.७, अथैनदुदगग्रभ्यां पवित्राभ्याम् पुनराहारंत्रिरूत्पुनाति, वा. श्रौ. १.३.३.३०, स. श्रौ. १.६.२४,

७. आप. श्रौ. ४.५.६, स. श्रौ. , १.६.२४,

८. तै. सं. १.१.१०.१७

९. तै. सं. १.१.१०.१७

१०. तै. सं. १.१.१०.१८,

११. द्र. आप. श्रौ. २.७.१, भा. श्रौ., २.६.१२, स. श्रौ., १.६.२४,

१२. वा. सं., १.३१, कपि. सं., १.१०, मै. सं., १.१.११.४४, का. सं., १.१०,

१३. श. ब्रा., १.३.१.२६-२७, तै. ब्रा., ३.१.५, का. श. ब्रा., २.२.४, का. श्रौ., २.७.८, वा. श्रौ. १.३.३.३१, स. श्रौ., १.६.२४, बौ. श्रौ., २०.१०,

१४. का. श्रौ. २.७.८, "अध्वर्योयजमानस्यवाऽज्यावेक्षणम्" भा. रौ. २.७.११, बौ. श्रौ. २०.१०,

इनको श्रद्धा कैसे हो जाती है। यज्ञ में ऋत्विक् जो भी कृत्य करते हैं वह सब यजमान के लिये होता है, अतः अध्वर्यु को ही आज्य देखना चाहिये।[१] कृष्णयजुर्वेदीय ब्राह्मण ग्रन्थ भी इसका समर्थन करते हैं।[२]

जुह्वादिषु आज्यग्रहणम्

इसका अर्थ है जुहू आदि पात्रों में आज्य को लेना। इस विधि में अध्वर्यु वामहस्त में जुहू और वेद को लेकर दक्षिण हस्त में स्रुवा को लेता है।[३] तदनन्तर स्रुव् के द्वारा आज्य स्थाली से आज्य लेकर वह "धामनामाऽसिप्रियं."[४] मन्त्र का उच्चारण करते हुए एक बार समन्त्रक और तीन बार बिना मन्त्र के उच्चारण किये आज्य को ग्रहण करता है।[५] इसी तरह उपभृत में समन्त्रक एक बार तथा सात बार मौन होकर आठ बार आज्य लिया जाता है। इसके बाद पूर्वोक्त मन्त्र से ही ध्रुवा में एक बार समन्त्रक और तीन बार बिना मन्त्र उच्चारण किये, ऐसे चार बार आज्य लिया जाता है।[६] पशु आदि कामनाओं के लिए उपभृत में चार बार और आज्य लिया जाता है।[७]

एक बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि जुहू में लिये जाने वाला आज्य पूर्ण स्रुवा होता है।[८] उपभृत में लिये जाने वाला आज्य पूर्ण स्रुवा नहीं होता है।[९] शाखान्तर के अनुसार उपभृत में दश बार तथा अन्यों में पाँच-पाँच बार आज्य लिया जाता है।[१०] तैत्तिरीय शाखा के अनुसार जुहवा में आज्यग्रहण "शुक्रंत्वा."[११] तथा "पचांनात्वा."[१२] इन दो मन्त्रों से होता है।[१३] आठ बार अथवा दश बार भरे जाने वाले उपभृत में "पंचानात्वा."[१४] तथा "चरोस्त्वा."[१५] आदि पाँच मन्त्रों द्वारा आज्य लिया जाता है।[१६] चार बार या पाँच बार में भरी जाने वाली

---

१. श. ब्रा. १.३.१.२६, "तद्कैक यजपानमवख्यापर्यन्ति तदुहोवाच याज्ञवल्क्यः कथं तु न स्वयमध्वर्यजो भवन्ति कथं स्वयं नान्वाहुर्यत्रभूयस्य - इवाशिषः क्रियन्ते कथंनवेपमत्रैवश्रद्धा भवतीति यां वै कां च यज्ञऽऋत्विज आशीषमाशासते यजमानस्यैव सा तस्मादध्वर्युरवावेक्षते।"

२. तै. ब्रा. ३.३.१.५

३. का. श्रौ., २.७.९, तु. आप. श्रौ., २.७.३-४, बौ., १.२, मा. श्रौ. १.२.५.१९, भा. श्रौ., २.७.१,

४. वा. सं., १.३१, वा. का. सं. १.१०, का. सं. १.१०.५.६, मै. सं., १.१.११, १.१.४,

५. श. ब्रा., १.३.२.१८, का. श. ब्रा., २.२.४, तु. काठ. सं. ब्रा., ३१.९, कपि. सं. ब्रा., ४७.९, तै. ब्रा. ३.३.१-५, मै. सं. ब्रा., ४.१.१२, का. श्रौ., २.७.९, वा. श्रौ., १.३.३.३२, मा. श्रौ., १.२.५.१५, स. श्रौ., १.६.२५, आप. श्रौ., २.७.३-४, बौ. श्रौ. २४.२७,

६. श. ब्रा., १.३.२.१८, का. श. ब्रा., २.२.४, काठ. सं. ब्रा., ३१.९, कपि. सं. ब्रा., ४७.९, तै. ब्रा., ३.३.१-५, मै. सं. ब्रा., ४.१.१२, का. श्रौ., २.७.१०-११, मा. श्रौ., १.२.५.१९, स. श्रौ. १.६.२५, आप. श्रौ., २.७.३-४, बौ. श्रौ., २४.२७

७. का. श्रौ., १.२.७.११-१३, चतुरन्यत्रप्रतिविभागात् पश्चातिथ्यादर्शनांच्च, वा. श्रौ., २४.२७,

८. श. ब्रा., ३.२.१३, आप. श्रौ., २.७.७, मा. श्रौ., २.७.८, स. श्रौ., १०६.२५, बौ. श्रौ., २४.२७

९. श. ब्रा., ३.२.१३, आप. श्रौ., २.७.७, मा. श्रौ., २.७.९, बौ. श्रौ., २४.२७

१०. आप. श्रौ., २.७.६,

११. तै. सं., १.१.१०.२१-२३, मै. सं., १.१.११, काठ. सं., ५.६,

१२. तै. सं., १.६.१.३-४, मै. सं., १.१.११, काठ. सं., ५.६,

१३. आप. श्रौ., २.७.६, भा. श्रौ. २.७.२,

१४. तै. सं., १.६.१.३-६, मै. सं. १.४.४ ,

१५. तै. सं., १.६.१.७, मै. सं. १. ४. ४,

१६. आप. श्रौ., २.७.९,

ध्रुवा में अवशिष्ट मन्त्रों का उपयोग होता है।[१] ध्यान रहे कि लिये गये आज्य को न तो पश्चिम की ओर, और न ही उत्तर की ओर रखना चाहिये।[२] तदनन्तर आज्य स्थाली को वेदी के किसी गुप्त स्थान में रखना चाहिये।[३]

आज्य ग्रहण में यज्ञ प्रतिरूपरहस्य : —

स्रुवा के द्वारा जुहू में चार बार, उपभृत में आठ बार, ध्रुवा में चार बार आज्य क्यों लिया जाता है, इसका निर्वचन करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यज्ञ की दक्षिण भुजा जुहू और वाम भुजा उपभृत है। ध्रुवा धड़ है, क्योंकि धड़ से ही सब अङ्ग उत्पन्न होते हैं, अर्थात् ध्रुवा से ही यज्ञ उत्पन्न होता है। स्रुवा बहने वाला वायु है। वायु जिस तरह सम्पूर्ण संसार में बहती है, उसी तरह स्रुव् भी सब स्रुचों तक आज्य पहुँचाने में समर्थ है, अतः स्रुवा में ही आज्य को ग्रहण करना चाहिए। जुहू द्युलोक, उपभृत अन्तरिक्षलोक और ध्रुवा पृथ्वी और स्रुवा वायु है। इसी तरह जो आज्य लिये जाते है क्रमशः जुहू में ऋतुओं के लिये, उपभृत में छन्दों के लिये और ध्रुवा में समस्त यज्ञ के लिए होते हैं।[४]

इध्मवर्हिप्रोक्षणम् : —

इध्मवर्हिप्रोक्षणम् अर्थात् यज्ञ में प्रयुक्त होने वाली समिधा और कुश को पवित्र करना। यज्ञ में किस तरह की समिधा की आवश्यकता पड़ती है यह पहले बताया जा चुका है। अब इसको पवित्र करने की विधि बताई जा रही है। काष्ठ सम्भार का उपयोग आहवनीय अग्नि में होता है। वेदी का उपयोग वर्हिस्तरण कर्म में होता है तथा वर्हि का उपयोग स्रुक् स्थापन कर्म में होता है। इसको दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि इध्म आह्नीय अग्नि में डाली जाती है, वर्हि वेदी पर बिछाई जाती है तथा स्रुक् पात्र वर्हि पर रखे-जाते हैं। अतः इध्म का यज्ञाग्नि से, वेदी का वर्हि से तथा वर्हि का स्रुक् पात्रों से संगमय यज्ञानुरूप हो जाये, इस हेतु इध्म, वर्हि और वेदी का प्रोक्षण किया जाता है।[५]

इस विधि में सर्वप्रथम अध्वर्यु ब्रह्मा से आज्ञा लेते हुए कहता है कि हे ब्रह्मा! मैं इध्म तथा वर्हि का प्रोक्षण करूंगा। तदनन्तर ब्रह्मा "प्रोक्ष." इस वाक्य को उच्च स्वर से पढ़कर अध्वर्यु को आज्ञा प्रदान करता है।[६] तदनन्तर अध्वर्यु प्रोक्षणी स्थित जल को वामहस्त में लेकर "कृष्णोस्या"[७] मन्त्र से समिधाओं का प्रोक्षण करता

---

१. आप. श्रौ., २.७.१०,

२. आप. श्रौ., २.७.११-१२, नोत्कर आज्यानि सादयति नान्तवेदि, गूहितस्य प्रतीचीनं हरति, तु. दर्श. पू., पृ. ५०, भा. श्रौ., २.७.११,

३. का. श्रौ. वेबर, पृ. २६६, ततो वेदिमध्यादाज्यस्थालीमादायक्वचितसुगुप्ते निदधाति। भा. श्रौ. २.७.१०,

४. श. ब्रा. १.३.२.१ -७

५. श. ब्रा. १.३.३.१ -३,

६. का. श्रौ., २.२.८, वा. श्रौ., १.३.३.२, भा. श्रौ. २.७.१२, आप. श्रौ., २.७.२.१,

७. वा. सं., २.१, तै सं., १.१.११.१, काठ.सं., १.११,

है।[१] पुनः "वेदिरसि."[२] मन्त्र से कुश बिछाने हेतु वेदी को पवित्र करता है।[३] तदनन्तर आग्नीध्र द्वारा प्रदत्त वर्हि को प्रणीता आहवनीय के अन्तराल में पूर्व की ओर गांठ करके रखता है।[४] पूर्ववत पूनः ब्रह्मा से आज्ञा लेता है। इसके बाद अध्वर्यु "वर्हिरसि."[५] मन्त्र से कुशमुष्टि वर्हि का प्रोक्षण करता है।[६] तदनन्तर प्रोक्षणी स्थित अवशेष जल को "आदित्यैव्युन्दन."[७] मन्त्र से वर्हि के मूल भाग में गिरा देता है।[८] फिर प्रणीता पात्र में पवित्री यथास्थान रख देता है।[९]

प्रस्तरग्रहणम्

प्रणीता को यथास्थान रख लेने के पश्चात् ब्रह्मा वर्हि की गाँठ खोलकर, "विष्णुःस्तुपोऽसि"[१०] मंत्र से कुशमुष्टि प्रस्तर को अध्वर्यु को देता है।[११] प्रस्तर तीन मुट्ठी ली जाती है।[१२] तै. ब्रा. के अनुसार अपरिमित प्रस्तर ग्रहण करना चाहिये।[१३] अध्वर्यु उस प्रस्तर को लेकर दक्षिण दिशा में वेदी की श्रोणि पर रखकर अन्य कुशों से आच्छादित करके वेदी में पड़े तृण को उठाकर उत्कर में फेंक देता है।[१४] मानव श्रौत सूत्र के अनुसार अध्वर्यु प्रस्तर को केवल ब्रह्मा अथवा यजमान को देता है।[१५] भारद्वाज के अनुसार ब्रह्मा कुश की गाँठ लेता है।

---

१. श. ब्रा., १.३.३.१, इध्ममेवाऽग्रे प्रोक्षति", का. श ब्रा., २.३.२, गौ. ब्रा., १.३.७.१०, काठ. सं. ब्रा., ३१.१०, तै. सं. ब्रा., २.६.५.६, तै. ब्रा., ३.३.६, मै. सं. ब्रा., ४.१.१३, का. श्रौ., २.७.१६, आप. श्रौ., २.८.१, मान. श्रौ., १.२.५.२१-२५, वा. श्रौ., १.३.३.३, भा. श्रौ. २.७.१३, स. श्रौ. १७.२५, बौ. श्रौ., १.१३,

२. वा. सं., २.१, तै. सं., १.१.११.२, मै. सं. १.१.११, काठ. सं., १.११, कपि स., १.११,

३. श. ब्रा., १.३.३.२, तु. का. श. ब्रा., २.३२, गो. ब्रा. १.३.७.१०, काठ. सं. ब्रा., ३१.१०, तै. सं. ब्रा., २.६.५.६, तै. ब्रा. ३.३.६, मै. सं. ब्रा., ४.१.१३, का. श्रौ. २.७.१६, वा. श्रौ., १.३.३.३, भा. श्रौ., २.७.१४, आप. श्रौ., २.८.१, मा. श्रौ., १.२.५२४, स. श्रौ., १७.२५, वौ. श्रौ., १.१३,

४. श. ब्रा. १.३.३.३, तत्पुरस्ताङ्ग्रन्थमसादयति, तै. ब्रा., ३.३.६, का. श. ब्रा., २.३.२, भा. श्रौ., २.७.१५, आप. श्रौ., २.८.१, मा. श्रौ., १.२.५.२५, स. श्रौ., १७.२५, वौ. श्रौ., १.१३,

५. वा. सं., २.१, का. सं., १.११, तै. सं., १.१.११,

६. श. ब्रा., १.३.३.३, तत्प्रोक्षति, तै. ब्रा., ३.३.६, मै. सं. ब्रा., ४.१.१३, का. श. ब्रा., २.३.२, का. श्रौ., २.७.१६, वा. श्रौ., १.३.३.३.४ भा. श्रौ., २.७.१४, आप. श्रौ., २.८.१, भा. श्रौ. १.२.५.२६, स. श्रौ., १७.२५, वौ. श्रौ., १.१३,

७. वा. सं., २.२, तै. सं., १.१.११,

८. श. ब्रा., १.३.३.४, अथ याः प्रोक्षण्यः परिशिष्यन्ते। ताभिरोषधीनां मुलान्युपनित्यत्यदित्यै। का. श. ब्रा., २.३.२, का. श्रौ. २.७.१७, वा. श्रौ., १.३.३.५, भा. श्रौ. २.७.१६, आप. श्रौ. २.८.३, मा. श्रौ. १.२.५.२७, स. श्रौ., १७.२५, वौ. श्रौ., १.१३,

९. का. श्रौ., २.७.१८,

१०. वा. सं., २.२, मै. सं., १.१.११-१२, का. सं. १.११, तै. सं., १.१.११,

११. श. ब्रा., १.३.३.५, अथविस्रंस्य ग्रन्थिम् पुरस्तात् प्रस्तरं गृहणाति, तै. ब्रा., ३.३.६, मै. सं. ब्रा., ४.१.१३, तै. सं. ब्रा., २.६.५-६, काठ. सं. ब्रा., ३११०, कपि. सं. ब्रा., ४७.१०, का. श. ब्रा. २.३.२, का. श्रौ. २.७.१८-१९, वा. श्रौ., १.३.३.६, मान. श्रौ., १.२.६, भा. श्रौ., २.८.४, आप. श्रौ., २.८.३, स. श्रौ. १.७.२५, वौ. श्रौ., १.१३,

१२.

१३. तै. ब्रा., ३.३.६, अपरिमितं प्रस्तरं गृहणाति।

१४. श. ब्रा., १.३.३.६, का. श्रौ., २.७.१८-१९, वा. श्रौ. १.३.३.९, आप. श्रौ. २.८.३,

१५. मा. श्रौ., १.२.६.३, प्रस्तरं ब्रह्मणं प्रयच्छति यजमानमवा, तु. बौ. श्रौ., १.१३, तु. वा. श्रौ., १.३.३.७, भा. श्रौ., २.८.६, आप. श्रौ. २.८.६, स. श्रौ., १.७.२५,

वर्हिस्तरण

वर्हिस्तरण का अर्थ वेदी के ऊपर कुश बिछाना। प्रथम परिस्तरण को त्रिवृत्त परिस्तरण कहा जाता है, दूसरे पक्ष को प्रागपवर्ग परिस्तरण कहा जाता है। कुश तीन पर्त, पाँच पर्त या सात पर्त बिछाया जाता है।[१] शतपथ ब्राह्मण[२] के अनुसार कुश का परिस्तरण अधिक से अधिक होना चाहिये, जिसके द्वारा वेदी का कोई भाग अणुमात्र भी दिखाई न पड़े। इस विशेषता को बताते हुए श्रुति कहती है कि यज्ञ को जानने वाले आचार्य का कहना है कि अध्वर्यु घने रूप में कुश को बिछावे, क्योंकि जिस स्थान पर अधिक से अधिक कुश बिछाया जाता है, उस स्थान पर अत्यधिक औषधियाँ होती हैं और इसका लाभ यजमान को प्राप्त होता है। इस सम्बन्ध में जैमिनि का एक सूत्र द्रष्टव्य है - "शास्त्रफलं प्रयोक्तरितल्लक्षणत्वात्-" अतः यजमान अपनी यज्ञ भूमि में अधिक से अधिक जितना कुश बिछाता है उतनी ही प्रचुर औषधियों से युक्त होता हुआ यजमान सुखपूर्वक जीवन यापन करता है।[२]

कुश का परिस्तरण अधिक से अधिक होना चाहिये, अथवा उसे तीन पर्त बिछाया जा सकता है, क्योंकि यज्ञ त्रिवृत्त है, इसकी दो विधियाँ पाई जाती है।[३] इसको त्रिवृत्त परिस्तरण कहा जाता है। यह परिस्तरण पूर्व से आरम्भ होकर पश्चिम की ओर समाप्त होता है।

वेदी के ऊपर कुश परिस्तरण करते समय सर्वप्रथम पूर्व छोर पर कुश बिछाया जाता है। कुश बिछाने की प्रक्रिया दक्षिण से उत्तर की ओर होती है। जब कुशों की प्रथम पंक्ति बिछा दी जाती है तब दूसरी पंक्ति को बिछाया जाता है। इस प्रकार पूरी वेदी के ऊपर कुश का आस्तरण किया जाता है। इस तरह तृतीय पंक्ति को भी पूर्ववत् पश्चिम की ओर बढ़ाते हुए बिछाया जाता है।[४] पाँच या सात के पक्ष में भी इस तरह कुश परिस्तरण करके पश्चिम में समाप्ति की जाती है। ध्यातव्य है कि प्रथम पंक्ति में बिछे कुशों में अगला हिस्सा आच्छादित रहे।[५]

कुश परिस्तरण में "प्रागपवर्ग" द्वितीय पक्ष कहलाता है। इस पक्ष में प्रथम दर्शमुष्टि को पश्चिम में पूर्व की ओर अग्र भाग रखते हुए तथा पश्चिम की ओर मूल भाग रखते हुए बिछाया जाता है। इसके बाद दूसरी मुष्टि बिछाते हुए प्रथम मुष्टि के अग्रभाग को ऊपर उठाकर इनके नीचे दूसरी मुष्टि के मूल भाग दबा दिये जाते हैं। तृतीय मुष्टि पूर्व में बिछाई जाती है। इसके मूल भाग में मध्य मुष्टि के अग्रभाग को नीचे दबा दिया जाता है। इस प्रकार आस्तरण पश्चिम में आरम्भ होकर पश्चिम में समाप्त होता है। इस पक्ष में कुशों को एक दूसरे से परस्पर ओतप्रोत होने के प्रतीक के रूप में देखा जाता है।[६]

---

१. का. श्रौ., वेबर, पृ. २२६, भा. श्रौ., २.८.१३, आप. श्रौ., २.९.२, स. श्रौ., १.८.२७

२. श. ब्रा., १.३.३.४.९, का. श्रौ., २.७.२०, तु. अप. श्रौ., २.९.२, तु. वौ. श्रौ., १.१३, सु. श्रौ.. १.८.२७

३. श. ब्रा., १.३.३.१०, त्रिहतस्तृणाति त्रिवृद्धि यज्ञोअधोऽपि, तु. वौ. श्रौ., ३.१६

४. श. ब्रा., १.३.३.४.१०,

५. श. ब्रा., १.३.३.१०, आप. श्रौ., २.९.३, अग्नेमूलान्यभिच्छादयति।

६. श. ब्रा., १.३.४.१०, का. श्रौ., २.७.२१ - २३,

इस प्रकार प्रस्तर को परिस्तरण बताते हुए ऋषि ने स्वयं मन्त्र में कहा है "स्तृणन्तिवर्हिराजुपग." अर्थात् कुश एक दूसरे से मिला हो।[१] कुश के परिस्तरण में "प्रदसंत्वास्तृणामि"[२] मन्त्र का प्रयोग किया जाता है। तैत्तिरीय शाखा के अनुसार कुश परिस्तरण के समय यजमान "अशिश्रेय"[३] आदि मन्त्रों का पाठ करता है।[४] कुश को चारों ओर बिछाते समय मन्त्र का उच्चारण करते रहना चाहिये।[५] पुनः कुश बिछाते समय गिरे हुए अपवर्ग अर्थात् छोटे-छोटे तृण काष्ठादि को उत्कर में फेंक देना चाहिये।[६] तदनन्तर अध्वर्यु ब्रह्मा से समिधा तथा प्रस्तर लेता है।[७] अध्वर्यु आह्वनीय अग्नि के ऊपर उस प्रस्तर को रखकर लिये हुए समिधा से अग्नि को प्रज्ज्वलित करता है।[८]

कतिपय आचार्य कुण्ड में समिधा डालकर प्रज्ज्वलित करना चाहते हैं और कोई पहले से स्थित समिधा को झाड़कर राख अलगकर प्रज्ज्वलित करना श्रेयस्कर मानते हैं।[९] इसके बाद अग्नि को प्रज्ज्वलित कर लेने के अनन्तर अनुयाज के लिये दो अङ्गार कुण्ड के पूर्व भाग में निकाल दिया जाता है।[१०]

परिधि निधानम्

परिधि निधान का अर्थ आहवनीय अग्नि के चारों ओर समिधा रखना। "प्र"उपसर्ग पूर्वक "उपसर्गेऽब्वोः कि" सूत्र से कर्म में "कि" प्रत्यय करने पर परिधि शब्द निष्पन्न हुआ है।[११] परितोर्धासन्त इतिपरिधमः" अर्थात् चारों ओर समिधा रखना। परिधि रखने हेतु बाहु के बराबर लम्बा तथा गीली समिधा होनी चाहिये।[१२] इस बात को इध्म, वर्हि आहरण के प्रकरण में भी देखा जा सकता है। परिधियाँ तीन होती हैं, जो क्रमशः आह्वनीय अग्नि के पश्चिम, दक्षिण तथा उत्तर की ओर रखी जाती है, परन्तु परिधियाँ किस लकड़ी की बनाई जाये - इसकी मीमांसा इस प्रकार से है - - - - याज्ञिक अग्नि प्रज्ज्वलित करने के लिये यज्ञ में लाये हुए इध्म से ही अग्नि की परिधि का निर्माण करते हैं, परन्तु इस पक्ष का खण्डन करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि ऐसा नहीं करना चाहिये अर्थात् इध्म संभार काष्ठ से परिधियाँ न बनाई जायें। उस यजमान के लिये ये परिधियाँ प्रधान कर्म लक्षण के लिये अनुपयुक्त प्रतीत होती हैं। इन्हें इध्म काष्ठ इसलिये बताया गया है, क्योंकि केवल अग्नि समिधानार्थ तथा आह्वनीय में स्थापनार्थ ही इध्म का ग्रहण किया जाता है। अतः एक दूसरे कार्य के लिये नहीं किया जा सकता। यदि इध्म काष्ठ की परिधियाँ बनाई जायेंगी तो इनसे कभी परिधान लक्षण कर्म सिद्ध न होगा।

१. श. ब्रा., १.३.४.१०, का. श्रौ., २.७.२१ - २३,
२. श. ब्रा., १.३.४.१, वा. श्रौ., २.२,
३. आप. श्रौ., ४.६.१,
४. आप. श्रौ., ४.६.१,
५. आप. श्रौ., २.९.४, धातौधातौमंत्रमावर्तयाते। भा. श्रौ., २.९.१, स. श्रौ., १.८.२७,
६. का. श्रौ., २.७.२२ - २३, अधरमूलम् पश्चादपवर्गम् भा. श्रौ., २.७.१?
७. का. श्रौ., विद्याधर टीका, पृ. ९७
८. श. ब्रा., १.३.३.१२, का. श. ब्रा., २.३.२, तै. सं. ब्रा., २.६.५.६, तै. ब्रा., ३.३.६, मै. सं. ब्रा., ४.१.१३, काठ. सं. ब्रा., ३१.१०, कपि सं. ब्रा., ४७.१०, गौ. ब्रा., १३.७.१०, का. श्रौ., २.७.२५, वै. श्रौ., १६.६.५.६, स. श्रौ., १.८.२६, आप. श्रौ., २.९.७, मा. श्रौ. १.२.६.८,
९. दर्श. पू. प्र., पृ. ५३,
१०. का. श्रौ., २.७.२६, उल्मुकेउदहत्यनुयाजाश्चेत् तु. भा. श्रौ., २.९.२, आप. श्रौ. २.९.८, स. श्रौ. १.८.२६,
११. पा. अ. सू. स., ३.३.९२, ड. अ. का, पृ. ३८, ले. सत्यदेव मिश्र, इन्दिरा प्रकाशन, पटना, बिहार
१२. श. ब्रा., १.३.४.१, "तेव आद्राःस्युः"।

अतः उस यजमान के लिये ये परिधियाँ स्व परिधान कर्म में समर्थ होती हैं। अतः ऋत्विक् गण दूसरी परिधियाँ ग्रहण करते हैं। इस प्रकार दूसरी समिधा से भी परिधि का निर्माण हो सकता है।[१]

परिधि के लिए पलाश, विकङ्कत, या कार्ष्मर्य, या बिल्वकाष्ठ, खादिरकाष्ठ, उदुम्बरकाष्ठ से परिधियों का निर्माण किया जाता है। उपरितन निर्दिष्ट वृक्ष ही परिधि के लिये या यज्ञ के लिए उपयोगी बताये गये हैं।[२]

परिधि निधान की विधि : —

इस विधि में अध्वर्यु सर्वप्रथम "गन्धर्वस्त्वा."[३] मन्त्र से आहवनीय अग्नि के पश्चिम ओर समिधा रखता है। तदनन्तर वह "इन्द्रस्य बाहुरसि."[४] मन्त्र से आहवनीय अग्नि के दक्षिण और पुनः "मित्रावरूणौत्वोतरतः"[५] मन्त्र से उत्तर की ओर समिधा को रखता है।[६]

समिधा आधान

समिधा का आधान अर्थात् अग्नि में लकड़ी डालकर प्रज्ज्वलित करना है। परिधि-स्थापन के बाद आहवनीय अग्नि को पूर्णरूप से प्रज्ज्वलित करना समिधा आधान कर्म कहलाता है। इस समिधा का पूर्वाधार से सम्बन्ध है। अतएव इसे "पूर्वाधार समिधोभ्याधातकर्म्म" भी कहा जा सकता है। आहवनीय कुण्ड की वायव्य दिशा से आरम्भ कर आग्नेय दिशा पर्यन्त होम की अविच्छिन्न धारा को पूर्वाधार कहते हैं। यह पूर्वाधार कर्म जहाँ समाप्ति होती है वहीं इस समिधा का आधान होता है, अतः इस प्रकृत प्रकरण को सामने रखते हुए समिधा का आधान करना चाहिये। इस विधि में अध्वर्यु एक समिधा लेकर मध्यमपरिधि का स्पर्श करता है।

तदनन्तर "वीतिहोत्रंत्वा."[७] मन्त्र से आहवनीय अग्नि में आधान करता है।[८] पुनः "समिदसि"[९] मन्त्र

---

१. तद्वैके। इध्मस्यैवैतान् परिधीन्परिदधाति तदुतथानकुर्यादनवक्तृप्ताहतस्यैते भवन्ति यानि इध्मस्यपारदधात्यध्वधानायध्येवेध्मः क्रियते तस्योहैवेतेऽवक्तृप्ता भवन्ति यस्यैतानन्यानाहरन्ति परिध्यऽइति तस्मादन्यानेवाहरेयुः।" श. ब्रा., १.३.३.१८,

२. श. ब्रा., १.३.३.१९-२०, ते वै पलाशास्युः- - - - - - - - - - - - - -
अथोऽपि वैङ्कक्कतास्युर्यदि वैकङ्कतान्न विन्ददथोऽअपि कार्ष्मर्गमयाः स्युर्यदि कार्ष्मर्यान्नऽविन्ददथोअपि वैल्वाः स्युरथोखादिरा अथोऽऔदुम्बराः एतेहि वृक्षार्याज्ञेयास्तसमादेतेषां वृक्षाणां भवन्ति।

३. वा. सं., २.३, वा. का. सं., २.१, तै. सं., २.१.११, १-१२, मै. सं., १.१.११ - १२, का. सं., १.११, कपि. सं. १.११,

४. वा. सं., २.३, वा. का. सं., २.१

५. वा. सं., २.३, वा. का. सं., २.१

६. श. ब्रा., १.३.४.२-४, स मध्यममेवाग्रे परिधि परिदधाति, अथदक्षिणंपरिदधाति, अथोत्तरं परिदधाति, का. श. ब्रा., २.३.२, तै. सं. ब्रा., २.६.५.६, तै. ब्रा., ३.३.६, मै. सं. ब्रा., ४.१.१३, काठ. सं. ब्रा., ३१.१०, कपि. सं. ब्रा., ४७.१०, गो. ब्रा., २.१.१, का. श्रौ., २०८.१, तु. भार श्रौ., २.९.२.४, बौ. श्रौ., १६.६.५.६, मा. श्रौ., १.२.७-८, स. श्रौ. १.८.२६, वा. श्रौ., १.३.३.१४, आप. श्रौ., १.९.९ - १०,

७. वा. सं., २.४, मै. सं., १.१.११ - १२, का. सं., १.११, कपि. सं., १.११, तै. सं., १.१.११,

८. श. ब्रा. १.३.४.५, समिधमभ्यादधाति समध्यममेवाग्रे परिधिमुपस्पृशति तेनैवानग्रे समिन्धेऽधाग्नावभ्यादधाति - - - - - - - - - ।
का. सं.-ब्रा., ३१.१०, मै. सं. ब्रा., ४.१.१३, तै. सं. ब्रा., २.६.५.६, का. श्रौ. वा. श्रौ., १.३.३.१४, भा. श्रौ., २.९.५, आप. श्रौ., २.९.९, मा. श्रौ., १.२.६.१०, स. श्रौ., १.८.२६, बौ. श्रौ., १.२० -२३

९. वा. सं., २.४; का. सं., १.११,

से पूर्ववत् एक समिधा लेकर द्वितीय परिधि अर्थात् उत्तर परिधि का स्पर्श करके आधान करता है।[१] का. श्रौ. सू. के अनुसार द्वितीय समिधा को डालते समय बिना स्पर्श किये डालना चाहिये।[२] विकल्प से दोनों समिधाओं को मौन होकर डाला जा सकता है।[३] तदनन्तर अध्वर्यु आहवनीय अग्नि को देखता हुआ "सूर्यस्त्वापुरस्तात्."[४] इत्यादि मन्त्र का जप करता है।[५] तदनन्तर तृतीय परिधि को भी पूर्ववत् एक समिधा लेकर अनुयाज कर्म हेतु उसका आधान किया जाता है।[६] क्योंकि यह तीसरी समिधा यज्ञ कर्म के सञ्चालक ऋत्विक् ब्राह्मणों को प्रदीप्त करता है और वह ब्राह्मण प्रदीप्त होकर यज्ञ को वहन करता है साथ ही साथ यज्ञ को समर्थ बनाता है।[७]

विधृति का निधान

परिधि निर्माण और समिधा का आधान आदि कर्म कर लेने के पश्चात् विधृति निधान किया जाता है। कुश की अलग-अलग पत्ती को विधृति कहते हैं। दर्भ के ऊपर दो कुश को तिर्यक रखने की प्रक्रिया को "विधृति निधान" कहा जाता है।[८] बराबर माप वाले जिनमें अन्य दर्भ न मिला हो ऐसे दो कुशों से विधृति का निर्माण होता है।[९] इस विधि में अध्वर्यु विधृति संज्ञक दो कुशों की पत्ती को लेकर "सविर्तुवाहुस्थ."[१०] मन्त्र से उत्तर की ओर अग्रभाग करके टेढ़ीमेढ़ी (तिर्यक) करके वेदी के ऊपर बिछे हुए कुश के मध्य में विधृति नामक कुश को रखा जाता है।[११] ध्यातव्य है कि यह कुश वेद का नहीं होना चाहिए।[१२] तदनन्तर विधृति के ऊपर प्रस्तर को पूर्व की ओर अग्रभाग करके "उर्णमदसं."[१३] मन्त्र से बिछाना चाहिये।[१४]

"आत्वावसवो."[१५] मन्त्र से दोनों हाथों से प्रस्तर को दबाना चाहिये।[१६] ध्यातव्य है कि पितृयज्ञ

---

१. श. ब्रा., १.३.४.७, भा. श्रौ., २.९.६, आप. श्रौ., २.९.१०, स. श्रौ. १.८.२६, बौ. श्रौ., १०.२०-२३

२. का. श्रौ., २.८.३, अनुस्पृश्यद्वितीयां,

३. आप. श्रौ., २.९.११, तूष्णीं वा

४. वा. सं., २.५, तै. सं., १.१.११, मै. सं. १.१.११-१२, का. सं. १.११,

५. श. ब्रा., १.३.४.८, का. श्रौ., २.८.४, वा. श्रौ., १.३.१६,

६. श. ब्रा., १.३.४.९, आप. श्रौ., २.९.११, हरदत्तस्वामी,

७. श. ब्रा., १.३.४.९, अनुयाजेषुब्राह्मणमेव तथा समिन्धे स ब्राह्मणः समिद्धो देवेभ्यो यज्ञं वहति।

८. श्रौ. प. नि., पृ. २६.१६२, सद्वेतृणऽआदायतिरश्ची निदधाति,

९. आप. श्रौ., २.९.१२, भा. श्रौ., २.९.९

१०. वा. सं. २.५, तै. सं., १.१.१.१५, का. सं., १.११, कपि. सं. १.११,

११. श. ब्रा., १.३.४.१०, अथस्तीर्णीवेदिमुपावर्तते सद्वेतृणेऽआदायतिरश्ची निदधाति, तै. ब्रा., ३.३६, मै. सं. ब्रा., ४.१.१३, का. श्रौ., २.८.९, वा. श्रौ., १.३.३.१६, भा. श्रौ., २.९.८, मा. श्रौ., १.२.६.१२, स. श्रौ., १.८.२७, बौ. श्रौ., २३.२४.२७,

१२. का. श्रौ., २.८.६.७, अन्येवाऽयुक्तत्वात् अन्यत्रापि तृणार्थे। आप. श्रौ., २.९.१३,

१३. वा. सं., २.५, तु. तै. सं., १.१.११.१६, कपि. सं. १.११, का. सं. १.११,

१४. श. ब्रा., १.३.४.११, तत् प्रस्तरंस्तृणाति, तै. सं. ब्रा., २.६.५.६, मै. सं. ब्रा., ४.१.१३, का. सं. ३१.१०, कपि. सं. ब्रा., ४७.१०, का. श. ब्रा., २.३.२, आप. सं., ११.३.८, का. श्रौ., २.८.११, वा. श्रौ., १.३.३.१७, भा. श्रौ., २.९.१०, आप. श्रौ., २.९.१३, भा. श्रौ. १.२.६.१३, स. श्रौ., १.८.२७, बौ. श्रौ. २३.२४.२७,

१५. वा. सं., २.५, तै. सं. १.१.११.१६, कपि. स., १.११, का. सं., १.११,

१६. श. ब्रा., १.३.४.१२, तमभिनिदधाति,

में "देवपितृभ्य." इस तरह मन्त्र का उच्चारण करते हुए प्रस्तर को दबाना चाहिये।[1] इसी क्रम में ही अध्वर्यु वामहस्त में कुश प्रस्तर दबाये हुए "धृताच्यसि."[2] मन्त्र से आग्नीध्र द्वारा समर्पित जुहू को प्रस्तर के ऊपरी भाग में रखता है।[3] पुनः पूर्ववत् मन्त्र से ही उपभृत तथा ध्रुवा को जुहू से उत्तर रखता है।[4] श. ब्रा. के अनुसार मात्र जुहू को ही प्रस्तर के ऊपर रखा जाता है और शेष अन्य पात्रों को भूमि पर रखा जाता है, क्योंकि जुहू क्षत्रिय हैं, अन्य स्रुच वैश्य हैं। इस प्रकार क्षत्रिय वैश्य से महान् होता है, अतः वैश्य नीचे स्थान पर रहकर काम करते हैं, अतः जुहू को ऊपर तथा अन्य स्रुचों को नीचे रखा जाता है।[5]

कपालोद्वासन

यद्यपि कपाल निकालना तथा उसमें घी लगना इत्यादि कर्म शतपथ ब्राह्मण में नहीं वर्णित है, परन्तु पुरोडाश और आज्यादि को स्पर्श करने का विधान मिलता है। ध्यातव्य है कि जब पुरोडाश यथा स्थान में नहीं है तब पुरोडाश का कैसे स्पर्श हो सकता है, अतः यहाँ पर सूत्रग्रन्थ का अनुयायी बनना समीचीन प्रतीत होता है, परन्तु तै. सं. ब्राह्मण[6] तथा मै. सं. ब्राह्मण में कपाल और पुरोडाश निकालने की विधि वर्णित है, फिर भी सूत्र ग्रन्थ की सहायता यहाँ पर अपेक्षित है।[7]

इस विधि में अध्वर्यु दक्षिण हाथ में आज्य स्थाली और स्रुवा को लेकर बायें हाथ से पुरोडाश पात्री तथा वेद को लेता है। जिस अग्नि में हवि पकाई गई उस अग्नि के पास पश्चिमाभिमुख बैठकर उत्तर की ओर आज्यस्थाली रखकर उसके उत्तर में उत्तर को मुख करके अध्वर्यु पुरोडाश पात्री की स्थापना करता है।[8] इसके बाद वेद के द्वारा दोनों पुरोडाश को अर्थात् पूर्णमास इष्टि में अग्नेय पुरोडाश तथा अग्निषामीय पुरोडाश के ऊपर से भस्म को अलग करता है।[9]

तदनन्तर स्रुव् के द्वारा आज्यस्थाली से आज्य लेकर सर्वप्रथम पुरोडाश पात्रियों का उपस्तरण करके पुरोडाशों पर "यस्तप्राणःपशुपुविन्द." मन्त्र का उच्चारण करके घृत का अभिसिञ्चन करता है।१० इसके बाद सर्वप्रथम आग्नेय पुरोडाश को हाथ से स्पर्श न करके काष्ठादि से उठाकर आज्यस्थाली के पश्चिम ओर से लाकर पुरोडाश

---

१. का. श्रौ., २.८.११, का. सं., १.११

२. वा. सं., २.६, वा. का. सं. सं., २.१, मै. सं. १.१.११-१२, तै. सं., १.१.११,

३. श. ब्रा., १.३.४.१५, स वा उपरिजुहूं सादयति, का. श्रौ., २.८.१२, वा. श्रौ., १.३.३.१८, भा. श्रौ., २.९.११-१२, आप. श्रौ., २.९.१५, मा. श्रौ., १.२.६.१४, स. श्रौ., १.८.२७, बौ. श्रौ., २४.२७, श्रौ. को., पृ. १८०,

४. श. ब्रा., १.३.४.१५, अधइतराः स्रुचः, का. श्रौ., २.८.१३, वा. श्रौ., १.३.३.२०, भा. श्रौ., १.२.६.१४, आप. श्रौ., २.१०.१, स. श्रौ., १.८.२७,

५. श. ब्रा., १.३.४.१५, क्षत्रं वै जुहूर्विश इतराः स्रु चः क्षत्रमेवैतद्विश उत्तरं करोति तस्मादुपर्यासीतं क्षत्रियमध्यस्तादिमाः प्रजाउपासतेतस्मादुपरि जुहूं सादयत्यच इतराः स्रुचः।

६. तै. सं. २.६.३,

७. मै. सं. ब्रा., १.४.८,

८. दर्श. पू., भीमसेनीशर्मा, पृ. ५७, वा. श्रौ., ३.३.२६, मा. श्रौ. २.६.१८,

९. स. श्रौ., १.८.२६, बौ. श्रौ., १.१४.८.१७, भा. श्रौ., १.१०.१-८, वैखा. श्रौ., १.८, वा. श्रौ. १.३.३.२७, आपश्रौ., २.२.६.१०, आप. श्रौ., १.२.६.१९,

१०. का. श्रौ., २.८.१४, तु. मै. सं. ब्रा., १.४.८, तै. सं. ब्रा., २.६.३, स. श्रौ., १.८.२६, बौ. श्रौ., १.१४.८.१७, भा. श्रौ., १.१०, वैखा. श्रौ., १.८, आप. श्रौ., २.३.१, मा. श्रौ. १.२.६.२०,

उपस्तीर्ण पात्र में दक्षिण की ओर रखता है।[१] इसी तरह द्वितीय पुरोडाश अर्थात् अग्निषोमीय पुरोडाश को आज्य उपस्तीर्ण पात्र के उत्तर में रखता है।[२] तैत्तिरीय सूत्र में भी यह क्रम पाया जाता है। पुरोडाश घृत अभिसिञ्चन में बिना मन्त्र उच्चारण किये लगाया जा सकता है। तदनन्तर इसी तरह "यानिधर्मेकपालन्यु - - - - - - - - -विमुञ्चताम्."[३] मन्त्र से क्रम से रखे गये कपाल का घृत से अभिसिंचन किया जाता है। अथवा बिना मन्त्र का उच्चारण किये कपालों के ऊपर आज्य का अभिसिञ्चन किया जा सकता है।[४] तदनन्तर स्फय को हाथ में लेकर (प्रथममुदवासायमि) इत्यादि कहकर सब कपालों को यथा क्रम से कुण्ड के बाहर निकालना चाहिये।[५]

इसके बाद भी सम्पूर्ण हविष् को वेदी के समीप "प्रियेणधाम्ना."[६] इस मन्त्र से ध्रुवा के उत्तर कुश के ऊपर आज्यस्थाली के उत्तर में उत्तर, दक्षिण क्रम से दोनों पुरोडाश को स्थापित करता है, जिसमें पूर्ववत् "प्रियेणधाम्ना." मन्त्र का उच्चारण किया जाता है।[७] इसके बाद अध्वर्यु वेद को हाथ में लेकर "ध्रुवाअसदन्."[८] मन्त्र से आज्यस्थाली, जुहू, उपभृत और ध्रुवा में स्थित आज्य का स्पर्श करके ध्रुवा के उत्तर में वेद को रख देता है।[९] तदनन्तर स्फय को लेकर पूर्व मन्त्र से ही अपने दोनों पुरोडाश का स्पर्श करता है।[१०] और अध्वर्यु "पाहिमां०"[११] मन्त्र से अपने हृदय का स्पर्श करता है।[१२] तदनन्तर जल का स्पर्श करता है। चाहे तो यहाँ पर भी व्रतोपायन का संकल्प लिया जा सकता है।[१३]

सामिधेनी

जिन ऋचाओं के द्वारा, यजन हेतु अग्नि में समिधा डालकर उसे प्रज्ज्वलित किया जाता है, उन्हें सामिधेनी कहा जाता है।[१४] सामिधेनी का निर्वचन करते हुए शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि जिन ऋचाओं के द्वारा होता अग्नि को सम्यक् रूप से प्रज्ज्वलित करता है उन्हें सामिधेनी कहते हैं।[१५]

---

१. का. श्रौ., २.८.१९, विद्याधर टीका,
२. का. श्रौ., २.८.१९,
३. का. श्रौ., २.८.१६, स. श्रौ., १८.२, बौ. श्रौ., १.१४.८.१७, भा. श्रौ., १.११.७, वैखा. श्रौ., १.८, वा. श्रौ., १.३.३.२७, आप. श्रौ., २.३.४.११, मा. श्रौ., १.२.६.२३,
४. का. श्रौ., २.८.१७, तूष्णीं वा,
५. का. श्रौ., २.८.१७, सडख्योदवासयति। तै. सं. ब्रा., २.६.३, स. श्रौ., १.८.२६, बौ. श्रौ., १.१४.८.१७, भा. श्रौ., १.११.७, वैखा. श्रौ. १.८, वा. श्रौ. १.३.३.३०, आप. श्रौ., २.३.५, भा. श्रौ., १.३.१.२६,
६. वा. सं., २.६, वा. का. सं., २.१, कपि. सं., १.११, का. सं.१.११, मै. सं., १.१.११-१२,
७. का. श्रौ. २.८, १९, स. श्रौ., १.८.२६, बौ. श्रौ., १४.२७, भा. श्रौ., १.११.८, वैखा. श्रौ., १.९, आप. श्रौ., २.३.७, मान. श्रौ. १.२.६.२७,
८. वा. सं., २.६, कपि. सं. १.११. का. सं. १.११, मै. सं., १.१.११-१२,
९. का. श्रौ., २.८.१९, स. श्रौ., १.८.२६, बौ. श्रौ., २४.२७, भा. श्रौ., १.११.८, वैखा. श्रौ. १.९, आप. श्रौ., २.३.११.७,
१०. श. ब्रा. १.३.५.१६, का. श्रौ. २.८.१९, मै. सं. ब्रा, १.५.१२, वैखा. श्रौ., १.९, मा. श्रौ. १.३.१.३०,
११. वा. सं., २.७, कपि. सं., १.११, मै. सं., १.१.११-१२, का. सं. १.११, तै. सं. १.१.११,
१२. श. ब्रा., १.३.५.१६, का. श्रौ., २.८.२०, बौ. श्रौ., २४.२७, वैखा. श्रौ., १.९, मा. श्रौ., १.३.१.३०,
१३. का. श्रौ., २.८.२१,
१४. अमरकोश, ११ काण्ड, पृष्ठ २३७
१५. श. ब्रा., १.३.५.१,"समिन्धेतस्मात्सामिधेनी भिर्होता तस्मात् सामिधेन्योनाम्।"

प्रमुखतया सामिधेनी ग्यारह मन्त्र का होना है, क्योंकि त्रिष्टुप छन्द ग्याहर होते हैं और गायत्री ब्रह्म स्वरुपा है तथा त्रिष्टुप् ऋचा वर्णात्मिका है। ब्रह्मात्मिका गायत्री स्वरूप वाली तथा क्षत्रियात्मिका त्रिष्टुप् स्वरूपा वाली सामिधेनी ऋचाओं का अनुवचन करता हुआ होता ब्रह्म तथा क्षत्रिय को वीर्यों से युक्त करने के लिये गायत्री छन्दस्क तथा एकादश संख्यक ऋचाओं का अनुवचन करता है।[१] प्रथम मन्त्र को तीन-तीन बार, अन्तिम मन्त्र को तीन बार पाठ करने से यह पञ्चदशी सामिधेनी नाम से जाना जाता है, क्योंकि "त्रिसत्या हि देवा:" इस सिद्धान्त के अनुसार संसार त्रिवृत् रूप में प्रारम्भ होने वाला है तथा त्रिवृत् से समाप्त होने वाला है।

अतः इस प्राकृतिक त्रिवृत सम्पत्ति को प्राप्त करने के लिए होता प्रथम और अन्तिम ऋचाओं को तीन बार पाठ करता है।[२] अतः दर्शपूर्णमास याग में "तां पञ्चदश सामिधेन्यः सम्पद्यन्ते" अर्थात् पन्द्रह सामिधेनी मन्त्र पाठ किया जाता है।[३] किसी विशेष उद्देश्य से इष्टि करने पर सत्रह सामिधेनी मन्त्र बोला जाता है।[४] चूंकि वर्ष में संवत्सर बारह होते हैं तथा पाँच ऋतुएं होती हैं। संवत्सर ही प्रजापति ही है और सम्पूर्ण के वाचक हैं। इस प्रकार जिस देवता के लिये जिस भी कामना से इष्टि की जाती है वह सम्पूर्णता को प्राप्त होता है, अतः सत्रह सामिधेनी पाठ किया जाता है।[५]

तै. सं. ब्राह्मण के अनुसार प्रतिष्ठा काम के लिये इक्कीस, ब्रह्मवर्चस काम के लिये चौबीस, अन्नकाम के लिये तीस, प्रतिष्ठा काम के लिये बत्तीस, पशुकाम के लिये छत्तीस, पशुकाम के लिये चौव्वालीस, इन्द्रिय काम के लिये अड़तालीस इत्यादि सामिधेनी पाठ किया जाता है।[६]

कतिपय आचार्यों के अनुसार दर्श और पूर्णमास याग में इक्कीस सामिधेनी मन्त्र पढ़ा जाता है।[७] महर्षि याज्ञवल्क्य इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि इक्कीस सामिधेनी उसको पढ़ाना चाहिये जिसकी श्री नष्ट हो चुकी हो और वह चाहे कि मुझे इससे अधिक होना है न कि कम, क्योंकि जिस देवता के लिए पढ़ते हैं, पढ़ने वाला, उसी देवता के समान होगा या कम, अतः इसको जो समझता है उसी को इक्कीस सामिधेनी मन्त्र पढ़ना चाहिये। एक अन्य विचार यह भी है कि इक्कीस सामिधेनी पाठ नहीं करना चाहिये।[८] का. श्रौ. सू. की विद्याधर टीका में यह बताया गया है कि दर्शपौर्णमास इष्टि में पन्द्रह, पश्वादि में सत्रह, प्रजापति पशु कामना के लिये एकोविंशति इष्ट का पशु में चौबीस सामिधेनी पाठ किया जाता है।[९] आश्वलायन श्रौत सूत्र के अनुसार पित्रेष्टि में तीन सामिधेनी या नव सामिधेनी का पाठ किया जाता है।[१०] ध्यान रहे ये मन्त्र प्रथम स्वर से बोलने चाहिये। साथ ही साथ प्रथम तीन मन्त्र को तथा पिछले तीन मन्त्र को एक ही सांस में पढ़ना चाहिये,[११] अर्थात् "प्रवोवाजा." इस प्रथम ऋचा को और "आजुहोतन." इस अन्त्य ऋचा को तीन बार बिना श्वास

---

१. श. ब्रा., १.३.५.५, एकादशान्वाह एकादशाक्षरा वै त्रिष्टुप् ब्रह्म गायत्री। क्षत्रं त्रिष्टुवेताभ्यामेवैनमेतदुत्ताभ्यां वीर्याभ्यां समिन्धेतस्मादेकादशान्वाह।

२. श. ब्रा., १.३.५.७,

३. श. ब्रा., १.३.५.१०, सप्तदशसामिधेनीः।

५. श. ब्रा., १.३.५.१०, "इष्टयाऽअनुब्रूयादुपांशु तस्यै देवतायै यजति यस्याऽइष्टि निर्वपति, द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य पञ्चर्तव एव एव प्रजापतिः सप्तदशः सर्व वै प्रजापति संवत्सर्वेणैव तकाममनपराधंराधनोति यस्मै कामायेष्टिं निर्वपत्युपाशु देवतां यजत्यनिरूक्त वा उपांशु ऽसर्व वाऽ अनिरूक्तं तत्सर्वेणैव त काममनपराधं राधनोति यस्मै काममेष्टि निर्वपत्येष इष्टेरूपचारः।"

६. तै. सं. ब्रा., २.५.७-११,

७. श. ब्रा., १.३.५.११, एकविंशति सामिधेनीः। अपि दर्शपूर्णमासयोरनुब्रूयाट।

८. श. ब्रा., १.३.५.१२,

९. का. श्रौ., ३.१.९, विद्याधर गौड भाष्य,

१०. आश्व. श्रौ., २.१९.४.४८,

११. श. ब्रा., १.३.५.१३ - १४, "त्रिरेव प्रथमां त्रिरुत्तमामनुब्रुवन्न ब्रूयात्। स यावदस्य वयः स्यात्।"

के रुके पढ़ना चाहिये। बिना श्वास लिये पढ़ने में असुविधा होने पर दो ऋगदावृत्तियों के अन्त में विराम लिया जा सकता है।[१] सामिधेनी मन्त्र बोलने के पूर्व सर्व प्रथम प्रणव और प्रथम स्थान से हिंङ्कार उच्चारण करके आगे सामिधेनी मन्त्र बोलना चाहिये और प्रत्येक मन्त्र में ॐ उच्चारण करके समिधा को डाला जाता है।[२] सामिधेनी मन्त्र से पूर्व हिंङ्कारा का उच्चारण इसलिये किया जाता है कि कोई भी यज्ञ सामरहित नहीं होता है और कोई भी साम बिना हिंङ्कार के गाया नहीं जाता है, जो हिंङ्कार बोला - जाता है वह (हिंङ) साम का रूप होता है। हिंङ्कार के उच्चारण के द्वारा मन्त्र को साममय बना दिया जाता है और प्रणव या ओङ्कार से समस्त यज्ञ सामरूप हो जाता है।[३] होता हिंङ्कार का उच्चारण उपांशु (मन्द स्वर) से करता है। इसका निर्वचन करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हिंङ्कार यदि उच्चस्वर से बोलेगा तो हिंङ्कार और वाणी एक रूप हो जायेगी। अतः हिंङ्कार (मन्द स्वर) से बोलना चाहिये।[४]

कात्यायन श्रौत सूत्र के अनुसार दर्शपूर्णमास इष्टि में अर्थात् सामिधेनी से लेकर स्विष्टकृत पर्यन्त सब मन्त्रों को प्रथम स्थान से अर्थात् मन्द स्वर में बोलना चाहिये और स्विष्टकृत से इडामार्जन पर्यन्त मध्यम स्थान से समाप्ति पर्यन्त उत्तम स्वर से बोलना चाहिये।[५]

सामिधेनी की विधि : —

इस विधि में सर्वप्रथम अध्वर्यु वेदों के पश्चिम भाग में वेदी के उत्तर भाग में होता के बैठने के लिये, जिस पर कुश बिछा हो ऐसी एक चौकी की स्थापना करता है।[६] तदनन्तर होता को "एहिहोता"कहकर अध्वर्यु उसे अपने पास बुलाता है।[७] होता के पास आने पर अध्वर्यु एक समिधा को लेकर होता से कहता है कि हे होता। अग्नि के लिये सामिधेनी मन्त्र बोलो,[८] किन्तु याज्ञवल्क्य इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि पहले से ही होता नहीं बना रहता। यजमान उसका वरण कर लेते हैं। उसके बाद ही होता बनता है, इसलिये बिना होता सम्बोधन पद के इतना कहना चाहिये कि "समिध्यमान अग्नि के लिये मन्त्रों का उच्चारण करो"[९]।

---

१. दर्श. पू. प., पृ. ६२, भीमसेन शर्मा - " प्रवोवाजः इत्याधाम् आ जुहोति इत्यन्त्यां च ऋचं त्रिवारयनवानन् (अनुच्छवसन्) अनुब्रूयात्। अशक्तौ तु प्रथमयोर्द्वयोरावृत्योः ऋगन्ते ऽपि विरमेत्।"

२. श. ब्रा., १.४.१.१, का. श्रौ., ३.१.१०, आप. श्रौ., २.१२.३.४, शा. ब्रा., ३.२-३, गो. ब्रा. १.३.९,

३. श. ब्रा., १.४.१.१-२, यद्वेव हिङ्करोति। प्राणो वै हिङ्कारः प्राणो हि वै हिंङ्कारस्तस्मादपिगृह्य नासिके न हिंङ्कर्तुं शक्नोति वाचां वाऽऋचमन्वाह वाक् च वै प्राणश्च मिथुनं तदेतत्पुरस्तन्मिथुनं प्रजननं क्रियते सामिधेनीनां तस्माद्वै हिंङ्कृत्यान्वाह।

४. श. ब्रा., १.४.१.३, सवाऽउपांशु हिङ्करोति। अथ यदुच्चैहिङ्कुर्यादन्यतरदेव कुर्याद्वाचमेव तस्मादुपांशु हिङ्करोति।

५. का. श्रौ., ३.१.३-५, विद्याधर शर्मा, प्रथम स्थानेन प्राक् स्विष्टकृतः मध्यमेनोडायाः शेषमुत्तमेन उपांशुपेक्षया किंचिदुच्चैः स्वरेणोच्चारणं प्रथम स्थानम्। उपांशुं लक्षणं च" जिहवाष्टौचालयेत् किंचिद्देवता-गतमानसः। निजश्रवण योग्यः स्यादुपांशु सजपः स्मृतः " इति। तु. आप. प. सू., २.२१.८९, दर्श. पू., पृ. ६१,

६. का. श्रौ., ३.१

७. दर्श. पू. प., पृ. ७२,

८. श. ब्रा., १.३.५.२, स आह। अग्नेय समिध्यमानमनुब्रूहीत्यग्नये हयेत्समिध्यमानायान्वाह।, वा. श्रौ., १.३.३.३१, मा. श्रौ. १.२.७.१, स. श्रौ. १.८२८,

९. श. ब्रा., १.३.५.३, तदु हैक ऽआहुः। अग्नये समिध्यानान्य होतारनुब्रूहीति तदुतथा न ब्रूयाद् होता वाऽ एष पुरा भवति यदैवेनं प्रवृणीतेऽथ होता तस्मादुब्रूयादग्नये समिध्यमानायानु ब्रूहत्येष।

तदनन्तर होता ब्रह्म से- हे ब्रह्मा ! सामिधेनी के लिये मन्त्र का उच्चारण करूँगा, इत्यादि वाक्य से ब्रह्मा से आज्ञा मांगता है । इधर ब्रह्मा - "प्रजापतिऽनुबूहियज्ञं देवता." इत्यादि मन्त्र को उपांशु रूप में पाठ करके "अनुबूहि" वाक्य को उच्चस्वर में पढ़कर होता को आज्ञा प्रदान करता है । ब्रह्मा से आदेशित होकर होता अपनी अङ्गुलियों के पर्व भाग से अपने हृदय का स्पर्श करता हुआ दक्षिण पैर को वेदी की श्रोणी में लगाकर आकाश को देखता हुआ -"नमः प्रवक्त्रे." इत्यादि मन्त्र का पाठ करता है ।[१] होता के द्वारा मन्त्र का उच्चारण किये जाने के अनन्तर यजमान स्फय को लेकर होता को "सन्तन्वन्निव मेऽनुबूहि."[२] मन्त्र से प्रेषित करता है ।

तदनन्तर होता उपांशु रूप में तीन बार हिङ्कार उच्चारण करता है ।[३] इसके बाद "प्रवोवाज."[४] - - - इत्यादि सामिधेनी ऋचा का तीन बार पाठ करता है । सामिधेनी पाठ के अन्त में ज्यों ही होता ओम का उच्चारण करता है, तब अध्वर्यु एक समिधा की आहुति देता है,[५] परन्तु होता के सामिधेनी पाठ करते समय यजमान पाँव के अंगूठे से भूमि को दबाता हुआ "इदमहं पञ्चदशेन वाग्व्रजेण भातृव्य वबाध"इत्यादि मन्त्र का बार-बार उच्चारण करता है ।[६] ध्यान रहे यजमान का यदि कोई शत्रु हो तो अङ्गूठे को दबाते समय "भातृव्य वबाध" के स्थान पर उस शत्रु का नाम लेकर वबाध का उच्चारण करना चाहिये ।[७] इस तरह प्रत्येक सामिधेनी ऋचा का पाठ करके आहुति देता जाये, परन्तु "समिद्धोअग्नि"[८] सामिधेनी ऋचा के पूर्व एक अनुयाज हेतु समिधा को बचाकर शेष पाँच समिधाओं को एक आहुति दिया जाता है ।[९] पर सामिधेनी ऋचाओं का पाठ क्रम से चलता रहता है ।[१०] कतिपय विद्वानों के मत से "अग्निदूतं वृणीमहे होता मे विश्ववेदस", इस प्रकार उच्चारण करना चाहिये, परन्तु याज्ञवल्क्य इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से वे यज्ञ को मानुषी बना देते हैं जो मानुषी होता है वह समृद्धि रहित होता है । यज्ञ में समृद्धि रहितता नहीं होनी चाहिये । ऋचाओं में परिवर्तन करने का अधिकार मनुष्य में नहीं है, इसलिये जिस प्रकार से ऋचाओं में मन्त्र प्रतिपादन किया गया है उसी प्रकार बिना किसी परिवर्तन के उच्चारण करना चाहिये, अतः होतारं विश्ववेदसम", सामिधेनी ऋचा का उच्चारण विहित है ।[११]

---

१. का. श्रौ., २.२.११,
२. का. श्रौ., ३.१.६,
३. श. ब्रा., १.४.१.१, हिङ्कृत्यान्यवाह, तु. तै. सं. ब्रा., १.५.७-११,
४. ऋ. सं., ३.२७.१,
५. श. ब्रा., १.४.१.१, का. श्रौ., ३.१०, प्रति प्रणवाधानम् वा. श्रौ., १.३.४.१, भा. श्रौ., १.१२.२, आप. श्रौ., १.१२.५, मा. श्रौ., १.२.७.१, स. श्रौ., १.८.२८, बौ. श्रौ. १.१५,
६. का. श्रौ., ३.७, अङ्गुष्ठाभ्यां चाववाधते पाद्याभ्यां वेंदमहमममुमबवाध इतिद्वेष्यम् । श. ब्रा., १.३.५.७, का. ब्रा., २.३.३.५, तै. ब्रा., ३.५१-४,
७. का. श्रौ., ३.८, अभावे द्विषन्तं भ्रातृव्यमिति वा,
८. ऋ. सं., ५.२८.५
९. श. ब्रा., १.४.१३८, का. श्रौ., ३.१.११, वा. श्रौ., १.३.४.१, आप. श्रौ., २.१२.६, स. श्रौ. १.८.२८,
१०. दर्श. पू. प. पृष्ठ ७२
११. श. ब्रा., १.४.१.३५, "तदु हैकेऽन्वाहुः होता यो विश्ववेदस इति नैदरामत्यात्मानं ब्रवाणीति तदु तथा न ब्रूयानूमानुषं ह ते यथे कुर्वन्ति व्यृद्धं वै तद्यज्ञस्य यस्मानुषं नेदव्यृद्धं यज्ञे करवाणीति तसमाद्यथैवर्चा तृक्तमेवानूब्रूयाद्धोतारं विश्ववेदसांमित्येवास्य यज्ञस्य सुक्रतुमित्येष हि यज्ञस्य सुक्रतुर्यदग्निस्तस्मादाहास्य यज्ञस्य सुक्रतुमिति सेयं देवानुपवर्त ततो देवा अभवन्पुरासुरा भवति ह त्वाऽआत्मना परास्य सपत्ना भवन्ति यस्यैवं विदुष एतमन्वाहुः ।"

निगदानुवचनम्

यज्ञ के लिये अग्नि को तैयार करने के लिए सामिधेनी ऋचाओं का होता अनुवचन करता है और प्रत्येक सामिधेनी ऋचा के उच्चारण के अन्त में अध्वर्यु अग्नि को प्रज्ज्वलित करने के लिए क्रमशः एक-एक समिधा को अग्नि में डालता है, इसके बाद होता है निगदानुवचन करता है। "निगदा" का सामान्य अर्थ है कथन, इसकी व्युत्पत्ति "नि" उपसर्ग पूर्वक "गद्" धातु से "अप्" प्रत्यय करने पर होती है।[1] यद्यपि "निगद"शब्द का सामान्य अर्थ कथन है तथापि वैदिक भाषा के तथा यज्ञों के परिप्रेक्ष्य में इसका अर्थ यह होता है कि देवताओं का स्तुति परक गद्य वाक्य है।[2]

इसकी विशेषता यह है कि सामिधेनी अनुवचन के द्वारा अग्नि को यज्ञ में देवताओं के पास हवि वहन करने जैसे - गुरुत्तम कार्य में, नियुक्त किया जाता है। लोक में जब किसी व्यक्ति को किसी महान् कार्य को करने के लिए नियुक्त किया जाता है, तब लोग उसका उत्साह बढ़ाने के लिए उसकी प्रशंसा करते हैं[3] इसी प्रकार यहाँ यज्ञ में अग्नि के लि[illegible] और यज्ञ जैसे महान् कार्य को सम्पन्न करने के लिए इन स्तुतिपरक निगदों का होता पाठ करता है।

इन निगदों में होता कहता है कि हे अग्नि! तुम महान् हो, ब्राह्मण हो। तुम भारत हो, क्योंकि तुम देवताओं के लिए हवि को ले जाते हो तथा सारी प्रजाओं का प्राण बन करके उसका भरण करते हो।[4]

आर्षेयानुवचनम्

निगदों का अनुवचन करने के अनन्तर होता ही यजमान के निमित्त आर्षेयानुवचन करता है। आर्षेयानुवचन का अर्थ है - जिस ऋषि के गोत्र में यजमान पैदा हुआ है, उसके गोत्र के जो प्रवर है, जो ऋषि हैं तथा प्रपितामह से लेकर पिता पर्यन्त जो पूर्वज हैं उनके नामों का कथन। वस्तुतः आर्षेयानुवचन का अर्थ है - यजमान के गोत्र, प्रवर का उच्चारण करके देवताओं और ऋषियों के सामने यह घोषणा करना है कि यह यजमान महान् पराक्रमी है, क्योंकि यह तुम्हारे द्वारा प्रवर्तित इस यज्ञ में पहुँच गया है। उस यज्ञ का अनुष्ठान कर रहा है जो पीढ़ी दर पीढ़ी से होता हुआ उसे दाय के रूप में प्राप्त हुआ है।[5]

इसकी विधि यह है कि इसमें यजमान के गोत्र प्रवरों आदि का उच्चारण किया जाता है, क्योंकि लोक में वंशानुक्रम से व्यक्ति की उत्पत्ति का यही क्रम है।[6]

---

१. पा. अ. सू. ३.३.६४, नीगदनद पटस्वनः द्र. श. क. दु. भाग ११, पृ. ८७७

२. (स.भा.) श. ब्रा., १.४.२.१, तु. भा. पु., ५.३.६, इति निगदेनभिष्टुयमानो भगवान् - - - - - - - - -। यहाँ निगद शब्द का प्रयोग स्तुति परक गद्य वाक्यों के लिए हुआ है।

३. श. ब्रा., १.४.२.१

४. वही, १.४.१.३ - ४

५. वही, १.४.२.३ - ४

६. श. ब्रा., १.४.२ -४

निवित् पाठ

आर्षेय प्रवरण करने के पश्चात् निवितों का पाठ किया जाता है। यजपान के रूप में निवेदित करने के पश्चात् निवित् पाठ किया जाता है। निगदों की तरह निविद् भी है, ऋग्वेद में निविदों को ऋचाओं से पूर्व कहा गया है।[१] सायण ने इस ऋचा पर भाष्य लिखते हुए कहा है कि निवित् वेदात्मिका वाक् है।[२] ध्यातव्य है कि निघण्टु में निवित् को वाक् का पर्याय बताया गया है।[३] निवित् शब्द "नि" उपसर्ग पूर्वक विद् (ज्ञाने) धातु से क्विप् प्रत्यय के संयोग से व्युत्पन्न होता है।[४] इस प्रकार निवत् का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है – समग्र ज्ञान। यह सही है कि निघण्टु में निवित् शब्द का वाक् का पर्याय है, तथापि ऋग्वेद के साक्ष्य में यह प्रमाणित होता है कि ऋचाओं से पूर्व वाणी स्तुतियाँ निवित् शब्द से अभिहित होती हैं।[५] इस ऋचा पर "पूर्व" या निविदा पर भाष्य करते हुए सायण ने इस सन्दर्भ में पढ़ी गई निविदों "अग्निर्देवेद्धः", "मन्विद्धः" को उद्धृत किया है। इससे भी यह प्रमाणित होता है कि ऋचाओं के पहले जिन वाक्यों से देवताओं की स्तुति की जाती है, वे निवित् पद वाच्य है। ऋग्वेद के खिल सूक्तों में इन निविदों का संग्रह मिलता है।[६] इन निविदों में अग्नि के लिए स्तुति वाक्यों को अनुवदित किया गया है।

होता कहता है कि हे अग्नि! तुम पहले देवताओं द्वारा प्रज्ज्वलित किये गये थे।[७] तदनन्तर तुम्हें मनु ने समृद्ध किया था। हे अग्नि ऋषियों ने तुम्हारा स्तवन किया था[८] तथा विप्रों ने प्रसन्न किया था।[९] हे अग्नि! कवियों ने किया था शंसन तुम्हारा शंसन तथा वेदमन्त्रों से प्रशंसित नाम तुम्हारा[१०]। तुम देवताओं के पीने के पात्र हो, देवताओं के लिए आहुति देने वाली तुम जुहू हो।[११] तुम यज्ञ के उत्तम नेता हो और तुम उनके रथी हो।[१२] हे होता अग्नि! तुम्हें कोई पार कर नहीं सकता, हे हवि के वाहक तुम सबको पारकर जाते हो।[१३] जिस प्रकार रथ की नेमि में चारों ओर से अरे लगे रहते हैं, उसी तरह तुम सभी देवताओं में व्याप्त हो।[१४]

---

१. ऋ सं., १.८९.३, तान पूर्वया निविदा उमहे वयं।
२. ऋ सं., (सा.भा.), १.८९.३, वेदात्मिक या वाचा।
३. निघण्टु, १.१.११ (२३)
४. निघण्टु, १.१.११ (२३), देवराजयज्वा,
५. ऋ सं., १.९६.३, स पूर्वया निविदा कव्यतायोरिमाः प्रजा अजनयन्मनूनाम्।
६. ऋ सं., खिल. अ., १.५
७. तै. ब्रा., ३.५.३.१, श. बा., १.४.२.५,
८. तै. बा., ३.५.३.२, ऋषिष्टुरतः, तु. श. ब्रा., १.४.२.६,
९. तै. बा., ३.५.३.३, विप्रानुमुदितः नुः, श. ब्रा, १.४.२.७,
१०. तै. बा., ३.५.३.४, ब्रह्म संशित, श. ब्रा., १.४.२.८, आम्नातं जुहू देवानाम् चमसो देवपानः।
११. तै. ब्रा., ३.५.३, श. ब्रा., १.४.२. १३-१४,
१२. तै.ब्र., ३.५.३६, रथीध्वारणाम्,
१३. तै. ब्रा., ३.५.३.७, अतूर्तो होता तूर्णिहव्यवाट,
१४. तै. ब्रा., ८.५.३, "अरो ऽइवाग्ने नेमिर्देवास्त्वं परिभूरसि" श ब्रा. १.४.२.१५,

देवतावहनम्

देवताओं का आवाहन : —

अग्नि की महिमा को बताकर होता उसकी स्तुति करता है और उसमें यज्ञ वहन करने के लिए वीर्य का आधान करता है। इस कृत्य को खड़े होकर सम्पन्न किया जाता है।[१] इसमें अग्नि से कहा गया है कि "हे अग्नि ! देवताओं को लाओ", "हे अग्नि! आग्नेय आज्य भाग के प्रति सोम देवताओं को लाओ "तथा "हे अग्नि! सोम्यआज्य भाग के प्रति सोम देवताओं को लाओ" और "हे अग्नि दर्श और पौर्णमास दोनों यज्ञों में अपरिहार्य आग्नेय पुरोडाश के निमित्त अग्नि देवता का आवाहन करो"। इस तरह जिन देवताओं के हेतु हवि का निर्वपन हुआ रहता है। होता उन सब देवताओं को क्रमशः आवाहित करता है।[२] पुनः "देवाऽआज्यं." मन्त्र से आज्य पान करने वाले प्रयाज-अनु-याज देवताओं के आवाहन के लिए वह अग्नि से प्रार्थना करता है। ऋतु और अनुयाज देवता ही आज्य पान करने वाले हैं। तदनन्तर होत्र कर्म करने के लिए वह अग्नि का आवाहन करता है। "स्वमहिमा नमावह." मन्त्र से होता अपनी महिमा के आवाहन के लिए प्रार्थना करता है, क्योंकि वाणी ही इस अग्नि की महिमा है। तदनन्तर "आचं वह जातवेदः सयजा च यज." मन्त्र से जिन देवताओं के लिए यह अभीष्ट है, उनके आवाहन के लिए प्रार्थना करता है। इस तरह प्रार्थना करते हुए अन्त में यह कहा गया है कि "हे अग्नि ! उन देवताओं को इस यज्ञ में लाओ तथा उन आगन्तुक देवताओं को यथाविधि - यजन करों।[३]"इस तरह इन देवताओं का आवाहन खड़े होकर किया जाता है।[४]

शान्तिकर्म : —

शान्तिकर्म में सामिधेनी की विशेषता बताती हुई श्रुति कहती है कि सामिधेनियों के द्वारा जलाई गई अग्नि अन्य अग्नियों की अपेक्षा अधिक चमकने वाली है, अतः इस पर कोई आक्रमण नहीं कर सकता है और न ही इसको कोई बुझा सकता है।[५] आगे यह भी कहा गया है ल्कि जिस तरह सामिधेनी मन्त्रों द्वारा जलाई गई अग्नि चमकती है उसी तरह सामिधेनी मन्त्रों को बोलने वाले और जानने वाले चमकते हैं।

आगे यह भी कहा गया है प्रथम सामिधेनी के द्वारा प्राण को प्रज्ज्वलित किया जाता है। इस समय यदि कोई यजमान को बुरा कहता है तो उसके प्रति यह कहना चाहिये कि "तूने अपने प्राण को अग्नि में डाल

---

१. श. ब्रा, १.२.४, तै. ब्रा, ३.५ ३,
२. वही, १.२.४.१६
३. वही, १.२.४.१७,
४. श. ब्रा:, १.२.४ .१८
५. श. ब्रा, १.४.३.१,

दिया इसी प्राण से दुःख होगा"।[२] दूसरी सामिधेनी से अपान को प्रज्ज्वलित किया जाता है। इस समय यदि कोई यजमान को बुरा कहता है तो "वह मानो अपान वायु को अग्नि में डालता है और अपान वायु उसे पीड़ा का अनुभव करता है।[३] इसी तरह तीसरी सामिधेनी से उदान को प्रज्ज्वलित करता है। इस समय यदि कोई यजमान को बुरा कहे तो वह उदान से कष्ट का अनुभव करता है।[४] चौथी सामिधेनी का कर्णेन्द्रिय से सम्बन्ध रहता है। इस समय यदि कोई यजमान को बुरा कहे तो वह बहरा होकर कान से कष्ट का अनुभव करता है।[५]

पाँचवी सामिधेनी की वाणी से सम्बन्ध रहता है, क्योंकि वाणी के द्वारा ही इन सबकी स्तुति की जाती है। इस समय यदि कोई यजमान को बुरा कहे तो यह वाणी से कष्ट का अनुभव करता है, अर्थात् मूक हो जाता है।[६] छठी सामिधेनी की मन से सम्बन्ध रहता है, क्योंकि मन ही देवों तक विद्वानों को ले जाता है। इस समय यदि कोई यजमान को बुरा कहता है तो उसके प्रति यह कहना चाहिये कि "तू ने अपने मन को अग्नि में डाल दिया, तुम मन के द्वारा अत्यन्त पीड़ा पाओगे और तुम विक्षिप्त हो जाओगे।[७]" इसी तरह सातवीं सामिधेनी की आँख से सम्बन्ध रहता है अर्थात् आँख को प्रज्ज्वलित करती है। इस समय यदि कोई यजमान को बुरा कहे तो उसने मानों आँख को अग्नि में डाल दिया और इस प्रकार आँखों से पीड़ा पाकर वह अन्धा हो जाता है।[८] आठवीं सामिधेनी से मध्यम प्राण को प्रज्ज्वलित किया जाता है। इस समय यदि कोई यजमान को बुरा कहे तो वह अपने मध्यम प्राण को आग में डालता है अर्थात् वह मध्यम प्राण से कष्ट का अनुभव करता है।[९] नवीं सामिधेनी की इन्द्रियों से सम्बन्ध रहता है। नवीं सामिधेनी की मन्त्र बोलते समय यदि कोई यजमान बुरा कहे तो वह इन्द्रियों से कष्ट प्राप्त करता है। दसवीं सामिधेनी से निचले प्राण को प्रज्ज्वलित करता है और ग्यारहवीं सामिधेनी से नख से लेकर रोम को प्रज्ज्वलित किया जाता है। इस समय यदि कोई यजमान को बुरा कहे तो उसे प्राण से तथा नख से लेकर रोम तक कष्ट का अनुभव होता है।[१०] अधो प्राण से अर्थात् पेट की बीमारी से कष्ट का अनुभव कर, वह शीघ्र ही परलोक को प्राप्त होता है। इस तरह सामिधेनी ऋचाओं के उच्चारण के सम्बन्ध में अभिचारात्मक वाक्य को बताती हुई, सबसे अन्त में श्रुति कहती है कि जिस प्रकार होता सामिधेनी ऋचाओं के द्वारा पीड़ा उठाता है, उसी तरह सामिधेनी ऋचा का पाठ करने वाले व्यक्ति को बुरा कहने वाला कष्टित होता है।[११]

---

१. श. ब्रा., , १.४.३.३, ११,
२. वही , १.४.३.३, १२,
३. वही , १.४.३.३, १३,
४. वही , १.४.३.४. १४,
५. वही , १.४.३.५. १५,
६. वही , १.४.३.५ . १५
७. वही , १.४.३.६.१६
८. वही , १.४.३.७.१७
९. वही , १.४.३.८.१८
१०. वही , १.४.३.१०-११, २०-२१,
११. वही , १.४.३.२२,

आघार

क्षरणार्थक घृ धातु से आङ् उपसर्ग पूर्वक कर्म में ञ, प्रत्यय होकर वृद्धि होने से आघार शब्द निष्पन्न होता है। आघार का अर्थ होता है[1] – एक स्थान से दूसरे स्थान तक घृत की अविच्छिन्न सीधी धारा को गिराना। यह आघार आहवनीय अग्नि में डाली जाती है।[2] आघार की संख्या दो होती है – (१) पूर्वाघार (२) उत्तराघार। दोनों आघारों की उपयोगिता तथा महत्त्व को बताते हुए श्रुति कहती है कि पूर्वाघार की आहुति मन की तृप्ति से सम्बन्ध रखती है तथा उत्तराघार की आहुति वाक् - तृप्ति से, क्योंकि मन और वाणी मिल कर देवताओं के लिए यज्ञ को ले जाते हैं।[3] इस कृत्य में मुख्यतया दो बार घृत की आहुति दी जाती है - एक मन के लिए दूसरी वाणी के लिए। मन को दी जाने वाली आहुति स्रुव् से दी जाती है[4], तथा वाणी के लिय स्रुच् से।[5] मन को दी जाने वाली आहुति को अध्वर्यु बैठकर देता है और मन्त्र का उच्चारण उपांशु रूप में करता है।[6]

वाणी को दी जाने वाली आघार आहुति वेदी के दक्षिण ओर खड़े होकर दी जाती है तथा इसमें मन्त्र का उच्चारण किया जाता है।[7] ध्यातव्य है कि पूर्वाघार तथा उत्तराघार के मध्य में अग्नि का सम्मार्जन भी किया जाता है।

पूर्वाघार की विधि : —

इस विधि में अध्वर्यु आहवनीय कुण्ड से दक्षिण उत्तर की ओर बैठकर आहवनीय अग्नि को प्रज्ज्वलित करता है।[8] इसके बाद वेद को वामहस्त में लेकर आज्य स्थाली से स्रुव् के द्वारा घृत लेकर प्रजापति अर्थात् मन को उपांशु रूप में ध्यान करता हुआ अग्नि के उत्तर भाग में सीधी झुकती हुई प्रथम आघार आहुति "ओम प्रजापतये स्वाहा."मन्त्र को मन्द स्वर में कहकर देता है।[9] इस समय "प्रजापतये." इस वाक्य का उपांशु उच्चारण किया जाता है।[10] यजमान भी "इदं प्रजापतये इदं न मम." इस वाक्य को मन से उच्चारण करता है, अर्थात् प्रजापति को दिये गये आघार को त्याग करता है।

१. द्र. स. हि. को, पृष्ठ १४१, श.क.द्रु, भाग १, पृ. १६६
२. श्रौ. प नि., पृ. २५, गो. ब्रा., १.३.७-१०, मा. श्रौ., १.३.१.१५,
३. श. ब्रा., १.४.४.१-३, तं वाऽएतमग्निं समैन्धिषत। समिद्धे देवेभ्यो जुहवामेति तस्मिन्नेतेऽएव प्रथमेऽआहुती जुहोति मनसे चैव च मनश्च हैव वाक् च युजौ देवेभ्यो यज्ञ वहतः। तु. का. श. ब्रा., २.४.२-३,
४. श. ब्रा., १.४.४.३, स्रुवेण तमाघारमति। मं मनसा आघारयति - - - - -। तु. तै. सं. ब्रा., १.५.११,
५. श. ब्रा., १.४.४.४, स्रुचा तमाघारयति। यं वाचंऽआघारयति। अग्नेन स्तमाघारयति
६. श. ब्रा., १.४.४.५, ७, तूष्णीं तमाघारयति,
७. श. ब्रा., १.४.४.६-७, मन्त्रेण तमाघारयति,
८. दर्श. पू. प, पृष्ट ६४
९. तै. ब्रा. ३.३.७, तै. सं. ब्रा., २.५.११, का. श्रौ. ३.१.१२, बौ. श्रौ. ३.१७.१८.२०.१२, भा. श्रौ. २.१०.४, न. श्रौ. मनसा प्रजापतये जुहोति।
१०. आ. श्रौ., ३.१.१२, तु. आप. श्रौ., ४.२.१२.६, बौ. श्रौ., ३.१२.१८. पा. श्रौ., १.३.५, आ. श्रौ., १.३.४.३, वैखा. श्रौ., ६.१, वैता. श्रौ., १.२.१२.

अग्नि का सम्मार्जन

अग्नि में पूर्वाघार आहुति देने के अनन्तर अध्वर्यु अग्निध्र को स्फ्य तथा इध्म - सन्नहन प्रदान करता हुआ यह प्रैष देता है —— "हे अग्नीध्र ! तुम अग्नि का सम्मार्जन करो"[1]। अग्नीध्र बायें हाथ में स्थित स्फ्य तथा इध्म सन्नहन के द्वारा नैऋत्यकोंण में खड़ा होता है।[2] तदनन्तर वह "अग्नेवाज् विद्"[3] मन्त्र से सर्वप्रथम पश्चिम के कोंण से उत्तर के कोंण तक एक बार समन्त्रक, दो बार मौन होकर सम्मार्जन करता है।[4] तदनन्तर पुनः दक्षिण पार्श्व से उत्तर पार्श्व में जाकर उत्तर-पश्चिम के कोंण से पूर्व की ओर पूर्ववत् एक बार समन्त्रक दो बार मौन होकर अग्नि का सम्मार्जन करता है।[5] पुनः वह उसी स्थान पर खड़े होकर ही आहवनीय कुण्ड के मध्य में पूर्व की ओर बिना मन्त्र के तीन बार सम्मार्जन करता है।[6]

अग्नीध्र उत्तर पार्श्व में स्थित होकर दक्षिण पार्श्व की ओर जाकर दक्षिण परिधि का पूर्ववत् कहे गये मन्त्र से सम्मार्जन करता है। पुनः दक्षिण पार्श्व से उत्तर पार्श्व की ओर आकर मध्यम परिधि अर्थात् अग्नि के पश्चिम भाग को सम्मार्जित करता है। तदनन्तर पुनः दक्षिण पार्श्व की ओर जाकर उत्तर परिधि के सामने वाली अग्नि का सम्मार्जन करके१ पुनः उत्तर पार्श्व की ओर जाकर मध्य में तीन बार अग्नि का सम्मार्जन करता है[7]।

उत्तराघार

पुटाञ्जलिकरण : ——

अध्वर्यु उत्तराघार आहुति देने के पूर्व जुहू तथा उपभृत को हाथ जोड़ता है।[1] इस विधि में अध्वर्यु "नमोदेवेभ्यः[2]" मन्त्र से देवताओं को नमस्कार करता है।[3] तदनन्तर पुनः "स्वधा पितृभ्यः"[4] मन्त्र से दक्षिण दिशा

---

१. श. ब्रा., १.४.४.१३, अग्निमग्नीत् सम्मृड्ढि, तै. ब्रा., ३.३.७, तै. स. ब्रा., २.५.११, का. श. ब्रा., २.४.२-३, गो. ब्रा., २.१.१, का. श्रौ., ३.१.१२, भा. श्रौ., २.१२.७, मा. श्रौ., १.३.१.७, स. श्रौ., २.१२, वैखा. श्रौ., ६.२,

२. दर्श. पू. प., पृ. ६५,

३. वा. सं., २.९, तै. ब्रा., ३.७.६.१४,

४. श. ब्रा., १.४.४.१४-१५, का. श. ब्रा., २.४.२.३, का. श्रौ., ३.१.१३, आप. श्रौ., २.१३.१, मा. श्रौ., १.३.८-९, वा. श्रौ., १.३.४.५, वैखा. श्रौ. ६.२,

५. श. ब्रा., १.४.४.१४-१५

६. श. ब्रा., १.४.४.१४-१५, का. श्रौ., ३.१.१४, बौ. श्रौ., ३.१७.१८, स. श्रौ., २.१२, वा. श्रौ., १.३.४.४, वैखा. श्रौ., ६.२, वैता. श्रौ., १.२.१३,

७. का. श्रौ., वेबर, पृष्ठ २४०

८. श. ब्रा., १.४.५.१, का. श्रौ., ३.१.१५, भा. श्रौ., २.१३.१ मा. श्रौ., १.३.१.११, स. श्रौ., २.१२, वा. श्रौ., १.३.४.६, वैखा. श्रौ., ६.३,

९. वा. सं., २.७,

१०. श. ब्रा., १.४.५.१, का. श्रौ., ३.१.१५, स. श्रौ., २.१२, वा. श्रौ., १.३.४.७, वैखा. श्रौ., ६.३,

११. वा. सं., २.७,

में उत्तान अजलि करके पितरों को नमस्कार करता है।[१] इसके बाद वह जल का स्पर्श करता है[२], क्योंकि पितृ-नमस्कार में अपसव्य होना आवश्यक है, परन्तु उसके निवारण के लिए जल का उपस्पृश्य अत्यन्त आवश्यक बताया गया है।[३]

उत्तराघार की विधि : ––

इस विधि में अध्वर्यु "सूयमे भूयास्तम."[४] मन्त्र से दोनों हाथों से जुहू के ऊपर उपभृत को रखकर दक्षिण दिशा में खड़ा होता है।[५] ध्यातव्य है कि उपभृत रखने की और उठाने की यह प्रक्रिया दर्शपौर्णमास के अतिरिक्त अन्यत्र भी देखी जा सकती है। जुहू को उपभृत के ऊपर रखते समय शब्द नही होना चाहिये तथा दोनों पात्र को नाभि की ऊंचाई तक लिये रहना चाहिये।[६] तदनन्तर अध्वर्यु "आङ्घ्रिणाविणो."[७] मन्त्र से दक्षिण पैर को आगे बढ़ाता हुआ दक्षिण दिशा की ओर जाता है[८] और बायें पैर से उत्तर की ओर जाता है। विकल्प से इसके विपरीत जाया जा सकता है।[९] ध्यान रहे यज्ञ स्थान के लिए सर्वदा अध्वर्यु को चाहिये कि वह बायें पैर को आगे बढ़ाकर जाये और दक्षिण पाद को आगे बढ़ाते हुए लौटे।[१०] उत्तर की ओर जुहोति स्थान तथा दक्षिण की ओर यजति स्थान है, होम के लिए पश्चिम की ओर से जाकर पूर्व की ओर से आहुति दी जा सकती है।

परन्तु यजति स्थान से जुहोति स्थान को जाने के लिये बायें पैर को आगे बढ़ाकर दक्षिण पाद से लौटना चाहिये।[११] अध्वर्यु वेदी के दक्षिण भाग में आकर "वसुमतिमटग्नते."[१२] मन्त्र के साथ ईशानाभिमुख खड़ा होता है।[१३] तदनन्तर उपभृत के ऊपरी अग्रभाग से जुहू पर पूर्व की ओर झुकती हुई उत्तराघार को आहुति वाणी को देता है[१४], जिसमें "इत इन्द्रो वीर्य- - - - स्विष्ट कृद देवेभ्य."[१५] मन्त्र का विनियोग किया जाता है। तदनन्तर

---

१. श. ब्रा., १.४.५.११, का. श्रौ., ३.१.१५, स. श्रौ., २.१२, वा. श्रौ., १.३.४, दर्श. पू. प., पृ. ६६
२. का. दी., पृ. ४२
३. का. श्रौ., ३.१.१६
४. वा. सं., २.७.८, मै. सं., १.१.१३,
५. श. ब्रा., १.४.५.१, स.श्रौ., २.१२, दर्श पू. प., पृ. ६६-६७,
६. भा. श्रौ., २.१३.५, नाभिदेशे य स्रुचौधारयति।
७. वा. सं., २.८, का. सं., १.१२, तै. स., १.१.१२, मै.सं., १.१.१३,
८. श. ब्रा., १.४.५.२, तै. ब्रा., ३.३.७, तै. सं. ब्रा.. २.५.११, का. श्रौ., ३.१.१६, बौ. श्रौ., ३.१७-१८, भा. श्रौ., १.१३.८-९, मा. श्रौ., १.३.१.१३, स. श्रौ., २.१२, वा. श्रौ., १.३.४.१०, वैखा. श्रौ., ६.३,
९. आप. श्रौ., २.१३.७-८, एतद् विपरीतम्।
१०. का. श्रौ., ३.१.१८, सव्यनेतादक्षिणेनुमत:। बौ. श्रौ., ३.१७-१८, हुत्वाऽमुत: सव्यनेति शालीकि:।
११. का. श्रौ., ३.१.१७-१८, परिधीपरेण सञ्चरोहोष्यत:। सव्यतेतो दक्षिणे नामुत:।
१२. वा. सं., २.८, तु. तै. सं., १.१.१२, मै. सं., १.१.१३, का. सं., १.१२,
१३. श. ब्रा., १.४.५.२, का. श्रौ., ३.१.१९,
१४. श. ब्रा., १.४.५.९-४, का. श्रौ., ३.२.१, बौ. श्रौ., ३.१७.१८, भा. श्रौ., २.१३.१०, मा. श्रौ., १.३.१.१५, स. श्रौ., ६.२.१२, वा. श्रौ., १.३.४.१४, वैखा. श्रौ., ६.३, वैता. श्रौ., १.२.१४
१५. वा. सं., २.८.९, का. सं., २.१२, तै. सं., १.१.१२, तु. मै. सं., १.१.१३,

दोनों स्रुचों को परस्पर न मिलाते हुए दक्षिण पैर से उत्तर की ओर आकर जुहूस्थ घृत को "संज्योतिषाज्योतिः"[१] मन्त्र से ध्रुवा के आज्य में एक बिन्दु आज्य को डालता है अर्थात् परस्पर मिलाता है।[२] इसे "ध्रुवा संस्कार"भी कहा जाता है।[३] घृत मिलाने का कार्य तीन बार किया जाता है।[४] ध्यातव्य है कि जुहूस्थ आज्य को ध्रुवा के आज्य में ही डालना चाहिये।

आप. श्रौ. सू. के अनुसार आहुति देते समय अध्वर्यु इस प्रकार से खड़ा होता है कि उसका दाहिना पैर वेदी के भीतर तथा बायाँ पैर बाहर रहे।[५] यदि दोषी यजमान को अल्पायु बनाने की इच्छा हो तो अध्वर्यु को चाहिये कि टेढ़ी मेढ़ी धारा गिरावे [६], या सीधी धारा गिराकर बीच में विच्छेद कर दे[७] अथवा यजमान को शत्रु का मन में ध्यान करते हुये शिथिल आहुति गिरानी चाहिये।[८] यदि वृष्टि कामना हेतु आहुति देनी है तो नाभि के नीचे स्रुचों की स्थिति होनी चाहिये।[९] शाखान्तर में यह द्वेषी के लिए कहा गया है।[१०] स्वर्ग कामी यजमान के लिए यह आधार आहुति नाभि की ऊंचाई से ऊपर की ओर स्रुचों को करके दी जाती है। यह आहुति अन्य आहुति की तुलना में वृहद होती है।[११] इस तरह आधार आहुति देने के अनन्तर अध्वर्यु दोनों स्रुचों को सूंघकर यथास्थान रख देता है।[१२]

प्रवरण कर्म

उत्तर आघार कर्म के अनन्तर प्रवरण कर्म किया जाता है। "प्र" अर्थात् विशेष प्रकार से वरण (आवाहन) को प्रवरण कर्म कहा जाता है। इस विधि में अध्वर्यु होता की प्रदक्षिणा करके उत्कर के पश्चिम में जाता है तथा पूर्वाभिमुख खड़ा होकर इध्मसन्नहन को लेकर "ओग्नाइवय "[१३] मन्त्र कहता है। इस प्रकार वह यज्ञ को आग्नीध्र के पास पहुँचा देता है, जैसा कि पहले आश्रवण - प्रत्याश्रवण - प्रसंग में बताया जा चुका है। इसके प्रत्युत्तर में प्रत्याश्रवण कर्म में उस यज्ञ को आग्नीध्र के पास पहुँचा देता है। आग्नीध्र आश्रवण के उत्तर में "अस्तु श्रौषट् [१४] "कहकर यज् को होता के पास पहुँचा देता है। तदनन्तर अध्वर्यु इध्म सन्नहन हाथ में लिये हुए ही "अग्निर्देवो दैव्यो होता - - - - मनुष्यवत् भरतवत्."इत्यादि निगद् का पाठ करता है।

१. वा. सं., २.९, का. सं., २.१२, तै. सं., १.१.१२,
२. श. ब्रा., १.४.५.५, का. श्रौ., ३.२.२, भा. श्रौ., २.१३.१५, मा. श्रौ., १.३.१.१९, स. श्रौ., २.१२, वा. श्रौ., १.३.४.१३,
३. का. श्रौ., ८.२.२, "विद्याधर शर्मा अयं ध्रुवसंस्कारः।"
४. तै. ब्रा., ३.३.७, बौ. श्रौ., ३.१७.१८, भा. श्रौ., २.१४.४, मा. श्रौ., १.३.१.१९, स. श्रौ., २.१२, वा. श्रौ., १.३.४.१४,
५. आप. श्रौ., २.१३.११.१४.१, मै. सं., १.४.१२,
६. आप. श्रौ., २.१४.२ तै. सं. २.५.११.३,
७. आप. श्रौ., २.१४.३, उर्ध्वमाचार्य विच्छिन्द्रयादेव्वयस्य
८. आप. श्रौ., २.१४.४,
९. आप. श्रौ., २.१४.५, अन्यं वृष्टिकामस्य, भा. श्रौ., २.१३.११, स. श्रौ., २.१२,
१०. आप. श्रौ., २.१४.६, दवेव्वयस्यत्येके
११. मै. सं., १.४.१२,
१२. स. श्रौ., २.१२, वा. श्रौ., १.३.४.१५, वैखा. श्रौ., ६.४,
१३. श. ब्रा., १.५.१.२, का. सं. ब्रा., १.१२, का. श्रौ., ३.२.३.४, बौ. श्रौ., २४.२८, भा. श्रौ., २.१५.४.७, म. श्रौ., १.३.१.२५, स. श्रौ., २.१२.३, वा. श्रौ., १.३.४.१८, वैखा. श्रौ., ६.४, वैता. श्रौ., १.२.१५,
१४. श. ब्रा., १.५.१.५-७, का. श्रौ., ३.२.७, भा. श्रौ., २.१५.८, मा. श्रौ., १.३.१.२६, स. श्रौ., २.१.३, वैखा. श्रौ., ६.४, वा. श्रौ., १.३.४.१८,

कतिपय याज्ञिक वेदी पर बिछाये गये कुशों को लेकर अथवा ईंधन की किसी लकड़ी के टुकड़े को लेकर अध्वर्यु आश्रवण करता है, यह मत समुस्थापित करता हैं।[१] याज्ञवल्क्य इस विधि को उचित नहीं मानते हैं। इनका कहना है कि पूर्वोक्त वस्तुयें यज्ञ की अंश नहीं है और इध्म सन्नहन यज्ञ का अंश है, क्योंकि इससे इध्म बांधा गया था। इससे लोग इध्म को बांधते हैं तथा इसीसे अग्नि का सम्मार्जन करते हैं, अतएव इध्मसन्नहन यज्ञ का रूप है, इसलिए इध्मसन्नहन को लेना यज्ञ को लेना है।[२]

तदनन्तर ऋषि परम्परा से सम्बद्ध पूर्वजों का वरण सर्वप्रथम किया जाता है।[३] इसके अन्तर्गत पिता अनुज, पौत्र का वरण क्रमशः किया जाता है।[४]

ध्यातव्य है कि यजमान के गोत्र, प्रवर का पाठ करना चाहिये, अथवा जो भी ऋषि हो उन सबका अलग-अलग से नाम लेकर उच्चारण करना चाहिये।[५]

यजमान राजा हो अथवा क्षत्रिय या वैश्य हो, उसके प्रवर के उच्चारण में तत् पुरोहितों का प्रवर - उच्चारण किया जाता है, परन्तु सभी ब्राह्मणों के लिए मनु के द्वारा बताये गये प्रवर का कथन करना चाहिये।[६] ज्ञातव्य है कि सोमयाग होने पर आग्नीध्र उक्त कर्म को स्वयं करता है।[७] इस तरह प्रवर का उच्चारण प्रत्येक याग में किया जाता है।[८] आचार्य शाङ्खायन ने द्विगोत्री व्यक्ति के लिए छह ऋषियों का उच्चारण बताया है।[९] जबकि आचार्य आपस्तम्ब ने दत्तक यजमान के दोनों पिताओं हेतु तीन या पाँच ऋषि पुकारने के के लिए निर्देश किया है।[१०] प्रवर से ऊपर ऋषियों को अध्वर्यु तथा प्राचीन से नीचे ऋषियों को होता कहा जाता है।[११]

होतृ--वरण (होता का वरण)

आर्षेय प्रवरण कर्म कर लेने के अनन्तर "ब्रह्ममन्त्र से सर्वप्रथम अध्वर्यु आर्ष होता का वरण करता है।[१२] तदनन्तर मन्त्र से असौ मानुषः", "मन्त्र से मनुष्य होता का वरण करता है।[१३] इसके बाद होता का नाम

---

१. श. ब्रा, १.५.१.३, तद्दै के। वेदे स्तीर्णायै वर्हिरभिपद्याश्रावयन्तीध्मस्य वा शकलमपच्छिद्याभिपद्या श्रावयन्तीदं वै - - - - - - — । का. श्रौ., ३.२.५.

२. श. ब्रा., १.५.१.३,

३. श. ब्रा., १.५.१.९, मै. सं. ब्रा., ३.१.११.१५, का. श. ब्रा., २.४.२.३, का. श्रौ., ३.२.८, वैता. श्रौ., १.२.१५,

४. श. ब्रा., १.५.१.१०

५. आप. श्रौ. २.१६.८, का. श्रौ., ३.२.८-९. अमुवदमुवदितियजमानर्षेयणमाभाष्याह परस्तार्दृवक्त्रिीणि यावन्तोवा मन्त्रकृतः। मा. श्रौ., १.३.१.२६, वैखा. श्रौ., ६.४, दर्श. पू. प्र वृ० ६८

६. का. श्रौ., ३.२.१०-१२. पुरोहितार्षेयेण वा क्षत्रियो वैश्ययोश्च नित्यम् मनुबदिति सर्वेषाम्, आप. श्रौ., २.१६.५ -६, आश्व. श्रौ. १.३. मान. श्रौ., १.३.१.२८,

७. आप. श्रौ., २.१५.५, आग्नीध्रे सोमे।

८. आप. श्रौ., २.१५.६,

९. शा. श्रौ., १.४.१६,

१०. आप. श्रौ., २.१६.४, पर धूर्तस्वामीभाव्य।

११. आप. श्रौ., २.१४.४, इत आहवान्ध्वर्यु वृणीतेऽमुतहेर्वीयों होता।

१२. श. ब्रा., १.५.१.११, आप. श्रौ., २.१६.६, आ. श्रौ., १.३, मा. श्रौ., १.३.१.२६, का. श्रौ., ३.२.१३, भा. श्रौ., २.१५.१२, स. श्रौ. २.२.३, वा. श्रौ., १.३.४.२१, वैखा. श्रौ. ६.५.९,

१३. श. ब्रा., १.५.१.१३, आप. श्रौ., २.१६.९, बौ. श्रौ., २४.२८, भा. श्रौ., २.१५.१३, स. श्रौ., २.२.३,

उच्च स्वर से अथवा उपांशु रूप में उच्चारण करके वरण किया जाता है।[१] होता वृत हो लेने के पश्चात् स्वस्त्ययन मन्त्र का जप करता है।[२] इस विधि में होता "एतत्वादेव - - - - - -विचर्षणिः" तक उपांशु रूप में पाठ करता है।[३] तदनन्तर "षण्मो - - - - - गोपायन्तु" मन्त्र से अध्वर्यु आग्नीध्र का स्पर्श करके अपने हृदय तथा जल का स्पर्श करता है।[४] इसके बाद होता अपने आसन के पास जाकर "निरस्तः परवसुः"मन्त्र से कुश - तृण को लेकर नैऋत्य कोंण में फेंक देता है।[५] तदनन्तर वह "इदमहमर्वा वसोः"मन्त्र से अपने आसन पर बैठ जाता है।[६]

"विश्वकर्म स्तनूपा" इत्यादि मन्त्र का उपांशु रूप में पाठ करके होता अपने आसन से थोड़ी दूर उत्तर की ओर मुख करके चलता है।[७] तदनन्तर आहवनीय तथा गार्हपत्य के मध्य में बैठकर आहवनीय अग्नि को देखता हुआ "विश्वेदवाः शास्तन."[८] मन्त्र का जप करता है।[९]

स्रुगादापन

तदनन्तर होता अपने आसन पर बैठकर "अग्नि होतायज्ञियान्" इत्यादि सुगादापन मन्त्र का पाठ करता है।[१०] इस मन्त्र का पाठ करके होता अपने यज्ञ में इन्हीं नौ प्राणों को स्थापित करता है। यही नौ प्राण नौ व्याहुतियाँ हैं।

ध्यातव्य है कि होता स्रुगादापन मन्त्र में जब "धृतवतीमध्वयो" इस मन्त्रांश का उच्च स्वर से पाठ करता है[११] तब अध्वर्यु को चाहिये कि घृत से परिपूण जुहू तथा उपभृत को लेकर हविष्यों के पूर्व और परिधि के पश्चिम मार्ग से जाकर ईशानाभिमुख खड़े होकर आश्रवण - प्रत्तयाश्रवण - निगद क्रिया को सम्पन्न करे।[१२]

---

१. का. श्रौ., ३.२.१४, उपांशु वा, व. श्रौ., १.३.४.२२,
२. श. ब्रा., १.५.१.१५, वौ. श्रौ., ३.१७,
३. श. ब्रा., १.५.१.१५-२०, वौ. श्रौ., ३.१७,
४. श. ब्रा., १.५.२.२१-२२, का. श्रौ., ३.२.१५, बौ. श्रौ., ३.१७
५. श. ब्रा., १.५.२.२३, वौ. श्रौ., ३.१७,
६. भा. श्रौ., २.१५.१४, स. श्रौ., २.२.३, वैखा. श्रौ., ६.५,
७. श. ब्रा., १.५.२.२४, बौ. श्रौ., ३.१७, स. श्रौ., २.२.३, वैखा. श्रौ., ६.५,
८. श. ब्रा., १.५.२.२५, बौ. श्रौ., ३.१७,
९. ऋ. सं., १०.५२.१,
ऋ. सं., १.५.२.२६, बौ. श्रौ. ३.१७,
१०. श. ब्रा., १.५.२.१-४, का. श्रौ., ३.२.१६, दर्श. पू. प., पृ. ७१, शा. ब्रा. ३.२.३,
११. श. ब्रा., १.५.२-५,
१२. मा. श्रौ., १.३.२.१, वा. श्रौ., १.३.२३, भा. श्रौ., २.१६.२,

आश्रवण - प्रत्याश्रवण - निगद

एक ऋत्विक् के दूसरे ऋत्विक् के प्रति यज्ञ स्वरूप की महिमा का व्याख्यान ही आश्रवण - प्रत्याश्रवण कर्म कहलाता है।[१] इस कर्म के अन्तर्गत एक आख्यान इस प्रकार है — किसी युग में यज्ञ देवताओं को छोड़ कर चला गया। लोकान्तर में पलायित उस यज्ञ को देवताओं ने बड़े निवेदन पूर्वक बुलाया, तब वे आये और तदनन्तर देवताओं ने यज्ञ को सम्पन्न किया, इस हेतु वह देवता कहलाये। अतः अध्वर्यु आग्नीध्र को बुलाता है। मानो वह यज्ञ को बुलाता है अर्थात् वाणी के द्वारा यज्ञ के सम्प्रदाय चलते हैं, अतः इसको आश्रवण - प्रत्याश्रवण कर्म कहा जाता है।[२] यह आश्रवण - प्रत्याश्रवण कर्म किसी भी देवता को आहुति देने के पूर्व किया जाता है।[३]

विधि : —

इस विधि में अध्वर्यु और आग्नीध्र सर्वप्रथम जुहू और उपभृत को लेकर उपभृत के ऊपर जुहू को रखकर वेदी के दक्षिण पार्श्व में यजति स्थान पर जाकर ईशानाभिमुख खड़े होकर आश्रवण - प्रत्याश्रवण कर्म को सम्पन्न करते हैं।[४] इस कृत्य में अध्वर्यु सर्वप्रथम आग्नीध्र के प्रति आश्रवण कहता है इसके प्रत्युत्तर में आग्नीध्र "अस्तु श्रौषट्" कहता है।[५] तदनन्तर अध्वर्यु पुनः "यज"अर्थात् (यज्ञ करो) इस शब्द को होता के प्रति कहता है।[६] होता आदिष्ट होकर "ये यजामह" अर्थात् (हम यज्ञ करते हैं) इस शब्द का तथा "वौषट्" शब्द का उच्चारण करता है।[७]

इसकी विशेषता बताते हुए श्रुति कहती है कि इस निगद में पाँच व्याहृतियाँ होती हैं। यहीं पाँच प्रकार के यज्ञ में भी होती हैं, और पाँच प्रकार के पशु, पाँच ऋतु यह यज्ञ की मात्रा, सम्पत्ति और पूर्णता हैं[८], क्योंकि इनमें सत्रह अक्षर होते हैं। प्रजापति सत्रह प्रकार के हैं और प्रजापति यज्ञ भी हैं। यह यज्ञ की मात्रा है और यज्ञ की पूर्णता ही प्रजापति है।[९] अतः वृष्टि-कामना हेतु यज्ञ करने वाला व्यक्ति दर्शपूर्णमास या और कोई यज्ञ करे।[१०]

---

१. श. ब्रा., हिन्दी विज्ञान भाष्य,
२. श. ब्रा., १.५.२.७,
३. का. श्रौ., ३.२.६, तथा सर्वत्राश्रुत - प्रत्याश्रुतेषु। तु. मा. श्रौ., १.३.१.३२-३३
४. का. श्रौ., ३.२.३,
५. श. ब्रा., १.५.२.६-७, का. श्रौ., ३.२.४,
६. श. ब्रा., १.५.२.६,
७. श. ब्रा., १.५.२.८
८. श. ब्रा., १.५.२.१६,
९. वही, १.५.२.१७
१०. वही, १.५.२.१९,

ध्यातव्य है कि आश्रवण - प्रत्याश्रवण के प्रसंग में अध्वर्यु सहित समस्त ऋत्विग् को चाहिये कि कोई अपशब्द का उच्चारण न करें।[१] अध्वर्यु आश्रवण, आग्नीध्र प्रत्याश्रवण के पश्चात् "अध्वर्यु""यज्" के अतिरिक्त तथा होता वौषट् कार के अतिरिक्त कुछ भी न बोले।[२] इसके मध्य में अन्य और कुछ बोलने पर पुनः आश्रवण-प्रत्याश्रवण करना चाहिये अथवा व्याहृतियों का जप करना चाहिये।[३] इसी तरह यज्ञ से सम्बद्ध आचार्य जब तक अपने अन्तिम मन्त्र का उच्चारण न कर ले, तब तक अप्रस्तुत वाणी का उच्चारण नहीं करना चाहिये।

"प्रयाजयाग"

"प्र" उपसर्ग पूर्वक "यज्"धातु से "घ" प्रत्यय होकर प्रयाज शब्द निष्पन्न हुआ है[४], अर्थात् विशेष रूप से यज्ञ में आहुति देने को प्रयाज कहा जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार प्रधान याग के पूर्व जो याग किया जाता है,उसे प्रयाज कहा जाता है[५]। प्रयाज याग के अनन्तर होने वाला याग अनुयाज कहलाता है। दर्शपौर्णमास में पाँच प्रयाज होते हैं[६]। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार वर्ष में होने वाली ऋतुयें ही प्रयाज की प्रतीक हैं। ये ऋतुएँ पाँच होती हैं, अतः प्रयाज भी पाँच होते हैं।[७] देव और असुर - ये दोनों प्रजापति की सन्तान हैं, परन्तु दोनों यज्ञ के प्रजापति से झगड़ने लगे कि ऋतु हमारी होगी, तब देवता पूजा करते हुए तथा पुरुषार्थ करते हुए विचरने लगे। उन्होंने विचरण करती हुई प्रजा को देखा तथा प्रजाओं के द्वारा पूजा की गई, ऋतु अर्थात् वर्ष की प्राप्त किया और राक्षसों को ऋतुओं से वंचित कर दिया। इसलिये प्रजा का नाम प्रजय हुआ अर्थात् जिसमें जय प्राप्त कर लिया हो। इसी से सम्बद्ध प्रयाज नाम हुआ।

इस प्रकार यह यजमान ऋतुओं अर्थात् संवत्सर को जीत लेता है और अपने शत्रुओं को वंचित कर देता है। यज्ञ करता है।[८] अतः प्रकृष्ट रूप से जय अर्थात् विजय के साधन होने के कारण इन्हें प्रयाज कहते हैं।

यह पहले कहा जा चुका है कि "प्रयाज" पाँच होते हैं। प्रथम प्रयाज की आहुति बसन्त, द्वितीय प्रयाज ग्रीष्म, तृतीय की वर्षा, चतुर्थ की शरद, पंचम की हेमन्त और शिशिर को आहुति दी जाती है।[९] इसकी आहुति खड़े होकर आज्य से दी जाती है[१०], और जहाँ अधिक अग्नि प्रज्ज्वलित हो वहाँ पर आहुति देनी

---

१. श. ब्रा, १.५.२.१२-१४
२. वही, १.५.२.८-११
३. आप. श्रौ., २.१६.२
४. पा. अ, ७.९.६२
५. श. ब्रा, ३.१.३.६, ऐ ब्रा, २.८.११, तै. सं., १.५.९.३, ऋ सं., १०.५१.८, वा. सं., ३.१.३.६,
६. शा. ब्रा, ३.४.५
७. श. ब्रा, १.५.३.१, ऋतवो हवै प्रयाजः। तस्मात्पञ्च प्रयाजाः भवन्ति पञ्च हयृतवः।, तु. कौ. शां. ब्रा, ३.४.५, का. श. ब्रा, २.४.४, का. सं. ब्रा, ५.१, मै. सं. ब्रा, १.४.१२ - १३,
८. श. ब्रा, १.५.३.३, ततो देवा॥ अर्चन्तः श्राम्यन्तश्चरूस्तऽएतान्प्रयाजान् द दृशुस्तैरयजन्त ते ऋतूत्संवत्सर प्राजयन्नृतुभ्यः संवत्सरात्सपना तानन्तरायस्तस्मतत्प्रजायाः, प्रजया हवै नामै तद्यप्रयाजा इति।
९. श. ब्रा, १.५.३.९.१३, स. स., ६.५५.२, अ. पै. सं., १.१०.६.१३, तै. सं., १.६.२, का. सं., ४.१४, शां. ब्रा, ३.४.५, वैता. श्रौ., १.२१६.
१०. श. ब्रा, १.५.३.४, शा. ब्रा, ३.४-५, का. श. ब्रा, २.४.४, गो. ब्रा २.४.४

चाहिये[१], परन्तु आप. श्रौ. सूत्र के अनुसार क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर तथा मध्य में आहुति देनी चाहिये।[२] अथवा एक ही स्थल पर दी जा सकती है[३]। प्रयाज की आहुति में कामनाओं का विशेष हाथ रहता है, इस हेतु जिसे अध्वर्यु चाहता है कि वह श्रेष्ठ धनवान् हो जाये, उसके प्रयाज होम के समय वह अग्नि के समीप आहुति देता है और जिसको अत्यधिक दरिद्र बनाना चाहता है, उसके लिए लौट-लौट कर आहुति देता है, परन्तु जिसे न तो धनवान्, न दरिद्र बनवाना चाहता है, उसके लिए समान रूप से खड़ा होकर आहुति देनी चाहिये।[४] अध्वर्यु आहुति देते समय यजमान को चाहिये कि जुहू के पीछे खड़ा रहे और अध्वर्यु को चाहिये कि जुहू को उपभृत के ऊपर नाभि की ऊंचाई के बराबर रखकर आहुति दे, परन्तु जुहू तथा उपभृत का स्पर्श नहीं होना चाहिये।[५]

प्रयाजयाग की विधि

प्रथम प्रयाज : —

इसमें समिधा की आहुति दी जाती हैं।[६] इस विधि में सर्वप्रथम अध्वर्यु पूर्व कथित नियम के अनुसार जुहू तथा उपभृत को लेकर ईशान कोण में खड़ा होता है।[७] तदनन्तर आग्नीध्र के साथ आश्रवण - प्रत्याश्रवण कर्म को सम्पन्न करता है। जिसकी विधि पहले बतायी जा चुकी है। तदनन्तर अध्वर्यु होता को "समिधोयज"ऐसा कहकर आदेश देता है कि हे होता! समिधा को अग्नि में डालने के लिए याज्या का पाठ करो।[८] होता आदिष्ट होकर "ये यजामहे समिद्व यन्तु बौषट्"[९] इस मन्त्र का पाठ करता है।

होता जब बौषट् शब्द का उच्चारण करता है तब अध्वर्यु जुहू को नीचे उतार कर जुहू के तृतीयांश घृत की आहुति देता है[१०]। इधर यजमान "इदं समिदभ्यो न मम"मन्त्र का पाठ करता तथा "एको ममैका तस्य योस्मान्द्वेष्टि" इस मन्त्र का उच्चारण करता है।[११] तदनन्तर अपना हाथ प्रक्षालित करके हृदय का स्पर्श करता है।[१२]

---

१. श. ब्रा., १.५.३.६ - ७,
२. आप. श्रौ., २.१७.२, स. श्रौ., २.६, वैखा. श्रौ., ६.७,
३. आप. श्रौ., २.१७.३,
४. आप. श्रौ., २.१७.५
५. श. ब्रा., १.५.३.१८-१९, का. श्रौ., ३.२.१,
६. द. पू. प., पृ. ७१
७. श. ब्रा., १.५.४.१, स वै समिधोयजति, तै. सं. ब्रा., २.६.१.२, शा. ब्रा., ३.४.५, का. श. ब्रा., २.४.४, आप. श्रौ., २.५.४, स. श्रौ., २.६, वा. श्रौ., १.३.४.२४, भा. श्रौ., २.१६.२, वैखा. श्रौ., ६.७, मा. श्रौ., १.३.२.२,
८. श. ब्रा., १.५.३.८, तै. सं. ब्रा., २.६.१.२, का. श्रौ., ३.२.१७, भा. श्रौ., २.१६.२, वैखा. श्रौ., ६.७, बौ. श्रौ., १.१६.३.१८, आप. श्रौ., २.५.४,
९. श. ब्रा., १.५.३.९, तै. ब्रा., ३.५.५-६, शा. ब्रा., ३.४.५, स. श्रौ., २.६,
१०. बौ. श्रौ., १.१६.३.१८, वा. श्रौ., १.३.४.२४, भा. श्रौ., २.१६.२,
११. श. ब्रा., १.५.४.१२, का. श्रौ., ३.२.१
१२. दर्श. पू. प., पृ. ७२

द्वितीय प्रयाज : —

इसको तनूनपातयज्ञ कहा जाता है।[१] इस याग की विधि में पूर्ववत् अध्वर्यु आग्नीध्र आश्रवण-प्रत्याश्रवण करता हैं तदनन्तर अध्वर्यु होता को आदेश देता है कि वह द्वितीय प्रयाज हेतु मन्त्र का उच्चारण करे[२], होता पूर्ववत् आदिष्ट होकर "ये यजामहे न पादाग्न आज्यस्यवेतु बौषट्" मन्त्र का पाठ करता है।[३] वह पहले की भाँति जब बौषट् शब्द का : ारण करता है, तब अध्वर्यु जुहू को पूर्व की ओर झुकाकर आह्वनीय अग्नि में, जुहू में स्थित आज्य की आधी आहुति दे देता है।[४] तदनन्तर पूर्ववत् यजमान " इदं तनून पाते नमम " इस शब्द का उच्चारण करके "द्यौमम ——भूयासम" मन्त्र का पाठ करता है।[५]

तृतीय प्रयाज : —

इसको इडा यज्ञ कहा जाता है।[६] इस याग की विधि में भी अध्वर्यु पूर्ववत् आश्रवण - प्रत्याश्रवण कृत्य को करके पूर्ववत् हे ा को आदेश देता है कि वह तृतीय प्रयाज हेतु मन्त्र को बोले।[७] होता आदिष्ट होकर "इडो अग्नआज्यस्यग्यन्तु बौषट्" इस मन्त्र का पाठ करता है।[८] जब वह बौषट् शब्द का उच्चारण करता है, तब अध्वर्यु जुहू में स्थित आज्य की आहुति दे देता है।[९] तदनन्तर यजमान कहता है कि यह आहुति इडा की है मेरी नहीं। पुनः "त ोमम तिरुस्तस्य योस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः" यशस्वी भूयासम" इस मन्त्र का पाठ करता है।[१०]

चतुर्थ प्रयाज : —

इस प्रयाज याग को बहिर्यज्ञ कहा जाता है।[११] इस याग की विधि में अध्वर्यु सर्वप्रथम उपभृत से जुहू में आज्य लेता है।[१२] तदनन्तर पूर्ववत् आश्रवण - प्रत्याश्रवण कृत्य को करके अध्वर्यु होता को आदेश देता

---

१. श. ब्रा, १.५.४.१०.२, तै. सं. ब्रा, २.६.१-२, शा. ब्रा, ३.४.५, स. श्रौ., २.६, भा. श्रौ., २.१६.७
२. श. ब्रा, १.५.३.८, का. श्रौ., २.१८,
३. श. ब्रा, १.५.४.२, का. श्रौ., ३.२.२१, वा. श्रौ., १.३.४.२४, बौ. श्रौ., १.१६.३.१८,
४. दर्श. पू. य., पृ. ७२
५. श. ब्रा, १.५.४.१३, का. श्रौ., ३.२.३,
६. श. ब्रा, १.५.३.११.४.३, शा. ब्रा, ३.४.५, स. श्रौ., २.६, भा. श्रौ., २.१६.१, वैखा. श्रौ., ६.७,
७. श. ब्रा, १.५.३.८, दर्श. पौ. प., पृ. ७३
८. श. ब्रा, १.५.४.३
९. वैखा. श्रौ., ६.७, दर्श. पौ. प., पृ.७३
१०. श. ब्रा, १.५.४.१४, का. श्रौ., ३.३.३,
११. श. ब्रा, १.५.४.४, तै. सं. ब्रा, १.६.१-२, शा. ब्रा, ३.४-५, स. श्रौ., २.६, भा. श्रौ., २.१६.७,
१२. श. ब्रा, १.५.३.८, दर्श. पौ. प., पृ. ७३

है कि हे होता! चतुर्थ प्रयाज हेतु मन्त्र का उच्चारण करो,[१] होता आदिष्ट होकर "ये यजामहे बर्हिरग्न आज्यस्य वे तु बौषट्"मन्त्र का पाठ करता है।[२]

ज्यों ही बौषट् शब्द का उच्चारण करता है त्यों हि अध्वर्यु जुहू को नीचे उतार कर जुहू में स्थित आधी आज्य की आहुति देता है।[३] इधर यजमान यह बर्हि का है मेरा नहीं[४], इस तरह कहकर "चत्वारो मम च तैस्तस्तस्य योस्मान्———। ब्रह्म वर्चसी भूयासम" मन्त्र का पाठ करता है।[५]

पंचम प्रयाज : —

इस प्रयाज को स्वाहा यज्ञ कहा जाता है।[६] इस प्रयाज याग में पूर्ववत् अध्वर्यु तथा आग्नीध्र आश्रवण-प्रत्याश्रवण कृत्य करते हैं। तदनन्तर अध्वर्यु होता को आदेश देता है कि पंचम प्रयाज हेतु मन्त्र बोले।[७] होता आदिष्ट होकर "ये यजामहे स्वाहाग्नि—-बौषट्" मन्त्र का पाठ करता है।[८] वह जब बौषट् शब्द का उच्चारण करता है तब अध्वर्यु जुहू को उतार कर जुहू में स्थित समस्त आज्य को आह्वनीय अग्नि में डाल देता है।[९] इधर यजमान "इदमग्नये, सोमाग्नये"इत्यादि वाक्य को बोलकर "पंचम मनतस्य किञ्चन- - - - - - -।"इस मन्त्र का पाठ करता है।[१०]

ध्यातव्य है कि प्रयाज आहुति के समय यजमान के साथ कोई दुष्ट व्यवहार न करे, यदि कोई दुष्ट व्यवहार करता है तो वह अन्धा और बहरा हो जाता है।[११] यदि मध्य में कोई दुष्ट व्यवहार करता है तो वह प्रजाहीन और पशुहीन हो जाता है[१२], और बाद में कोई दुष्ट व्यवहार करें तो वह प्रतिष्टाहीन होकर शीघ्र परलोक को गमन करता है[१३]।

---

१. श. ब्रा, १.५.३.८,
२. श. ब्रा, १.५.४.४, तै. ब्रा, ३.५.५-६,
३. भा. श्रौ., २.१६.९,
४. दर्श. पौ. प, पृ. ७४, "इदंवर्हिषेनमम"
५. श. ब्रा, १.५.४.१५, का. श्रौ., ३.३.३,
६. श. ब्रा, १.५.४.५, तै. सं. ब्रा, २.६.१-२, शा. ब्रा,३.४-५, स. श्रौ., २.६, वैखा. श्रौ., ६.७,
७. श. ब्रा, १.५.३.८,
८. श. ब्रा, १.५.४.५, तै. ब्रा, ३.५.५-६,
९. भा. श्रौ., २.१६.९, दर्श. पौ. प, पृ. ७४
१०. श. प. ब्रा, १.५.४.१६, का. श्रौ., ३.३.३,
११. श. ब्रा, १.६.१.१६,
१२. वही, १.६.१.१७,
१३. वही, १.६.१.१८,

आज्यभाग होम

प्रयाज याग के अनन्तर अग्नि तथा सोम देवता के लिए आज्य की आहुति अलग-अलग दी जाती है, अतः इसको आज्यभाग होम कहा जाता है[१] और इसमें मन्त्र का उच्चारण उपांशु रूप में किया जाता है।[२]

इस विधि में अध्वर्यु प्रयाजों का यजन करने के पश्चात् हवि के समीप पहुँचता है। ध्यातव्य है कि अध्वर्यु के समीप जाते समय सबसे पहले अपने दक्षिण पैर को आगे बढ़ाता है, और वहाँ पर बैठ जाता है।[३] तदनन्तर प्रयाज आहुतियों से बचे हुए जुहू के आज्य से ध्रुवा, आज्यस्थाली, पुरोडाश हवि तथा उपभृत का अभिधारण करता है।[४] अभिधारण का अर्थ तत्-तत् स्थलों में आज्य को चुहाना। तत्पश्चात् वहाँ बैठा हुआ अध्वर्यु अग्नि देवता के लिए पुनरोवाक्या (आह्वान) मन्त्र पढ़ने हेतु होता को प्रैष देता है - - - - "तुम अग्नि के लिए पुरोनुवाक्या का पाठ करो"[५], होता "अग्नि वृत्राणि - - - - शुक्रो आहुतो ऽम"आदि मन्त्र का पाठ करता है।[६]

प्रैष के अनन्तर ध्रुवा में निहित आज्य को स्रुव् से निकाल कर जुहू नामक स्रुचि में डालता है। आज्य ग्रहण की क्रिया चार बार करना आवश्यक है।[७] इस क्रिया में किसी मन्त्र के विनियोग का विधान नहीं है, परन्तु जमदग्नी गोत्री यजमान के लिए पाँच बार आज्य लिया जाता है।[८] यहाँ पर याज्ञिक चार बार, पाँच बार या छः बार आज्य ले सकता है।[९] अध्वर्यु आज्य स्थाली से स्रुव् के द्वारा आज्य लेता है तथा ध्रुवा का अभिधारण करता है।[१०] वस्तुतः ध्रुवा से जो आज्य उसने निकाला है उसी की पूर्ति करता है। ध्रुवा के अभिधारण के समय "ओम आप्यायताम" ध्रुवा मन्त्र का पाठ करता है।[११] तदनन्तर अध्वर्यु वहाँ से आहुति डालने के लिए आह्वनीय अग्नि के पास जाता है। आज्य को लेकर चलते समय वह सबसे पहले अपना बायाँ पैर आगे बढ़ाता है।[१२] तदनन्तर वह वेदी की दक्षिण ओर पहुँचता है तथा आग्नीध्र से आश्रवण - प्रत्याश्रवण संवाद करता है।[१३] तदनन्तर अध्वर्यु होता को अग्नि विषयक याज्यामन्त्र को पढ़ने का प्रैष देता है "अग्नियज"- - - - हे होता! अग्नि के लिए याज्या पढ़ो?[१४] होता "ये यजामहेऽग्नि जुपाणोऽग्निराज्यस्यवेतु बौषट्" मन्त्र का उच्चारण करता है।[१५]

---

१. श. ब्रा., १.६.३, तै. सं. ब्रा., २.६.१-२, मै. सं. ब्रा., १.४.१२-१३, गो. ब्रा., १.३.७-१०, शा. ब्रा., ३.४-५, का. श्रौ., ३.१०, आ. सं., ६.५३.२, वै. श्रौ., १.२.१७, मा. श्रौ., ३.२.६,
२. श. ब्रा., १.६.३, का. श. वा., १३.४.२,
३. दर्श. पौ. प., पृ. ७५,
४. श. ब्रा., १.५.३.२५, तै. सं. ब्रा., २.६.१-२, का. श्रौ., ३.३.९,
५. दर्श. पौ. प., पृ. ७५
६. ऋ. सं. , ६.१६.३४
७. का. श्रौ., ३.३.११, मा. श्रौ., २.१६.१५, आप. श्रौ., २.६.१,
८. आप. श्रौ., २.६.२, जमदग्नयोः पञ्चवातनो भवन्ति। भा. श्रौ., २.१७.८, मा. श्रौ., १.३.२.५, दर्श. पौ. प., पृ. ७५
९. का. श्रौ. (विद्याधर टीका) , पृ० १११, भा. श्रौ. , २.१७.७,
१०. का. श्रौ., ३.३.१२
११. वही, ३.३.१२
१२. दर्श. पौ. प., पृ. ७५
१३. का. श्रौ., ३.३.१३, भा. श्रौ., २.१६.१४, दर्श. पौ. प., पृ. ७५
१४. का. श्रौ., ३.३.१५, भा. श्रौ., २.१६.१५, मा. श्रौ., २.६.३, आप. श्रौ., २.६.१,
१५. शा. ब्रा., ३.४-५

अध्वर्यु "बौषट्"उच्चारण के साथ अथवा उच्चारण के सद्यः अनन्तर जुहू में स्थित आज्य को अग्नि में डाल देता है।[१] यह आहुति अग्नि के उत्तर पूर्वार्ध में दी जाती है[२], परन्तु याज्ञवल्क्य के मत से जहाँ अत्यधिक अग्नि प्रज्ज्वलित हो वहीं पर आहुति देनी चाहिए।[३] आहुति देने के बाद यजमान कहता है कि - - - -यह आहुति अग्नि के लिए दी जा रही है इसमें मेरा कुछ नहीं है।[४]

सोमाज्य आहुति : —

सोम के लिए आहुति देने की प्रक्रिया इस प्रकार है। पूर्ववत् होता आदिष्ट होकर सर्वप्रथम सोम के लिए "त्वं सोमासि - - - – - क्रतो३म" पुरोनुवाक्या मन्त्र का पाठ करता है।[५] इस याग में ये यजामहे सोमं जुषाणः सोम आज्यस्यहर्विषावेतु३बौषट्"मन्त्र का याज्या में विनियोग है।[६]

शेष सारी प्रक्रिया आग्नेय उपांशु याग की तरह होती है और इसकी आहुति अग्नि के दक्षिण भाग में दी जाती है।[७] इस तरह दर्शयाग में भी आज्यभाग का होम पौर्णमास याग - विधि के अनुसार दी जाती है, परन्तु मन्त्र के विनियोग में भिन्नता प्रतीत होती है। अग्नि के लिए "अग्नि प्रत्नेनमन्मना[८]" मन्त्र का विनियोग होता है और सोम के लिए "सोमगोर्भिष्ट्वा[९]" मन्त्र का विनियोग किया गया है।



---

१. का. श्रौ., ३.३.१६, भा. श्रौ., २.१६.१६, वैखा. श्रौ., ६.७,

२. श. ब्रा., १.६.३, तै. सं. ब्रा., २.६.१-२, मै. सं. ब्रा., १.४.१२-१३, का. श्रौ., ३.३.२०, स. श्रौ., २.६, वा. श्रौ., १.३.४.२८, भा. श्रौ., २.१६.१७, वैखा. श्रौ., ६.७, मा. श्रौ., १.३.२.६, आप. श्रौ., २.६.६,

३. श. ब्रा., १.६.३.३९, तु. का. श. ब्रा., १३.४.२, तु. का. श्रौ., ८.३.२२, तु. आप. श्रौ., २.६.६,

४. दर्श. पौ. प., पृ. ७५

५. ऋ सं., १.१९.५,

६. श. ब्रा., १.६.३.२९,

७. तै. सं. ब्रा., २.६.१-२, मै. सं. ब्रा., १.४.१२-१३, दर्श पौ. प., पृ. ७५, स. श्रौ., २.६, का. श्रौ., ३.३.२२, वा. श्रौ., १.३.४.२८, भा. श्रौ., २.१७.१३, मा. श्रौ., १.३.२.६, आप. श्रौ., २.६.५,

८. ऋ सं., ८.४४.१२

९. वही, १ . १९ . ११

चतुर्थ-अध्याय

दर्शपौर्णमास याग से सम्बद्ध प्रधान अनुष्ठान

चतुर्थ अध्याय

दर्शपौर्णमास याग से सम्बद्ध प्रधान अनुष्ठान

प्रधान याग

फल के उद्देश्य से विहित जब देवता को आहुति दी जाती है, तो उसे प्रधान याग कहा जाता है।[१] पौर्णमास इष्टि में मुख्यतया दो देवता होते हैं, अग्नि तथा सोम, और इसके तीन प्रधान याग होते हैं जो इस प्रकार हैं ———

(१) अग्नि देवता के लिए अष्ट कपाल पुरोडाश याग।

(२) अग्नि तथा सोम के लिए एकादश कपाल पुरोडाश याग।

(३) अग्नि तथा सोम के लिए आज्य का उपांशु याग।

इस याग को आग्नेय अष्ट कपाल के बाद तथा अग्निषोमीय एकादश कपाल पुरोडाश याग के पूर्व किया जाता है।[२]

पौर्णमास इष्टि में प्रधान याग की विधि

यह पहले बताया जा चुका है कि पौर्णमास इष्टि में सर्वप्रथम अग्नि के लिए अष्टकपाल पुरोडाश याग दिया जाता है। अतः उसकी विधि के बारे में सर्वप्रथम बताना उचित प्रतीत होता है।

अग्नि देवता के लिए अष्टकपाल पुरोडाश याग : ——

इस विधि में अध्वर्यु सर्वप्रथम अपने दक्षिण पैर को आगे बढ़ाते हुए पुरोडाश रखे गये स्थान पर आता है।[३]

---

१. का. श्रौ. भू. पृ. ३५ । अच्युत । फलोद्देशेन विहिता देवता प्रधान देवता। स्तस्यइदं यागः प्रधान यागः। तु. वै. को., पृ. ३९५,

२. श. ब्रा. १.६.१.४, का. श्रौ. भू. पृ. ३५, अच्युत, तु. वै. को., पृ. ३९३, वैता. श्रौ., १-३.१.३, यज्ञ मधुसूदन, पृ. २४, श्री मधुसूदन शर्मा, गंगा फाइन आर्ट प्रेस लखनऊ।

३. का. श्रौ., बेवर, पृ. २५४

तदनन्तर अध्वर्यु होता को अग्नि के लिए पुनरोवाक्या पाठ करने के लिए प्रैष देता है।[१] होता आदिष्ट होकर "अग्निमूर्द्धाः दिवः"[२] इस मन्त्र का पाठ करता है। ध्यातव्य है कि अनुवाक्य लड़खड़ाती वाणी में बोला जाता है।[३] प्रैष के उच्चारण के अनन्तर अध्वर्यु आज्य स्थाली से स्रुव के द्वारा एक बार घृत जुहू में डालता है।[४] तदनन्तर शृतावदान के द्वारा पुरोडाश को पूर्वार्ध सें अंगुष्ठ के पर्वमात्र लम्बे दो टुकड़े को निकालकर जुहू के ऊपर रखकर, उसके ऊपर घी को गिराता है। इसी को चतुरवती कहा जाता है।[५]

ध्यातव्य है कि पुरोडाश के पूर्वार्ध भाग से दूसरा अवदान चतुवर्तियों के लिए लेना चाहिये तथा पंच वर्तियों हेतु तृतीय अवदान पुरोडाश के पश्चात् भाग से लिया जाता है[६], परन्तु याज्ञवल्क्य इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि पंचवर्त्तियों के पक्ष में उसके सन्तान और पशु अधिक होते हैं।

आचार्य बौधायन के अनुसार सर्वप्रथम अग्नि के लिए पूर्व भाग से तथा अन्य देवताओं के लिए क्रमशः परिक्रमा करके पुरोडाश लेना चाहिए।[७] आचार्य औपमन्यव के अनुसार पंचवर्त्तियों के पक्ष में पुरोडाश का अवदान, पुरोडाश के मध्य से, तदनन्तर पूर्व से, तदनन्तर पश्चिम से लिया जाता है।[८] ध्यातव्य है कि पुरोडाश का अवदान इस प्रकार से लिया जाता है जिससे वह कटने तथा फूटने न पाये और अवदान उसके औसत भाग दो अंगुलियों तथा अंगूठे के सहारे लिये जाते हैं।[९] पुरोडाश का अवदान बराबर होना चाहिये। मात्रा से अधिक होने पर वह यजमान ऋद्धि शून्य हो जायेगा ऐसा याज्ञवल्क्य का मत है।[१०] आचार्य आपस्तम्ब के अनुसार अल्प तेज वाला ऐसा व्यक्ति जो समान जातियों का अनुगामी हो यजमान के पुरोडाश के पूर्वार्ध भाग से प्रथम अवदान लेकर स्रुव जुहू के पूर्वार्ध में रखे।[११] ज्येष्ठ पत्नी के ज्येष्ठ पुत्र के लिए अथवा गत श्री यजमान के लिए पुरोडाश के पूर्वी भाग से प्रथम अवदान लिया जाता है[१२], परन्तु कनिष्ठ पत्नी के कनिष्ठ पुत्र अथवा अनुज वर अथवा ऐश्वर्य प्राप्तिकामी यजमान के लिए पुरोडाश के पश्चिम भाग से अवदान लेने का विधान है।[१३]

कामनापूर्ण के लिए पुरोहित पुरोडाश के पूर्वार्ध भाग से प्रथम अवदान लेकर स्रुव् के पूर्वार्ध भाग में रखें।[१४] इसी तरह विधि पूर्वक पुरोडाश के अवदान को लेकर जुहू के ऊपर रखकर उसके ऊपर आज्य को

---

१. तै. सं. ब्रा., २.६.२, तु. श. ब्रा., १.७.२.३, स. श्रौ., २.२.६,

२. ऋ सं., ८.४४.१६, तै. ब्रा., ३.५.७, गो. ब्रा., १.३.९, मा. श्रौ., ७.२.२

३. श. ब्रा., १.७.२.११

४. का. श्रौ., वेबर, पृ. २५४, श. ब्रा., १.७.२.१०, तु. मा. श्रौ., ३.२.२.११, स. श्रौ., २.२.६, (महादेव वैजयन्ती व्याख्या), भा. श्रौ., २.१७.६,

५. का. श्रौ., वेबर, पृ. २५४, मै. सं. ब्रा., १.५.१२, तै. सं. ब्रा., २.६.६, आप. श्रौ., २.६.९, बौ. श्रौ., १.१६-१७.३.१८, स. श्रौ., २.२.६, भा. श्रौ., २.१७.७, ११, वा. श्रौ., १.३.४.२७, वैखा. श्रौ., ६.८,

६. श. ब्रा., १.७.२.७, आप. श्रौ., २.६.९, बौ. क. सू., २४-२८, मा. श्रौ., १.२.२.११, स. श्रौ., २.२.६, भा. श्रौ., २.१७.८.१०, वैखा. श्रौ., ६.८,

७. बौ. श्रौ., २.१६-१७, ३.१८.१७.४७, २०.२३, बौधायनः पूर्वार्धदिवाऽग्रेप्रथम मुख्यस्य- हविषोऽवधेदथाऽपराधात्। एवमस्य प्रदक्षिणं हविषां आवर्त भवतीति।

८. बौ. श्रौ., २.१६-१७, ३.१८, मध्यात् पूर्वार्धात् पश्चातात् पञ्चवर्त्तिनामित्यौपवन्यवः॥

९. आप. श्रौ., २.१८.१०,

१०. श. ब्रा., १.७.२.९,

११. आप. श्रौ., २.१९.२,

१२. आप. श्रौ., २.१९.२,

१३. आप. श्रौ., २.१९.३,

१४. आप. श्रौ., २.१९.४

गिराता है तथा पुरोडाश के कटे स्थल पर भी आज्य को गिराता है। इस क्रिया में किसी मन्त्र की विनियोग विधान नहीं है।[१] तदनन्तर अध्वर्यु उस स्थान से आहवनीय अग्नि के पास आहुति डालने के लिए जाता है। ध्यातव्य है कि पुरोडाश हवि को लेकर चलते समय सबसे पहले अपना बायाँ पैर आगे बढ़ा कर जाना चाहिए।[२] तदनन्तर अध्वर्यु और आग्नीध्र प्रत्याश्रवण करते हैं। इसके बाद अध्वर्यु होता को आग्नेय अष्टकपाल पुरोडाश याग हेतु याज्या पढ़ने का आदेश देता है —"अग्निंयज"[३]। होता आदेशित होकर "ये यजामहे ——अग्नि भुवो यज्ञस्य"——हव्यवाहाँ वौषट्" इस याज्या का पाठ करता है।[४] ध्यातव्य है कि याज्या को शीघ्रता से पढ़ना चाहिये।[५] अध्वर्यु बौषट् उच्चारण के सद्यः अनन्तर जुहू में स्थित पुरोडाश को आहवनीय अग्नि में डाल देता है।[६]

यह पहले बताया जा चुका है कि यह आहुति उत्तर पूर्वार्ध में दी जाती है।[७] परन्तु याज्ञवल्क्य के अनुसार जहाँ अत्यधिक अग्नि प्रज्जवलित हो वहीं पर आहुति देनी चाहिये।[८] इस तरह आहुति देने के बाद यजमान कहता है कि "यह आहुति अग्नि के लिए दी जा रही है इसमें मेरा कुछ नहीं है।[९]" ध्यातव्य है कि याज्या मन्त्र पाठ करते समय अन्तिम शब्द को उच्च स्वर से पाठ करके बौपट् शब्द का उच्चारण करना चाहिये।[१०] परन्तु होता जिसका शीघ्र मरण चाहे उसके बौषट्कार के समय याज्या का उच्च स्वर में पाठ करके बौषट्कार का उच्चारण मन्द स्वर से करता है[११], और जिसे दरिद्र बनाना है उसके बषट्कार का उच्चारण अत्यधिक मन्द स्वर से तथा जिसे धनी बनाने की इच्छा हो उसके लिए बपट्कार का उच्चारण उच्च स्वर से किया जाता है। इसी प्रकार जिस न दरिद्र बनाना है, न तो धनी बनाना है, उसके लिए बषट्कार का उच्चारण मन्द स्वर से करना चाहिये। स्वर्गकामी यजमान के लिए बषट्कार का उच्चारण क्रोंच पक्षी की भाँति उच्च स्वर में किया जाता है।[१२] स्वर्गकामी यजमान के लिए जिस देवता का यजन किया जाता है, बषट्कार के उच्चारण से पूर्व उसका मन में ध्यान करना चाहिये।[१३] होता बषट्कार का उच्चारण कर लेने के अनन्तर पुनः निःश्वास लेता है।[१४] जिसके प्रति द्वेष हो, उसके लिए बषट्कार के उच्चारण में "आँघड़ ओपति" के रूप किया जा सकता है।[१५]

---

१. श. ब्रा., १.७.२.१०, भा. श्रौ., २.१७.१२,

२. दर्श. पू. प., पृ० ७७, आप. श्रौ., इष्टि होडा कल्प, ४. ३.१०, बौ. श्रौ. १.१६-१७, ३.१८ मा. श्रौ., १.२.२. १२-१३,

३. का. श्रौ., वेबर, पृ. २५४, दर्श. पू. प, पृ. ७७, तै. सं. ब्रा., २.६.२, तु. श. ब्रा., १.७.२-३, तै. सं. ब्रा., २.६.२, मा. श्रौ., १.२.२ १४-१५, भा. श्रौ., २.१७.९.१३, वैखा. श्रौ., ६.८,

४. ऋसं., १०.८.६

५. श. ब्रा., १.७.२.१७,

६. दर्श. पौ. प. पृ. ७७, तु. आप. श्रौ., २.१९.६, तै. सं. ब्रा., २.६.२, गो. ब्रा., १.३.९, श. ब्रा., १.७.२-३, का. श. ब्रा., ४.२.७.१, मा. श्रौ., १.२.२.१६, स. श्रौ., २.२.६ (महादेव वैजयन्ती व्याख्या),

७. श. ब्रा., १.६.३.३९, का. श्रौ., ३.३.२०, वा. श्रौ., १.३.४.२८,

८. श. ब्रा., १.६.३.३९, का. श्रौ., ३.३.२१-२२, समिद्धतमेवा, हविष्यां,

९. दर्श. पू. पः पृ. ७७

१०. आप. श्रौ., इ. हौ. क., ४.१४.४,

११. आप. श्रौ., इ. हौ. क., ४.१४.५

१२. आप. श्रौ., इ. हौ. कल्प, ४.१४.५,

१३. आप. श्रौ., इ. हौ. कल्प, ४.१९.७,

१४. ,, वही , ४.१९.८,

१५. ,, वही , ४.१९.१०,

अग्निषोमीय उपांशुयाग : —

दर्श पौर्णमास इष्टि में समान रूप से उपांशु याग किया जाता है। इस उपांशु याग के देवता क्रमशः अग्नि तथा सोम हैं तथा इसकी हवि आज्य है।[१] आहुति देते समय मन्त्रों का विनियोग उपांशु रूप में किया जाता है, इसलिए इसका नाम उपांशु याग है।[२] इसे उपांशुयाग कहना इसलिए आवश्यक है, क्योंकि पौर्णमास इष्टि में अग्नि तथा सोम देवता के लिए भी पुरोडाश का निर्माण किया जाता है। वह पौर्णमास याग की प्रधान हवि है। इस अग्निषोमीय पुरोडाश याग से वैलक्षण्य दिखाने के लिए याज्ञिक परम्पराओं में इसे अग्निषोमीय उपांशुयाग का अभिधान मिला है। उपांशु याग का विधान अग्नेय अष्टकपाल पुरोडाश याग के अनन्तर किया जाता है।[३]

विधि : —

इस विधि में अध्वर्यु दक्षिण पाद को आगे बढ़ाकर हवि के समीप आकर "अग्निषोमाभ्यां" इस वाक्य का उपांशु रूप में उच्चारण करके अनुवाक्या पढ़ने हेतु होता को आदेश देता है।[४] होता आदेशित होकर अग्नीषोमा ——————इत्यादि मन्त्र का उपांशु उच्चारण करके "ओम्" शब्द का उच्च स्वर से पाठ करता है।[५]

तदनन्तर अध्वर्यु आज्य भाग आहुति की भांति " आप्यतायताम् मन्त्र " से स्रुव के द्वारा चार बार घृत लेकर यजति स्थान को आता है, इसके बाद अध्वर्यु आग्नीध्र आश्रवण-प्रत्याश्रवण कृत्य को करके अध्वर्यु होता को अग्नीषोमीय उपांशु याग हेतु याज्या पढ़ने हेतु आदेश देता है, अग्नीषोमीय यज अर्थात् हे होता अग्नि तथा सोम के लिए याज्या पढ़ो, होता आदेशित होकर " अग्नीषोमाज्यस्य वीतां इस मन्त्रांश का उपांशु उच्चारण करके वौषट् का उच्चारण उच्च स्वर से करता है। वह पूर्ववत् वौषट् कार के उच्चारण के सद्यः अनन्तर जुहू में स्थित आज्य को अग्नि में डाल देता है। आहुति में अनन्तर यजमान कहता है कि यह आहुति अग्नि तथा सोम के लिए दी जा रही है इसमें मेरा कुछ नहीं है। पौर्णमास इष्टि के अन्तर्गत एकादश कपाल पुरोडाश याग तृतीय याग कहलाता है। इसके कपाल रखने की प्रक्रिया और पुरोडाश अधिश्रयण की प्रक्रिया पहले बताया जा चुका है।

---

१. शां. ब्रा., ३.६, का. सं. ब्रा., ३२.१, श. ब्रा., १.६.३.१९, आप. श्रौ., ६.२०.१२, मा. श्रौ., १.२.२.१७, भा. श्रौ., २.१८.९, वा. श्रौ., १.३.४.३०, आप. श्रौ., २.६.१२, का. श्रौ. भू., पृ. ३५ वै. को., पृ. ३९३,

२. तु. वौ. श्रौ., १.१६.३.१७-१८, उपांशुयाजस्य करणइति, शां. ब्रा., ३.६,

३. वैता. श्रौ., पृ. १२, (विश्वबन्धु सम्पादित)

४. दर्श. पौ. प., पृ. ७७, भा. श्रौ., २.१८.३, आ. द. प्र., पृ. ५४७

५. दर्श. पौ. प., पृ. ७७,

अग्निषोमीय एकादश कपाल पुरोडाश याग की विधि : —

इस याग की विधि में भी अध्वर्यु पहले के समान होता को अग्निसोम के लिए, पुनरोवाक्या मन्त्र बोलने हेतु आदेश देता है।[१] होता आदिष्ट होकर "अग्निषोमो से वेदसा"इस पुरोनुवाक्या मन्त्र का पाठ करता है।[२] प्रैष के अनन्तर अध्वर्यु पूर्ववत् आज्यस्थाली से स्रुव के द्वारा एक बार आज्य लेकर जुहू में डालता है। तदनन्तर वह पहले की भाँति पुरोडाश का अवदान दो टुकड़ों में लेकर जुहू के ऊपर रखता है। उसके ऊपर पुनः वह एक बार आज्य डालकर पुरोडाश के अवदान के स्थल में भी आज्य को डालता है।[३]

तदनन्तर अध्वर्यु पूर्ववत् आग्नीध्र आश्रवण-प्रत्याश्रवण करके अध्वर्यु होता को "अग्निषोमीय"देवता के लिए याज्या पढ़ने हेतु आदेश देता है कि हे होता ! अग्निषोम के लिए याज्या मन्त्र का पाठ करो[४]। होता आदिष्ट होकर "ये यजामहे अग्निषोमो - - - - - - -गृभीतान् - वौषट्" मन्त्र का पाठ करता है।[५] पूर्व कथित वौषट् उच्चारण के सद्यः अनन्तर अथवा साथ ही वह जुहू में स्थित पुरोडाश के अग्नि में आहुति देता है।[६] आहुति देने के बाद यजमान कहता है कि "यह आहुति"अग्निषोम" के लिए दी जा रही है, इसमें मेरा कुछ नहीं है।[७]

दर्श इष्टि में प्रधान याग

पौर्णमास इष्टि की भाँति दर्श इष्टि में भी दो देवता को आहुति दी जाती है, जो अग्नि तथा इन्द्र हैं।

सान्नाय्य इष्टि के देवता अग्नि, इन्द्र, सोम तथा विकल्प में विष्णु देवता है दर्श इष्टि को दो भागों में जाना जाता है —(१) सान्नाय्य इष्टि, (२) अ सान्नाय्य इष्टि।

जिसकी हवि पौर्णमास इष्टि की भाँति अग्नि के लिए अष्ट कपाल पुरोडाश याग, तथा

अग्निषोमीय उपांशु याग, अथवा विष्णु देवताक उपांशुयाग में घृत की आहुति दिया जाता है।

परन्तु इन्द्र के लिए दधि,पय,द्रव्यक,सन्नाय्य आहुति दी जाती है।[१] और असान्नाय इष्टि के अन्तर्गत——

(१) पौर्णमास इष्टि की भाँति अग्नि के लिए अष्ट कपाल पुरोडाश याग,

(२) अग्निषोमीय उपांशु याग अथवा विष्णुदेवताक उपांशुयाग तथा

(३) इन्द्राग्नि द्वादश कपाल पुरोडाश की हवि दी जाती है।[२]

---

१. दर्श. पू. प., पृ. ७८, का. श्री., वेबर, पृ. २५५ वु. श. ब्रा., १.७.२.३, भा. श्रौ., २.१७.९, आप. द. प्र., पृ. ५३०
२. ऋ. सं., १.९.३.९, तै. ब्रा., ३.५.७,
३. दर्श. पू. प., पृ. ७८, का. श्रौ., वेबर, पृ. २५५, का. श. ब्रा., २.५.३.२.६.२, तै. सं. ब्रा., २.६.६, बौ. श्रौ., १.१६ - १७, ३.१८, स. श्रौ., २.२.६, (महादेव वैजयन्ती व्याख्या) भा. श्रौ., २.१७.११ - १२, आप. द. प्र., पृ. ५५०
४. दर्श. पू. प., पृ. ७८, का. श्रौ. -वेबर, पृ. २५५, तु. श. ब्रा., १.७.२.३, तै. सं. ब्रा., २.६.२, स. श्रौ., २.२.६, भा. श्रौ., २.१७.१३,
५. ऋ. सं., १.९३.५,
६. तै. सं. ब्रा., २.६.२, शा. ब्रा., ३.६, गो. ब्रा., १.३.९. स. श्रौ., २.२.६, भा. श्रौ., २.१७.१४,
७. दर्श. पू. प., पृ. ७८
८. श्रौ. परिचय, पृ. ६०, वै. को., पृष्ठ ३९३
९. श्रौ. प., पृष्ठ ५९, वै. कौ., पृष्ठ ३९३, (यज्ञ मधुसूदन), पृ. २४,

सान्नाय्य याग

दर्श याग में दो प्रकार की हवियाँ होती हैं। एक सान्नाय दूसरा असान्नाय्य। सान्नाय्य उसको कहा जाता है जिस याग में दूध और दही के समिश्रण की आहुति दी जाती है।[१] असान्नाय्य उसे कहा जाता है जिस याग में दूध तथा दही की आहुति नहीं दी जाती है।

सान्नाय्य शब्द की व्युत्पत्ति : —

दर्श याग में दूध तथा दधि की जो हवियाँ इन्द्र को दी जाती हैं, उसका सम्मिलित नाम सान्नाय्य है।[२] इस कृत्य में साय दोह तथा प्रातः दोह होता है।

"सान्नाय्य" शब्द "सम" उपसर्ग पूर्वक " नी प्रापणे" से ण्यत् प्रत्यय होकर (सम + नी + ण्यत्) समनैष में ऐकार को आय् आदेश होकर और उपसर्ग को दीर्घ होकर साय + न्नाय्य शब्द निष्पन्न होता है।

सान्नाय्य हवि का सम्पादन (चन्द्र दर्शन रहित) अमावस्या तिथि को पिण्ड पितृयज्ञ कर लेने के पश्चात् किया जाता है।[३] पिण्ड पितृयज्ञ की विधि तथा उसके समय का विशद विवेचन परिशिष्ट में देखा जा सकता है।

सान्नाय्य आहुति से सम्बद्ध एक आख्यान शतपथ ब्राह्मण में प्राप्त होता है। इन्द्र ने देवताओं से कहा - जब मैनें वृत्रासुर को वज्र से मारा तो मैं डर गया और दुबला हो गया, इसलिए द्वादश कपाल वाली पुरोडाश की हंवि अच्छी नहीं लगती है। अतः ऐसी हवि तैयार करें, जिससे मेरा पेट भर जाय। देवताओं ने सोचा कि इन्हें सोम के अलावा कुछ अच्छा नहीं लगेगा। तब देवताओं ने सोम तैयार करने के लिए गौओं को इकट्ठा किया और उन गौओं ने सोम को खाया और जल को पिया और इससे दुहे दूध को उन्होंने इन्द्र को दिया। तब पुनः इन्द्र ने कहा —मेरा पेट तो भर जाता है, परन्तु रुचिकर नहीं लगता। तुम सब ऐसा उपाय करो कि जिससे मुझे अच्छा लगे, तब देवताओं ने उस दूध को पकाकर अधिक रुचिकर बना दिया और जिससे इन्द्र अत्यन्त प्रसन्न हुए। यद्यपि दूध या दधि एक ही चीज है, चूंकि इन्द्र ने कहा "धिनोति में " मेरा पेट भर जाता है, इसलिए दूध का नाम दधि हुआ। इस दधि में पका हुआ दूध मिलाया जाता है, इसलिए इसे श्रुत कहते हैं।[४]

इस महत्व को समझकर दर्श याग में जो सान्नाय्य आहुति देता है, वह प्रजा और पशु से पूर्ण होकर सारे दोष से छुटकारा पा जाता है। अतः दर्श याग में दूध और दही की सान्नाय्य आहुति देनी चाहिए।[५]

---

१. श्री. य. प., पृ. ५८, श्री. य. नि., पृ. ७८, वै. को., पृ. ३९३,

२. मा. धा. वृ., पृ. १६३०, सि. कौ., पृ. ४८६, ज्ञानेन्द्रसरस्वती तत्वबोधनी ऐन्द्रेयं दुग्ध अमावास्यायां इन्द्रियंपमोऽअमावास्या या निर्मित विहितो दधि पय यागः। अ. को. पृ: २५८

३. मा. श्री., १.१.२.१,

४. श. ब्रा., १.६.४.४-८

५. वही , १.६.४-९

श्रौ. सूत्र के अनुसार सोमयाजी व्यक्ति ही सान्नाय्य आहुति दे सकता है[१], परन्तु विकल्प से असोमयाजी भी सान्नाय्य आहुति दे सकता है।[२]

तै. सं. के अनुसार सोमयाग न करने वाला व्यक्ति सान्नाय्य हवि को नहीं दे सकता है[3], परन्तु याज्ञवलक्य के अनुसार दर्शयाग करने वाले व्यक्ति को सान्नाय्य आहुति देना परम आवश्यक है चाहे वह सोमयाजी हो या असोमयाजी।[४] इस याग का देवता इन्द्र होता है।[५] परन्तु कतिपय विद्वानों के अनुसार यह सान्नाय्य हवि महेन्द्र देवता को दी जाती है।[६] क्योंकि वृत्र वध करने के पहले वह "इन्द्र" था। वह वृत्र को मारकर महेन्द्र हो गया, जैसे विजय के पश्चात् राजा महाराजा हो जाता है, इसलिए महेन्द्र को आहुति दी जाती है[७], परन्तु याज्ञवल्क्य इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि वृत्र के पहले इन्द्र ही था वृत्र को मारने के बाद भी इन्द्र था, अतः इन्द्र को ही आहुति दी जाती है।[८] दर्शेष्टि के प्रथम प्रयोग में इन्द्र या महेन्द्र जिस देवता को यजमान स्वीकार करे, उसे जीवन पर्यन्त स्वीकार करना चाहिए[९] तथा उसी को आहुति देनी चाहिए। शाखान्तर के अनुसार गत श्री यजमान ही महेन्द्र का यज्ञ करे।[१०]

और्व, गौतम, और भारद्वाज ये तीनों ही गत श्री कहलाते हैं और ये सोमयाग करने के पश्चात् महेन्द्र का याग करें अथवा जो कोई सोमयाग के पश्चात् महेन्द्र का याग करे वह गत श्री हो, आपस्तम्ब तथा मानव कल्पसूत्र का मत है कि और्वादि तीन गोत्र वाले ही गत श्री हैं। वे ही महेन्द्र का यज्ञ करें अन्य नहीं।[११]

सान्नाय्य सम्पादन की विधि : ––

कृष्ण यजुर्वेदीय श्रौत सूत्रों के अनुसार अमावस्या के दिन यजमान अग्निहोत्र कृत्य को करके सर्वप्रथम अवशेष जामन अतन्वन हेतु रख लेता है।[१२] तदनन्तर प्रातः अग्निहोत्र के बाद वैकल्पिक रूप से आहवनीय तथा गार्हपत्य के चारों और कुश का परिस्तरण करना चाहिए।[१३] अब यजमान सान्नाय्य कृत्य में प्रयुक्त पात्रों को

---

१. का. श्रौ., ९.२.४५, आप. श्रौ., १.१४.८, नासोमयाजी सन्नयेत सन्नयेत वा।

२. का. श्रौ., ४.२.४६, भा. श्रौ., १.१६.८९,

३. तै. सं., २.२.५,

४. श. ब्रा., १.६.४.११, बौ. श्रौ., १.१६.१७, ३.१८, इत्यामावस्या याम् संन्नयतः

५. श. ब्रा., १.६.४.१२,

६. श. ब्रा., १.६.४.१२, बो. श्रौ., १.१६-१७, ३.१८, भा. श्रौ., १.१५.१०, वैखा. श्रौ., ३.९, स. श्रौ., १.४.१२,

७. श. ब्रा., १.६.४.२ १

८. श. ब्रा., १.६.४.२ १

९. दर्श. पौ. प., पृ. ११३

१०. आप. श्रौ., १.१४.९, तु. मान. श्रौ., १.२.१.३.४, बौ. श्रौ., २०.४.२३.१७, वैखा. श्रौ., ३.९, स. श्रौ., १.४.१२,

११. आप. श्रौ., १.१४.१०-११, और्वो गौतमो भारद्वाजस्तेऽनन्तरं सोमेज्याया महेन्द्र भवरेन, तु. मा. श्रौ., १.२.१.३४, तु. भा. श्रौ., १.५.११, बौ. श्रौ., २०.४.२३.१९, वा. श्रौ., १.२.२.३८-३९,

१२. आप. श्रौ., १.११.१, तु. मा. श्रौ., १.१.५.८, तु. बौ. श्रौ., २०.४, वैखा. श्रौ., ३.६,

१३. आप. श्रौ., १.११.४, अग्नीन् परिस्तृणात्यग्निमग्नीर्वा।, बौ. श्रौ., २०.४, म. श्रौ., १.१.३.९, वा. श्रौ., १.२.२.७, वैखा. श्रौ., ३.६,

धोता हुआ दो-दो करके गार्हपत्य के आगे-पीछे कुशों पर अधोमुख करके रख देता है।[१] सान्नाय्य पात्र ये हैं — कुम्भी, शाखापवित्र, अभिधानी, निदान, दारूपात्र दोहन, दोहन के ढंकने हेतु काठ या लोहे के ढक्कन, अग्निहोत्र हवनी तथा उपवेष।[२]

तदनन्तर व समान आकृति तथा वर्ण वाले दो अविच्छिन्नाग्र दर्भों को लेकर एक वितस्ति लम्बे पवित्र को बनाता है।[३] ध्यान रहे पवित्र को काटते समय उसके नीचे तृण काष्ठ को रखना चाहिए, न कि नाखून से।[४] वह तदनन्तर "विष्णोमनसा"[५] मन्त्र द्वारा अध्वर्यु पवित्रों को नीचे से ऊपर की ओर जल से प्रक्षालित करता है।[६] आचार्य जैमिनि के अनुसार पवित्री को बर्हि द्वारा न बनाकर परिभोजनाय नामक कुशों से बनाना चाहिए।[७] तदनन्तर अग्निहोत्र हवणी में दोनों पवित्रों को रखकर जल डालता है, फिर अध्वर्यु पवित्रों के छोरों को उत्तर की ओर करके प्रोक्षणी (अग्निहोत्र हवणी) के जल को तीन बार उत्पवित करता है।[८] ध्यान रहे तीनों बार क्रमशः "देवोवः[९]" पवित्रेण.[१०]" तथा "वसूयांस्य.[११]" का पाठ किया जाता है।

तदनन्तर रखे गये पात्रों को ऊपर की ओर मुख करके "शुन्धध्व"[१२] मन्त्र के द्वारा तीन बार प्रोक्षित करना चाहिये।[१३] आचार्य बौधायन के अनुसार मौन होकर पात्रों का प्रोक्षण किया जा सकता है।[१४] इसके बाद दोनों पवित्रों को परिचित स्थान पर रख दिया जाता है[१५], ऐसा कृष्ण यजुर्वेदीय शाखाओं में कहा गया है।

वाजसनेयी शाखाओं के अनुसार गायों को चरागाह ले जाने के पूर्व बछड़ों को गायों से अलग करके बांध दिया जाता है, जिसे वत्सापकरण कहा जाता है। इस विधि से ही सान्नाय्य-सम्पादन-कृत्य प्रारम्भ होता है।

---

१. आप. श्रौ., १.११.५, सान्नाय्य पात्राणि प्रक्षाल्य द्वन्द्वंवन्यांश्चिपात्राणि प्रयुनाक्ति। मा. श्रौ., १.१.३.११, भा. श्रौ., १.११.१०, वैखा. श्रौ. ३.६, स. श्रौ., १.३.७,

२. आप. श्रौ., १.११.५, बौ. श्रौ., १.३, मा. श्रौ., १.१.३.१५, भा. श्रौ., १.११.११,

३. आप. श्रौ., १.११.६, समान प्रारध जाग लेदमे प्रादेशमात्रेपवित्रे कुरुते। तु. जै. पू. मी., ३.८.३२, पर शाबर भाष्य। मा. श्रौ., १.१.३.११, वा. श्रौ., १.२.२.८, वैखा. श्रौ., ३.६, स. श्रौ., १३.८,

४. आप. श्रौ., १.११.७, वैखा. श्रौ., ३.६,

५. मै. सं., ४.१.५,

६. मा. श्रौ., १.१.३.१३, भा. श्रौ., १.११.१२, वा. श्रौ., १.२.२.९,

७. जै. पू. मा. कृ., ३.८.३२,

८. मा. श्रौ., १.१.३.१४, वा. श्रौ., १.२.२.१०, वैखा. श्रौ., ३.६, स. श्रौ., १.३.८,

९. तै. सं. , १.१.५.१,

१०. वही , १.१.५.१,

११. वही , १.१.५.१,

१२. तै. सं., १.१.३.१

१३. तै. ब्रा., ३.७.४.२.१४, चौ. श्रौ., १.३.१७.४९.२०.८, इति त्रिः सान्नाय्य पात्राणि प्रोक्षति। मा. श्रौ., १.१.३.१५, भा. श्रौ., १.११.१४, १.१२.१, वा. श्रौ., १.२.२.१०, वैखा. श्रौ., ३.६,

१४. बौ. श्रौ., १.३.१७.४९.२०.४, तूष्णीं संस्कृत्ताभिरद्भिः प्रोक्षतिति बौधायनः।

१५. तै. ब्रा., ३.७.४.२.१४,

वत्सापकरण : —

इस विधि में अध्वर्यु सर्वप्रथम पलाश शाखा को काटकर उसी से गायों से बछड़ों को अलग करता है।[१] अथवा मै. सं. तथा का. सं., कपि. सं. ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार शमी शाखा से बछड़े को अलग किया जाता है।[२]

शाखा इस तरह होनी चाहिये जो पूर्वोत्तर, अथवा ईशान की ओर गयी हो।[३] शाखा छेदन में "इषेत्वा" मन्त्र का विनियोग किया जाता है।[४] तदनन्तर अध्वर्यु "उर्जेत्वा"[५] मन्त्र से उस शाखा को पत्ररहित करता है।[६] तत् पश्चात् वह बछड़ों को अपनी माता अर्थात् गाय से मिला देता है।[७] तथा पलाश की शाखा से गाय और बछड़ों को "वायवस्थ"[८] मन्त्र से स्पर्श करता है।[९] कतिपय आचार्यों के अनुसार "वायवस्थ" मन्त्र के स्थान पर "उपावयस्थ" मन्त्र पढ़ना चाहिये, क्योंकि इससे एक दूसरे का शत्रु पास आ जाता है।[१०] आचार्य बौधायन के अनुसार पुरुष को " वायवस्थ " तथा स्त्री को "उपावयस्थ मन्त्र" का उच्चारण करना चाहिए।[११]

तदनन्तर वह गौओं से बछडों को अलग करके किसी एक गौ को पलाश शाखा द्वारा स्पर्श करता है[१२], जिसमें "देवोवः सविता" मन्त्र का विनियोग किया गया है।[१३] तदनन्तर अध्वर्यु उस पलाश शाखा को आहवनीय या गार्हपत्य के पूर्व में यज्ञशाला के ऊपर खोंस देता है[१४], इसके अन्तर्गत "यजमानस्य पशूनपाहि[१५]" मन्त्र का विनियोग किया जाता है। तदनन्तर खोंसी गई पलाश शाखामें "वसोःपवित्रमसि[१६]" मन्त्र से बाँधता है[१७], परन्तु कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार यज्ञशाला में खोंसी गई पलाश शाखा का प्रादेशमात्र या कुछ अधिक अग्रभाग छोड़कर तूष्णी उस पलाश शाखा के मूल भाग को अलग करके, उसी मूल भाग से अरत्नी या प्रादेश मात्र के

---

१. श. ब्रा., १.७.१.१, तै. ब्रा., ३.२.१, कपि. सं. ब्रा., ४६.८, का. श. ब्रा., २.६.३, मा. श्रौ., १.१.३.१६, भा. श्रौ., १.२.७.८, वा. श्रौ., १.२.१.२, वैखा. श्रौ., ३.३,

२. मै. सं. ब्रा., ४.१.१, "यत शमी शाखाया वत्सानापाकरोति", का. सं. ब्रा., २.६.३, कपि. सं. ब्रा., ४६.८, भा. श्रौ., १.२.१.८, बा. श्रौ., १.२.१.२, वैखा. श्रौ., १.२.४, आप. श्रौ., १.१.७,

३. वौ. श्रौ., २०.१.२, २४-२३, तु. तै. ब्रा., ३.२.१.३, का. सं. ब्रा., ३१.१, भा. श्रौ., १.२.१.९, स. श्रौ., १.२.४, आप. श्रौ., १.१.१०,

४. वा. सं., १.१, तै. सं., १.१.१, मै. सं., १.१.१, का. सं., १.१, वा. का. सं. १.१,

५. वा. सं., १.१, तै. सं., १.१.१, का. सं., १.१, वा. का. सं. १.१

६. श. ब्रा., १.७.१.२, का. श. ब्रा. २.६.३, का. सं. ब्रा., ३०.१०, मा. श्रौ., १.१.३.१८, भा. श्रौ., १.२.१.१०, वा. श्रौ., १.२.१.३, स. श्रौ., १.२.४, आप. श्रौ., १.१.११, वौ. श्रौ., २४.२३,

७. श. ब्रा., १.७.१.३

८. वा. सं., १.१, वा. का. सं., १.१, तै. सं., १.१.१, का. स., १.१,

९. श. ब्रा., १.७.१.३९, वा. श्रौ., १.२.१.५-६, वैखा. श्रौ., ३.६, स. श्रौ., १.२.४, वौ. श्रौ., २४.२३,

१०. श. ब्रा., १.७.१.३९,

११. वौ. श्रौ., २४.२३, सहस्माह बौधायनो वायवस्य इति पुंषः एवाऽपा कुर्याद् उपावयवस्थ इति स्त्रियः।

१२. श. ब्रा., १.७.१४-७, भा. श्रौ., १.२.१.१२.१४, स. श्रौ., १.२.४, वौ. श्रौ., २४.२३, आप. श्रौ., १.२.२, वैखा. श्रौ., ३.६,

१३. वा. सं., १.१, तै. सं., १.१.१.७, का. सं., १.१,

१४. श. ब्रा., १.७.१.८, बा. श्रौ., १.२.१.११, आप. श्रौ., १.२.४,

१५. वा. सं., १.१, तै. सं., १.१.१.७, मै. सं., १.१, का. सं., १.१, वा. का. सं., १.१.

१६. वा. सं., १.१, कपि. सं., १.१

१७. श. ब्रा., १.७.१.९, तु. भा. श्रौ., १.३.१.१९, भा. श्रौ., १.३.२, वैखा. श्रौ., ३.६, स. श्रौ., १.२.४, वौ. श्रौ., २४.२३,

बराबर उपवेश का निर्माण करना चाहिये।[१] तदनन्तर पूर्व कथित मन्त्र द्वारा उस शाखा में पवित्री बाँधा जाना चाहिये[२] और यह भी कहा गया है कि अमावस्या की रात्रि में सायं-प्रातः दोनों समय सान्नाय्य करने वाले यजमान से अग्निहोत्र करें।[३] चावल का आटा जिसमें मिला हो ऐसा ढीला पतला अन्न को यवागू कहा जाता है।[४] तदनन्तर इसी तरह अग्निहोत्र करने के पश्चात् अध्वर्यु गाय दुहने वाले से "उपसृष्टा"कहता है कि बछड़ा छोड़ दिया गया? जब गाय दुहने वाला व्यक्ति कहता है कि बछड़ा छोड़ दिया गया[५], तब बछड़ा छोड़ दिया जाता है, तब अध्वर्यु "द्यौरसि पृथिव्यसि"[६] मन्त्र से गाय दुहने वाले पात्र को लेता है[७] और "मातरिश्वनिषम्मोसि"[८] मन्त्र पढ़कर आहवनीय अग्नि पर उखा को तपने के लिए रख देता है।[९] उखा तपा लेने के अननतर "वसोःपवित्रमसि"[१०] मन्त्र पढ़कर उसमें पवित्र को रखता है।[११] ध्यातव्य है कि उखा में पवित्र रखते समय पवित्र का मुख उत्तर या पूर्व की ओर रहे।[१२]

आचार्य बौधायन के अनुसार पात्र को तूष्णी तपने के लिए रखा जा सकता है।[१३] तदनन्तर अध्वर्यु गाय दुहने वाले के प्रति "गांधुक्ष्वः" अर्थात् गाय का दूध दोहन करो – ऐसा कहकर मौन धारण कर लेता है।[१४] इस विधि में गाय दुहने वाला व्यक्ति "आदित्यैरत्स्नासि"[१५] मन्त्र द्वारा अभिधानी को लेता है। उस समय यजमान "त्रयास्त्रियोऽसि"[१६] मन्त्र द्वारा अभिमन्त्रण करता है[१७] तथा निदानों को चुपचाप ग्रहण करता है - ऐसा तै ब्रा. तथा मै. सं. ब्रा. में कहा गया है।[१८] इधर अध्वर्यु द्वारा आदिष्ट दोग्धा गाय को दुहता है। ध्यातव्य है कि गाय दुहने वाला पात्र काष्ठ का होता है[१९], कृष्णयजुर्वेदीय ब्राह्मणों के अनुसार लकड़ी के पात्र में दुहना चाहिए।[२०] का. श. ब्रा., के अनुसार मिट्टी के पात्र में दूध दुहा जाता है।[२१] तै. ब्रा. के अनुसार मिट्टी के पात्र में नहीं दुहा जाता है।[२२]

१: का. श्रौ., ४.२.१४, तु. बा. श्रौ., १.२.२.५, आप. श्रौ., १.११.७,
२. का. श्रौ., ४.२.१५,
३. का. श्रौ., ४.२.१६, यवाग्वोऽग्निहोत्र होमः सन्नयतस्नाहरात्रिम्। श. ब्रा., १.७.१.१०,
४. का. श्रौ., (विद्याधर टीका), पृ. १३८
५. श. ब्रा., १.७.१.१०, का. श्रौ., ४.२.१८,
६. वा. सं., १.२, कपि. सं., १.३, तै. सं., १.१.३.२,
७. वा. ब्रा. १.७.१.११, तै. ब्रा., ३.२.३, मै. सं. ब्रा., ४.१.३, बा. श्रौ., १.२.२.१२, वैखा. श्रौ., ३.६, स. श्रौ., १.२.५,
८. वा. सं., १.२, कपि. सं., १.३, तै. सं., १.१.३.२,
९. श. ब्रा., १.७.१.११, मा. श्रौ., १.३.१.२०, भा. श्रौ., १.१२.१२, वैखा. श्रौ., ३.६, आप. श्रौ., १.१२.३, स. श्रौ., १.२.९, का. श्रौ., ४.२.१९.२०,
१०. वा. सं., १.२, तै. सं., १.१.३.३,
११. श. ब्रा., १.७.१.१२, तै. ब्रा., ३.२.३, मै. सं. ब्रा., ४.१.३, का. सं. ब्रा., ३१.२, का. श्रौ., ४.२.२१, मा. श्रौ., १.१.३.२०, भा. श्रौ., १.१२.१४, स. श्रौ., १.३.९, आप. श्रौ., १.१२.३,
१२. कपि. सं. ब्रा., ४७.२, मा. श्रौ., १.१.३.२२,
१३. बौ. श्रौ., २४.२३,
१४. श. ब्रा., १.७.१.१५, का. श्रौ., ४.२.२४, मा. श्रौ., १.१.३.२१, भा. श्रौ., १.१.१३.१, बौ. श्रौ., १.२.२.१४, आप. श्रौ., १.१२.५,
१५. तै. सं., १.१.२.२,
१६. तै. ब्रा., ३.७.४.१२ ,
१७. बौ. श्रौ., २४.२३, मा. श्रौ., १.३.१.२४-२५, वा. श्रौ., १.२.२.१६,
१८. तै. ब्रा., ३.७.४.१२, मै. ब्रा., १.८.५ ,
१९. आप. श्रौ., १.१२.७, दारू पात्रे दोग्धि ,
२०. मै. सं. ब्रा., ४.१.३, का. स. ब्रा., ३१.२, कपि. सं. ब्रा., ४७.२, बौ. ब्रा., ३.२.३ ,
२१. का. श. ब्रा., २.६.२-३ ,
२२. तै. ब्रा., ३.७.४.१२ ,

ध्यातव्य है कि दोहन कार्य शुद्र के द्वारा नहीं होना चाहिये।[१] परन्तु विकल्प से शूद्र द्वार पात्र में दोहन कार्य कर सकता है।[२] इस तरह दूधदुह लेने के पश्चात् यजमान के द्वारा पकड़ी हुई हण्डी पवित्रों के ऊपर दोहन पात्र से दूध गिराता है[३] और इस समय "देवस्त्वा"[४] मन्त्र का पाठ करता है। तदनन्तर अध्वर्यु दोग्धा से पूछता है "कामधुक्षः"[५] अर्थात् तुमने किस गाय को दुह लिया ? गो दोग्धा अध्वर्यु के प्रति उत्तर देता है कि वह कपिला गाय है जिसमें देवों और मानवों के लिए दूध पाया जाता है।[६] इस प्रकार गौ दोग्धा अन्य दो गायों का दूध दुहता है। कुल तीन गायें दुही जाती हैं। अध्वर्यु पुनः पूछता है कि वह किस गाय की दूध है। वह दोग्धा क्रमशः "सा विश्वकर्मा"[७] "सा विश्वधाया"[८] कहता है।[९] यहाँ पर अध्वर्यु अपना मौन व्रत छोड़ सकता है।[१०] अन्य गायें भी उपर्युक्त ढंग से दुही जाती है।[११]

इस तरह दोहन कार्य जिस पात्र में हुआ है उस में डालकर हिला लिया जाता है, जिससे उस पात्र में जो दूध का अंश अवशेष रहता है वह भी उसमें आ जाये[१२], जिसमें "संपृचध्व"[१३] मन्त्र का विनियोग किया गया है। तदनन्तर उस दूध को आग पर पकने के लिए रख दिया जाता है।[१४] अध्वर्यु "दृद्दं" मन्त्र द्वारा दूध को उतार कर पूर्व उत्तर या पूर्वोत्तर भाग में रख देता है।[१५] तत्पश्चात् चतुर्दशी सायं आहुति से बचे हुए दही को "इन्द्रस्यत्वा भागं सामेन"[१६] मन्त्र से दूध में छोड़ता है। इस पर भी अनेक मत प्राप्त होते हैं। प्रथम विधि के अनुसार उपवसथ के एक दिन पूर्व अर्थात् १४वें दिन एक, दो या तीन गायें दुह ली जाती हैं, उनका दूध उपवसथीय सायं वाले गर्म दूध में मिला देना चाहिए। दूसरी विधि यह है कि ११-१२-१३ संख्या तक गायें दुह ली जाती है। उस दूध को १३ वें दिन के दूध में मिला दिया जाता है, इस प्रकार दो दिन से प्राप्त दही को १४वें दिन के दूध में मिला दिया जाता है। यह दुहना, मिलाना १२वें, १३वें तथा १४वें दिन तक अथवा १३वें - १४वें दिन तक चलता रहता है।[१७]

---

१. तै. ब्रा. ३.७.४.१२, तु. का. सं. ब्रा., ३१.२, कपि. सं. ब्रा., ४७.२०, आप. श्रौ., १.१२.७ ,
२. आप. श्रौ., २.१२.६, का. श्रौ., ४.२.२२ ,
३. श. ब्रा., १.७.१.१६, तु. आप. श्रौ., १.१२.८ ,
४. वा. सं., १.३ ,
५. वा. सं., १.४ , मै. सं., १.१.३ ,
६. श. ब्रा., १.७.१६, तै. ब्रा. ,३.७.४.१६, आप. श्रौ., १.१३.२ ,
७. वा. सं. , १.४ , त. सं., १.१.३ ,
८. वा. सं. , १.४ ,
९. श. ब्रा., १.७.१.१७, तै. ब्रा., ३.२३, का. सं. ब्रा., ३१.२, मा. श्रौ., १.३.१.२७, वा. श्रौ., १.२.२.२२, वैखा. श्रौ., ३.७ , आप. श्रौ., १.१३.३-४, स. श्रौ., ३.१० ,
१०. बौ. श्रौ., २४.२३, अत्र वाचं विसृजते। मा. श्रौ., १.३.१.१.२९,
११. आप. श्रौ., १.१३.५, मा. श्रौ., १.१.३.३१ ,
१२. श. ब्रा., १.७.१.१८, का. श्रौ., १.४.२.३२, भा. श्रौ., १.१४.१, वा. श्रौ., १.२.२.२८, वैखा. श्रौ., ३.७, स. श्रौ., १.३.१, आप. श्रौ., १.१३.५, बौ. श्रौ., २४.२३,
१३. तै. सं., १.१.३.१ ,
१४. आप. श्रौ., १.१४.६ ,
१५. मा. श्रौ. १.१.३.३३, वा. श्रौ. , १.२.२.३०-३१ ,
१६. वा. स., १.४, मै. सं., १.१.३, का. सं., १.३, वा. का. सं., १.२, श. ब्रा., १.७.१.१९, तै. ब्रा., ३.२.३, तै. सं. ब्रा., २.५.३ , मै. सं. ब्रा., ४.१.३, का. सं. ब्रा., १.३१.२, कपि. सं. ब्रा., ४७.२ ,
१७. ऐ. ब्रा., पृ. ४४३, कृत अनुवाद, आप्. श्रौ., १.१४.६, तु. भा. श्रौ., १.१.२-४, बौ. श्रौ., १.१, स. श्रौ., १.३.९९, बौ. श्रौ. २४.२३, स. श्रौ.

तदनन्तर उस दोहनी को "विष्णो हव्यꣳरक्ष"[1] मन्त्र से, दूसरे पानी भरे पात्र से, उसे ढक देता है।[2] कांस्य या काष्ठ का उत्तान ढक्कन होना चाहिये।[3] आप. श्रौ. के अनुसार वह ढक्कन लोहा तथा कांस्य निर्मित होना चाहिये।[4] परन्तु यदि मिट्टी से बने पात्र से ढका जाता है तो उसके ऊपर घास अथवा काष्ठ रख देना चाहिये।[5] भारद्वाज ने मिट्टी के ढक्कन को निषिद्ध बताया है।[6] तदनन्तर उस दूध की हण्डी को किसी सुरक्षित स्थान में रख दिया जाता है।[7] इस प्रकार सायं दोह अथवा सान्नाय्य कर्म संभव होता है, परन्तु पयद्रव्यक सान्नाय्य हेतु दर्श इष्टि के प्रधान याग हेतु प्रतिपदा के दिन पूर्वोक्त गौओं के साथ बछड़ों को अलग करना इत्यादि कृत्य करके दूध दुहा जाता है और उसी दूध से पय द्रव्यक आहुति दी जाती है।[8] इस तरह सान्नाय्य सम्पन्न करके उस रात को आहवनीय या गार्हपत्य के पास यजमान शयन करता हैं।

तदनन्तर पौर्णमास इष्टि की भाँति प्रातः काल प्रतिपदा के दिन अग्निअन्वाधान, प्रणीता प्रणयन, पात्रासादन, में अष्ट कपाल शाखा का उपवेष वेद, दोहन चतुष्टय, दोहन पात्र, बांधने की रस्सी, शाखा, पवित्र, हाण्ड़ी, एक पुरोडाश पात्री आग्नेय पुरोडाश के लिए हविग्रहण, कृष्णाजिन् पर आटा गिराना आदि कृत्य को करके।[9] यजमान गोओं से बछड़ों को मिलान कृत्य से पात्र प्रक्षालन तक पूर्ववत् दोहन कार्य करके कृष्णाजिनस्थ हवि का निरीक्षण करता है। यहाँ पर दूध का पर्यग्नि करण न होकर दूध का अधिश्रवण होता है, परन्तु ऊपर में अंगार नहीं रखे जायेंगे। तदनन्तर वह पौर्णमास इष्टि की भाँति ध्रुवा का आसादन करके संध्या में डाली गई दधि हण्डि को स्थापित करे। इसके पुरोडाश का विभस्मीकरण, पुरोडाश पात्री स्थापन तथा वह उसमें उपस्तर पुरोडाश का उद्वासन कृत्य को सम्पन्न करके उसके उत्तर में दधि का स्थापन और दधि से उत्तर दूध का स्थापन करता है। तदनन्तर पुरोडाश दधि और दूध को क्रम से प्राणादान किया जाता है।

दधि दूध के प्राणादान में "इन्द्रं गच्छ"। महेन्द्रं गच्छ", ऐसा ऊह में होगा। तदनन्तर कपालाञ्जन, कपालोद्वासन के पश्चात् आज्य स्थाली पुरोडाश दधि और दधि का "प्रियेण"मन्त्र द्वारा क्रम से आसादन करके क्रम से सबका आलम्भन तथा आत्मालम्भन उदक का स्पर्श करे। तदनन्तर होता को सामिधेनी मन्त्र पाठ करने हेतु पौर्णमासवत् आमन्त्रणादि करता है। सामिधेनी वचनान्त देवताओं के आवाहन निगद में (अग्निषोमाय इह) से आगे "इन्द्र महेन्द्रमावह" इतना बढ़ाकर उच्चारण करना चाहिये। प्रयाजयाग में भी इस तरह कहे गये वाक्यों को जोड़ना चाहिये। तदनन्तर प्रधान याग किया जाता है।[10]

---

१. वा. सं., १.४, कपि. सं., १.३, का. स., १.३, मै. सं., १ १.३, तै. सं., १.१.३.१,
२. श. ब्रा., १.७.१.२०, मा. श्रौ., १.१.३.३५, भा. श्रौ., १.१४.९, वा. श्रौ., १.२.२.३-४, वैखा. श्रौ., ३.८, स. श्रौ., १.२.३.११, आप. श्रौ., १.१४.४, बौ. श्रौ., २४.२३,
३. मा. श्रौ., १.१.३.३६, तै. ब्रा., ३.२.३, मै. स. ब्रा., ४.१.३, का. सं. ब्रा., ३१.२ ,
४. आप. श्रौ., १.१४.३ , तु. बौ. श्रौ., २४.२३, तै. ब्रा., ३.७.४.१७,
५. भा. श्रौ., १.१५.१, मा. श्रौ., १.१.३.३७, वा. श्रौ., १.२.२.३५, वैखा. श्रौ., ३.८, स. श्रौ., २.२.३.११, आप. श्रौ., १.१४.५,
६. भा. श्रौ., १.१५.१ ,
७. श. ब्रा., १.७.१.२०, आप. श्रौ., १.१४.५, का. श्रौ., ८.२.३४, तै. ब्रा., ३.२.३, मै. स. ब्रा., ४.१.३, का. स. ब्रा., ३१.२, कपि. सं. ब्रा., ४७.२, भा. श्रौ., १.१५.२, वैखा. श्रौ., ३.८, स. श्रौ., १.२.३.११, आप. श्रौ., १.१४.५, बौ. श्रौ., २४.२३ ,
८. आप. श्रौ., १.१४.६, भा. श्रौ., १.१.३.३८, भा. श्रौ., १.१५.३, वा. श्रौ., १.२.२.३६, वैखा. श्रौ., ३.९, स. श्रौ., १.२.४.१२, का. श्रौ., ४.२.३५-३८ ,
९. दर्श. पौ. प., पृष्ठ ११७ ,
१०. दर्श. पौ. प., पृष्ठ ११८ - १२

तदनन्तर पूर्व वर्णित सर्वप्रथम अग्नि के लिए अष्ट कपाल पुरोडाश, या तदनन्तर अग्निपोमीय उपांशु याग, तदनन्तर इन्द्र के लिए सान्नाय्य याग किया जाता है। इसके बाद इन्द्र और अग्नि को पुरोडाश की हवि दी जाती है, परन्तु यह आहुति सान्नाय्य हवि के अभाव में दी जाती है जिसको पद्धति से देखा जा सकता है।

विधि

(१) दर्शयाग में आग्नेय अष्टकपाल पुरोडाश याग : —

ध्यातव्य है कि पौर्णमास इष्टि की भाँति दर्श इष्टि में अग्नि देवता को अष्ट कपाल पुरोडाश की हवि दी जाती है। इसकी विधि तथा नियम के विषय में पौर्णमास याग के अग्नि देवता क अष्टा कपाल पुरोडाश याग में देखा जा सकता है।

(२) अग्निषोमीय उपांशु याग अथवा विष्णुदेवताक उपांशु याग : —

पौर्णमास इष्टि की भाँति इसमें भी अग्नि और सोम देवता को उपांशु हवि दी जाती है[१], परन्तु विकल्प से दर्श इष्टि में विष्णु देवता को उपांशु याग दिया जाता है[२]। आचार्य विद्याधर गौड़ के अनुसार दर्श इष्टि में यदि सान्नाय्य आहुति दी जाती है तो वहाँ पर अग्निपोमीय देवता को उपांशु आहुति दी जाती है[३], परन्तु असान्नाय्यायियों के लिए वहाँ पर विष्णु देवता को उपांशु रूप में आहुति दी जाती है। शांखायन भी इस मत को मानते हैं।[४] बौधायन श्रौतसूत्र में कहा गया है कि यह आहुति विष्णु देवता को दी जाती है।[५] ध्यातव्य है कि पौर्णमास इष्टि की भाँति दर्श याग में भी आहुति देने की विधि वहीं हैं, परन्तु विष्णु देवताक पक्ष गं मन्त्रों में भिन्नता पाई जाती है।

(३) विष्णु देवताक उपांशुयाग : —

इस विधि में सर्वप्रथम अध्वर्यु हसे होता आदिष्ट होकर "इदं विष्णु विचक्रमे"[६] पुरोनुवाक्या का पाठ करता है। तदनन्तर पहले की भाँति अध्वर्यु जुहू में आज्य लेकर, अध्वर्यु और आग्नीध्र आश्रवण-प्रत्याश्रवण कर्म को करते हैं।[७]

१. श. ब्रा., ३.६, का. सं. ब्रा., ३२.१, का. श्रौ., ३.२.२३ ,
२. का. श्रौ., ३.३.२४, आप. श्रौ., ६.२०.१२, मा. श्रौ., १.३.२.१७, भा. श्रौ., २.१८.६ ,
३. का. श्रौ., (विद्याधर टीका), पृ. ११२
४. शा. श्रौ., १.८८ ,
५. बौ. श्रौ., १.१६ - १७, ३.१८ ,
६. ऋ. सं., १.२२.१.७ ,
७. आ. द. पू. प्र., पृ. ५४८, स. श्रौ., २.६.६ (महादेव वैजयन्ती व्याख्या), भा. श्रौ., २.१८.४ ,

उसके बाद अध्वर्यु होता को आदेश देता है कि "विष्णु के लिए याज्या पढ़ो"[१],। होता आदिष्ट होकर "ये यजामहे विष्णु - - - - - - – बौषट्"[२] इस याज्या का पाठ करता है। वौषट् उच्चारण के सद्यः अनन्तर यथा स्थान जुहू स्थित आज्य को डाल देता है।[३] इधर यजमान कहता है कि यह मेरा नहीं विष्णु देवता का है।[४]

(४) इन्द्रदेवताक सान्नाय्य याग - विधि अथवा महेन्द्र देवताक : ––

इस विधि में भी अध्वर्यु पूर्ववत् होता को, इन्द्र के लिए पुरोनुवाक्या मन्त्र - पाठ करने हेतु होता को प्रैष देता है।[५] होता आदिष्ट होकर "ओमएन्द्रसानासि रयिं - - - - - - - - -भूरो३म्"[६] इस पुरोनुवाक्या का पाठ करता है।[७] तदनन्तर अध्वर्यु दो बार दधि जुहू में लेता है,[८] परन्तु पञ्चावत्तियों के पक्ष में दही का तीन अवदान लिया जाता है[९], परन्तु उपस्तरण तथा अभिधारण एक ही बार होता है।

तदनन्तर पूर्ववत् अध्वर्यु तथा आग्नीध्र आश्रवण-प्रत्याश्रवण कृत्य को करता है।[१०] तत्पश्चात् होता को अध्वर्यु आदेश देता है कि इन्द्र के लिए याज्या का पाठ करो। होता आदेशित होकर "ये यजामहे - - - - - इन्द्र प्रसेसाहिषे देवतानां बौषट्"[११] इस याज्या का पाठ करता है। याज्या पाठ के सद्यः अनन्तर बौषट् उच्चारण के साथ ही साथ जुहू में स्थित दधि तथा पय को अग्नि में आहुति देता है।[१२] तदनन्तर "यजमान यह आहुति इन्द्र का है मेरा नहीं"इस वाक्य का उच्चारण करता है[१३], परन्तु "महेन्द्र देवताक"सान्नाय्य याग विधि में मन्त्र तथा पुरोनुवाक्य का उच्चारण में अलग प्रतीत होता है।

---

१. आ. द. पू. प्र., पृ. ५४८, भा. श्रौ., २.१८.४, स. श्रौ., २.६.६,
२. ऋ सं., ७.१००.३ ,
३. बौ. श्रौ., १.१६-१७, ३.१८, मा. श्रौ., १.२.३.१७ स. श्रौ., पृ. २०३ (महादेव वैजयन्ती व्याख्या), भा. श्रौ., २.१८.५ ,
४. आ. द. पू. प्र., पृष्ठ ५४८ ,
५. दर्श. पौ. प., पृ. ११९, इन्द्रियानु ब्रूहिरिहिइति होतारं संप्रेषन् , भा. श्रौ., २.१८.९, वैखा. श्रौ., ६.८,
६. ऋ सं., १.८.१,
७. दर्श. पौ. प., पृ. ११९, "अनुवाक्यां पठेत्"
८. बौ. श्रौ., २.२.६, भा. श्रौ., २.१८.११, वैखा. श्रौ., ६.९, आप. श्रौ., २.२०.४,
९. बौ. श्रौ., १.१६-१७, ३.१८, स. श्रौ., २.२.६, भा. श्रौ., २.१८.११, वैखा. श्रौ., ६.९ ,
१०. दर्श. पौ. प., पृ. ११९, ॐ ओं३ आश्रवय अस्तु श्रौषट्। इन्द्र यज, बौ. श्रौ., १.१६-१७, ३.१८, "इन्द्रं यज", स. श्रौ., पृ. २०३, भा. श्रौ., २.१८.१२ ,
११. ऋ सं., १०, १८०, १,
१२. स. श्रौ., पृ. २०३, भा. श्रौ., २.१८.१४,
१३. दर्श. पौ. प., पृ. ११९, आप. श्रौ., २.२०.४ ,

(५) महेन्द्र देवताक सान्नाय्य याग विधि : ——

इसकी विधि में पूर्ववत् अध्वर्यु होता को महेन्द्र देवता के लिए पुरोनुवाक्या पाठ करने के लिए आदेश देता है[१] होता यहाँ "इन्द्राय ओजसा ———वावृधो३म"[२] मन्त्र का पाठ करता है। तदनन्तर पूर्ववत् आश्रवण-प्रत्याश्रवण कृत्य करके "महेन्द्र के लिए यांज्या पढ़ो" कहकर होता को आदेश दिया जाता है।[३]

होता आदेशित होकर " ये यजामहे - - - - - - -महेन्द्र भुवस्त्वमिन्द्र - - - - - - - विश्वयर्षने बौ३षट् "[४] इस प्रकार याज्या का पाठ करता है। वौषट् उच्चारण के सद्यः अनन्तर पूर्ववत् अध्वर्यु सान्नाय्य हवि की आहुति देता है।[५] तदनन्तर "इदं महेन्द्राय नमम"अर्थात् यह महेन्द्र का है मेरा नहीं।[६] इस तरह कहता है।

इन्द्र और अग्नि के लिए द्वादश कपाल पुरोडाश याग : ——

दर्श इष्टि में प्रधान याग के अन्तर्गत यह भी एक याग है। इसके देवता इन्द्र और अग्नि हैं और इन्हीं देवताओं को द्वादश कपाल पुरोडाश की हवि दी जाती है[७], परन्तु यदि यजमान इन्द्र तथा महेन्द्र हेतु सान्नाय्य आहुति देता है, तो पुरोडाश के स्थान पर सान्नाय्य याग होता है।[८] सबकी याज्या और पुरोनुवाक्या अलग-अलग होती है।[९] ध्यातव्य है कि इन्द्राग्नी पुरोडाश याग में सान्नाय्य इष्टि की भाँति शाखा छेदन, वत्सापकरण यहाँ नही होती, और यवागू से अग्निहोत्र कृत्य को भी नहीं किया जायेगा।[१०] अग्निहोत्र होमानन्तर, उपस्त्रष्टा, प्रैष, वत्सापकरण का यहाँ भी अभाव है। इष्टि के दिन प्रातः ब्रह्मा वरण आदि कृत्य को आरम्भ करे पात्रासादन, कपालासादन, पुरोडाश, का निर्माण तथा पुरोडाश का स्थान इत्यादि पौर्णमास इष्टि की भाँति किया जाता है, परन्तु सान्नाय्य याग की तरह पात्रासादन दोहन चतुष्टय का अभाव बताया गया है।[११] तत्पश्चात् हविग्रहण में ऐतद्राग्न पुरोडाश ग्रहण करके हवि प्रोक्षण में "इन्द्राग्निभ्यांस्त्वा" से ऐन्द्राग्नि हवि का प्रोक्षण किया जाता है। इसी तरह कपालोपधान में आग्नेय पुरोडाश के अष्ट कपाल चयन के पश्चात् उत्तर में ऐन्द्राग्नि द्वादश कपाल का उपधान किया जाता है। इसके बाद पुरोडाश का अभिमन्त्रण "इदमग्नेः"इदममिद्राग्नयोः कहें। तदनन्तर सामिधेनी में भी देवता - आवाहन

---

१. दर्श. पौ. प., पृ. ११९, महेन्द्रायनुब्रूइहि, आ. द. प्र., पृ. ५५२ ,

२. ऋ सं., ८.६.१ ,

३. दर्श. पौ. प., पृ. ११९, ॐ ओश्रावय। अस्तु श्रौषट्! महेन्द्रं यज, मा. श्रौ., २.१८.१३, आ. द. प्र., पृ. ५५३,

४. ऋ सं., १० , ५० , ४ ,

५. भा. श्रौ., २.१८.१४, स. श्रौ., पृ. २०३ , आप. द. प्र., पृ. ५३३

६. दर्श. पौ. प. पृ. ११९ , इदं महेन्द्राय न मम

७. श. ब्रा., १.६.४.३.१, आप. श्रौ., ४.९.१२, बौ. श्रौ., १.१६-१७, ३.१८, स. श्रौ., (महादेव वैजयन्ती व्याख्या), पृ. २०३ ,

८. आप. श्रौ., ४.२०.२, मा. श्रौ., १.२.३.१९ ,

९. हि. ध. शा., पृ. १०६३ ,

१०. दर्श. पौ. प., पृ. १२१ = १२२,

११. ऋ सं., ७.९.४७ ,

निगद में अग्निमावाह से विष्णुम् को उपांशु कहकर (आश्रवय) कहें, तदनन्तर "इन्द्राग्नी आश्रवय)"कहकर देवा आज्य इत्यादिवाक्य का पाठ करे। उत्तम प्रयाज में स्वाहाग्नि से आगे अग्निपोम के स्थान (स्वाहा उपांशु") विष्णु "स्वाहा इन्द्राग्नि स्वाहा" देवां आज्या इत्यादि वाक्य को कहकर, आज्य के त्याग में "विष्णवे इन्द्राग्निभ्याम्" इस वाक्य को अधिक बोलता है।

तदनन्तर पूर्वकथित के अनुसार प्रधान याग में सर्वप्रथम अग्नि के लिए पुरोडाश याग, तथा अग्निषोमीय उपांशु याग अथवा विष्णवे उपांशु याग, तदनन्तर इन्द्र और अग्नि के लिए द्वादश कपाल पुरोडाश की हवि दी जाती है, जिसकी विधि इस प्रकार है - - - - - - - -

विधि : —

इसकी विधि में अध्वर्यु होता को पूर्ववत् पुरोनुवाक्या पाठ करने हेतु आदेश देता है कि हे होता ! इन्द्र और अग्नि के लिए पुरोनुवाक्या मन्त्र पढ़ो। होता आदिष्ट होकर "इन्द्राग्नी अवसागतमस्यभ्यं पर्षणी सहा। मानो दुशंसईशतेइम"[१] मन्त्र का पाठ करता है। तदनन्तर अध्वर्यु पूर्वविधि के अनुसार पुरोडाश का अवदान लेता है।

आग्नीध्र से आश्रवण - प्रत्याश्रवण कृत्य को करके "याज्या"पाठ करने के लिए होता को आदेश देता है। होता आदेशित होकर "ये यजामहे - - - - - - इन्द्राग्नी - - - - - - - - रयियशस - - - - बौषट्"[२]

इस याज्या का पाठ करता है। बौषट् उच्चारण के सद्यः अनन्तर अध्वर्यु जुहू में स्थित पुरोडाश को प्रज्ज्वलित अग्नि में आहुति देता है।[३] इधर यजमान "यह इन्द्र तथा अग्नि का है मेरा नहीं , इस तरह से निवेदन करता है।[४]"

पार्वण होम : —

यह पार्वण होम की प्रक्रिया मात्र ते. शाखा में मिलती है। इसकी विधि में - - - - - - - - - - - -दो पर्व सम्बन्धी होम किया जाता है।[५] पौर्णमासी इष्टि में "ऋषभ"[६] तथा अमावस्या में "अमावस्या"[७] मन्त्र का प्रयोग करना चाहिये।[८]

---

१. ऋ. सं. , ७.९.४७ ,
२. वही , ७.९.४७ ,
३. बौ. श्रौ., १.१६.१७.३.१८, स. श्रौ., पृ. २०३, (महादेव वैजयन्ती व्याख्या), वैखा. श्रौ., ६.८.९, आ. द. प्र., पृ. ५५२
४. दर्श. पौ. प., पृ. १२१ - १२२, आ. द. प्र., पृ. ५५३,
५. आप. श्रौ., २.२०.५, गायकवाड, पर्व सम्बन्धिनोपर्व.,
६. तै. ब्रा., ३.७.५.१३ ,
७. वही ३.७.५.१३ ,
८. आप. श्रौ., २.२०.५, तु. भा. श्रौ., २.१८.१६, तु. बौ. श्रौ., १.१७,

नारिष्ठ होम

विभिन्न मन्त्रों के द्वारा नारिष्ठ संज्ञक होम भी किये जाते हैं।[१] इसकी भी हवि आज्य होती है। इनमें तै.,[२] अहं देवाना[३], अदारसभवत,[४] ब्रह्मपति,[५] तथा सन्तेमनसा[६], द्वारा नारिष्ठ होम किये जाते हैं।[७]

प्रधान याग तथा उसकी व्यजंना

यज्ञ से ही देवताओं ने स्वर्ग को जीत लिया था, ताकि यह यज्ञ मनुष्य के योग्य बन सके। अतः देवताओं ने यज्ञ के रस को स्वयं ही ग्रहण कर लिया था, और यज्ञ को ग्रहण करके "यूप" में प्रवेश कर गये थे जिससे उनको कोई नहीं देख सके। देवताओं ने मानव के हेतु यज्ञ का संरक्षण "यूप" में किया था अतः इस का नाम यूप पड़ा। यज्ञ के द्वारा देवताओं ने स्वर्गलोक को जीत लिया था और मनुष्य के योग्य बनाने के लिए ऋषियों का अन्वेषण किया था।[८]

ऋषियों ने पूजा एवं परिश्रम से यज्ञ को प्रारम्भ किया। देवता ऋषियों के ऊपर प्रसन्न होकर ऋषियों को उस स्थान को ले गये जहाँ पर कि देवता स्वर्गलोक को प्रांप्त करने के लिए प्रयत्न किया था। पुरोडाश को कछुवे के रूप में देखकर यज्ञ का अनुमान किया और ज्ञात हुआ है कि यही यज्ञ है।[९] उसी कूर्म को ऋषियों ने रोका तथा उसके माध्यम से यज्ञ को सम्पादन किया अतः उसे यज्ञ परम्परा कहा जाता है उसी को सामने रखकर ऋषियों ने यज्ञ को सम्पन्न कराया अतः इस का पुरोडाश नाम पड़ा। जिसके द्वारा प्रधानयाग की आहुति दिया जाना है।[१०]

---

१. आप. श्रौ., २.१९, पर रूद्रदत्तवरिष्ठ नाम उत्तरेहोमः नारिष्ठदेवता सम्बन्धात्,

२. तै. ब्रा., ३.७.५.११,

३. वही, ३.७.५.११,

४. तै. सं., ३.७.५.१२,

५. वही, ३.७.५.१२,

६. वही, १.३.१०.१,

७. तै. ब्रा., ३.७.५.११-१२, तथा ७.११.१, आप. श्रौ., २.२०.६,

८. श. ब्रा. १.६.२.१
"यज्ञेनवै देवाः। इमांजिति जिम्यु यैंषामियं जितस्ते हेतुः कथन्न इदं मनुष्यैरनम्भारोहयां स्यादिति ते यज्ञस्यरक्ष धीत्वा यथा मधुकृतो निर्धयेयुर्विदुह्य यज्ञं यूपेन योपयित्वा तिरोऽभवन्नथ मदेनेनायोपमेस्तस्माधूयो नाम तद्वाऽमृर्षाणामनुश्रुतमास।"

९. वही,

१०. श.ब्रा. १.६.२. ८-११
"अग्निवै देवानामद्राताम्। यंवाऽद्रातमां मन्येतनमुपधावेत्स्मा दग्नयऽएव। अग्निं वै देवानां मुदुदृदयतमः। यं वै मृदुदृश्यतमं मन्येत तमुपधान्तस्यादग्नयऽस्एव। अग्निवै देवानां ने दिष्टम्। यंवैने दिष्टिवमुपसर्तदिष्टियानां मन्येत तमुपधावेतस्मादिग्नएवऽस्व।"

पोर्णमासइष्टि के अन्तर्गत प्रधान याग की प्रतीक व्यंजना

आग्नेयाष्टकपाल पुरोडाश की प्रतीक व्यंजना : ––

दर्श तथा पौणमास ईष्ट में सामान्यतया अग्नि से लिए अष्ट कपाल पुरोडाश की हवि दी जाती है। यह हवि पूर्णमासी है न अमावस्या की—पूर्णमासी की हवि अग्निपोमीय, तथा दर्श की हवि सान्नाय्य है। परन्तु किए जाने वाला याग कहीं हवि यज्ञ से अलग न रह जाए इसलिए दर्श, तथा पौर्णमास इष्टि में अग्नि के लिए अष्ट कपाल पुरोडाश की हवि दी जाती है।[१]

अगर कोई गृहस्थ अध्वर्यु से निवेदन करे कि मेरे लिए यज्ञ करो तो अध्वर्यु को चाहिए कि वह यज्ञ को करें क्योंकि ऋषियों ने जब यज्ञ को किया था तो जो कुछ कामनाऐं थी वह पूर्ती हो गई थी, अतः यजमान दर्शपौर्णमास इष्टि करने से उसकी कामनाऐं स्वतः पूर्ण हो जाती है। अग्नि समस्त देवताओं का प्रतीक है अतः जो कुछ भी आहुति दी जाती है वह अग्नि में दी जाती है। [२]

अग्नि की विशेपवेता बताती हुई पुनः श्रुति कहती है कि अग्नि समस्त देवताओं से अधिक फल देने वाला है, तथा समस्त देवताओं के पास हवि को पहुँचाने वाला, अग्नि समस्त देवताओं का मृदु दृदय वाला है, और देवताओं का निकटतम है अतः अग्नेयाष्टकपाल पुरोडाश यजमान को देवताओं के प्रिय अर्थात् निकटतम बनाने के लिए और अपना मनोनूभूत कुल वस्तु को प्राप्त करने के लिए दोनों इष्टियों में सर्वप्रथम अग्नि के लिए अष्टकपाल पुरोडाश की हवि दी जाती है। बपट्कार रूपी वाणी से असुरों का विनाश होता है अतः पुरोडाश की आहुति मन्दस्वर से दी जाती है।

अग्निषोमीय उपांशु याग की प्रतीक व्यंजना : ––

दर्श पौर्णमास इष्टि के मध्य में अग्नि तथा सोमदेवता के उपांशु के रुप में दो बार आहुति दिया जाता है, जिसकी प्रतीक व्यंजना आख्यान से प्रारम्भ होता है जिसमें आख्यान अध्याय में देखा जा सकता है। अर्थात् अग्निषोमीय उपांशु याग, अग्निपोमीय पुरोडाश याग, अग्निपोमीय आज्य भाग, यह सब अग्नि तथा सोम देवता के लिए दिया ज़ाता है, तीनों भागों के देवता एक ही है, आज्याहुति से सूर्य, चन्द्र की प्राप्ति होती है, उपांशु

---

१. श.ब्रा. १.६.२.६
"सन पौर्णमास हविः। नामा अस्य च अग्निपोमीयएव पौर्णमासत्वः सान्नाय्यामष्टिमावास्यां यज्ञं एवैष उभयगानबन्कतृज्ञाप्तोघजादमानी तिन्वेवपुरस्तात पौणमासस्य क्रियत एवं वामावस्यांस्यै तन्नुतघस्यादत्रक्रियते।"

२. वही १.६. २. ७-८,
"मधुऽएनमुपस्थावेत्। इष्ट्या मायाजमेत्येतयैव याजगेधत् कामा वाऽएतमृषयोऽजुहवुः सएभ्यःकामः समर्ध्यत यत् कामो हवाऽस्तेनभवेन यजेते सोऽस्मै कामः समृध्यते यस्यै वै कास्यै च देवतायै हवि गृहयते अग्नौ वै तस्यै जुह्वत्यग्रा......। अग्नि वै सर्वा देवताः। अग्नैहि सर्वेभयोदेवताभ्यो जुह्वतितधता सर्वा देवताउपधा देव- तस्मादग्नेयदएथ।"

याग से दिन रात की तथा पुरोडाश से दोनों अर्द्धमास की प्राप्ति होती है। अग्नि एवं सोम को उत्पन्न करने वाली उन सभी विभूतियों को प्राप्त करना तथा इस आहुति से अहित शत्रुओं को मार डालने के विचार से उन तीनों अनुष्ठानों को किया जाता है।[1]

अग्नि तथा सोम को आज्याहुति से विभुक्षित प्रजा के लिए वृत्र नामक राक्षस को बलि अर्थात् भेंट देने के समान है, अतः इस कृत्य से अग्नि तथा सोम को आहुति दी जाती है।

अग्नि तथा सोम में समस्त देवताओं की भावना रखकर आज्य भाग की आहुति दी जाती है। इसलिए इन्द्र समस्त देवताओं में श्रेष्ठ है और इन्द्र में समस्त देवता विराजमान है। इस प्रकार अग्नि, सोम एवं इन्द्र के एकात्म्य भावना को रखते हुए आज्य भाग की आहुति के द्वारा यज्ञकर्ता अपने आदमियों में श्रेष्ठ हो जाता है।[2]

दोनों देवताओं से आहुति अग्नि में ही दी जाती है इसलिए कि अग्नि समस्त देवताओं के पास हवि प्रेषित करता है। और सोम समस्त देवताओं का प्रतिनिधि है।

पुनः अग्नि तथा सोम देवता के प्रतीक बताती हुई श्रुति कहती है कि सूर्य अग्नि की प्रतीक है चन्द्रमा सोम का, और दिन अग्नि का रात सोम का, बढ़ता हुआ अर्धमास अग्नि का, और घटता हुआ अर्धमास सोम का प्रतीक है।

दी जाने वाली दो आहुति दर्श पौर्णमास यज्ञ के दोनों आखें है, तथा अग्नि एवं सोम के प्रतिरुप है; शुक्र वर्ण की आंखे अग्नि का कृष्ण वर्ण वाली आखें सोम का प्रतिरुप है, प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली आखें अग्नि का; और सुषुप्ता वाली आंखे सोम का प्रतिरुप है। प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली आंखे शुष्क है और अग्नि भी शुष्क है। सोने वाली आद्र की प्रतीक है अतः आद्र सोम का विशेष गुण है। इसलिए सर्वप्रथम अग्नि तथा सोम (अर्थात् आंख को) आहुति दी जाती है, इसलिए कि आंखे सामने होती है कतिपय विद्वानों के अनुसार अग्नि को उतरार्ध एवं दक्षिणार्ध में क्रमशः आहुति देना चाहिए परन्तु याज्ञवलक्य के अनुसार हवि यज्ञ की आत्मा है, हवियों से द्वारा पहले आहुति देता है तब आंखे सामने ही होती है अतः जहाँ अत्यधिक अग्नि प्रज्वलित है, वहाँ पर आहुति देना चाहिए।[3]

अग्नि तथा सोम देवता को आज्य भागाहुति मध्य में अर्थात् आग्नेयाष्टाकपाल तथा अग्निषोमीय एकादश कपाल के मध्य में दिया जाता है, इसलिए कि आज्य एवं पुरोडाश से मिश्रण न हो क्योंकि दोनों देवता एवं उनके प्रतीक अलग-अलग है। आगे यह भी कहा गया है कि आज्याहुति एवं अग्नि सोम के मध्य में अनुष्ठान "जामि" अर्थात् दोहराने के दोष से बचने के लिए दिया जाता है। अतः एक बार ऋचा को पढ़कर "जुषाण" शब्द से यज्ञ को करते हैं, और द्वितीय बार ऋचा को बोलकर ऋचा को बोलते हैं इस तरह एक दूसरे में स्वतः

---

१. श. ब्रा. १.६.३. १७ २३-२६
"आज्य भागयाभ्यामेव सूर्य चन्द्रमसावाप्नोत्पुपासुयाजनै वाहोरात्रे आप्नोति पुरोडाशे नैवाद्र्मासरवरनोतीत्यु सर्वम आतपृसर्वम्जित सर्वेण वृत्रं हनानि सर्वेण द्विषतं भातृष्यं हनानीति तस्माद्वा स्तावदक्रियते।"

२. श. ब्रा. १.६.३. १८-२२
"देवस्येकदेवत्या अभवन्तस यो हवै मेतदवेद कथा हैव एवानां श्रेष्टो भवति।"

३. श. ब्रा. १.६.३.४
"तेवाऽएते अग्निषोममोरेव रुपमन्वायते यच्छुकलं तदाग्नेयं यत् कृष्णं तत् सौम्यं य वेतस्या यदेव कृष्णं तदाग्नये यत् च्छुकलं तत् सौम्यं यदेव वीक्षते तदाग्नेयं रूप शुष्केऽइव हि वीक्ष्यमावस्क्षच्छुकलं भवतः शुष्कमिव हयाग्रेयमदेव स्वप्रीति तत् सौम्यं रुपभाद्रेऽइव हि सुषुप्तयोऽओक्षणी भवत आद्र इव हि सोम आज्यरस हवाः अस्मिन्नोके चक्षुष्मान भवति स चक्षुरभुतिम लोके सम्भवति च एवमेत चक्षुषीऽआज्य भागौवेद।"

ही भेद हो जाता है। पुनः जामिता अर्थात् दुहराने के दोष से बचने के लिए याज्या एवं पुरोनुवास्या का विलक्षणता हेतु यह है कि ऋचा को पढ़कर जुगाण शब्द का उच्चारण करना एक और दाँत वाली प्रजा का उत्पन्न करने के समान है ऋचा हड्डी की प्रतीक है, दांत भी हड्डी है, इस तरह एक और हड्डी को उत्पन्न करता है। पुनः एक ऋचा को पढ़कर पुनः एक ऋचा को बोला जाता है इससे दो प्रकार की प्रजा उत्पन्न के समान अग्नि तथा सोम देवता के शक्ति को जानते हुए यजमान भी इस प्रकार से अग्नि एवं सोम के शक्ति की भावना करते हुए यज्ञ के द्वारा प्रजा एवं पशुओं से युक्त हो जाता है।[१]

आज्याहुति से अनुष्टुप छन्द युक्त मन्द स्वर से प्रजापति का स्वरूप को सम्पादन करते हुए, वषट्कार रुपी वज्र से अहितकारी शत्रु को मार डालता है।[२]

अग्निषोमीय एकादश कपाल पुरोडाश याग की प्रतीक व्यजंना : —

पौर्णमास इष्टि में अग्नि एवं सोम देवता को एकदशकपाल द्वारा निर्मित पुरोडाश की हवि दी जाती है।, जिस प्रकार इन्द्र ने, समस्त देवता, श्री, विद्या, अन्न एवं यज्ञ को अपने अधिकार में कर लिया था, उसी प्रकार कथित आहुति से यजमान भी सम्पूर्ण श्री एवं यश को प्राप्त कर लेता है और अन्न को भोग करने वाला होता है।[३]

दर्श इष्टि के अन्तर्गत प्रधान याग की प्रतीक व्यंजना : —

दर्श इष्टि में भी प्रधान याग में प्रधान देवताओं को आग्नेयाष्टकपाल, अग्निषोमीय आज्य भाग और इन्द्र और अग्नि के लिए द्वादश कपाल पुरोडाश की हवि तथा सान्नाय्य हवि दी जाती है।

ऐन्द्राग्न द्वादश कपाल पुरोडाश की प्रतीक व्यजंना : —

दर्श इष्टि में इन्द्र एवं अग्नि के लिए बारह कपालों पर निर्मित पुरोडाश की हवि प्रदान किया जाता है, वृत्र को मारकर जब इन्द्र पलायन हो रहा था उस समय इन्द्र अग्नि के साथ रह रहा था, इसलिए दो मित्र रूप इन्द्र और अग्नि को द्वादश कपाल पर निर्मित पुरोडाश की हवि दी जाती है।[४]

---

१. श. ब्रा. १.६.३ २७-३० अग्निषोमयोः प्रणति यजति वहुर्हैव प्रजया पशुभिर्भवति।

२. वही,

३. श. ब्रा. १.६.३ १४-१५ अग्निषोमीय एकादश कपालः पुरोडाशेभवति तावनु सर्वेदेवाः—सर्वा विद्या, सर्वयश सर्वमन्नाघ सर्वा। श्री—यो हवै विद्वान पौर्णमासेण यजत एतां है। भिन्न गच्छत्येव भय भवत्येवमन्नादो भवति।

४. श. ब्रा. १.६.९.३ देवानमिव माय्मामितेत समान हविनिर्रवयत्रैन्द्रागनं द्वादशकपालं पुरोडाशं तस्मादैन्द्राग्नौ द्वादशकपालःपुरोडाशः भवति।

सान्नाय्य याग की प्रतीक व्यजंना : —

दर्श इष्टि में सान्नाय्य हवि इन्द्र को प्रदान किया जाता है, सान्नाय्य अर्थात् दधि एवं तर्क मिश्रित हवि को कहा जाता है। प्रतीकात्मक रूप से वृत्र को मारकर डरा हुआ व दुबला हुआ इन्द्र को बलयुक्त करने के लिए ही यह कृत्य किया जाता है। यजमान सान्नाय्य हवि तैयार करके प्रजा एवं पशुओं से पूर्ण हो जाता है एवं उसका दोष नष्ट हो जाता है।[१]

सान्नाय्य हवि से इन्द्र को तृप्त करता है अतः सोमयाजी अथवा असोमायाजी दोनों ही इस अनुष्ठान को करते हैं।[२]

सान्नाय्य सम्पादन कृत्य पलाश शाखा के छेख देन से प्रारम्भ होता है, पलाश शाखा सोम से सम्बन्धित—सोम प्रकृति है उसी तरह प्रकृतिकत्व बछडे में समाहित करने के लिए पलाश शाखा से बछड़ों को अलग करता है। शाखा को स्पर्श करते समय सविता देवता तुम्हें प्रेरित करें यजमान यह कहता है। तदनन्तर बछड़ों के नाम से मिलाता है जिसमें बछडे को वायु का प्रतीक बताया, वायु गतिशील है और यह सब "यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म" की प्राप्ति के लिए करता है। प्रलाश शाखा से गाय एवं बछड़ों को अलग करने के बाद गहिर्पत्याग्नि के सामने झोपड़ी के ऊपर उस शाखा को यजमान के पशुओं की रक्षा हेतु खोंच देता है। यज्ञ ही वसु की प्रतीक है और कुश यज्ञ की पवित्रता की प्रतीक है अतः मैं आपके पलाश शाखा से बँधन करता हूँ।[३]

तदनन्तर घौ एवं पृथ्वी के प्रतीक रूप में दूध रखे जाने वाले बर्तन को अग्नि पर तपाता है और उसको यज्ञ के साधन हेतु बनाता है तदनन्तर उस हण्डी में पवित्री को रखता है, पवित्री पूर्व की दिशा है और उत्तर की दिशा मनुष्य की दिशा है वायु चारों तरफ आर पार होकर प्रवाहित होता है अतः पवित्री को उत्तर की तरफ मुंह करके स्थापना करता है यह पहले ही कहा जा चुका है कि वसुपवित्र है वही यज्ञ है।[४]

मौन होकर गाय को दूध दूहना चाहिए, तीनों गाये तीनों लोकों के प्रतीक हैं और दूध को लोक के हेतु दूहता है, दूध -दूहन के बाद रस के प्रतीक रूप में एक बूंद जल डालता है जिससे यह समस्त दूध रसपूर्ण हो जाए, जब वर्षा होती है तो वनस्पतियां होती हैं, वनस्पतियों को खाकर और जल को पीकर यह दूध रस के प्रतीक बन जाता है अतः उक्त अनुष्ठान को रस की पूर्णता के लिए किया जाता है। तदनन्तर उस दूध को यज्ञ के उपयुक्त साधन बनाने के लिए सान्नाय्य पात्र में अग्नि के द्वारा गाढ़ा किया जाता है। देवों के समान ही इस यज्ञ में भी दूध का आतचंन करते समय उस देवताओं के लिए स्वादिष्ट करते हुए "इन्द्र के भाग को सोम से गाढा, करता हूँ।" ऐसा कहता है, दुष्ट राक्षसों से बचने के लिए जलपूर्ण पात्र से उसको ढ़क दिया जाता है, जल वज्र की प्रतीक है अतः वज्र से "विष्णो हव्यछरक्ष" ऐसा कहता हुआ जल पूर्ण पात्र से उस दूध को ढक

१. श.ब्रा. १.६.४. ४-९
" प्रजया पशुभिराप्यायते—पापप्यमानं हतेतरुभाद्वे सन्नभेत्।"

२. श.ब्रा. १.६.४.११
" सोमेन नुमा याजताय एतदीप्यायनं सभ्यरिययेत्य ब्रवीदिति न वै मेदं धिनोति याज्याधिनवतन्मै कुरुतेति तस्या एततदाययतं समभरंस्तस्मादध्य सामयाजी समेव नयेत्।"

३. श. ब्रा. १.७.१.१
" सवै पूर्णशाखाया — वत्सानपकरोति। वधत् ॰ ार्णशाखाया वत्सापकरोति यत्र वै गायत्री सोममच्छांधापततदस्माऽआहरत्याऽ अपदिस्ताभ्ययस्य।"

४. श. ब्रा. १.७.१.११-१२,

दिया जाता है। सान्नाय्य पात्रों को यज्ञ के साधन हेतु तथा पवित्रों का निर्माण दूध को छानने के लिए किया जाता है।[१]

सान्नाय्य हवि की अर्थवत्ता : ––

दर्श और पौर्णमास इष्टि वृत्रघ्न के लिए है अर्थात् इन्द्र के लिए किया जाता है। चन्द्रमा को वृत्र को प्रतीक बताया गया है क्योंकि अमावस्या एवं पूर्णमासी को चन्द्रमा पूर्व में न पश्चिम में दिखाई पड़ता है क्योंकि उसी दिन इन्द्र वृत्र को वध करता है और चन्द्रमा इस लोक में आकर जल में और औषधियों में छिप जाता है और यज्ञ को सम्पादन करने वाला वनस्पति के और जल से बने हुए दूध से आहुति देता है और उस आहुति से चाँद को उत्पन्न करता है और वह चांद दूसरे दिन पश्चिम दिशा में उदय होता है।

सूर्य ही इन्द्र की प्रतीक है, चन्द्रमा वृत्र है यह आमावस्या के रात को चन्द्रमा बहुत दूर हो जाता है फिर भी वह सूर्य के मुख में प्रवेश कर लेता है। अतः चन्द्रमा अमावस्या एवं पूर्णमासी पूर्व में या पश्चिम में उदय होता है। सूर्य उस चन्द्रमा को चूस लेता है। चूसकर उस यन्द्रमा को फेंक देता है जो पश्चिम दिशा में दिखाई पड़ता है जो धीरे धीरे सूर्य की तरफ बढ़ता है जो सूर्य के भोजन को तैयार करता है और इन्द्र वृत्र को मारकर महेन्द्र बन जाता है अर्थात् महेन्द्र इन्द्र बन जाता है।[२]

दर्श एवं पूर्णमास दोनों इष्टियों में समान रूप से विद्यमान रहने वाला अग्नेयाष्टकपाल पुरोडाश के प्रसंग में मिथक् का वर्णन : ––

स्वर्ग को देवताओं ने यज्ञ के द्वारा विजय प्राप्त कर लिया था, जीतने के बाद देवताओं ने विचार किया कौनसा उपाय किया जाए मनुष्य इस विजय पर स्वर्ग की ओर न पहुंच सके। जिस प्रकार मधु मखियों में मधु को पूरी तरह से चूस लेती है उसी तरह देवताओं ने भी यज्ञ रुपी मधु से सम्पूर्ण रस को पीकर अर्न्तधान हो गये। यह बात ऋषियों को मालूम हुई कि देवताओं ने आपस में विचार करने और यज्ञ से रस को पीकर तथा मनुष्य के योग्य यह यज्ञ न बने इस तरह यज्ञ को पूर्व में छिपाकर अर्न्तध्यान हो गये।

ऋषियों ने खोजने का प्रयास किया और उसके निमित्त देव अर्चना, अनुष्ठान आदि करने लगे, देवताओं ने जीतना चाहा परन्तु ऋषि जीत गये। दोनों ने आकर्षित किया, देवों ने कहा आओ वहां चलते हैं जहाँ पर देवताओं ने यज्ञ के द्वारा स्वर्ग को जीता था, इतना कहकर वे सब इतस्तत घूमने लगे, कुछ स्वल्प कालान्तर में एक प्रकाशवान वस्तु को देखा और देखकर आश्चर्य करने लगे वह पुरोडाश था जो कूर्म के आकृति में रेंग रहा था और ऋषियों ने यह समझा कि यही यज्ञ है। तदनन्तर ऋषियों ने प्रकाशमान कछुए को अश्विन के लिए

---

१. श. ब्रा. १.७.१. १८-२१
मेनदोहयति पात्रेण तींस्मन्नुदस्तोकमानीयपलंय प्रत्यानयति यदत्र पत्र्यसोहा यितदिहात्ससदि तरसस्योवैव सर्वत्वयेदं हवियदा वर्षत्ययौप धयो जायन्त ओषधी जर्गध्वाप पीत्वा तत एव रस सम्भवति तस्मादुरसस्यो दैव सर्वात्वाम—स आतनकित— देवतायै हविर्गृहणन्नादिश त्येवमेवैत देवताया आदिशतियदाहेन्द्रास्यत्वा भागमिति सोमेनातनच्यीति स्वदयत्येवैनरत द्देवेभ्यः।

२. श. ब्रा. १.६.४ १२-२१

रुक जाओ सरस्वती के लिए रुक जाओ, इन्द्र के लिए रुक जाओ इस तरह कहते हुए निवेदन करने लगे परन्तु वह रेंगता रहा रुका नहीं, जब अग्नि के लिए रुक जाओ यह कहा तब वह पुरोडाश रूपी कूर्म यथा स्थान रुक गया, अग्नि के लिए रुक गया अतएव समस्त देवताओं के लिए आहुति करने योग्य उस कछुए के रुप पुरोडाश को अग्नि में आहुति प्रदान किया, इसलिए कि देवताओं के लिए आहुति प्रिय होती है।

तत्पश्चात् ऋषियों के लिए यह यज्ञ रुचिकर हुआ और उन्होंने इसका विस्तार किया जो यह यज्ञ परम्परा से कहा जाता है पिता ही अपने ब्रह्मचारी पुत्र को यज्ञ के विषय उपदेश देता है।

उन देवताओं ने यज्ञ की झलक ऋषियों को दिखा दी थी और पहले ही यज्ञ का फल भी मिलने लगा और यज्ञ इन लोगों के लिए आनन्द युक्त बन गया इसलिए इसे पुरोडाश कहते हैं इसका वास्तविक नाम पुरोदास है परन्तु लोग इसे पुरोडास के नाम से जानते हैं अतः दर्श पौर्णमास इष्टि में अनिवार्य रुप से आठ कपाल पर निर्मित पुरोडाश की हवि प्रदान की जाती है। जिसको अग्नि देवता से सम्बन्ध पुरोडाश कहा जाता है।[1]

एकादश कपाल पर निर्मित पुरोडाश के सम्बन्ध में मिथक् तथा अग्निषोमीय आज्य भाग से सम्बन्धित मिथक् : ––

यह सर्व विदित है कि त्वष्टा का पुत्र तीन मस्तक और छह आखों वाला था और मुख भी तीन थे अतः उसे विश्वरूप कहा जाता है—एक मुख में, सोमरस, दूसरा में सुरापान, और तृतीयं मुख से भोजन करता था, इन्द्र ने उसके प्रति द्वेष किया और इन्द्र ने उसके मस्तक को काट डाला और जिससे सोम पीता था उसेसे कापिञ्जल नामक चातक पक्षी उत्पन्न हुआ अतः वह भूरा रंग का था। सोम भी भूरे रंग का होता है इसलिए चातक पक्षी भूरे रंग की होतीं है।

जिस मुख से सुरा पीता था उससे गौरैया नामक पक्षी उत्पन्न हुआ अतः वह मदमस्त होकर कु कु के समान बोलता है क्योंकि आदमी सुरा पीकर मदमस्त हो जाता है—और जिस मुख से भोजन करता था उससे तितरी नामक पक्षी उत्पन्न हुआ। इसलिए उसके शरीर पर चितकबरे दाग होते हैं उसके पंखों पर कहीं कहीं घी, शहद के बुंद दिखाई देते हैं इसलिए विभिन्न विभिन्न रंग की वस्तु खाई थी।

इस पर त्वष्टा को क्रोध आया कि इन्द्र ने मेरे पुत्र को मार डाला, उसने इन्द्र से अलग सोम याग किया, इन्द्र को जब मालुम हुआ कि मुझे यज्ञ से अलग कर रहा है, और उसने बिना बुलाए ही कलश में स्थित सोमरस को पी लिया, सोमरस ने इन्द्र को पीडित किया और सोमरस इन्द्र के शरीर से समस्त अंग प्रत्यंग से बाहर निकल पड़ा अतः बाद में सौत्रामणी अपनी स्वरूप में आई। पुनः त्वष्टा को क्रोध आया कि इन्द्र ने बिना बुलाए आया और समस्त सोमरस को अनेक प्रकार से पान कर लिया।

इन्द्र ने स्वयं यज्ञ में हिंसा की। दोनों क्लश में अवशेष सोमरस के द्वारा त्वष्ट्रा ने यज्ञ को किया

---

१. श. ब्रा. १.६.३. १-५
यज्ञेन वै देवाः—यूपेन योपयित्वा—तेऽर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः—स एष उभयत्राच्युत आग्रयोष्टाकपालः पुरोडाशो भवति।

और सोमरस को उछालकर यह कहा कि "इन्द्रशत्रुवर्द्धस्व" हे अग्नि तू इन्द्र है शत्रु जिसका ऐसा होकर बढ़, और वह सोमरस अग्नि में पहुँचते ही मनुष्य हो गया। कतिपय लोगों के अनुसार वह मनुष्य मध्य में ही उत्पन्न हो गया था, और वह अग्नि तथा सोम के सम्मुख उत्पन्न हुआ और उसके पास समस्त विधाएं, सम्पूर्ण यज्ञ और श्री चली गई। चूँकि वह बढ़कर उत्पन्न हुआ इसलिए इसका नाम "वृत्र" पड़ा।

त्वष्टा ने यह कहा था कि इन्द्र है शत्रु जिसका वह बढ़े इसलिए इसे मार डाला, यदि वह निरन्तर यह कहता रहता इन्द्र का शत्रु बढ़े तो निश्चय ही इन्द्र को मारता और यह भी कहा कि बढ़ो इसलिए वह तीर के बराबर सामने की ओर बढ़ा इस तरह वह इतना बढ़ा कि पूर्व एवं पश्चिम से समुद्र को अपने पीछे हटा लिया, और वह जितना बढ़ा उतनी मात्रा में भोजन करने लगा। उसके लिए देवता पूर्वाह्न में मनुष्य अपराह्न में और मध्याह्न में पितर लोग भोजन ले आते थे। जब इन्द्र उसका पीछा कर रहा था तो उसने अग्नि व सोम को बुलाया और कहा कि हे अग्नि और सोम तुम दोनों मेरे हो और मैं तुम दोनों का हूँ, और तुम दोनों का वह कुछ नहीं है उस दस्यु को क्यों बढ़ा रहे हो, अतः तुम दोनों मेरे पास आओ, इन्द्र से उन दोनों यह कहा यह कहने से हमारा क्या लाभ होगा, इन्द्र ने कहा ग्यारह कपाल पर निर्मित पुरोडाश मिलेगा—इसलिए एकादश कपाल पर निर्मित पुरोडाश से अग्नि तथा सोम देवता को दिया जाता है।

इस तरह अग्नि सोम इन्द्र के पास से लौट आए, और उसके पीछे पीछे समस्त देवता और सारी विद्याऐं आई, समस्त यश, और समस्त उपभोग्य वस्तु और सारी श्री भी आ गई। उसके द्वारा यजन करके वह इन्द्र बना जो आज इन्द्र है यही पौर्णमास यज्ञ का महत्त्व है।

इस प्रकार से महत्त्व को जानते हुए पौर्णमास इष्टि के द्वारा यजन करता है वह इस प्रकार ही श्री को प्राप्त करता है, और वह यशस्वी होता है और उपभोक्ता भी बनता है, वह अर्थात् अग्नि से उत्पन्न हुआ असुर मारा गया और वह जल में पड़कर सड़ता रहा उसको मारने की इच्छा से इन्द्र उसके ओर दौड़ा, तब उसने कहा मुझे मत मारो, इस समय तुम वही हो मैं जो था तुम मुझे दो भाग कर दो और व्यर्थ से मुझे मत मारो, तब इन्द्र ने कहा तुम मेरे लिए खाद्य पदार्थ अन्न बन जाओ उसने कहा ऐसा ही होगा, जब इन्द्र ने दो टुकड़े कर दिए और जो उसमें सोमयुक्त अंश मिला हुआ था उसके अंश को चन्द्रमा बना दिया और असुर युक्त भाग वह प्रजा के पेट के रुप में प्रविष्ट हुई अर्थात् प्रजा का पेट बना इसलिए लोग कहते हैं कि उस समय वृत्र ही खाने वाला था और आज ही वृत्र खाने वाला है।

इन दोनों अग्नि एवं सोम के पीछे-पीछे आने वाले देवताओं ने यह कहा कि तुम दोनों हम लोगों में से अधिक भागीदार हो। हमें भी भाग दो। दोनों ने कहा कि उसमें हमारा भाग क्या होगा, उन दोनों ने कहा जिस किसी भी देवता के लिए हवि का निर्वाप किया जाएगा उसके पहले तुम दोनों को आज्य की आहुति दी जाएगी इसलिए लोग किसी भी देवता के लिए हवि तैयार करते हैं। तो उसके पूर्व आज्य के भागीदार अग्नि और सोम का यजन करते हैं।

अग्नि ने कहा कि मुझ में ही सबके लिए तुम लोग आहुति दो तब मैं तुम दोनों को भागीदार बनाऊंगा अतः समस्त देवताओं के लिए अग्नि में आहुति दी जाती है। इसलिए कहा जाता है कि अग्नि भी देवताओं का प्रतीक है। तदनन्तर सोम ने कहा कि मुझे ही तुम लोग सभी देवताओं के लिए हवि प्रदान करो, तब मैं तुम लोगों को भागीदार बताउ। अतः समस्त देवताओं के पास हवि पहुंचाते रहते हैं प्रतिनिधि के रूप में सोम को आहुति दी जाती है। इसलिए कि सोम समस्त देवताओं के प्रतिनिधि है। चूँकि इन्द्र में सब स्थित हैं। इसलिए

इन्द्र समस्त देवताओं का प्रतिनिधि है, देवताओं में इन्द्र सर्वश्रेष्ठ है ऐसा कहा जाता है। इस प्रकार से तीन होते हुए भी देव एक हो गए, जो व्यक्ति इस प्रकार से जानता है वह अपने समाज में अकेले ही श्रेष्ठ हो जाता है।[१]

दर्श इष्टि में द्वादश कपालों पर निर्मित पुरोडाश इन्द्र और अग्नि के लिये तथा सान्नाय्य हवि को दिया जाता है। उससे सम्बन्धित मिथके इस प्रकार से हैं।

द्वादशकपाल पुरोडाश की आख्यान

जब इन्द्र ने वृत्र पर वज्र फेंका तो इन्द्र ने अपने को कमजोर समझता हुआ भयभीत होकर छिप गया। देवताओं ने यह जान लिया कि इन्द्र ने वृत्र को मारकर कहीं छिप गया है, तव देवताओं में अग्नि ऋषियों में हिरण्यस्तूप, छन्दों में वृहती खोजने लगे। अग्नि ने इन्द्र को प्राप्त कर लिया और उसके साथ इस अमावस्या के रात को आ गया। इन्द्र देवताओं का धन है जो चला गया था वह आ गया परन्तु अग्नि साथ में निवास कर रहा है—जिस तरह दो सम्बन्धि अथवा मित्र के लिए चावल पकाया जाता है जो मानवीय हवि होती है वही दी जाती है। उसी तरह देवों में भी इन दोनो इन्द्र व अग्नि देवता के लिए बारह कपालों पर निर्मित पुरोडाश की हवि दी जाती है इसलिए दर्श इष्टि में द्वादश कपाल निर्मित पुरोडाश की हवि दी जाती है।[२]

सान्नाय्य हवि का आख्यान

इन्द्र ने कहा कि जब मैं वृत्र को १५ प्रहार किया तो मैं डर गया और कमजोर हो गया अतः बारह कपालों पर निर्मित पुरोडाश की हवि पर्याप्त नहीं है, ऐसी हवि तैयार होना चाहिए जो अधिक हो और पौष्टिक हो ! तब देवताओं ने विचार करके सोम को एकत्र करने लगे, और सोम का एकत्र किया गया। यहीं सोम देवताओं का अन्न है। चन्द्रमा अमावस्या कि रात्रि में पूर्व में न पश्चिम में दिखाई पडता है और वह इस लोक में आ जाता है और वह जल और औषधियों में प्रविष्ट हो जाता है।

उस सोम को गायों के द्वारा एकत्र किए जाने लगा, गायों ने औषधियों को खाई थी और औषधियों के द्वारा जल को पान किया और उस सोम को एकत्र करके और उसे जमा करके कठोर बनाकर दिये जाने लगा। इसको खाकर इन्द्र ने कहा इससे मेरा पेट तो भर जाता है परन्तु मुझे अच्छा नहीं लगता। यह मुझमें ठहरता नहीं जिस प्रकार से यह मुझ में ठहर जाए उस तरह का उपाय करें। तब देवों ने उसे पके हुए दूध के द्वारा

शब्रा. १.६.३.१-२२,
" त्वष्ठ हंवै पुत्रः—तमिन्द्रो द्रिद्रपेतस्य तानि शीर्षाणि प्रचिच्छेद — ततः कपिंजलः सम भवत्तस्मात्स —ततः कलपिङ्क — सुरां पीत्वा वदति। सत्वष्ट् चक्रधो — किमा वयोस्ततः स्यादिति ताभ्यामेतमग्नीषोमी चेकादंश कपालं पुरोडाशं विश्वपतस्याग्निषोमोय एकादश कपालः पुरोडाशः भवति।—ता उहैता देवता ऊचुः—यस्यै कस्यै देवतायै हविर्निवपानिति हय ब्रुवन— हैव स्वानां श्रेष्टो भवति।"

२. शं. ब्रा. १.६.४. १-९
" इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार।—अग्नि देवताः॥ हिरण्यस्तूप—ते देवा अब्रुवन हविर्निर वपन्नैन्द्रायग्नं द्वादश कपालं पुरोडाश तस्माद्वैन्द्राग्नो द्वादश कपालः पुरोडाश भवति।"

स्वादिष्ट बना दिया, जिस तरह इन्द्र ने वृत्र को अलग अलग कर दिया था उसी प्रकार से इन्द्र ने स्वादिष्ट दुग्ध सोम युक्त पदार्थों को खाकर बढ़ने लगा, बलयुक्त होकर और पापियों को मारकर दूर भगा दिया।

इस तरह रहस्य को समझ कर सान्नाय्य हवि बनाता है वह इसी प्रकार से प्रजाओं और पशुओं के द्वारा प्रवृद्ध हो जाता है, दुष्टों का नाश करता है अतः निश्चय ही सान्नाय्य हवि तैयार करना चाहिए।[१]

अवदान कृलप्ति प्रतीक व्यजंना

मनुष्य जन्म होते ही तीन प्रकार से ऋणी हो जाता है—जिसको क्रमशः देव, ऋषि, पितर, मनुष्य, ऋण कहा जाता है। यज्ञ के द्वारा देव ऋण से, वेद पढ़कर ऋषिऋण से, सन्तान की रक्षा से अर्थात् वंशों की परम्परा को चलाते रहना पितरों के ऋण से, मनुष्यों के आतिथ्य, सत्कार करके मनुष्य ऋण से छुटकारा प्राप्त करता है।[२]

यज्ञ के द्वारा देवताओं को प्रसन्न करता है। इसलिए कि यज्ञ में पुरोडाश को आहुति देता है जिसको अवदान कहा जाता है।

यज्ञ के चार भाग होते हैं जिसको क्रमशः — अनुवाकय, यज्ञ, वषट्कार, चतुर्थ वह देवता जिसके लिए आहुति दी जाती है जो देवता एक दूसरे के अधीन होते हैं या अधीन देवता के अधीन होते हैं, यद्यपि कतिपय विद्वानों के अनुसार अवदान का पांच टुकडा होता है इसलिए पांच भागवाला पशु वर्ष में पांच ऋतुऐं इसी तरह पांच भाग करके वह पशु सन्तान को प्राप्त करते हैं परन्तु कुरु पांचाल देश में अवदान का चार टुकडा होता है।[३]

अवदान समान भाग से काटा जाना चाहिए समान भाव से न काटने से वह यज्ञ ऋद्धि शून्य हो जाएगा अतः ऋद्धि शून्य से बचने के लिए मात्रा के अनुकूल कटना चाहिए।[४]

घृत को एक बार नीचे रखकर दो वार हवि कटने से पूर्व ऊपर से गिराया जाता है। जिसको दो आहुति के प्रतीक बताया गया है। एक सोम की दूसरी घी की—सोम की आहुति स्वयं यजमान है आज्य-वही हवि है और वही पशु है अतः दोनों तरफ घी डाली जाती है आज्य देवताओं को प्रिय है अतः देव प्रसन्नतार्थ दोनों तरफ घी डाली जाती है।[५]

द्यौ के प्रतीक अनुवाक्य है, पृथ्वी आज्य के प्रतीक दोनों ही स्त्रीलिंग है दोनों में एक जोडा बषट्कार

---

१. शब्रा. १. ६.४. ६-९
" स इन्द्रो ब्रवीत — सम्भृत्यातच्य तीव्रीकृत्य तपस्मै प्रायच्छन्।— एवमाप्यायसताप पाप्मान हरियाण महतैब—प्रजया पशुभिरप्यायते—तस्यात्रद्धै सन्नयेत्।"

२. शब्रा. १.७.२-१-३
" ऋण हवै जायते योऽस्ति। स जायमान एव देवेभ्य ऋषिभ्यः पितृभ्यो मनुष्येभ्यः स यदेव यजेत् तेन देवेभ्य ऋणं जायते यद् देवेभ्य एतत् करोति यदेनान्यजते यदेभ्यो जुहोति। अथ यदेवानुब्रवीत। तेनऽर्षिभ्य ऋणं जायते तद्धयेभ्यएतत् करोत्यृषीणन्निधिगोप इति हयनूदानमाहुः।"

३. शब्रा. १.७.२. ७-८

४. वही १.७.२.९

५. शब्रा. १.७.२,१०,

है— बषट्कार सूर्य की प्रतीक है—उदय के समय घौ से संपर्क स्थापित करता है। अस्त के समय पृथ्वी से मंपर्क करता है अतः घौ तथा पृथ्वी जो कुछ उत्पन्न करते हैं वह सब सूर्य की सहायता से उत्पन्न करने हैं।[१]

वही बषट्कार देवताओं के भोजन हैं क्योंकि बषट कार बोलकर तत् तत् देवताओं को आहुति देता है।[२]

पृथ्वी गायत्री छन्द की प्रतीक है, घौ त्रिष्टुपधन् की प्रतीक है। गायत्रीं छन्द को पढ़ता है तो द्यौ को बढ़ाता है और गायत्री से, पृथ्वी को बढ़ता है गायत्री स्वयं पृथ्वी है। त्रिष्टुपधन् से यज्ञ को किया जाता है अर्थात् पृथ्वी में याज्य की प्रतीक है उस पृथ्वी के ऊपर वषट्कार को रखाता है घौ त्रिष्टुत्र है अर्थात् पृथ्वी और घौ का संयोग करता है।[३]

अनुवाक्य—लडखडाती वाणी में बोलना है—द्यौ अनुवाक्य है—वृहत् साम वही द्यौ है। याज्या को शीघ्र बोला जाता है याज्या पृथ्वी की प्रतीक है—रथन्तर भी पृथ्वी की प्रतीक है और चांदसूर्य, नक्षत्र, यह सब अनुवाक्य के प्रतीक है, याज्या पृथ्वी की प्रतीक है और औषधि वनस्पति, जल, अग्नि प्रजा, इसके अंग है।[४]

अनुवाक्य को श्रेष्ठ अनुवाक्य कहा गया है इसलिए देवता का नाम जोडा जाता है, याज्य को श्रेष्ठ इसलिए कहा गया है उसके अन्त में बषट्कार का उच्चारण किया जाता है। देवता ऋक् है अर्थात् वीर्य है--वाणी बषट्कार के प्रतीक एवं वीर्य के प्रतीक है। जिससे वीर्य का सिंचन किया जाता है वह वीर्य ऋतुओं के ऊपर सिंचन किया जाता है जो ऋतु प्रजा उतपन्न करती है। अतः अन्त में वषट्कार का उच्चारण किया जाता है।[५]



---

१. श.ब्रा. १.७.२.११ असौवाऽअनुवाक्येय याज्या—प्रजाति प्रजायते यैनयोरियं प्रजातिः ॥

२. श. ब्रा. १.७.२. १२,

३. श. ब्रा. १.७.२.१५-१६
" असौवाऽअनुवाक्येय याज्या सावै गायत्रीयं त्रिष्टुवसौ स वै गायत्री मन्वाह तदभूमनुब्रवन्न सोष्यनु वाक्ये मामन्वाहेयाै हिगायत्री अथ त्रिष्टुया भजति। तदनया यजन्नियं हियाज्यायुप्या अधि वषटकरोत्यसाऽ हि त्रिष्टुपदेने सयुजौ करोति तस्मादिये सभ्युज्ञातदे अनुमोदनु सभ्योर्णगादियाः सर्व।: प्रजा अनु समुज्ञते।"

४. श. ब्रा. १.७.२-१७-१९

५. वही १. २.२.-२०-२१

पंचम - अध्याय

दर्शपौर्णमास याग से सम्बद्ध सामान्य अनुष्ठान

पंचम अध्याय

दर्शपौर्णमास याग से सम्बद्ध सामान्य अनुष्ठान

स्विष्टकृत् याग

स्विष्टकृत् शब्द सु + इष्ट + कृत के संयोग से निष्पन्न है।[१] प्रकृष्ट रूप से प्रिय अथवा हितकारी याग को स्विष्टकृतयाग कहा जाता है। प्रधान याग को भली प्रकार से इष्ट किये जाने के कारण (सुष्ठुइष्टं करोति) इसे स्विष्टकृत् कहते हैं।[२] अभीष्ट फलप्रदायी रुद्रदेवता को दी जाने वाली आहुति स्विष्टकृत् याग कहलाती है। वस्तुतः रूद्र भी अग्नि का एक नाम है।[३]

विधि : —

इसकी विधि में अध्वर्यु प्रधान देवता हेतु आहुति देने के अनन्तर पुनः दक्षिण पाद से हवि स्थित स्थान के पास आकर होता को अग्नि के लिए स्विष्टकृत् आहुति हेतु पुरोनुवाक्या मन्त्र का पाठ करने के लिए प्रैष देता है।[४] होता आदिष्ट होकर "प्रेद्धो अग्ने"[५] मन्त्र का पाठ करता है। तदनन्तर अध्वर्यु जुहू में आज्य का उपस्तरण करके पौर्णमास इष्टि के दोनों पुरोडाश के उत्तरार्ध से एक-एक अवदान लेता है।[६]

यदि यजमान पञ्चावती हो तो पुरोडाश के दो अवदान लेकर दो बार स्रुव् के द्वारा आज्य लेकर अवदान के ऊपर गिराया जाता है।[७] प्रथम अवदान से ये अवदान बड़े होते हैं।[८] ध्यातव्य है कि यहाँ पर पुरोडाश के काटे गये स्थल पर प्रत्याभिधारण नहीं किया जाता है।[९] तदनन्तर पूर्ववत् बायें पैर को आगे बढ़ाते हुए आह्वनीय अग्नि के पास जाकर अध्वर्यु और आग्नीध्र आश्रवण - प्रत्याश्रवण कृत्य को करते हैं।[१०] तदनन्तर अध्वर्यु होता

---

१. पा. अ. सू., स. ३३६२

२. श. बा., १.७.३.९, यत्त्वय्यमुल सत्ययस्यहि तन्नः स्विष्टं कुर्वति तदेभ्यः स्विष्टमकरोत्तस्मास्वत्विष्टकृत् इति।, का. श्रौ. भू., ३५ वै. को. पृ. ३५

३. द्र. - श. ब्रा., १.७.३.८

४. का. श्रौ., बेवर, पृ. २५५, बौ. श्रौ., २४.२८.२७.१४, अग्नयेस्विष्ट कृतेऽनुब्रूहि इति, भा. श्रौ., १.१९.२, मा. श्रौ., १.३.२.२४

५. ऋ सं., ७.१.३

६. श. ब्रा., १.७.३.२०, स वा उत्तरार्धादवद्यति। तै. ब्रा., २.६.६.५, बौ. श्रौ., २४.२८, २७.१२.१.१७, आ. श्रौ., २.२१.३, का. श्रौ. (विद्याधर टीका), पृ. ११३, भा. श्रौ., १.१९.३, स. श्रौ., २.६, वै. श्रौ., ६.१, का. श्रौ., ३.२.२५ यावदर्ध् विस्तर्द्ध स्विष्टकृतः सर्वेषां हविषार्मुत्तरार्धात् सकृत सकृच्चतुरवदानस्यवधेति।, तु. मा. श्रौ., १.३.२.२२

७. आप. श्रौ., २.२१.१३, का. श्रौ., पृ. २५५, बौ. श्रौ., २४.२८.२७.१२, भा. श्रौ., १.१९.३, स. श्रौ. २.६,

८. आप. श्रौ., २.२१.४, बौ. क. सू., २४.२८,

९. आप. श्रौ., २.२१.५, तु. का. श्रौ., बेवर पृ. २५५, भा. श्रौ., २.१९.५, स. श्रौ., २.६

१०. का. श्रौ., पृ. २५५, बेवर बौ. श्रौ., २४.२८, २७.१२, भा. श्रौ., १.१९.६, मा. श्रौ., १.३.२.२५

को "स्विष्टकृत्" याज्या मन्त्र बोलने हेतु आदेश देता है।[१] होता आदिष्ट होकर "ये यजामहेऽग्नि. " का उपांशु पूर्वक, तदनन्तर "अग्निषोमयोः"[२] का उच्च स्वर से पाठ करता है।[३] पूर्ववत् बौषट् उच्चारण के अनन्तर अध्वर्यु अग्नि के उत्तरार्ध में आहुति देता है[४], परन्तु तै. शाखा के अनुसार उत्तर पूर्वार्ध में आहुति देनी चाहिए।[५]

यहाँ पर अन्य पूर्व आहुतियों से इस आहुति को अलग होना चाहिए।[६] इधर यजमान "यह स्विष्टकृत् आहुति का है मेरा नहीं"- इस तरह का उच्चारण करता है।[७] ध्यातव्य है कि आहुति देते समय अध्वर्यु आह्वनीय अग्नि के आठ, ग्यारह या बारह पग दूर पर रहकर आहुति प्रदान करता है।[८] इसी तरह दर्श याग में भी आहुति दी जाती है, परन्तु देवताओं के नाम-क्रम से अग्निषोम के स्थान में "विष्णुरिन्द्राग्नी"देवता का नाम जोड़ा जाता है।[९] इसी तरह सान्नाय्य याग में देवता नाम के क्रम से "अग्ने प्रियधामान्ययाट्"[१०] इस मन्त्रांश के बाद "अग्निषोमयोः" इस मन्त्रांश का उपांशु उच्चारण करके "प्रियधामान्ययाड्रिन्द्रस्य प्रियधामानि" तथा महेन्द्र देवता के पक्ष में "महेन्द्रस्य प्रियधामानि" इत्यादि मन्त्रांश का उच्चारण करके आहुति दी जाती है, यहीं प्रक्रिया असान्नाय्य याग में भी विहित है।[११] शाखान्तर में इससे पूर्व अन्य देवता सम्बन्धी मन्त्रों का पाठ का विनियोग है।[१२] स्विष्टकृत आहुति के बाद अध्वर्यु अपने स्थान पर लौटकर जुह्वा में जल डालता है, तदनन्तर "वैश्वानरहंस[१३]"मन्त्र के द्वारा परिधियों के भीतर जल गिराता है।[१४] इसके बाद अध्वर्यु, ऋत्विक्, होता आदि सभी को स्पर्श करके जल का स्पर्श करता है।[१५] तदनन्तर स्रुचि को यथास्थान रखकर आगे का कृत्य किया जाता है।[१६]

संचर प्रोक्षण -

संचरप्रोक्षण का अर्थ गमनागमन मार्ग को जल से अभिसिंचित करना है। इसकी विधि में अध्वर्यु स्फय को वामहस्त में लेकर प्रणीता जल से आगे के कार्य को सम्पादित करने के लिए मार्ग को अभिसिंचित करता है। इसमें किसी मन्त्र का विनियोग नहीं है।[१७]

---

१. का. श्रौ., बेवर पृ. २५५, बौ. श्रौ., २४.२८, २७.१२, भा. श्रौ., १.१९.६
२. वा. सं., २१.४७, का. हो. प., १.४, तु. तै. ब्रा., ३.५.७
३. श. ब्रा., १.७.३.१०-१५, का. सं. ब्रा., ३२, का. श. ब्रा. २.६.४.२.७
४. श. ब्रा., १.७.३.२०, का. श. ब्रा., २.६.४.२.७, तु. का. श्रौ., ३.२.२७
५. आप. श्रौ., २.२१.६, बौ. श्रौ., २४.२८, भा. श्रौ., १.९.७, वा. श्रौ., १.३.४.३५, वै. श्रौ., ४.९, मा. श्रौ., १.३.२.२६, स. श्रौ., २.६ उत्तरार्धे पूर्वार्धे जुहोति। ग. त. प्र., होमऽयमग्नावुत्तरार्धपूर्वार्धेकर्तव्यः।
६. आप. श्रौ., २.२१.७
७. दर्श. पौ. प., पृ. ८०
८. श. ब्रा., १.७.३.२३-२५
९. दर्श. पौ. प., पृ. १२४
१०. ऋ. सं., १.१५.१४
११. दर्श. पौ. प., पृ. १२०
१२. आप. श्रौ., ४.९.१३
१३. तै. आ., ६.६.१
१४. बौ. श्रौ., २४.२८
१५. शां. ब्रा., ३.६, आप. श्रौ., २.२१.७, स. श्रौ., २.२.६
१६. का. श्रौ., ४.२.२९, निधाय, बौ. श्रौ., २४.२८.१.१९, भा. श्रौ., २.१९.८, मा. श्रौ., १.३.२.२७, शा. श्रौ., २.३.७
१७. वेद गृहीतैरद्भिः संचरमुदकसंस्थमभ्युक्ष्य, का. श्रौ., विद्याधर की टीका, पृ. १४

प्राशित्रहरण

प्राशित्र शब्द प्र + अश् (भोजने) "इत्रच्" प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है।[१] प्राशित्र शब्द का अर्थ उत्कृष्ट भोज्यपदार्थ। प्राशित्र जिस पात्र में लिया जाता है उसे "प्राशित्रहरण" कहा जाता है। प्राशित्र ब्रह्मा को दिये जाने वाला अंश है। ब्रह्मा इस का भक्षण करता है।[२] आग्नीध्र यज्ञ के दक्षिण भाग में संरक्षक रूप में विद्यमान ब्रह्मा के पास प्राशित्र को उनके भक्षणार्थ ले जाता है।[३] यह प्राशित्र यव अथवा पिप्पल के परिमाण का होता है।[४] विकल्प से यह यव का परिमाण वाला ही होता है।[५]

अध्वर्यु द्वारा प्रेषित आग्नीध्र पश्चिम की ओर रखे गये प्राशित्र हरण पात्र को ब्रह्मा को देता है। ब्रह्मा समन्त्रक अंजलि के द्वारा लेकर वेदी के ऊपर बिछे कुश के ऊपर रखता है।[६] कतिपय सूत्रकारों के अनुसार इडा वाला कार्य सर्वप्रथम, तत्पश्चात् प्राशित्रहरण वाला कार्य किया जाता है।[७]

विधि : —

इस विधि में अध्वर्यु प्राशित्रहरण पात्र को आज्य के द्वारा अभिसिंचित करके पौर्णमास इष्टि के दोनों पुरोडाश से अर्थात् आग्नेय अष्टकपाल पुरोडाश के तथा अग्नीषोमीय एकादशकपाल पुरोडाश के मस्तक भाग से दो खण्ड यव मात्र या पिप्पल मात्र परिमाण वाला पुरोडाश काटकर प्राशित्रहरण पात्र में रखता है।[८] ध्यातव्य है कि प्राशित्र का थोड़ा सा भाग काटना चाहिए और ऊपर या नीचे आज्य रखकर प्राशित्र को रखना चाहिए।[९] पुरोडाश को घी से चुपड़कर उसमें से दो खण्ड लेकर पात्र में रखना चाहिए। तदनन्तर अध्वर्यु काटे गये स्थान पर भी आज्य गिराता है।[१०] इसके बाद उस प्राशित्रहरण पात्र को वह एक और पात्र को आच्छादित संचर मार्ग से जाकर ब्रह्मा को देता है।[११] ध्यातव्य है कि आह्वनीय के पूर्व से प्राशित्र को लिया जाता है।[१२] परन्तु याज्ञवल्क्य इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि पूर्व में पशु यजमान की ओर मुंह करके खड़े होते हैं।

१. पा. अ. सू., ३७९२

का. श्रौ., भू., पृ. ३४, वै. को., पृ. ३९५, आ. आ. श्रौ. सू., विमर्श, पृ. १३९, ब्रह्मणे भक्षणार्थ दीयमाणस्य हविर्भागस्य कस्यचित् प्राशित्रहरणमितिसंज्ञा।

३. श. ब्रा., १.७.४.१८

४. का. श्रौ., २.४.१, प्राशित्रं ब्रह्म भागं यवप्रमाणं पिप्पलफलप्रमाणं वा, तुल. वैखा. श्रौ., ६.१०, वै. श्रौ., १.३.७, तु. गो. ब्रा., २.१.३, आप. श्रौ., ३.२.९, मा. श्रौ., १.३.३.२२, बौ. श्रौ., १.१७-१८,३.१८

५. तै. सं., २.६.४.८, ४., गो. ब्रा. २.१३, यवमात्रं वद्येत।

६. श्रौ. प. नि., पृ. ३५-३८,

७. आप. श्रौ., ३.१.१, बौ. श्रौ., १.७ तथा १.१८,

८. तै. ब्रा., ३.३.८, तै. सं. ब्रा., २.६.८, का. श्रौ., २.४.१, भा. श्रौ., ३.२.७-९,

९. श. ब्रा., २.३.८, भा. श्रौ., ३.२.९,

१०. श. ब्रा., १.७.४.११, स. श्रौ., २.३.७, वैता. श्रौ. १.३.७

११. स. श्रौ., २.३.७,

१२. श. ब्रा., १.१.४.१२,

यदि आह्वनीय अग्नि के पूर्व से इडा को अध्वर्यु ले जायेगा तो पशुओं में रूद्र की शक्ति दे देगा और यजमान के घर के सब पशु नष्ट हो जायेंगे। अतः अध्वर्यु को चाहिए कि तिर्यक् होकर हवि को ले जाये, जिससे वह (इडा) को पशुओं में रूद्र शक्ति नहीं देगा और रूद्र के तीर को मुड़कर निकाल देगा।[१]

तदनन्तर अध्वर्यु द्वारा दिये गये प्राशित्र को ब्रह्मा सर्वप्रथम "मित्रस्यस्वाचक्षुषा प्रतिक्षे"[२] मन्त्र से प्राशित्र भाग का निरीक्षण करता है।[३] पुनः "देवस्यत्वा"[४] मन्त्र से दोनों हाथों से उससे लेता है।[५] काण्वशाखा के अनुसार अनामिका और अंगुष्ठ से प्राशित्र भाग को लिया जाता है।[६] तदनन्तर "अग्नेष्टनाऽस्येन प्राश्नामि"[७] मन्त्र से ब्रह्मा दाँतों का बिना स्पर्श किये ही भक्षण करता है।[८] तत् पश्चात् आचमन करके उत्कर में वह हाथ को प्रक्षालन करता है।[९] और "अप्स्वन्त - - - - -शमयन्तु"[१०] मन्त्र से नाभि का स्पर्श करके जल का स्पर्श करता है।[११] ध्यातव्य है कि यहाँ पर प्राशित्र को खाना निषिद्ध बताया गया है।[१२] इसीलिए वेदि के दक्षिण भाग में बिछे कुश के ऊपर पृथिव्यास्त्वा नाभौ"मन्त्र से प्राशित्र को रखता है।[१३] और ऋत्विक् लोग जब भक्षण करें तब भक्षण करना चाहिए।[१४]

इड़ाकर्म

इड़ा - (इला) का अर्थ - "स्त्री" से है। इड़ा शब्द स्त्री का वाचक है।[१५] इड़ा पात्र में विधि से लिये गये हवि को इडा कहा जाता है।[१६] अन्यत्र इड़ा को पशु कहा गया है।[१७] "निघण्टु"में इड़ा को गौ का पर्यायवाची बताया गया है।[१८] इस इड़ा को यजमान तथा पुरोहित खाते हैं।[१९]

---

१. श. ब्रा., १.७.४.११,
२. का. श्रौ., २.२.१३
३. श. ब्रा., १.७.४.१३, तत् प्रतिगृहणाति देवस्यत्वा - इति। तु. तै. सं. ब्रा. २.६.८, शां. ब्रा., ६.१४, गो. ब्रा., २.१.४.२, वैखा. श्रौ., ६.१०, बौ. श्रौ., १.३.८, कौ. सू. ९१.२, बौ. श्रौ., २०.१३.-१४, २४
४. वा. सं. २.११, वा. का. सं., २.२.३,
५. श. ब्रा., १.७.४.१३, तत् प्रतिगृहणाति देवस्यत्वा - इति। शां. ब्रा., ६.१४, गो. ब्रा., २.१.२.४, तै. सं. ब्रा., २.६.८, वै. श्रौ., १.३.९, मा. श्रौ., २.११, कौ. सू., २.२, का. श्रौ. सू. २.२.१४, आप. श्रौ., ३.९.७, द्रा.श्रौ., १२.३.१०, स. श्रौ. २.८ वैखा. श्रौ., ७.१
६. दर्श. पौ., पृ. ८९, काण्व शाखायाम् अनामिकां अंगुष्ठाभ्यां पात्रात् प्राशित्र भागमादाय, तु. बौ. श्रौ. २०.१३.१४, २४
७. बा. सं., २.११, वा. का. सं., २.२-२
८. श. ब्रा., १.७.४.१५, तत् प्राश्नाति, तु. तै. सं. ब्रा., २.६.८, शां. ब्रा. ८.१४ गो. ब्रा. २.१.३, का. श्रौ., २.२.१५, आप. श्रौ., ३.३.८-१०, आश्व. श्रौ. २.१३.१, कौ. सू.६५.१४, वै. श्रौ., १.३.११
९. श. ब्रा., १.७.४.१६, अथाप आचमति तु. शां. ब्रा., ८.१४, गो. ब्रा. २.१.३
१०. का. श्रौ. २.२.२०,
११. दर्श. पौ. पृ. ८२ नाभिं आलभ्य अप उपस्पृशेत् "शां. ब्रा. ८.१४, गो. ब्रा." २.१.२-४
१२. दर्श. पौ. पृ. ८१-८२, यदाऽत्र प्राशित्रस्य प्राशना भावस्तदा वेदि दक्षिणांसे स्तुतानि बर्हिषि अपोध्य, ॐ " पृथिव्यास्त्वानाभौ सादयाम्यदिला उपस्थे हव्य रक्ष" इति मन्त्रेण अनास्कृत भूमौ प्राग्दण्डं तत् पात्रं साक्षित्वा—।
१३. तु. गो. ब्रा., २.१.२, का. श्रौ., २.१.१५, आप. श्रौ., ३.१९.७ वै. श्रौ., १.३.१०
१४. अन्य भाग प्राश्नावसरे उक्त प्रकारेण भक्षयेत्। दर्श. पौ. पृ. ८१-८२
१५. अ. को., पृ. ४०५, काण्ड १११, श्लोक संख्या ४१२, वाचस्पत्यम्, भाग २, पृ. ९२०
१६. ऋ. सं., ७.६४.२, ५.५.३२, ४.५०.८, तु. - ऐ. ब्रा., २.४.६.१५, "अन्नं वा एडः"
१७. श. ब्रा., १.८.१.३८, "पशवो वाऽइड़ा"
१८. कौ. ब्रा., ९.२, निघण्टु, २.११
१९. श. ब्रा., १.८.१.३८, रत्नकुमारी दीपिका टीका, लेखक - गंगाप्रसाद उपाध्याय, ता वै प्राश्नंत्येव (यजमान और पुरोहित)

विधि : —

इड़ा का पञ्चावत - इस विधि में अध्वर्यु सर्वप्रथम इड़ापात्र को गार्हपत्य में तपाकर उसमें पञ्चावादन करता है। पञ्चावादन में सर्वप्रथम इड़ापात्री में एक बार आज्य का उपस्तरण करके दो बार पुरोडाश का अवदान लेकर पुनः दो बार घृत का अभिधारण करने के पश्चात् पुरोडाश के दक्षिण तथा मध्य से अवदान लेकर द्वितीय पुरोडाश के भी दक्षिण और मध्य से अवदान लेकर दो बार आज्यस्थाली से दो बार घृत का अभिधारण किया जाता है, जिसको इड़ा का पञ्चावत कहा जाता है।[१]

आग्नीध्र भाग

इड़ा का षडवत्त — ही यह भाग आग्नीध्र भाग कहलाता है। इसकी विधि में पूर्ववत् "षडवत्त" पात्र के भी आज्य का अभिधारण करके पूर्ववत् पुरोडाश के अनियत प्रदेश से एक-एक बार पुरोडाश का अवदान लेकर आज्यस्थाली से घृत का अभिधारण किया जाता है।[२] **ब्रह्मा भाग** — इसी तरह आग्नेय पुरोडाश के अनियत स्थान से अवदान लेकर ध्रुवा में रखा जाता है - यह ब्रह्मा का भाग है।[३]

यजमान भाग —

पूर्ववत् आग्नेय पुरोडाश के पूर्वार्ध से किंचित् किन्तु लम्बायमान भाग को यजमान के लिए ध्रुवा के पूर्व में दर्भों के ऊपर रखता है, जिसको यजमान भाग कहा जाता है।४ विकल्प से पुरोडाश के दक्षिणार्ध भाग से इडा का अवदान लेकर उसके पूर्वार्ध तथा दक्षिणार्ध सन्धि-स्थल से यजमान भाग का अवदान लेने का विधान है।५ ज्ञातव्य है कि पहले लिया गया इडा नामक अवदान स्विष्टकृत् हेतु लिये गये अवदान से बड़ा होता है।६ भारद्वाज ने तो पहले इडा का अवदान का वर्णन किया है तदनन्तर प्राशित्र का।७ बौधायन के अनुसार यजमान का अवदान तीन या चार अंगुल लम्बा होता है।८

तत् पश्चात् अध्वर्यु पश्चिमाभिमुख होकर इडा पात्र को होता के हाथ में देकर अपने हाथ को इडा पात्री से न हटाते हुए होता के आगे पश्चिमाभिमुख बैठता है, तदनन्तर होता अध्वर्यु को इडा पात्री समर्पित करता है।९

१. श. बा., १.८.१.१२, सार्वेपञ्चावत्रा भवति तु - तै. बा., ३.३.८, का. श्रौ., २.४.३, भा. श्रौ., ३.१.१, वैखा. श्रौ., ६.११, स. श्रौ., २.३.७, बौ. श्रौ., १.१७-१८, ३.१८; आप. श्रौ., ३.७.२.६
२. तै. बा., ३.३.८
३. श. बा., १.८.१.१३, त - तै. बा., ३.३.८
४. तै. बा., ३.३.८, का. श्रौ., २.४.४, भा. श्रौ., ३.१.२, मा. श्रौ., १.३.३.६, स. श्रौ., ३.३.७. बौ. श्रौ., १.१७-१८, ३.१८, आप. श्रौ., ३.७.२.९
५. आप. श्रौ., ३.१.११
६. बौ. का. सू., २४.२८
७. भा. श्रौ., ३.१.१.२.७
८. बौ. श्रौ., १.१८
९. का. श्रौ., २.४.५, भा. श्रौ., ३.१.१९, मा. श्रौ., १.३.३.७, स. श्रौ., २.३.७

इसके बाद होता तर्जनी, मध्यमा तथा अनामिका अंगुलि के द्वारा इडा नामक आज्य के द्वारा हवि के ऊपर लेप करता है।[१] तत् पश्चात् स्रुव में लगे हुए आज्य को दोनों होठों पर लगाता है।[२] तदनन्तर जल का स्पर्श करता है। तदनन्तर अध्वर्यु होता के हाथ में स्थित इड़ा का पाँच अवदान करता है।[३] और अध्वर्यु उस में से पाँचवा भाग ग्रहण करता है। पुनः होता को इड़ा पात्र देकर उसमें स्थित पुरोडाश आदि का सब ऋत्विक् स्पर्श करते हुए होता "उपहूतरथन्तर" मन्त्र से इडा का आह्वान करता है।[४]

आग्नेय पुरोडाश का चतुर्धाकरण : ––

तदनन्तर अध्वर्यु होता पूर्व मन्त्र का पाठ करते समय ही आग्नेय पुरोडाश के अवशिष्ट भाग का चार भाग करता है, जिसे चतुर्धाकरण कहा जाता है।[५] ज्ञातव्य है कि चौथा भाग अन्य भागों की तुलना में बड़ा होता है।[६] तथा "ब्रध्नपिन्वस्व" मन्त्र के उच्चारण के अन्त में चारों भागों को कुशा के ऊपर रखता है।[७]

इस तरह रखकर यजमान यह ब्रह्मा का, यह होता का, यह अध्वर्यु का, यह आग्नीत का भाग है - यह कहकर स्पर्श करते हुए ऋत्विजों को बताता है[८], अथवा सर्वप्रथम आग्नीध्र या होता के भाग को स्पर्श करना चाहिए।[९] पुनः यजमान दक्षिणाभिमुख अपसव्य होकर उन भागों को "अत्र पितरो"[१०] मन्त्र से पितरों को देता है।[११] उसी अवस्था में ही इडा भाग को स्पर्श करते हुए "अमीमदन्त"[१२] मन्त्र का पाठ करता है।[१३] तत् पश्चात् सव्य होकर जल का स्पर्श करता है[१४] और निर्देश किये गये क्रम से तत्-तत् ऋत्विजों का नाम लेकर समर्पित करता है। इस विधि में सर्वप्रथम जिस समय होता "उपहूतेद्यावा पृथिवी"इस मन्त्रांश का पाठ कर रहा है, आग्नीध्र को षडवत्त भाग का समर्पण करता है।[१५] समर्पण कर लेने के अनन्तर पुनः होता "मानवीघृतपघुत - - - - -तस्मिन्नुपहुतः"मन्त्र का उच्च स्वर से पाठ करता है।[१६]

---

१. श. ब्रा., १.८.१.१४, स होतुरिह निलिम्पति, तै. ब्रा., ३.८.८.३, का. श्रौ., २.४.६, भा. श्रौ., ३.१.१८, वा. श्रौ., १.५.७, मा. श्रौ., १.३.३.९-१०, स. श्रौ., २.३.७, बौ. श्रौ., ३.२१-२९, आप. श्रौ., ३.७.२, वा. श्रौ., १.३.५.७

२. श. ब्रा., १.८.१.१५, शा. ब्रा., ३.७, तु-बौ. श्रौ., ३.२८-२९

३. श. ब्रा., १.८.१.१७ अथ होतुः प्राणौ समवघति।

४. श. ब्रा., १.८.११९-२४, शां. ब्रा., ३.७, तै. ब्रा., ३.५.८, का. श्रौ., २.४.७-९, भा. श्रौ., ३.१.१२-१८, वा. श्रौ., १.३.५.१२, स. श्रौ., २.३.८ बौ. श्रौ., ३.२४-२५,

५. श. ब्रा., १.८.१.३९, तै. ब्रा., ३.३.८, शां. ब्रा., ३.७,

६. आप. श्रौ., ३.३.२

७. श. ब्रा., १.८.१.४०, तै. ब्रा., ३.३.८, शां. ब्रा., ३.७, का. श्रौ., २.४.१०, भा. श्रौ., ३.२.१-४, मा. श्रौ., १.३.३.२०, आप. श्रौ., ३.७.३.२

८. तै. ब्रा., ३.३.८, तु- मै. सं. ब्रा., १.४.१२, तु-का. सं. ब्रा., ३२.२, का. श्रौ., २.४.१०, भा. श्रौ., ३.२.१-४, वैखा. श्रौ., ६.११.७.२

९. आप. श्रौ., ३.३.२

१०. वा. सं., २.३१

११. का. श्रौ., २.४.१३, यजमानो जपति, नोट - परन्तु अपसव्य का होना और दक्षिणाभिमुख होना ऐसा देव याज्ञिक पद्धति में कहा गया है, और अन्य ग्रन्थों में प्रतीत नहीं होता है।

१२. वा. सं., २.३१

१३. का. श्रौ., २.४.१४

१४. दर्श पौ. प., पृ. ८५

१५. श. ब्रा., १.८.१.४१, का. श्रौ., २.४.१६, भा. श्रौ., ३.३.५, आप. श्रौ., ३.३५.८, मा. श्रौ., १.३.३.१६, वैता. श्रौ., १.३.१६, बौ. श्रौ., ३.२४-२५

१६. श. ब्रा., १.८.१.२६-३७, तै. ब्रा. ३.५.८

ध्यातव्य है कि इडा को समर्पण करते समय जब होता "उपहुतोऽयजमानो"[१] मन्त्र का पाठ कर रहा हो तब यजमान को चाहिए कि "मयीदमिन्द्र"[२] मन्त्रांश का पाठ करे।[३] उसे मन्त्र का उच्चारण ऐसा करना चाहिए, जिससे बगल में बैठा हुआ पुरुष भी सुन न सके। अतः हल्के स्वर में मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए।[४] तत् पश्चात् सभी ऋत्विक् और यजमान अपने-अपने भाग को लेकर प्रणीता और उत्कर के बीच में से निकल कर खाते हैं[५], परन्तु आग्नीत् सर्वप्रथम चतुर्धा किये गये भाग को खाकर आचमन करता है। तदनन्तर षडवत्त् पात्रस्थ भाग को खाकर आचमन करता है[६], जिसमें "उपहूतापृथिवी"[७] मन्त्र का विनियोग किया जाता है। "उपहूतोद्यौष्वितोप"[८] मन्त्र से षडवत्त पात्रस्थ द्वितीय भाग को खाता है।[९] इसी तरह अन्य ऋत्विज् भी सर्वप्रथम चतुर्धाकरण भाग को खाने के बाद इडा को खाते हैं और यजमान भी इडा में अवदान किये गये अपने पाँचवे भाग को खाता है।[१०]

तदनन्तर सब लोग आचमन करके जिस तरह आगे-पीछे क्रम से गये थे वैसे ही लौटकर वेदि के पश्चात् भाग में बैठकर ब्रह्मादि सब लोग "सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु"[११] मन्त्र से पवित्री के द्वारा जल का मार्जन करते हैं[१२], परन्तु दर्श याग में पवित्र तथा शाखा (पलाश) पत्र को मिलाकर सम्मार्जन किया जाता है और पुनः उस शाखा पवित्र को लगाकर यथा स्थान रख दिया जाता है।[१३] तदनन्तर अध्वर्यु "यजमानस्य प्राणापानौपातम्"[१४] मन्त्र से अथवा मौन होकर पवित्रों को प्रस्तर के ऊपर रख लेता है।[१५] ध्यातव्य है कि ब्रह्मा यहाँ पर विकल्प से प्राशित्र को इस समय खाकर नाभिस्पर्श पर्यन्त इस कृत्य को यहाँ पर कर सकता है।[१६] तदनन्तर षड्भागानतर्गत पहले से निकाले गये ब्रह्मा के भाग को अध्वर्यु देता है। ब्रह्मा उस भाग को लेकर प्राशित्र हरण पात्र में रखता है और उस प्राशित्रहरण पात्र को गार्हपत्य से पश्चिम ध्रुवा के पूर्व में वर्हिपर रखता है। इसी तरह यजमान का भाग यजमान को देता है। यजमान भी कुश के ऊपर रख देता है।[१७] जिसे "पुर्नः भाग परिहरण" कहा जाता है। यदि यजमान विदेश में हो तो उसे उसका भाग देने का विधान नहीं है।

---

१. श. ब्रा., १.८.१.२६-३७
२. वा. सं., २.१०
३. का. श्रौ., २.४.१८, यजमानोजपति,
४. श्रौ. य. प., पृ. ३६ प्रकाशक - रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत, हरियाणा (डॉ. विजयपाल वारिधि), सन् १९८४
५. श. ब्रा., १.८.१, शां. ब्रा., ३.७, तै. सं. ब्रा., २.६.८, का. श. ब्रा., २.७३, का. श्रौ., २.४.१९:२०, भा.श्रौ. ३.३.६-८ वै.श्रौ. १.३.१७, आप.श्रौ. ३.२.११, बौ. श्रौ., ३.२४-२५
६. दर्श. पौ. प., पृ. ८५
७. वा. सं., २.१०
८. वा. सं., २.११
९. दर्श. पौ. प., पृ. ८५, स. श्रौ., २.३८
१०. स. श्रौ., २.३.६
११. वा. सं., ६.२२
१२. श. ब्रा., १.८.१.४३, का. श्रौ., ३.४.२१, स. श्रौ., २.३.८, आप. श्रौ., ३.७.३.१, वै. श्रौ., १.३.१८, बौ. श्रौ., ३.२४-२५
१३. दर्श. पौ. प., पृ. ८५
१४. वा. सं., ३४.२५
१५. श. ब्रा., १.८.१.४४, का. श्रौ., २.४.२२, तुष्णीं. बी. नी. वा., २.४.२३
१६. का. श्रौ., २.४.-२४, "अत्र वा ब्रह्मा प्राश्नाति"
१७. का. श्रौ., २.४.२६-२७

इस परिस्थिति में यजमान के भाग को अग्नि में छोड़ दिया जाता है।[१] और व्रत विसर्जन के अनन्तर ब्रह्मा तथा यजमान दोनों अपने-अपने भाग को खाते हैं।[२]

दर्श इष्टि के असान्नाय्य याग में ऐन्द्राग्न पुरोडाश का प्राशित्रहरण और इड़ा से व्यतिरिक्त यजमान भाग या षडवत्त भाग अथवा चतुर्धाकरण कुछ भी नहीं होता है। सान्नाय्य याग में दही और दूध में से प्राशित्र हरण पात्र में और इडापात्री में ही अवदान करे, अन्यत्र षडवत्त पात्रादि में अवदान नहीं किया जाता है। ध्यातव्य है कि सर्वप्रथम दूध तत् पश्चात् दधि का अवदान किया जाता है।[३]

अन्वाहार्य समर्पण

दक्षिणाग्नि पर पर्याप्त भोजन पकाकर यज्ञ की समाप्ति में ऋत्विक् लोग भोजन करते हैं उसे अन्वाहार्य कहा जाता है।[४] जिससे यज्ञ सम्बन्धी दोष परिहार होता है।[५] इस अन्वाहार्य को दर्शनपूर्णमास यज्ञ की दक्षिणा कहा गया है।[६] शाखान्तर के अनुसार इस चावल को दूध में पकाया जाता है, जिसकी विधि पहले ही बतायी जा चुकी है।[७]

इस प्रकार यज्ञ में दक्षिणा ऋत्विजों को प्रसन्न करने के लिए[८] और यजमान को पापों से बचाने के लिए[९], "यजमान" की समृद्धि के लिए[१०] और यज्ञानुष्ठान के समय यज्ञानुगत दोषों को नष्ट करने के लिए अन्वाहार्य के रूप में दी जाती है।[११] इस दक्षिणा को लेने की प्रक्रिया इस प्रकार है - पकाये गये चावल के ऊपर सर्वप्रथम घृत का अभिधारण किया जाता है।[१२]

तत् पश्चात् उस ओदन-भाण्ड को उत्तर की ओर दक्षिणाग्नि की दक्षिण दिशा में रखा जाता है[१३], तदनन्तर "ओम् प्रजापतये"[१४] मन्त्र से उस भाण्ड को स्पर्श किया जाता है।[१५] आपस्तम्ब श्रौत सूत्र के अनुसार यजमान

---

१. दर्श. पौ. प., पृ. ८७, प्रेषिते च यजमाने समर्पणाभावः स च भक्षणकाले हूयते।

२: दर्श. पौ. प., पृ. ८७

३. दर्श. पौ. प., पृ. १२०

४. आ. आ. श्रौ., विमर्शः पृ. १४६, ऋत्विग्भ्यो दक्षिणा रूपेण देयो दक्षिणाग्नौ पकव ओदनऽन्वाहार्यः। तु- श्रौ. प. नि., पृ. १४-९५, का. श्रौ., भू., पृ. ३६, अच्युत वै. को., पृ. ३९५

५. का. श्रौ. भू., पृ. ३६, अन्वाहरति यज्ञसम्बन्धिदोपजातं परिहरति अनेनेति अन्वाहार्यो नाम।

६. श. ब्रा., १.२.३.५, ११.१.३.७, तै. ब्रा., ३.२.५, तै. सं. ब्रा., १.७.३, तु- गो. ब्रा., २.१.५-७, का. श. ब्रा., २.२.१, का. श्रौ., २.४.२८, भा. श्रौ., २.३.३

७. आप. श्रौ., ३.३.१३ क्षीरं भवत्येके.

८. तै. सं. ब्रा., १.७.३.२, देवदूता वा एत ऋक्विजः। यदयन्वाहार्यमाहरति देवदूतानेव प्रीणाति।

९. श. ब्रा., १.२.३.४, तस्मिन्यृजते योदक्षिणेन हविपा यजते्।

१०. गो. ब्रा., २.१.५ एष ओदनः पच्यते दक्षिणैया दीयतेयज्ञस्येर्द्धया।

११. तै. सं. ब्रा., १.७.३.१, श. ब्रा., १.२.३.५, ११.१.३२-७, गो. ब्रा., २.१५, बौ. श्रौ., २४.२९, का. श्रौ., ३.४.२८

१२. का. श्रौ., २.४.२७, आप. श्रौ., ३.३.१४, भा. श्रौ., ३.३.११, वा. श्रौ., १.३.५.१४, स. श्रौ., २.३.८, बौ. श्रौ., १.१८, ३.१८

१३. का. श्रौ., २.४.२७, भा. श्रौ., ३.३.३, मा. श्रौ., ३.३.२५, स. श्रौ., २.३.८, बौ. श्रौ., १.१८.३.१८, अतएव दक्षिणास्यां श्रोण्यानीति शालिकिः।

१४. का. श्रौ., ३४.२४,

१५. का. श्रौ., २.४.२९,

के द्वारा वेदि में रखे गये अन्वाहार्य को ब्रह्मा भी "ब्रह्मन्"[१] मन्त्र के द्वारा स्पर्श करता है।[२] तत् पश्चात् यजमान पौर्णमास इष्टि की समृद्धि के लिए "यह अन्वाहार्य दक्षिणा समस्त ऋत्विजों को दे रहा हूँ" इस तरह कहकर संकल्प करता है।[३] तदनन्तर अध्वर्यु यजमान को आदेश देता है कि दक्षिण दिशा में बैठे समस्त ऋत्विजों को अन्वाहार्य ओदन प्रदान करो[४], यजमान आदिष्ट होकर दर्शपौर्णमास इष्टि की समृद्धि के लिए अन्वाहार्य दक्षिणा ब्रह्मा आदि समस्त ऋत्विजों को समर्पित करता है।[५], ध्यातव्य है कि - अन्वाहार्य ओदन देते समय क्रमशः "ब्रह्मन यस्ते भाग सः प्रतिगृह्ताम्" तदनन्तर होता को भी "होता यस्ते", और अध्वर्यु के लिए "अध्वर्यु यस्ते" तथा आग्नीध्र के लिए "आग्नीध्र यस्ते"- - - -। इस तरह कहकर अन्वाहार्य ओदन प्रदान करना चाहिए।[६] तदनन्तर समस्त ऋत्विग् "द्यौस्त्वा ददातु पृथिविस्त्वा प्रतिगृह्णातु"[७] मन्त्र से अपने-अपने भाग को ग्रहण करते है।[८] तदनन्तर वेदि के उत्तर बाहर निकल कर अन्वाहार्य ओदन का भक्षण करते हैं।[९] बचे हुए हविष्य को भी बाहर अर्थात् वेदि के उत्तर में उत्कर से थोड़ी दूर पर रख दिया जाता है।[१०] तदनन्तर ऋत्विग् लोग जिस क्रम से गये थे उसी क्रम से अपने आसन पर लौटकर बैठते हैं।[११]

अनुयाज

"अनु" का अर्थ है — पश्चात्। प्रधान याग के अनन्तर किये जाने वाले याग को अनुयाज कहा जाता है।[१२] दर्शपौर्णमास यज्ञ के द्वारा जिस देवता को आहुति देनी थी वह दी जा चुकी है, परन्तु इस समय उसी इष्ट देवता को आहुति दी जानी है, अतः इसका नाम अनुयाज है और जिस देवता को आहुति दी जा चुकी है उस देवता को इष्ट कहा जाता है। अनु अर्थात् पीछे दिये जाने वाले याग को अनुयाज कहा जाता है।[१३]

अनुयाज की उपयोगिता बताती हुई श्रुति कहती है कि अनुयाज छन्द है। छन्द देवों का पशु है। जिस प्रकार पशु मनुष्यों के लिए भार ले जाते हैं, उसी प्रकार छन्द भी देवताओं के लिए यज्ञ को ले जाते हैं और देवताओं को प्रसन्न करते हैं। देवता इन छन्दों को तृप्त करता है, इसलिए अनुयाज किया जाता है, क्योंकि जिस

---

१. तै. सं., ६.३.६

२. आप. श्री., ४.११.३, बौ. श्री., १.१८.३.१८

३. दर्श. पौ. प., पृ. ८७

४. मै. सं., १.४.६, गे. ब्रा., २.१.६, भा. श्री., ३.४.६, आप. श्री., ३.४.१, स. श्री., २.३.८, वै. श्री., ७.३

५. गौ. ब्रा., २.१.७, आप. श्री., ३.४.३, वै. श्री., ७.३, स. श्री., २.३.८, वै. श्री., १.३.२०, मा. श्री., २.४.२.१२, का. श्री., ३.४.२७-२८

६. दर्श. पौ. प., पृ. ८८, तु. स. श्री., पृ. ७१२, (महादेव वैजयन्ती व्याख्या), तु. वै. श्री., १.३.२१, का. सू., ४५.१७, बौ. श्री., १.१८.३.१८, शा. श्री., ४.७.१५

७. पा. गृ. सू., ३.१५.२१

८. का. श्री., २.४.२९, आप. श्री., ३.४.४., ३.२०.१०.१, तु- स. श्री., २.३.८. "प्रतिगृहणामि"

९. का. श्री., २.४.२९, वैखा. श्री., ७.३, स. श्री., २.३.८

१०. का. श्री., ३.४.२९, उदूगुदूवासयति हविश्च, आप. श्री., ३.४.५, दर्श. पौ. प., पृ. ८८, तु. स. श्री., २.३.८

११. द्र. स. श्री., पृ. २१२ (महादेव वैजयन्ती व्याख्या)

१२. वै. को., पृ. ३९५, का. श्री.. सू., पृ. ३६ अनुपश्चात् प्रधानयागानन्तरंमिज्यते इति अनुयाजाः।

१३. श. ब्रा., १.८.२.७, अथानुयाजन्ययजति । यावाद्एतेन यज्ञेन देवता हवयति याभ्यएषयज्ञस्तायते सर्वा वै तन्ताइष्टा भवन्ति तद्यता सु सर्वास्विष्टा स्वद्धैवा पर्श्यैवानु यजति तस्मादनुयाजनामँ।

वाहन से यात्रा की जाती है, उसे जल तथा इन्धन सामग्री दी जाती है, अर्थात् उस वाहन का चालक प्रसन्न करता है। उसी तरह देवता भी छन्दों को तृप्त करते है, इसलिए अनुयाज किया जाता है।[१] अनुयाज तीन होते हैं।[२] यह तीन अनुयाज किसी न किसी से सम्बद्ध होता है। सर्वप्रथम वर्हि यज्ञ किया जाता है। यह बर्हि औषधि है। तदनन्तर नाराशंस यज्ञ किया जाता है जो अन्तरिक्ष लोक से सम्बन्ध रखता है। तत् पश्चात् तृतीय अनुयाज की आहुति दी जाती है, जिसे अग्नि यज्ञ कहा जाता है और जिसका सम्बन्ध गायत्री से है। सबके अन्त में अनुयाज अंगभूत देवताओं के लिए यज्ञ करता है, जो छन्दों से सम्बन्ध रखता है, क्योंकि छन्द देवताओं को देवता है।[३] ध्यातव्य है कि ये आहुतियाँ एक दूसरे से पश्चिम में दी जाती हैं। प्रथम आहुति को समिधा के पूर्वार्ध में, द्वितीय को मध्य में, तृतीय को पश्चिम में और अन्तिम अनुयाज को सबसे अलग दी जाती है।[४]

अनुयाज की विधि : —

इस विधि में सर्वप्रथम अध्वर्यु दो जलते हुये अंगार को आह्वनीय कुण्ड से निकालकर पुनः उसी अग्नि में डाल देता है, जिसके द्वारा बुझी हुई अग्नि प्रज्ज्वलित हो जाती है।[५] तदनन्तर अध्वर्यु सामिधेनी ऋचाओं के अनुवचन से बचाई हुई एक समिधा को लेकर ब्रह्मा से आज्ञा माँगता है कि मैं समिधा को अग्नि में डालूँ[६]। इधर अध्वर्यु आग्नीध्र को आदेश देता है कि हे आग्नीध्र तुम अग्नि को ठीक करो। तदनन्तर ब्रह्मा उपांशु स्वर से "एतं तेदेव." मन्त्रांश का पाठ करके, "ओम् प्रतिष्ठ"[७] इस मन्त्रांश का उच्च स्वर में पाठ करके, अध्वर्यु को प्रस्थान की आज्ञा देता है।[८] तदनन्तर अध्वर्यु उत्तर पश्चिम में खड़ा होकर आग्नीध्र समर्पित समिधा को लेकर आह्वनीय अग्नि में डाल देता है।[९] तदनन्तर होता "एषाते अग्ने समित"[१०] मन्त्र का पाठ करता है।[११] तत् पश्चात् आग्नीध्र उसी स्थान पर खड़ा होकर "अग्नेवाजजिद्वाजं"[१२] मन्त्र से अग्नि के पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, पार्श्व का एक-एक बार सम्मार्जन करता है।[१३] ध्यातव्य है कि प्रत्येक दिशा के अग्नि सम्मार्जन में मन्त्र का आवृत चलते रहना चाहिए।[१४]

---

१. श. ब्रा., १.८.२.८-९
२. श्री. य. प्र., पृ. ५६
३. श. ब्रा., १.८.२.११-१४
४. का. श्री., २.५.१०-११.१२
५. श. ब्रा., १.८.२.१-२, का. श्री., ३.५५, वैखा. श्री., ७.३, स. श्री., २.३.८, भा. श्री. २.३.५
६. का. श्री., २.५.१, गो. ब्रा., २.१.४, का. श्री., ३.५.१, भा. श्री., २.३.५, वा. श्री., १.३.५.१५, मा. श्री., १.३.४.१२, स. श्री. द्र. २.३.८, बौ. श्री., १.१९
७. का. श्री., विद्याधर टीका, पृ. ११९, वा. श्री., १.३.५.१६, स. श्री., २.३.८, वैता. श्री., १.३.२२, बौ. श्री., १.१९, आप. श्री., ३.७.४.५
८. वा. सं., २.१२-१३
९. दर्श. पौ. प., पृ. ८८
१०. वा. सं., २.१४
११. श. ब्रा., १.८.२.४, भा. श्री., ३.४.६
१२. वा. सं., २.१४
१३. श. ब्रा., १.८.२.५, तै. सं. ब्रा., २.६.९, तै. ब्रा., ३.३.८-९., गो. ब्रा., २.१.४, का. श्री., ३.५.४, भा. श्री., ३.४, वा. श्री., १.३.५.१६, वैखा. श्री., ७.४, मा. श्री., १.३.४.१, स. श्री., २.३.८, वै. श्री., २.१३, आप. श्री., ३.४.५-७, बौ. श्री., १.१९
१४. दर्श. पौ. प., पृ. ८९

तदनन्तर एक बार बिना मन्त्र का उच्चारण किये कुण्ड के बीच के भाग का सम्मार्जन करता है।[१] इसके बाद सम्मार्जन किये गये कुश को आह्वनीय अग्नि में अथवा उत्कर में डाल दिया जाता है।[२]

प्रथम अनुयाज : ––

इस विधि में अध्वर्यु ब्रह्मा से आज्ञा प्राप्त करके उपभृत से थोड़ा सा आज्य जुहू में लेकर बायें पैर को आगे बढ़ाते हुए यजति स्थान पर जाता है। तदनन्तर अध्वर्यु, आग्नीध्र, आश्रवण प्रत्याश्रवण कृत्य को करते हैं। अध्वर्यु होता से कहे कि "देवनांयज" अर्थात् देवताओं के लिए अनुयाज आहुति हेतु याज्या का पाठ करो।[३] ध्यातव्य है कि प्रथम अनुयाज में ही "देवनांयज"का पाठ किया जाता है।[४] परन्तु और अन्य दो अनुयाज के लिए मात्र "यज्" शब्द का प्रयोग किया जाता है किन्तु याज्ञवल्क्य इसका खण्डन करते हैं कि "देव"शब्द हर स्थान पर बोलना चाहिए[५], परन्तु कर्काचार्य के अनुसार शतपथ ब्राह्मण में "विकृति" यज्ञ में यज, शब्द का प्रयोग किया गया है। जैसे पित्रेष्टि, वरुण प्रघास के यज्ञ में प्राप्त होता है।[६]

तदनन्तर होता आदिष्ट होकर "देवं वर्हिर्वसुवने वसुधेयस्य वेतु वौषट्"[७] इस याज्या मन्त्र को पाठ करता है[८], "वौषट्" उच्चारण के सद्यः अनन्तर अध्वर्यु जुहू को नीचे उतार कर प्रदीप्त समिधाओं के पूर्वार्ध में आज्या के तृतीय भाग को आहुति देता है।[९] तदनन्तर यजमान "यह मेरा नहीं वर्हि का है" इस तरह पाठ करता है।

द्वितीय अनुयाज : ––

इसी तरह द्वितीय अनुयाज में भी पूर्ववत् आश्रवण-प्रत्याश्रवण कृत्य को करके अध्वर्यु होता को द्वितीय अनुयाज पाठ करने हेतु आदेश देता है। होता आदिष्ट होकर "देवो नराशंसो वसुवेन वसुधेयस्यवेतु बोषट्"[१०] इस मन्त्रांश याज्या का पाठ करता है।[११] पूर्ववत् बौषट् उच्चारण के सद्यः अनन्तर अध्वर्यु पूर्ववत जुहू को नीचे उत्कर पहले की गयी आहुति के पश्चिम में आहुति प्रदान करता है।[१२] इधर यजमान "यह देवताओं के लिए है मेरा नहीं"इस तरह पाठ करता है।[१३]

---

१. दर्श. पौ. प., पृ. ८९
२. भा. श्रौ., ३.४.९-१०, वैखा. श्रौ., ७.४, स. श्रौ., ३.८, बौ. श्रौ., १.१९
३. का. श्रौ., २.८.६, भा. श्रौ., ३.५.१, तु-मा. श्रौ., १.३.४., स. श्रौ., २.४.९, बौ. श्रौ., १.१९
४. का. श्रौ., २.८.७, भा. श्रौ., ३.५.३, वा. श्रौ., १.२.५.१८, वैखा. श्रौ., ७.१२, मा. श्रौ., १.३.४.४, बौ. श्रौ., १.१९, स. श्रौ., २.४१
५. श. ब्रा., १.८.२.१४
६. का. श्रौ., विद्याधर, पृ. १२०
७. तै. ब्रा., ३.५.९, श. ब्रा., १.८.२.१५-१६
८. का. श्रौ., २.५.१०, तै. सं. ब्रा., २.६.९, का. श. ब्रा., २.७.२.४, २.८.९, भा. श्रौ., ३.५.२, वैता. श्रौ., १.४.९.४, बौ. श्रौ., १.१९
९. दर्श. पौ. प., पृ. ९०
१०. तै. ब्रा., ३.५.९, श. ब्रा., १.८.२.१५-१६
११. श. ब्रा., १.८.२.१५-१६
१२. का. श्रौ., २.५.१०, भा. श्रौ ५.५
१३. दर्श. पौ. प., पृ. ९०

तृतीय अनुयाज : ——

इसी तरह तृतीय अनुयाज में भी पूर्ववत् आश्रवण-प्रत्याश्रवण कृत्य को करके अध्वर्यु होता को आदेश देता है कि तृतीय अनुयाज हेतु आहुति प्रदान करो, होता आदिष्ट होकर "देवो अग्निः;——व्रौहि-वौषट्"[१] याज्या का पाठ करता है।

बौषट् उच्चारण के सद्यः अनन्तर अध्वर्यु पूर्ववत् जुहू को उतार कर द्वितीय अनुयाज आहुति के पश्चिम में आहुति प्रदान करता है।[२] इधर यजमान "यह देव अग्नि के लिए है मेरा नहीं"इस तरह उच्चारण करता है।[३] इस तरह तीनों अनुयाज के लिए आहुति देने के बाद अध्वर्यु बैठकर उपभृत में शेष बचे आज्य को जुहू में लेकर प्रथम अनुयाज आहुति के पूर्व में आहुति देता है। जिसमें "देवेभ्यः स्वाहा"कहकर आहुति देता है।[४] इधर यजमान "यह देवताओं का है मेरा नहीं"इस तरह कहता है।[५] तदनन्तर वह दोनों स्रुचों को यथा स्थान रख देता है।[६]

स्रुच् - व्यूहन

व्यूहन अर्थात् हटाना। जुहू को पूर्व में और उपभृत को पश्चिम में हटाने को स्रुच् व्यूहन कहा जाता है।[७] इस विधि में अध्वर्यु वामहस्त में वेद को पकड़कर दक्षिण हस्त में जुहू को स्पर्श करके "अग्नेरग्नीं"[८]-मन्त्र के द्वारा पश्चिम की ओर सरका देता है।[९] तदनन्तर "अग्नेरग्नीषोमौ"[१०] मन्त्र से पूर्ववत् प्रस्तर से पश्चिम वेदि के बाहर उपभृत को हटा देता है।[११] यदि किसी कारणवश यजमान स्रुच् व्यूहन कृत्य को करे तो "योऽस्मान् द्वेष्टि यश्चैनं द्वेष्टि"इत्यादि मन्त्र का क्रम से पाठ करना चाहिए।[१२]

दर्शयाग में "इन्द्राग्न्योरूजितिमनूज्जेषं वाजस्य मा प्रसवेन.[१३]" मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये।[१४] यह यजमान के पक्ष में कहा गया है। और अध्वर्यु के पक्ष में "इन्द्राग्न्यो रुज्जितमनूज्जयत्वयं." यजमाने वाजस्यैनं प्रसवेन." प्रोहामीन्द्राग्नी तमपनुदतां यमयं यजमानो द्वेष्टि वाजस्यैनं प्रसवेन प्रोहामि" इस तरह पाठ करना चाहिए।[१५]

---

१. तै. ब्रा., ३.५.९
२. का. श्रौ., २.५.१०, भा. श्रौ., ३.५.६, वैखा. श्रौ., ७.४
३. दर्श. पौ. प., पृ. ९०
४. श. ब्रा., १.८.२.१७
५. दर्श. पौ. प., पृ. ९१
६. भा. श्रौ., ३.५.७, का. श्रौ., १.३.५.१९, मा. श्रौ., १.३.४.६
७. वै. कौ., पृ. ३९५
८. वा. सं., २.१५
९. श. ब्रा., १.८.३.२, का. श्रौ., ३.६.१७, भा. श्रौ., १.३.५.२, वैखा- श्रौ., ३.७.५, मा. श्रौ., १.३.४.८, स. श्रौ., २.४.९, बौ. श्रौ., १.१९, आप. श्रौ., २.६.५.३
१०. वा. सं., २.१५
११. श. ब्रा., १.८.३.२, तै. ब्रा., ३.३.८-९, का. श्रौ., ३.६.१७, भा. श्रौ., ३.५.८.११, वा. श्रौ., १.३.५.३, वैखा. श्रौ., ७.५, मा. श्रौ., १.३.४.८ स. श्रौ., २.४.९, बौ. श्रौ., १.१९, आप. श्रौ., २.६.४.५
१२. श. ब्रा., १.८.३.१, का. श्रौ., ३.६.१९
१३. वा. सं., २.१५
१४. श. ब्रा., १.८.३.३
१५. श. ब्रा., १.८.३.४

असान्नाय्य याग में "अग्नेर्विष्णोरिन्द्राग्नयोरुज्जितिम् तथा अग्निर्विष्णुरिन्द्राग्नी तमपनुदनतु"मन्त्र का यहाँ पर याग के देवता के लिए उपांशु उच्चारण किया जाता है।[१]

परिधि - अञ्जन

इस विधि में स्रुचों को, जल से प्रोक्षित करके, वेदि के ऊपर लाया जाता है। इसके बाद जुहू में आज्य लेकर "वसुभ्यस्त्वा[२]", मन्त्र से पश्चिम परिधि को, "रुद्रेभ्यस्त्वा"[३] मन्त्र से दक्षिण परिधि को;

"आदित्यभ्यस्त्वा"[४] मन्त्र से उत्तर परिधि को आज्य से चुपड़ता है, अर्थात् परिधि को क्रमशः आज्य लगाता है।[५]

सूक्त-वाक्-प्रैष-आदि

अध्वर्यु द्वारा प्रेषित होता जिन सूक्त वाक् मन्त्रों का पाठ करता है उसे सूक्त वाक् प्रैषादि कृत्य कहा जाता है अर्थात् पहले जिन देवताओं को आहुति दी गई है, उनकी स्तुति भी की जाती है। अब उन देवताओं को सुन्दर वाणी से आशीष की प्रार्थना करता है।[६]

इसकी विधि में अध्वर्यु सर्वप्रथम मध्यम परिधि का स्पर्श करके आग्नीध्र से आश्रवण - प्रत्याश्रवण कृत्य को करता है।[७] तदनन्तर अध्वर्यु "इषिता दैव्याहोतारो"[८] मन्त्र से होता को प्रैष देता है कि हे होता सूक्तवाक् मन्त्र का पाट करो।[९] होता आदिष्ट होकर "इदं द्यावा पृथिवी ——ज्यायोऽकृत"। तदनन्तर अग्निषोमौ (उपांशु) (उच्चैः) इदं हविः (उपांशु) अडुषेतामवीवृधेताम् (उच्चैः) महोज्यायः (उपांशु) अक्राताम् (उच्चैः अग्नीषोमा विद् — ज्यायीऽकृत "अस्यामृध्रद्धोत्रायां——नमो देवेभ्यः[१०]" इत्यादि सूक्त वाक् का पाठ करता है।[११] होता सूक्त वाक् का पाठ करते समय "संजानाथां"[१२] मन्त्र से पवित्र सहित प्रस्तर को और विधृतियों को ग्रहण करता है।[१३] यदि यजमान वृष्टिकामी है तो अध्वर्यु "संजानाथां" मन्त्र से प्रस्तर ग्रहण करता है। तथा प्रस्तर -

---

१. दर्श. पौ. प., पृ. १२४
२. वा. सं., २.१६
३. वा. सं., २.१६
४. वा. सं., २.१६
५. श. ब्रा., १.८.३.७.८, तै. ब्रा., ३.३.८-९, मै. सं. ब्रा., ४.१.१४, गो. ब्रा., २.१.४, का. श्रौ., ३.५.२०, भा. श्रौ., २.४.१२-१३, वा. श्रौ., १.३.६.५, वैखा. श्रौ., ७.५, मा. श्रौ., १.३.४.१०, स. श्रौ., २.४.९, बौ. श्रौ., १.१९, आप. श्रौ., २.६.५.७
६. श्रौ. य. प., पृ. ५७
७. श. ब्रा., १.८.३, १.९.१.१, का. श्रौ., ३.६.२, वैखा. श्रौ., ७.६, मा. श्रौ., १.३.४.११, बौ. श्रौ., ३.१९
८. श.ब्रा., १.८.३.९ , तै. ब्रा. , ३.३.८-९.
९. श. ब्रा., १.८.३.९, तै. ब्रा., ३.३.८-९, वा. श्रौ., १.३.६.७, मा. श्रौ., १.३.४.१२, स. श्रौ., २.४.१०
१०. तै. ब्रा., ३.५.१०, द्र. श. ब्रा., १.९.१-४-२३
११. श. ब्रा., १.९.१-४, तै. ब्रा., ३.५.१०, का. श्रौ., ३.६.२, वैखा. श्रौ., ७.५,
१२. वा. सं., २.१६
१३. श. ब्रा., १.८.३.११ अथ प्रस्तरमादत्ते, का. श्रौ., ३.६.४, मा. श्रौ., १.३.४.१३, स. श्रौ., २.४.९

अञ्जन (घी का लेप लगाने) का अनुष्ठान करता है।[१] तदनन्तर प्रस्तर के अग्रभाग को जुहू में, मध्यभाग को उपभृत में और मूल को ध्रुवा में डुबाता है।[२] जिसमें "व्यन्तवयोक्तंरिहा: "[३] मन्त्र का विनियोग है। भा. श्रौ. सू. के अनुसार प्रस्तर डुबाने की प्रक्रिया तीन बार की जाती हैं। तत् पश्चात् प्रस्तर को स्रुचों की दाहिनी और से पृथ्वी को स्पर्श करता हुआ आह्वनीय अग्नि के पास आता है[४] तदनन्तर "मरूतां पृपतीर्गच्छ"[५] मन्त्र से प्रस्तर से एकतृण को पृथक् निकाल कर पूर्व की ओर जिसका अग्रभाग हो ऐसे प्रस्तर को सूक्तवाक् के अन्त में जुहू से आह्वनीय अग्नि में होम करे।[६]

ध्यातव्य है कि प्रस्तर यजमान है, इसलिए प्रस्तर के समस्त तृण को आग में डाल देने से यजमान शीघ्र ही परलोक चला जायेगा, परन्तु एक तृण को बचाकर अग्नि में आहुति डालने से वह परलोक से वंचित होकर यजमान बहुत दिन तक जीवित रहता है, परन्तु निकाले गये तृण को थोड़ी देर रखकर आहुति दी जाती है, क्योंकि ऐसा करने से यजमान का परलोक से सम्बन्ध बना रहता है और परलोक से अलग नहीं रहता, इस हेतु बचाये गये तृण को भी अग्नि में छोड़ दिया जाता है।[७] तथा "आशास्तेऽयं"के स्थान में यजमान का शर्मादि नाम जोड़ा जाता है।[८] तदनन्तर आग्नीध्र "अनुप्रहर"इस वाक्य को अध्वर्यु "प्रति"कहता है, इधर अध्वर्यु प्रस्तर से निकाले गये तृण को आहवनीय अग्नि में छोड़ देता है।[९] तदनन्तर "चक्षुष्पा"[१०] मन्त्र से हृदय का स्पर्श करके जल का स्पर्श करता है।[११] मै. शाखा के अनुसार जिस समय सूक्तवाक् पाठ किया जाता है, उस समय यजमान को चाहिए कि "सोमसत्या"[१२] मन्त्र को पढ़ते हुए काम्य वस्तु का नाम ले।[१३] परन्तु इस समय वह स्वाहाकार शब्द का प्रयोग न करे।[१४]

दर्श इष्टि के सान्नाय्य याग में सपवित्रशाखा का होम किया जाता है, मन्त्र का विनियोग पौर्णमास इष्टि की भाँति होता है।[१५] और असान्नाय्य याग में अग्नीषोम स्थान में "विष्णुरिन्द्राग्नी"इस मन्त्रांश का निगद पढ़ना चाहिए।[१६] प्रस्तर को अग्नि में डालते समय हिलाना, ऊपर तथा नीचे हाथ को पोछना तथा आहवनीय

---

१. श. ब्रा., १.८.३.१२ स यदि वृष्टिकाम: स्यात्। एतेनै वाददीत " संजानाथाद्यावापृथिवी इति।
२. स वाऽअग्रं जुहवामनकित। मध्यमुपभृति मूलं ध्रुवायामग्निमिव हि जुहूर्मध्यमिवोपभून्मूलं मिवध्रुवा। श. ब्रा., १.८.३.१३, तै. ब्रा., ३.३.८-९, तै. सं. ब्रा., २.६.५, गो. ब्रा., १.३.७-१०, का. श्रौ., ३.६.६, भा. श्रौ., ३.४.१३.१४, वा. श्रौ., १.३.५.६, वैखा. श्रौ., ७.५, मा. श्रौ., १.३.४.१५, बौ. श्रौ., ३.१९
३. वा. सं. २.१६
४. श. ब्रा., १.८.३.१५
५. वा. सं., २.१६
६. श. ब्रा., १.८.३.१८, तै. सं. ब्रा., २.६.५, का. श्रौ., ३.६.७, भा. श्रौ., ३.६.१, वा. श्रौ., १.३.६.८. वै.श्रौ. ७.६ , भा.श्रौ. १.३.४.६
७. श. ब्रा., १.८.३.१६-१७,
८. श. ब्रा, १.९.१.१२, शां. ब्रा., ३.७.८, भा. श्रौ., ३.६.५, स. श्रौ., २.४.१०, बौ. श्रौ., ३.१९
९. श. ब्रा., १.८.३.१९, तै. सं. ब्रा., २.६.५, का. श्रौ., ३.६.१२, भा. श्रौ., ३.६.३, वा. श्रौ., १:३.६.१२-१३, मा. श्रौ., १:३.४.२०, स. श्रौ., २.४.१०, बौ. श्रौ.३.१९, आप. श्रौ., ३.७.५
१०. वा. सं., २.१६
११. श. ब्रा., १.८.३.१९, मै. सं. ब्रा., ४.१.१४, शां. ब्रा., ३.७-८, का. श्रौ., ३.६.१४, भा. श्रौ., ३.६.१२, वा. श्रौ., ३.६.१६, वैखा. श्रौ., ७.७, भा. श्रौ., १.३.४.२३, स. श्रौ., २.४.१०
१२. मै. सं., १.४.१
१३. आप. श्रौ., ४.१२:६
१४. आप. श्रौ., ३.६.६-७
१५. दर्श. पौ. प., पृ. १२०
१६. वही, पृ. १२४

अग्नि पर उतराम करने का निषेध है[१] और प्रस्तर को डालते समय ध्यान यह रखना चाहिए कि अग्नि के अंगारे इधर-उधर न होने पावें, न ही बाहर जाये, अतः अग्नि के ऊपर ही प्रस्तर को डालना चाहिए।[२] पूर्व की ओर फेंकना निषेध है। ध्यातव्य है कि जिस यजमान की स्त्री सन्तान की कामना करती हो, उसे चाहिए कि प्रस्तर को फैलाकर अग्नि में डाले[३], तथा दर्शयाग में "अग्निरिदं हविरजुपतावी वृधतमहोज्यायोऽकृत" उच्चारण के "अग्निषामौ"इस मन्त्रांश का उपांशु उच्चारण करके "इदं हविरजुपत"[४] इत्यादि मन्त्रांश को पौर्णमास इष्टि की भाँति कहकर उच्च स्वर से "इन्द्र इदं हविरजुपत." इत्यादि का पाठ किया जाता है और त्याग में "अग्नीषोमाभ्यामित्यस्यामे— इन्द्राय अथवा महेन्द्राय"देवता का नाम जोड़ना चाहिए तथा असान्नाय्य याग में भी ऐसा ही उच्चारण किया जाता है।[५]

संवाद

इस विधि में अध्वर्यु आग्नीध्र एक दूसरे से संवाद करते हैं । अर्थात् वाणी को व्यक्त करते हैं। इस प्रकरण में अध्वर्यु आग्नीध्र से तृण-प्रहरण की चर्चा करते हुए पूछता है कि "हे आग्नीध्र क्या वह देवलोक चला गया?" आग्नीध्र उत्तर देता है कि "हाँ चला गया"। तदनन्तर अध्वर्यु कहता है कि "क्या यजमान की बात को देवता सुने और जाने?"तदनन्तर "श्रौषट्"अर्थात् सुने। अतः आग्नीध्र कहता है कि "हाँ देवता लोग उनकी बात को सुने और यजमान को जान लिया, पहचान लिया" इस तरह अध्वर्यु तथा आग्नीध्र संवाद करके यजमान को देवलोक पहुँचा देते है।[६]

शंयुवाक्

अध्वर्यु द्वारा प्रेपित होता जिन ऋचाओं के आधे अंश का उच्चारण करके एक श्रुति के अन्त में प्रणव रहित पाठ करता है, वह ऋचा शंयुपद से घटित होने के कारण शंयुपद नाम से अभिहित की जाती है।[७] "तच्छंयोरावृणीमये" इस मन्त्रांश में शंयु वृहस्पति के पुत्र की स्तुति होने से और इसमें शंयुपद आने से इसे शंयुवाक् कहा जाता है।[८] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार - वृहस्पति के पुत्र शंयु ने यज्ञ को सर्वप्रथम जाना और देवलोक चला गया, जिससे वह ज्ञान लोक से लोप हो गया। जब ऋषियों को पता चला कि वृहस्पति के पुत्र

---

१. आप. श्री., ३.६.८
२. आप. श्री., ३.६.९-१०, वौ. श्री. १.१९
३. आप. श्री., ३.६.११
४. वही , ३.६.११
५. दर्श. पौ. प., पृ. १२०-१२१
६. श. ब्रा., १.८.३.२०, तु-तै. सं. ब्रा., २.६.५, का. श्री., ३.६.१५, भा. श्री., २.६.१३, वा. श्री., १.३.६.१७, मा. श्री., १.३.४.२४, स. श्री., २.४.१०, बौ.श्री. ३.१९
७. अध्वर्यु प्रेषितो होतात्वामृचम् अर्धर्चे अवसाय एक श्रुत्या अन्ते प्रणव रहितां पटति, सा ऋक् शंयुपदघटितत्वात् शंयुवाक् इति गीयते — श्री. प. नि., पृ. ३८
८. का. श्री. भू., पृ. ३०, वै. को., पृ. ३९५

यज्ञ संस्था में भाग लेने के लिए देवलोक चला गया, तब ऋषियों ने भी शंयोः का उच्चारण करके उस यज्ञ को प्राप्त किया, जो शंयो को मालूम था।

इस तरह होता भी शंयोः का उच्चारण करके यज्ञ संस्था को पूर्ण रूप से धारण करता है, इसलिए शंयुवाक उच्चारण किया जाता है।[१] इस विधि में अध्वर्यु और आग्नीध्र सर्वप्रथम आश्रवण-प्रत्याश्रवण कृत्य को करते हैं। तदनन्तर अध्वर्यु होता को "स्वगादैव्या होतृभ्यः स्वस्ति र्मानुषेभ्यः, शंयो ब्रूहि"[२] मन्त्र से प्रैष देता है कि देवताओं के होता लोग विदा हों, क्योंकि ये जो परिधियाँ हैं यहीं देवताओं की होता हैं और वे ही अग्नि हैं। अतः उन्हीं को विदा करता है। इसके द्वारा यह आशीष भी दिया जाता है कि मनुष्य होता कभी भी असफल न हो।[३]

जिस प्रकार बुलाने के लिए (सु + आगत) होता है उसी प्रकार भेजने के लिये स्वगा (सु + आगा) कहा जाता है[४], तदनन्तर होता आदिष्ट होकर "तच्छंयोरावृणीमहे——द्विपदे शं चतुष्पदे"[५] शंयुवाक मन्त्र का पाठ करता है।[६] तदनन्तर वह अंगुलि से पृथिवी का स्पर्श करता है[७], क्यों जब होता का वरण किया जाता है, वह अमानुष हो जाता है। यह पृथिवी सुरक्षित स्थान है। अतः वहाँ अच्छी तरह से खड़ा होकर वह यज्ञ करने के बाद मनुष्य हो जाता है, इसलिए पृथ्वी को वह अंगुलियों से स्पर्श करता है।[८] ध्यातव्य है कि शतपथ ब्राह्मण[९] के अनुसार शंयुवाक् का पाठ परिधि होम के पश्चात् किया जाता है।[१०]

परिधि होम

परिधि होम का तात्पर्य है परिधियों का होम करना। इस विधि में अध्वर्यु सर्वप्रथम, मध्यम अर्थात् पश्चिम परिधि को "यं परिधि"[११] मन्त्र से आहवनीय अग्नि में डाल देता है।[१२] तदनन्तर दक्षिण तथा उत्तर परिधि को एक साथ उठाकर "अग्नेः प्रियं पाथोऽपीतम्"[१३] मन्त्र से आहुति देता है।[१४] ध्यातव्य है कि शतपथ ब्राह्मण के अनुसार शंयुवाक् के पूर्व परिधि होम किया जाता है।[१५] आपश्रौ. सूत्र के अनुसार उत्तर परिधि के अग्रभाग को अंगार में छिपा दिया जाता है।[१६]

१. श. ब्रा. १.९.१२४-२५
२. का. श्रौ., ३.६.१६, श. ब्रा. १.८.३.२१, भा. श्रौ., ३.६.१४, वा. श्रौ., १.१३.३.१८, आप. श्रौ., ३.७.७.१०
३. श. ब्रा. १.८.३.२१
४. श. ब्रा., रत्नकुमारी दीपिका टीका, पृ. १७७, गंगाप्रसाद उपाध्याय,
५. श. ब्रा. १.९.१.२६-२८, तै. ब्रा. ३.५.१०-११
६. श. ब्रा. १.९.१.२६-२८, शां. ब्रा. ३.७-८, तै. ब्रा. ३.३.८-९, का. श्रौ., ३.६.१५, स. श्रौ., २.४.१०, वौ. श्रौ., ३.१९
७. श. ब्रा. १.९.१.२९,
८. श. ब्रा. १.९.१.२९, तै. ब्रा. ३.३.८-९, शां. ब्रा. ३.७.८
९. श. ब्रा. १.९.१.२९
१०. श. ब्रा. १.९.१
११. वा. सं. २.१७
१२. श. ब्रा. १.८.३.२२, तै. ब्रा. ३.३.८-९, मै. सं. ब्रा. ४.१.१४, का. सं. ब्रा. ३१.११, का. श्रौ., ३.६.१६, भा. श्रौ., ३.६.१५, वा. श्रौ., १.३.६.१९, वैखा. श्रौ., ७.७, मा.श्रौ., १.३.४.२६, स. श्रौ., २.४.१०, वौ. श्रौ., ३.२६, आप. श्रौ., ३.७.११
१३. वा. सं. २.१७
१४. श. ब्रा. १.८.३.२२, तै. ब्रा. ३.३.८-९, मै. सं. ब्रा. ३१.११, का. श्रौ., ३.६.१६, भा. श्रौ., ३.६.१५, वा. श्रौ., १.३.६.२०, वैखा- श्रौ., ७.७, मा. श्रौ., १.३.४.२७, स. श्रौ., २.४.१०
१५. श. ब्रा. १.८.३
१६. आप. श्रौ., ३.७.१२, त- भा. श्रौ., ३.६.१६, स. श्रौ., २.४.१०

संस्रव भाग आहुति

संस्रव अर्थात् बचे हुए देवता को आहुति देना।[१] दर्शयाग में आग्नीध्र "जुहोमित्वा सुभग सौभगाय पुरुतमंपरूहूत श्रवयस्यन्त्स्वाहा"मन्त्र से बैठकर उपवेष की आहुति प्रदान करता है। इधर यजमान "इदं सौभगाय न मम"मन्त्रांश का पाठ करता है।[२]

इस विधि में परिधि होम करके अध्वर्यु जुहू तथा उपभृत को एक साथ उठाता है,[३] सर्वप्रथम प्रस्तर को चुपड़ता है, मानो आहुति देता है जिससे यह आहुति देवलोक जा सके। इस समय विश्व के समस्त देवताओं के लिए ग्रहण करता है क्योंकि जब कोई हवि ऐसी दी जाती है जिससे किसी देवता का निर्देश नहीं हो, तो उनमें सब देवता समझते हैं कि यह हमारा भाग है। जब वह आज्य लेता है, तो किसी देवता का निर्देश करके नहीं लेता, अतः वह सब देवताओं के लिए लेता है। इसलिए वह उस हवियज्ञ में आज्य को "वैश्वदेव" अर्थात् सब देवताओं का बना देता है।[४] जुहू तथा उपभृत को लेने में "संस्रबभागस्तेषां"[५] मन्त्र का विनियोग किया जाता है। तदनन्तर स्रुचों में विलीन पिघलाए हुए आज्य का "प्रस्तरेष्ठाः——स्वाहावाट्स्वाहा"[६] मन्त्र से संस्रव होम करता है।[७] तदनन्तर यजमान "यह आहुति देवों के लिए है मेरा नहीं" इस तरह उच्चारण करता है।[८] तदनन्तर यजमान यह आहुति विश्वदेवों के लिए है मेरा नहीं" इस तरह उच्चारण करता है। तदनन्तर जुहू तथा उपभृत को लेकर शकट की धुरी के ऊपर[९] अथवा वेदि के उत्तर भाग में पश्चिम की ओर अग्रभाग करके रखता है।[१०] जिसमें "घृताचीस्था"[११] मन्त्र का विनियोग है तदनन्तर स्फय को वामहस्त में लेकर "यज्ञनमश्च"[१२] मन्त्र से वेदि का आलम्भन करता है।[१३]

---

१. श. ब्रा., १.८.३.२५
२. दर्श. पौ. प., पृ. १२१
३. श. ब्रा., १.८.३.२३, तै. ब्रा., ३.३.८-९
४. श. ब्रा., १.८.३-२४
५. वा. सं., २.१८
६. वही , २.१८
७. श. ब्रा., १.८.३.२५, तै. ब्रा., ३.३.८-९, मै. सं. ब्रा., ४.१.१४, का-सं. ब्रा., ३१.११, कपि. सं. ब्रा., ४७.११, का. श्रौ., ३.६.१७, भा. श्रौ., ३.६.१७, वा. श्रौ., १.३.६.२१, वैखा. श्रौ., ७.७, मा. श्रौ. ३.४.२७,
स. श्रौ., २.४.१०, वैता. श्रौ., १.४.७, आप. श्रौ., ३.७.१४, बौ. श्रौ., ३.२६.१०-१४,
८. दर्श. पौ. प., पृ. ९६
९. श. ब्रा., १.८.३.२६, का. श्रौ., ३.६.१८, वा. श्रौ., १.३.६.२२, वैखा. श्रौ., ७.८, स. श्रौ., २.५.११, बौ. श्रौ., ३.२६.२०.१४
१०. का. श्रौ., ३.८.१९, वा. श्रौ., १.३.६.२३, वैखा. श्रौ., ७.८, मा. श्रौ., १.३.४.२८
११. वा. सं., २.१९
१२. वही, २.१९
१३. श. ब्रा., १.८.३.२७, का. श्रौ., ३.६.१९, वैखा. श्रौ., ७.७

पत्नी संयाज

पत्नी संयाज का अर्थ है देव पत्नियों को आहुति देना, अर्थात् पत्नी के लिए याग। पत्नी देवता वाले दर्शपूर्णमास याग के अंगभूत चार विशिष्ट यागों को पत्नी संयाज कहा जाता है।[१] पत्नी संयाज की उपयोगिता बताती हुई श्रुति कहती है कि यज्ञ से निश्चयमेव सन्तान उत्पन्न होता है और जो जोड़े से उत्पन्न होती है वह यज्ञ के अन्त में उत्पन्न होता है। इसलिए यज्ञ की समाप्ति पर जोड़े से प्रजा की उत्पत्ति की जाती है और इस प्रकार पत्नी संयाज किया जाता है।[२]

इसमें चार देवताओं के लिए आहुति दी जाती है। इसकी हवि आज्य होती है और मन्त्र का उच्चारण धीमी ध्वनि में किया जाता है।[३] प्रथम आहुति सोम देवता को, द्वितीय आहुति त्वष्टा को, तृतीय आहुति देव पत्नियों को और चतुर्थ आहुति अग्नि के लिए (गृहपति अग्नि) दी जाती है।[४]

ध्यातव्य है कि आहुति देते समय दक्षिण जानु गिराकर आहुति देनी चाहिए[५], यों तो बैठकर दी जाने वाली आहुति दक्षिण जानु गिराकर देनी चाहिए।[६] पत्नी संयाज के सारे कर्म उपांशु किये जाते हैं।[७]

पत्नी संयाज की विधि : —

इस विधि में सर्वप्रथम अध्वर्यु घृत लगी हुई जुहू और स्रुव् को लेकर, होता वेद (कुश के गुच्छों) को और आग्नीत आज्य स्थाली को हाथ में लेकर तथा अन्य सब लोग पत्नी संयाज कृत्य करने के लिए गार्हपत्य कुण्ड के पास पहुँचते हैं।[८] कतिपय विद्वानों के अनुसार अध्वर्यु आहवनीय के पूर्व की ओर जाता है[९], परन्तु याज्ञवल्क्य इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि ऐसा नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह वहाँ जायेगा तो यज्ञ के बाहर हो जायेगा[१०] यदि अध्वर्यु यजमान-पत्नी के पीछे-पीछे चलता है तो उसे ऐसा नहीं करना चाहिए, क्योंकि अध्वर्यु यज्ञ का पूर्वार्ध है और यजमान पत्नी पिछला भाग है। यदि वह ऐसा करता है तो मानो अपने शिर को फेर लेता है और अध्वर्यु तब वह यज्ञ से बहिष्कृत हो जायेगा। कुछ विद्वानों के अनुसार अध्वर्यु तथा यजमान - पत्नी गाहर्पत्य के बीच में चलते हैं, परन्तु ऐसा भी नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह यदि ऐसा करता है, तो

---

१. का. श्रौ., भू. पृ. ३६, वै. को, पृ. ३९५

२. श. ब्रा., १.९.२.५ अथ पत्नीः संजायन्ति। यज्ञाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते यज्ञात् प्रजायायाना मिथुना अजायन्ते मिथुनात् प्रजायमान। अन्ततोयज्ञस्य प्रजायन्ते तदेना स्तदन्तनो यज्ञस्य मिथुनात् प्रजननात् प्रोजनयति तस्मान्मिथुनात्प्रजननादन्ततो यज्ञस्येमाः प्रजाः प्रजायन्ते तस्मात्पत्नीः संमाजयन्ति।

३. श. ब्रा., १.९.२.६-८, शां. ब्रा., ३.९

४. श. ब्रा., १.९.२.९-१३, शां. ब्रा., ३.९

५. का. श्रौ., ३.७.३, उपविश्य दक्षिणं जानन्त्वाच्च"

६. का. श्रौ., ३.७.४, तथा सर्वत्रोपविष्टहोमेषु, भा. श्रौ., ३.७.७, वा. श्रौ., १.३.७.३, आप. श्रौ., ३.३.८.३

७. श. ब्रा., १.९.२.८, उपांशुचरन्ति, शां. ब्रा., ३.९, का. श्रौ., ३.७.५

८. श. ब्रा., १.९.२.१, का. श्रौ., ३.७.१, भा. श्रौ., ३.७.१, वा. श्रौ., १.३.७.१, मा. श्रौ., १.३.४.३०, स. श्रौ., २.५.११, बौ. श्रौ., १.२०, आप. श्रौ., ३.३.८.१

९. का. श्रौ., ३.७.२

१०. श. ब्रा., १.९.२.२, तद्धैकेषा मध्वर्युः पूर्वेणाहवनीयं पर्येति तदुतथान कुर्याद्बहिर्धाह यज्ञातस्याधत्तेनोयत्।

यज्ञ से पत्नी को अलग कर देगा, इसलिए गार्हपत्य के पूर्व की ओर आहवनीय के भीतर की ओर वह जाता है। इस प्रकार वह यज्ञ से बाहर नहीं होता। चूंकि पहले आहवनीय तक जाते हुए वह भीतर की ओर होकर गया था। अब भी ऐसा ही करना चाहिए।[१] तदनन्तर अध्वर्यु गार्हपत्य दक्षिणाग्नि के बीच में से जाकर गार्हपत्य से दक्षिण में पत्नी के आगे ईशा नाभि मुख बैठता है तथा गार्हपत्य से पश्चिम में ऊपर की ओर घोटुं करके होता बैठता है, तदनन्तर होता से उत्तर में दक्षिण को मुख करके आग्नीत् बैठता है।[२]

सोमदेवताक संयाज की विधि : —

इस विधि में अध्वर्यु वेद को हाथ में लेकर "सोमानुवाकया"उच्चारण करने हेतु होता को प्रैष देता है कि सोमदेवता के लिए प्रैष बोलो।[३] होता आदिष्ट होकर "आप्यायस्वं"[४] पुरोनुवाक्या मन्त्र का उच्चारण करता है।[५] तदनन्तर अध्वर्यु स्रुव् के द्वारा आज्य स्थाली से जुहू में चार बार आज्य लेता है[६] और अध्वर्यु आग्नीध्र प्रत्याश्रवण कृत्य को करके अध्वर्यु होता को याज्या पाठ करने हेतु आदेश देता है कि "हे होता सोम देवता के लिए याज्या का उच्चारण करो।[७]"

होता आदिष्ट होकर "ये यजामहे सोमं सन्ते———————बौषट्"[८] इस याज्या का पाठ करता है।[९] अध्वर्यु बौषट् उच्चारण के सद्यः अनन्तर जुहू में लिये हुए आज्य को गार्हपत्य अग्नि में आहुति कर देता है। यह आहुति अग्नि के उत्तरार्ध में दी जाती है।[१०] भारद्वाज के अनुसार यह आहुति दक्षिणार्ध में दी जाती है।[११] इधर यजमान "यह सोम देवता का है मेरा नहीं" इस तरह उच्चारण करता है।[१२]

त्वष्टा देवता के संयाज की विधि : —

इस विधि में पूर्ववत् जुहू में चार बार आज्य लेकर अध्वर्यु त्वष्टा देवता के पुरोनुवाक्या का पाठ करने हेतु होता को आदेश देता है।[१३] होता आदिष्ट होकर इहत्वष्टारमाग्नियं"[१४] इस पुरोनुवाक्या का पाठ करता है।[१५]

---

१. श. ब्रा., १.९.२.३.४
२. का. श्रौ.-, ३.७.३-४, भा. श्रौ., ३.७.२, वा. श्रौ., १.३.७.२, मा. श्रौ., १.३.४.३१, बौ. श्रौ., १.२.३-४, आप. श्रौ., ३.३.८.२-३
३. भा. श्रौ., ३.७.८, वैखा. श्रौ., ७.८, बौ. श्रौ., १.२०.३, १९-२०, आप. श्रौ., ३.३.८.११
४. ऋ. सं., १.९१.१६, तै. ब्रा., १.५.१२-१३
५. दर्श. पौ. प., पृ. ९७, आ. आ., श्रौ., विमर्श, पृ. १५७,
६. दर्श. पौ. प., पृ. ९७, भा. श्रौ., ३.७.९, मा. श्रौ. १.३.५.१ बौ. श्रौ., १.२०.३, १९-२०
७. ऋ. सं., १.९१.१८
८. दर्श. पौ. प., पृ. ९७, आ. आ. श्रौ. विमर्श:, पृ. १५८
९. भा. श्रौ., ३.७.१०, वैखा. श्रौ., ७.८, बौ. श्रौ., १.२०, ३.१९=२०
१०. आप. श्रौ., ३.३.८.११, वा. श्रौ., १.३.१.४, वैखा. श्रौ., ७.८, मा. श्रौ., १.३.५, स. श्रौ., २.५.११
११. भा. श्रौ., ३.७.१०, दक्षिणार्धे जुहोति।
१२. दर्श. पौ. प., पृ. ९७
१३. भा. श्रौ., १.३.७.१२, बौ. श्रौ., १.२०.३.१९-२०
१४. ऋ. सं., १.३.१०, तै. ब्रा., ३.५.१२-१३
१५. दर्श. पौ. प., पृ. ९७

तदनन्तर अध्वर्यु और आग्नीध्र पूर्ववत् आश्रवण कृत्य करके होता को त्वष्टा देवता के याज्या-पाठ करने हेतु आदेश देता है।[१] होता आदिष्ट होकर "ये यजामहे———बौषट्"[२] याज्या का उच्चारण करता है।[३]

पूर्ववत् बौषट् उच्चारण के सद्यः अनन्तर जुहू में स्थित आज्य की आहुति देता है।[४] इधर यजमान "यह त्वष्टा देवता के लिए है मेरा नहीं"इस तरह उच्चारण करता है।[५] ध्यातव्य है कि यह आहुति सोम वाली आहुति के उत्तर में दी जाती है कतिपय विद्वानों के अनुसार सोम वाली आहुति के उत्तर में त्वष्टा देवता वाली आहुति दक्षिण में दी जाती है।[६] आप. श्रौ. सूत्र के अनुसर यह आहुति दक्षिण में ही दी जाती है।[७]

देवपत्नी संयाज की विधि : ——

गार्हपत्य अग्नि को चारों ओर से आच्छादित कर उसमें देवपत्नी संज्ञक आहुति दी जाती है।८ विकल्प से बिना ढंके भी आहुतियाँ देने का विधान है।९ शाखान्तर के अनुसार देवपत्नियों के लिए आहुतियाँ नित्य रूप से दी जानी चाहिए, जब कि आपस्तम्ब ने इन्हें विशेष कामनाओं से जुड़ा माना है।१० पुत्र कामी राका, पशुकामी, सिनीवाली तथा पुष्टिकामी जुहू के लिए यजन करता है।११ इन्हीं देवपत्नी संज्ञक आहुतियों को पत्नी संयाज आहुति के पहले अथवा बाद में करना चाहिए - ऐसा शाखान्तर के विधान है।१२

इस विधि में सर्वप्रथम यजमान-पत्नी अध्वर्यु को स्पर्श करती हुई खड़ी होती है।[१३] तदनन्तर अध्वर्यु होता को प्रैष देता है कि हे होता! देव पत्नियों के लिये अनुवाक्या पढ़ो।[१४] होता आदिष्ट होकर "देवानांपत्नी"[१५] इस अनुवाक्या का पाठ करता है।[१६] पूर्ववत् अध्वर्यु आज्य स्थाली से चार बार आज्य लेकर आग्नीध्र से आश्रवण-प्रत्याश्रवण कृत्य को करके होता को देवपत्नियों के लिए याज्या पाठ करने हेतु आदेश देता है कि हे होता "देवपत्नियों के लिए याज्या का पाठ करो।[१७]" होता आदिष्ट होकर "ये यजामहे देवानां पत्नी——ऋतु जनीनां बौषट्"[१८] इस याज्या का पाठ करता है। बौषट् उच्चारण के सद्यः अनन्तर पूर्ववत् अध्वर्यु जुहू स्थित

---

१. भा. श्रौ., ३.७.१३, बौ. श्रौ., १.२०.३.१९-२०
२. ऋ. सं., १.१३.१०
३. दर्श. पौ. प., पृ. ९७
४. भा. श्रौ., ३.७.१४, बौ. श्रौ., १.२०.३०.१९-२०, आप. श्रौ., ३.३.८.१२,
५. भा. श्रौ., ३.७.१४, उत्तरार्धे जुहोति। तु. आप. श्रौ., ३.३.८.१२
६. भा. श्रौ., ३.७.१५, उत्तर तः सोमं यजति दक्षिणतस्त्वष्टार मित्येकेषाम, तु. आप. श्रौ., ३.३.९.२
७. तु. वा. श्रौ., १.३.७.५, तु. वैखा. श्रौ., ७.९, मा. श्रौ., १.३.५.२, स. श्रौ., २.५.११
८. का. श्रौ., ३.७.८, तृतीयेऽन्तर्धानं पुरस्तात्" तु. बौ. श्रौ., १.२०.३.१९-२०
९. तु. भा. श्रौ., ३.८.५, बौ. श्रौ., १.२०.३-१९-२०
१०. आप. श्रौ., ३.९.३, आहवनीय परिश्रिते देवानांपत्नी, तु. बौ. श्रौ., १.३.७.५ बौ. श्रौ., १.२०
११. आप. श्रौ., ३.९.३, अपरिश्रिते वा,
१२. आप. श्रौ., ३.९.५, नित्यवदेक सम्मानयन्ति, तु. वौ. क. सू., २४.२०.२९
१३. आप. श्रौ., ३.९.६
१४. भा. श्रौ., ३.८.५, व. श्रौ., १.२०.३.१९-२०
१५. ऋ. सं., ५.४६.७, तै. ब्रा., ३.५.१२
१६. दर्श. पौ. प., पृ. ९८
१७. भा. श्रौ., ३.८.६, बौ. श्रौ., १.२०.३.१९-२०
१८. ऋ. सं. ५. ४६. ८

आज्य को गार्हपत्य अग्नि में डाल देता है[१]। इधर यजमान "यह आहुति देवपत्नियों का है मेरा नहीं"इस तरह उच्चारण करता है।[२]

अग्नि गृहपति के लिए संयाज की विधि : —

इस विधि में सर्वप्रथम अन्तर्धान कर को हटाकर पत्नी के स्पर्श का त्याग करता हुआ पूर्ववत् होता को अग्नि गृहपति के लिए पुरोनुवाक्या पाठ करने हेतु आदेश देता है।[३]

होता आदिष्ट होकर "अग्निर्होतागृहपतिः"[४] इस पुरोनुवाक्या का पाठ करता है। तदनन्तर पूर्ववत् अध्वर्यु जुहू में चार बार आज्य लेकर आग्नीध्र से आश्रवण-प्रत्याश्रवण कृत्य को करता है। इसके बाद अध्वर्यु होता को आदेश देता है कि "अग्नि गृहपति के लिए याज्या का पाठ करो[५]। होता आदिष्ट होकर "ये यजामहे अग्निं गृहपतिं———श्रवांसि बौषट्" मन्त्र का उच्चारण करता है।[६] तदनन्तर पूर्ववत बौषट् उच्चारण के सद्यः अनन्तर जुहू में स्थित आज्या को गार्हपत्य अग्नि के उत्तर पूर्वाध में देता है।[७] ध्यातव्य है कि यह आहुति गार्हपत्य के बीच में थोड़ा सा आज्य बचाकर दिया जाता है।[८] और इधर अध्वर्यु "यह आहुंति अग्नि गृहपति के लिए है मेरा नहीं" इस तरह उच्चारण करता है[९] तथा स्रुचि को पृथ्वी पर रख लेता है।[१०] तदनन्तर पूर्ववत् इडा पात्री में पाँच बार आज्य का अवदान करता है। पश्चिम को मुख करके पात्री सहित आज्यरूप इडा को होता को देकर हाथ में पकड़े रहते ही होता तथा यज्ञ पत्नी की प्रदक्षिणा करके होता के सामने पूर्वाभिमुख बैठता है।[११]

तदनन्तर अध्वर्यु होता को दी गई इडा को लेकर स्रुव द्वारा इडा में से ही आज्य अवदान करके प्रादेशनी अंगुलि के द्वितीय, तृतीय पर्वों को स्रुवा से ही लेपन करके होता के हाथ में चतुरावदान करता है होता भी पाँचवे अवदान को स्वयं ले लेता है[१२], और पूर्ववत् दोनों होठों में आज्य का लेपन करता है।[१३] तदनन्तर होता पूर्ववत् उपहूतं रथन्तर——इडोपहूतेऽपहूतो[१४], मन्त्र से इडा का आवाहन करता है।[१५] ध्यातव्य है कि पत्नी संयाज के इडा आवाहन में "उपहूतोऽयंयजमानः" के स्थान में उपहूतेयं पत्नयुउत्तरस्यां देवयाज्यामामुपहूता भूयसि

१. ऋ सं., ३.८.७, बषट् कृते जुहोति, वा. श्रौ., १.३.७.७, बौ. श्रौ., १.२०.३, १९-२०, आप. श्रौ., ३.३.९.१
२. दर्श. पौ. प., पृ. ९८, आ श्रौ. विमर्शः, पृ. १५९
३. भा. श्रौ., ३.८.८, वैखा. श्रौ., ७.९, बौ. श्रौ., १.२०.३.१९-२०
४. ऋ सं., ६.१५.१३
५. भा. श्रौ., ३.८.९, बौ. श्रौ., १.२०, ३.१९-२०
६. ऋ सं., ५.४.२
७. भा. श्रौ., ३.८.१०, वा. श्रौ., १.३.७.८, बौ. श्रौ., १.२०, आप. श्रौ., ३.३.९.१.२,
८. आप. श्रौ., ३.९.२
९. दर्श. पौ. प., पृ. ९९
१०. वही, पृ. ९९, इदमग्नेये गृहपतये नमः"
११. वही, पृ. ९९
१२. श. बा. १.९.२.१४ तु. वैखां. श्रौ. ७.९ आप. श्रौ. ३.९.७, भा. श्रौ., ३.८.१४, बा. श्रौ., १.३.७.१०, स. श्रौ., २५.११, बौ. श्रौ. १.२०.३.१९.२०
१३. का. श्रौ., २.७.१०,
१४. स. बा., १.८.१, १९-२४
१५. का. श्रौ., २.७.१०, भा. श्रौ., ३.८.१६, वैखा. श्रौ., ७.१०, स. श्रौ., २.५.११

हविष्करणऽउपहूता देवा म इदं हविर्जुषन्ताम्" इस तरह पाठ करना चाहिए[1], तदनन्तर यजमान, "मयीदमिन्द्र"[2] मन्त्र को सस्वर पाठ करता है और पूर्ववत् ऋत्विक् तथा यजमान प्रणीता और उत्कर मार्ग से निकलकर दिये गये भागानुसार मन्त्र पूर्वक अपने-अपने भाग को खाकर आचमन करते हैं, तथा पुनः अपने आसन पर आकर बैठते हैं।[3] पूर्ववत् ब्रह्मादि कर्म से कुश के जल से "सुमित्रिया[4]" मन्त्र से मार्जन करते हैं[5] स. श्रौ. सू. के अनुसार मौन होकर मार्जन करना चाहिए[6], तदनन्तर पहले की भाँति अध्वर्यु गार्हपत्य के उत्तर में वेदि से एक कुश को लेकर उसके अग्र भाग को जुह्वा में, मध्य भाग को स्रुवा में, और मूल भाग को आज्य स्थाली में डुबोकर, अनुप्रहर, इस तरह आग्नीध्र को कहकर उस कुश को गार्हपत्य अग्नि में छोड़ देता है।[7] तदनन्तर पूर्ववत् चक्षुष्पा[8], मन्त्र से आत्मा को स्पर्श करके जल का स्पर्श करता है।[9] तदनन्तर इस क्रम से ही पुनः संवाद कृत्य को किया जाता है।[10] तदनन्तर अध्वर्यु और आग्नीध्र आश्रवण प्रत्याश्रवण कृत्य करके होता को "स्वगादैव्या"[11] मन्त्र से प्रैष देता है कि "हे होता शंयुवाक् मन्त्र का उच्चारण करो"। होता आदिष्ट होकर पूर्ववत् "तच्छंयोरावृणीमहे——शंचतुष्पदे"[12] शंयुवाक मन्त्र का पाठ करता है।[13] तदनन्तर पूर्ववत् अध्वर्यु गार्हपत्य के उत्तर में बैठकर स्रुक तथा स्रुव को एक साथ लेकर "अग्नेऽदब्धायोऽशीतम"[14] मन्त्र से जुहू और स्रुव् दोनों से विलीन आज्य का संस्रब होम करता है।[15] इधर यजमान "इदमग्नये"[16] मन्त्र का उच्चारण करता है। इडा अवदान से लेकर संस्रव आहुति तक इसकी सम्पूर्ण प्रक्रिया पत्नी संयाज के पूर्व देखी जा सकती है।[17]

दक्षिणाग्नि होम : ——

तदनन्तर अध्वर्यु गार्हपत्य तथा दक्षिणाग्नि के बीच से निकलकर गार्हपत्य की बायीं ओर दक्षिणाग्नि के उत्तर में बैठकर स्रुव के द्वारा जुहू में आज्य लेकर "अग्नये संवेशपतये"[18] मन्त्र से दक्षिणाग्नि में आहुति प्रदान करता है।

१. श. ब्रा., १.८.१.२९-३७,
२. वा. सं., २.१०
३. भा. श्रौ., ३.८.१७, वा. श्रौ., १.३.७.११, वैखा. श्रौ., ७.१०, स. श्रौ., २.५.११,
४. वा. सं., ६.२२,
५. भा. श्रौ., ३.८.१७ प्राध्यमार्जयते।
६. स. श्रौ., २.५.११ प्राध्यतूष्णीं मार्जयन्ते।
७. श. ब्रा., १९.२ १६-१७, का. श्रौ., ३.७.११-१२, भा. श्रौ., ३.९.३, स. श्रौ., २.५.११,
८. वा. सं., २.१६
९. श. ब्रा., १.९.२.१७, का. श्रौ., ३.७.१३
१०. श. ब्रा., १.९.२.१८,
११. का. श्रौ., ३.६.१६
१२. श. ब्रा., १.९.२.१८, का. श्रौ., ३.७.१४
१३. श. ब्रा., १.९.२.१८, दर्श. पौ. प., पृ. १०१
१४. वा. सं., २.२०
१५. श. ब्रा., १.९.२.१९-२०
१६. वा. सं., २.२०
१७ दर्श. पौ. प., पृ. १०
१८. वा. सं., २.२०

तदनन्तर पुनः एक बार जुहू में आज्य लेकर "सरस्वत्यै"[१] मन्त्र से द्वितीय आहुति प्रदान करता है। इसमें यजमान क्रमशः "इदमग्नये संवेशपतये न मम" और "इदं सरस्वत्यै यशोभगिन्यै न मम" मन्त्रांश का उच्चारण करता है।[२] इसकी विधि शतपथ ब्राह्मण नहीं मिलती है।

पिष्टलेप–आहुति

पुरोडाश बनाने के लिए जिन-जिन पात्रों का उपयोग हुआ है. उनमें पुरोडाश सम्बन्धी पिसे हुए द्रव्य का जो अंश लगा हुआ है, उसे छुड़ाकर घृत के साथ मिलाकर प्रायश्चित्त के रूप में यह आहुति दी जाती है।[३] भारद्वाज के मत से इसकी हवि केवल आज्य होती है।[४] इस पक्ष में "पिष्टलेप आहुति"यह नामकरण व्यर्थ प्रतीत होती है और इसकी आहुति दक्षिणाग्नि में दी जाती है।[५] इसकी भी विधि शतपथ ब्राह्मण में नहीं प्राप्त होती है।

विधि : ——

इस विधि में अध्वर्यु स्रुव में चार बार आज्य लेकर पिष्टलेप को मिश्रित करता हुआ "उलूखले —कामाः स्वाहा."[६] मन्त्र से दक्षिणाग्नि में आहुति प्रदान करता है।[७] इधर यजमान "इदं विश्वेभ्यों देवेभ्यो न मम" मन्त्रांश का उच्चारण करता है।[८]

वेदविमोक

वेदविमोक का अर्थ है वेद को खोलना। पात्रादि के मार्जन के लिए वत्सजानू आकृति वाली जो दर्भो से पवित्री बनाई गयी थी उसी को यजमान-पत्नी खालती है, जिसे "वेदविमोक" कहा जाता है।[९] तै. शाखा के अनुसार होता "वेदोऽसि" मन्त्र के द्वारा पत्नी के उपस्थ में तीन बार बेद को फेंकता है।[१०] आश्वालयन श्रौतसूत्र के अनुसार केवल वेद देने की व्यवस्था है।[११] पत्नी प्रत्येक बार "विहित मन्त्र[१२] से वेद को होता के पास फेंकते हुए लौटा देती है।[१३] भारद्वाज ने तो वैकल्पिक विधान किया है कि पत्नी वेद को होता की ओर न फेंककर

---

१. वा. सं., २.२०
२. का. श्रौ., ३.७.१५, वैता. श्रौ., १.४.१०
३. का. श्रौ., ३.८.१
४. भा. श्रौ., ३.९.६, तु. —स. श्रौ., ११.२.५ आज्येनैव पिष्टलेपं जुहोति।आप० श्रौ. ११. ९. ३,
५. आप. श्रौ., ३.९.१२
६. का. श्रौ., ३.८.१९
७. का. श्रौ., ३.८.१९, भा. श्रौ., ३.९.६, वा. श्रौ., १.३.७.१४, वैखा. श्रौ., ७.१०, मा. श्रौ., १.३.५.१३, स. श्रौ., २.५.११, आप. श्रौ., ३.९.११
८. दर्श. पौ. प., पृ. १०२, वैता. श्रौ., १.४.११
९. श्रौ. य. प., पृ. ५७
१०. आप. श्रौ., ३.१६.३, भा. श्रौ.,३.९.७, वा. श्रौ., १.३.७.१६, स. श्रौ., २.५.१२
११. आश्वा. श्रौ., ३.९.९
१२. मै. सं., १.४.३
१३. आप. श्रौ., ३.१०.४ इतरां प्रास्तं प्रास्तं प्रति निरस्यान्।

स्वयं अपनी गोद में ही फेंकती है।[१] यजमान वेदि के मध्य में वेद को रखकर उसका "वेदोऽसि"[२] मन्त्र द्वारा अभिमर्शन करता है।[३] होता वेद को खोलकर "धृतवन्त"[४] मन्त्र के द्वारा गार्हपत्य से लेकर आहवनीय तक बिछाता है,[५] परन्तु शतपथ ब्राहमण के अनुसार पत्नी ही वेद को खोलती है,[६] क्योंकि पत्नी स्त्री है, वेद पुरुष है।

इस प्रकार सन्तान उत्पन्न करने वाली सन्धि हो जाती है। इसलिए पत्नी वेद को खोलती है।[७] जिसमें "वेदोऽसि"[८] मन्त्र का विनियोग किया जाता है और खुले हुए वेद को होता वेदि तक फैलाता है।[९]

योक्त्रविमोक

योक्त्रविमोक का अर्थ है यजमान की कमर में बांधी गई रस्सी को खोलना।[१०] योकत्र को ब्रह्मा खोलता है[११], का. श्रौ. सू., के अनुसार यजमान पत्नी ही योकत्र को खोलती है।[१२] तदनन्तर खुले हुए योकत्र को होता बिछाता है[१३], तदनन्तर प्रायश्चित्त होम किया जाता है[१४], जिसकी सम्पूर्ण विधि पंचम अध्याय में देखी जा सकती है। पार्वण होम का भी विधान यहाँ पर किया जाता है।[१५]

समिष्टयजुर्होम

समिष्ट का अर्थ है सम्यक् रूप से अभिलिखित अथवा सम्यक् रूप से बुलाये गये जो देवता होता है और जिन देवताओं के लिय यजन किया जाता है उनके समिष्ट होने के कारण उन्हें समिष्ट यजु नामक आहुति दी जाती है।[१६]

---

१. भा. श्रौ., ३.९.८-११
२. तै. सं., १.६.४.२३
३. आप. श्रौ., ४.१३.६
४. वा. सं.
५. तै. ब्रा., ३.३.९-११, भा. श्रौ., ३.९.१२, वैखा. श्रौ., ७.१२, मा. श्रौ., १.३.५.१९, स. श्रौ., २.५.१२, बौ. श्रौ., ३.३०, तु.-श. ब्रा., १.९.२.२१-२४
६. श. ब्रा., १.९.२.२१-२४, का. श्रौ., ३.८.२, आप. श्रौ., ३.१०.६
७. योषा वै पत्नी वृषा वेदो गिथुनमैवेत प्रजननं क्रियते तस्माद्वेदं पत्नी विस्रं सयति। श. ब्रा., १.९.२.२२,
८. वा. सं., २.२१.
९. श. ब्रा., १.९.२.२४
१०. श्रौ. य. प., पृ. ५८
११. तै. ब्रा., ३.३.९-११
१२. का. श्रौ., (विद्याधर टीका) पृ. १२६, तु. भा. श्रौ., ३.१२.८, तु. मा. श्रौ., १.३.५.१९, स. श्रौ., २.५.११, वैता. श्रौ., १.४.११, आप. श्रौ., ३.१०.६
१३. वा. श्रौ., ३.८.३, स्तृणात्यावेदेः।
१४. मै. सं. ब्रा., १.४.६-८, तु.- भा. श्रौ., ३.९.१४, वा. श्रौ., १.३.७.२०, वैखा. श्रौ., ७.११, स. श्रौ., २.५.१४, आप. श्रौ., ३.११.१,
१५. भा. श्रौ., ३.९.१४
१६. श. ब्रा., १.९.२.२६

यही "समिष्ट यजु होम"कहलाता है। "सम + इष्ट" अर्थात् बुलाये गये देवता को आहुति देना। यहाँ यजु का अर्थ आहुति है।[१]

समिष्ट यजु क्यों किया जाता है — इसकी विशेषता प्रतिपादित करती हुई श्रुति कहती है कि जिन देवताओं को दर्श पौर्णमास यज्ञ के द्वारा बुलाया जाता है और जिन देवताओं के लिए यज्ञ किया जाता है वे देवता तब तक स्थित रहते हैं जब तक समिष्ट यजु आहुति न हो। वे यह सोचते हुए रुके रहते हैं कि हमारे लिए यह आहुति देगा। उन्हीं देवताओं का यथा विधि विसर्जन किया जाता है। जिस विधि के अनुसार उसने यज्ञ को उत्पन्न किया और उसका विस्तार किया, उसी को उत्पन्न करके उसकी प्रतिष्ठा करता है, इसलिए समिष्ट यजु की आहुति दी जाती है।[२]

विधि : ——

इस विधि में अध्वर्यु ध्रुवा के आज्य को पिघला कर और कुशमुष्टि को वामहस्त में लेकर वेदि के बीच में आहवनीय कुण्ड के पास पूर्वाभिमुख खड़ा होता है। तदनन्तर "देवागातुविदो"[३] मन्त्र से समिष्ट यजु संज्ञक आहुति के रूप में आहवनीय कुण्ड में ध्रुवास्थ आज्य को डाल देता है[४] और साथ ही साथ यजमान "इदं वाताय न मम" मन्त्रांश का पाठ करता है।[५] स. श्रौ. सू. के अनुसार तीन बार आहुति दी जाती है और मन्त्र का उच्चारण भी तीन बार किया जाता है।[६]

ध्यातव्य है कि समिष्ट यजुनामक आहुति में यजमान जिस वस्तु की कामना करता है, मन्त्र के साथ उसका नाम लेता है।[७] यदि इस समय यजमान स्वर्ग को जाना चाहता है तो अध्वर्यु "प्रजापतेर्विभान्नाम"[८] मन्त्र द्वारा ध्रुवा में यजमान भाग को रखकर समिष्ट यजु के साथ होम देता है।[९] शत्रु के लिए धारा विच्छेद कर देना चाहिए।[१०]

---

१. श. ब्रा., १.९.२.२६

२. वही, १.९.२.२७

३. वा. सं., २.२१, तै. सं., १.१.१३

४. श. ब्रा., १.९.२.२८, गो. ब्रा., १.९.३.९-१०, मै. सं. ब्रा., १.४.६.८, का. श्रौ., ३.८.४, मा. श्रौ., ३.१०.१-२, वैखा. श्रौ., ७.१२, मा. श्रौ., १.३.५.२१, स. श्रौ., २.६.१४, वैता. श्रौ., १.४.१३, आप. श्रौ., ३.१३.२, बौ. श्रौ., २४.२९

५. दर्श. पौ. प., पृ.

६. स. श्रौ., २.६.१४

७. स. श्रौ., २.६.१५

८. तै. सं., १.६.५.१

९. स. श्रौ., २.६.१५, बौ. श्रौ., २४.२९.२७.२, आप. श्रौ., ३.१३.४,

१०. स. श्रौ., २.६.१५

बर्हिहोम

बर्हि होम का अर्थ है कुशों का होम करना। यह एक अतिरिक्त आहुति है।[१] इसकी विधि में वेदि के ऊपर समस्त कुशों को जुहू के ऊपर रखकर सं बर्हिरङ्क्तं"[२] मन्त्र से आहवनीय अग्नि में डाल देता है[३] और इधर यजमान "इदं" दिव्याय नभसे न मम" इस मन्त्रांश का पाठ करता है।[४]

प्रणीता निनयन

प्रणीता निनयन का अर्थ है प्रणीता पात्रस्थ जल को गिराना। इस विधि में अध्वर्यु प्रणीता पात्रस्थ जल को दक्षिण दिशा में डालता है[५], जिसमें "कस्त्वाविमुचंति"[६] मन्त्र का विनियोग किया जाता है। कतिपय विद्वानों के अनुसार वेदि के बीच में उत्तराभिमुख होकर प्रणीता पात्रस्थ जल को गिराना चाहिए। परन्तु इसका खण्डन करते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यदि प्रणीता जल को नहीं गिराया जायेगा तो यज्ञ बाद में यजमान को हानि पहुँचायेगा। जल को गिराने से यज्ञ यजमान को हानि नहीं पहुँचाता है, अतः प्रणीता- जल को दक्षिण की ओर जाकर गिराना चाहिए।[७]

राक्षस भाग होम

चावलो को फटकते समय निकले हुए ताण्डुल कणों को दाहिने हाथ में लेकर वामहस्त में कृष्णाजिन् को उठाकर "रक्षसां भागोऽसि"[८] मन्त्र से चावल कणों को कृष्णाजिन् के नीचे डाल दिया जाता है। तदनन्तर जल का स्पर्श किया जाता है।[९] अन्य आचार्य जल के स्पर्श को नहीं मानते हैं।[१०]

---

१. श. ब्रा., १.९.२.३०
२. वा. सं., २.२२२
३. का. श्रौ., ३.८.५.६, भा. श्रौ., ३.११.२, स. श्रौ., २.६.१५, आप. श्रौ., ३.१३.५, वैता. श्रौ., १.४.१४
४. दर्श. पौ. प., पृ. १०४,
५. श. ब्रा., १.९.२.३२, का. श्रौ. ३.८.६,
६. वा. सं., २.२३
७. श. ब्रा., १.९.२.३२
८. श. ब्रा., १.९.२.३३, का. श्रौ., ३.८.७
९. दर्श. पौ., पृ. १४
१०. दर्श. पौ., पृ. १४

पूर्णपात्र निनयन

यहाँ से लेकर भाग प्राशन पर्यन्त सारे कृत्य को यजमान के द्वारा कराया जाता है। इस विधि में यज्ञ की समाप्ति पर अध्वर्यु दक्षिण की और घूमकर जल को गिराता है।[१] ध्यातव्य है कि यह जल उत्तर की ओर बैठी यजमान की अंजलि में गिराया जाता है।[२] यह कार्य दक्षिणाभिमुख होकर सम्पन्न किया जाता है। जो यज्ञ करता है वह इस कामना से करता है कि देवलोक में स्थान मिले। उसका यह यज्ञ भी देवलोक चला जाता है और इसके बाद पुरोहित को दक्षिणा दी जाती है। उस दक्षिणा को लेकर यजमान पीछे-पीछे चलता है[३], क्योंकि मार्ग दो होते हैं, जिसे क्रमशः देवयान तथा पितृयान कहा जाता है और दोनों मार्गों में अग्नि की शिखा जलती रहती है। यह अग्निशिखा डराने योग्य को डराती है जो निकल जाने के योग्य होता है उसे निकल जाने देती है। जल शान्त है इसलिए इस पूर्णपात्र जल के द्वारा वह मार्ग को शान्त करता है।[४]

ध्यातव्य है कि इस जल को सतत गिराया जाता है, जिससे धार न टूटे, क्योंकि पूर्ण का अर्थ है सब। इस प्रकार "सब"से मार्ग को शान्त करता है, अतः वह निरन्तर बिना धार तोड़े जल को गिराता है। इसकी विशेषता बताती हुई श्रुति पुनः कहती है कि यज्ञ में जो भूल हो जाती है, उसे यह जल शान्त कर देता है, इसलिए बिना धार तोड़े निरन्तर जल को गिराया जाता है, जिससे मार्ग स्थिर रहे।[५]

इस प्रकार वह निरन्तर अंजलि में जल लेकर सब से अन्त में "सं वर्च्चसा पयसा"[६] मन्त्र से जल को लेकर अपने मुख का प्रक्षालन मौन होकर करता है।[७] मुख प्रक्षालन की विशेषता बताती हुई श्रुति कहती है कि इसके दो कारण हैं, एक तो यह कि जल अमृत है अर्थात् अमृत से मुख का स्पर्श करता है। दूसरा यह है कि इस प्रकार से वह इस कर्म को अपना लेता है, इसलिए मुख का स्पर्श करता है।[८]

यजमान विष्णुकर्म

विष्णुक्रम का अर्थ है कि विष्णु पाद के समान पृथ्वी पर अपने पैरों को रखना। अर्थात् विष्णु के अंगों को भरना तथा विष्णु पगों में चलना।[९]

---

१. श. ब्रा., १.९.३.१, तै. ब्रा., ३.३.९-११, तै. सं. ब्रा., १.७.५. स. श्रौ., २.५.१२
२. श. ब्रा., १.९.३.६, तै. ब्रा., ३३.९-११
३. श. ब्रा., १.९.३.१
४. श. ब्रा., १.९.३.२-३
५. श. ब्रा., १.९.३.४-५
६. अं. सं., ६.५.३.३
७. श. ब्रा., १.९.३.७, अथमुखस्पृशते,. तै. ब्रा., ३.३.९-११, का. श्रौ. ब्रा., २.८.३-४, का. श्रौ., ३.८.८-९, भा. श्रौ., ३.११.९-११, वैखा. श्रौ., ७.११, मा. श्रौ., १.३.५.१८, स. श्रौ., २.५.१२, वैता. श्रौ., १.४.१७, आप. श्रौ., ४.१४.४
८. द्धयं तद्दस्मान्मुखमुपस्पृशतेऽमृतं वाऽ आपोऽमृतेनैववे तत्सरा स्पृशेतऽस्तदुश. चैवैतत्कर्मात्मन कुरुते तस्मान्मुखस्पृशते। ब्रा., १.९.३.७
९. वै. को., पृ. ३९५, का. श्रौ., भू. पृ. ३५,

इसमें यजमान क्रम पाद-विक्षेपण से विष्णु पगों के अनुसार चलता है। यजमान ऐसा इसलिए करता है कि विष्णु यज्ञ का स्वरूप है उस यज्ञ ने देवों के लिए इसी क्रम को अर्थात् शक्ति पाद प्रक्षेप को अथवा विक्रान्त को प्राप्त कर लिया था जो इस समय विष्णु क्रम कहा जाता है[१], क्योंकि जो यज्ञ करता है वह देवों को प्रसन्न करता है। इस यज्ञ द्वारा ऋचाओं से, यजुओं से या आहुतियों से देवों को प्रसन्न करके वह उनका हिस्सेदार होकर उन तक पहुंच जाता है।[२]

विष्णुक्रम की विधि : —

इस विधि में यजमान वेदि के दक्षिण श्रोणी से लेकर पूर्वाभिमुख आहवनीय पर्यन्त दक्षिण पैर से "दिविविष्णु"[३] मन्त्र से पृथिवी हेतु प्रथम पग, "अन्तरिक्षे विष्णु"[४] मन्त्र से अन्तरिक्ष हेतु द्वितीय पग और पृथिव्यां विष्णु"[५] मन्त्र से द्युलोक को तृतीय पग बढ़ाते हुए तीन पग चलता है।[६] आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के अनुसार यजमान चार पग चलता है[७]। और चतुर्थ पग मौन होकर चलता है। ध्यातव्य है कि विष्णुक्रम के पग आहवनीय से आगे नहीं जाना चाहिए।[८] तदनन्तर यजमान बैठकर "अस्मादन्नात्"[९] मन्त्र से अपने भक्षणीय भाग को देखता है।[१०] तत् पश्चात् "अस्यैप्रतिष्ठा"[११] मन्त्र से वेदि की भूमि को देखता है।[१२] तदनन्तर "अगन्मस्वः"[१३] मन्त्र से पूर्व दिशा को देखता है।[१४] और "संज्योतिषा भूम"[१५] मन्त्र से आहवनीय अग्नि को देखता है।[१६] तदनन्तर "स्वयम्भूरसि श्रेष्ठो रश्मिर्वर्चोदा, असि वर्चो मे देहि"[१७] मन्त्र से सूर्य को देखता है।[१८] यदि यजमान वांछित फल को प्राप्त करना चाहता है तो उसे उन-उन नामों को लेना चाहिए। जैसे "धनदा असि धनं मे देहि, गोदा असि गांमे देहि" और "पुत्रदा असि पुत्रान्मेदेहि"इत्यादि का पाठ "वर्च्चोदा असि वर्चो मे देहि"के स्थान पर करना

---

१. श. ब्रा., १.९.३.४
२. वही, १.९.३.८
३. वा. सं., २.२५
४. वही , २.२५
५. वही , २.२५
६. श. ब्रा., १.९.३.९, तै. सं. ब्रा., १.७.५.-६, का. सं. ब्रा., ३२.५-६, का. श. ब्रा., २.१.१, का. श्रौ., ३.८.१०, १४.१७, भा. श्रौ., ४.२०.७ वैखा. श्रौ., ७.१३, मा. श्रौ., १.५.१०.११, वैता. श्रौ., १ ४.१८, वैखा. आप. श्रौ., ६.१४६.८, बै. श्रौ. १.२१,
७. आप. श्रौ., ४.१४.६
८. , वही , ४.१४.७
९. वा. सं., २.२५
१०. का. श्रौ., ३.८.११
११. वा. सं., २.२५
१२. का. श्रौ., ३.८.१२
१३. वा. सं., २.२५
१४. श. ब्रा., १.९.३.१३, अथप्राङप्रेक्षते। का. श्रौ., ३.८.१३, भा. श्रौ., ४.१०.८
१५. वा. सं., २.२५
१६. का. श्रौ., ३.८.१४, आहवनीय, भा. श्रौ., ३.२०.८
१७. वा. सं., २.२६
१८. श. ब्रा., १.९.३.१५ अथ सूर्यमुदीक्षते। का. श्रौ., ३.८.१५, बौ. श्रौ., १.२१

चाहिए।[१] इस तरह यजमान जो चाह लेता है वह प्राप्त कर लेता है। तदनन्तर यजमान उसी स्थान पर खड़ा होकर "सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते"[२] मन्त्र से प्रदक्षिणा करता है।[३] प्रदक्षिणा करके यजमान गार्हपत्य के समीप "अग्नेगृहपते"[४] मन्त्र से बैठता है।[५] तदनन्तर वह पुनः "सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते"[६] मन्त्र से पूर्ववत् प्रदक्षिणा करके "उरुविष्णो"[७] मन्त्र से गार्हपत्य से पश्चिम वेदि के मध्य में बैठता है।[८] और "ततोऽसि तन्तुरस्यन मा तनुह्यस्मिन् यज्ञे स्यां साधुकृत्यायामस्मिन्नन्नेऽस्मिंल्लोक इदं में कर्मेदं वीर्यम् (अमुक शर्मा) पुत्रोऽनुसन्तनोतु"– इस मन्त्र का पाठ करके आशीष हेतु प्रार्थना करता है।[९] ध्यातव्य है कि यहाँ पर अमुक पद के स्थान में पुत्र का नाम लेना चाहिए।[१०] एक से अधिक पुत्र की संख्या में ज्येष्ठादि क्रम से सब का नाम लेना चाहिए। और प्रत्येक पुत्र के नाम उच्चारण अलग-अलग मन्त्र का पाठ करना चाहिए।[११] कतिपय विद्वानों के अनुसार मात्र ज्येष्ठ पुत्र का नाम लेना चाहिए।[१२] आचार्य आपस्तम्ब के मत से प्रिय पुत्र का नाम लेना चाहिए।[१३] आचार्य आपस्तम्ब के मत से प्रिय पुत्र का नाम लेना चाहिए।[१४] यदि पुत्र न हो तो पुत्र के नाम स्थान में अपने नाम उच्चारण किया जाता है। ध्यातव्य है कि अपना लेने के पक्ष में "सन्तनोतु" के स्थान में "सन्तनवानि"पढ़ा जाता है।[१५]

व्रत विसर्ग

कर्म की पूर्णता हो जाने पर यजमान प्रारम्भ में धारण किये गये सत्यपालन रूप व्रत को छोड़ता है। इसका यह अभिप्राय है कि यज्ञकाल में सत्य बोलने का जो नियम धारण किया था, उसे समाप्त करता है।[१६]

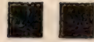
इस विधि में यजमान मौन खड़ा होकर आहवनीय का उपस्थापन करता है[१७] और "कस्त्वाविमुञ्चति"मन्त्र से यज्ञ को खोल देता है, अर्थात् प्रणीता-जल को वहाँ पूर्ण रूप से गिरा देता है।[१८] तदनन्तर व्रतोपायन में जिस

---

१. श. ब्रा., १.९.३.१५, का. श्रौ., ३.८.१६, वैखा. श्रौ., ७.१३
२. वा. सं., २.२६
३. श. ब्रा., १.९.३.१७, का. श्रौ., ३.८.१७
४. २.२७, वा. स. १
५. श. ब्रा., १.९.३.१८, अथ गार्हपत्यमुपतिष्ठते। का. श्रौ., २.८.१९, आप. श्रौ., ८.१६.२, वौ. सू., ७०.९, बौ. श्रौ., १.२१
६. वा. सं., २.२६
७. वा. सं., ५.४१
८. का. श्रौ., ३.८.१८, मा. श्रौ., १.५.१.१६
९. श. ब्रा., १.९.३.२१, का. श्रौ., ३८.२२, आप. श्रौ., ४.१६.३,
१०. श. ब्रा., १.९.३.२१, तै. सं. ब्रा., १.७.५-६, मै. सं. ब्रा., १.४.७-८, का. श. ब्रा., २.१.१, २.८.४, भा. श्रौ., ४.२१.७, मा. श्रौ., १.५.१.१५
११. भा. श्रौ., ४.२१.८, वैखा. श्रौ., ७.१३
१२. दर्श. पौ. प., पृ. १०८
१३. वही , पृ. १०८
१४. दर्श. पौ. प., पृ. १०८, प्रियपुत्रस्यैवेत्यापस्तम्बः तु. आप. श्रौ. ४.१६.४, प्रिय पुत्रस्य नाम गृहणाति।
१५. श. ब्रा., १.९.३.२१, का. श्रौ., ३.८.२३
१६. श्रौ. य. प., पृ. ५८
१७. का. श्रौ., ३.८.२४, भा. श्रौ., ४.२२.६
१८. वा. सं., २.२८, कौ. सू., ४२.१७

मन्त्र का प्रयोग किया गया था "अग्नेव्रतपते"[१] अथवा "इदमहं"[२] मन्त्र से व्रत का विसर्जन करता है।[३] इस तरह व्रत का विसर्जन कर लेने के अनन्तर यजमान अपने भाग को खाता है।[४] तत् पश्चात् अध्वर्यु यजमान को तर्पण कराता है।[५]

तदनन्तर यजमान ब्राह्मण भोजन के लिए संकल्प करता है। इसके बाद ब्रह्मा "नमः कृताय——— द्रविणं जातवेदः स्वाहा" मन्त्र से एक आहुति आहवनीय अग्नि में देता है।[६] या इसी मन्त्र से ही आहवनीय की उपस्थापन कर सकता है। तदनन्तर अन्वाहार्य ओदन का यजमान और ब्रह्मा भक्षण करते हैं।[७]



---

१. वा. सं., २.२८,

२. दर्श. पौ. प्रकाश, पृ. ६०४

३. श. ब्रा., १.९.३.२२, का. श. ब्रा., २.१.१.२ ८, का. सं. ब्रा., ३२.५.६, का. श्रौ., ३.८.२४-२५, भा. श्रौ., ४.२.२.६-८, वैखा. श्रौ., ७.१४, म. श्रौ., १.५.१.१७, आप. श्रौ., ४.१६.१२, वैता. श्रौ., १.४.२२, बौ.- श्रौ., १.२१.३.२०-२१

४. का. श्रौ., ३.८.२६, भागं प्राश्नाति, भा. श्रौ., ४.२२.३

५. का. श्रौ., ३.८.२७, भा. श्रौ., ४.२२.१, वैखा. श्रौ., ७.१४, बौ. श्रौ., १.२१, ३.२०-२१

६. वैखा. श्रौ., ७.१४

७. का. श्रौ., ३.८.२६, वैखा. श्रौ., ७.१४, आप. श्रौ., ४.१३.९, वौ. श्रौ., १.४.२१

षष्ठ—अध्याय

दर्शपौणमास याग से सम्बद्ध अन्य इष्टियाँ

प्रायश्चित्त

वैमृध इष्टि

अदिति इष्टि

काम्य इष्टियाँ

पिण्ड पितृयज्ञ

षष्ठ-अध्याय

दर्शपौणमास याग से सम्बद्ध अन्य इष्टियाँ

" प्रायश्चित्त "

"प्रायश्चित्त"के सम्बध में ब्राह्मण ग्रन्थों का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि वैदिक यज्ञों मे क्रियाओं को नियमित करने वाले सिद्धान्त तथा प्राविधान को कड़ाई और अनुशासन युंक्त ढंग से पालन करने के लिए प्रेरित किया गया है, क्योंकि निमय, आचार संहिता, आदेश तथा स्पष्टीकरण चाहे जितने कट्टर हों, उनका पालन करने वाले ऋत्विक्, यजमान कितने भी पवित्र मन से तथा विवेकी होकर यज्ञ को सम्पन्न करें, तथापि कहीं न कहीं त्रुटि रह ही जाती है। ये त्रुटियाँ चाहे यजमान की ओर से हों, या ऋत्विक् की ओर से अथवा यज्ञीय वस्तुओं से हों, इसका शमन करने के लिए प्रायश्चित्त अत्यन्त आवश्यक बताया गया है।

जिस प्रकार टूटे हुए अङ्ग को श्ल्योपचार के माध्यम से जोडकर पुनः उन्हें एक संयुक्त रूप दिया जाता है ठीक उसी प्रकार प्रायश्चित्त द्वारा यज्ञ में हुए त्रुटि का मार्जन किया जाता है।[१] प्रायश्चित्त कर्म, जप अथवा मार्जन समन्त्रक जल के द्वारा शरीर पर अभिषेक अथवा होम करके किया जाता है ! किये गये संकल्प में त्रुटि का प्रायश्चित्त द्वारा तिरोभाव हो जाता है।

यह प्रायश्चित्त कर्म अत्यन्त स्वाभाविक कृत्य है, जिसके द्वारा देवों की स्तुति करके त्रुटि के लिए क्षमा मांगी जाती है और यह प्रायश्चित्त कृत्य यज्ञ के अन्त में किया जाता है, जिससे सम्पद्यमान यज्ञ ठीक से सफलता की ओर अग्रसर रहे।

ब्राह्मणों में त्रुटियों के अनुरुप ही प्रायश्चित्त का प्रावधान किया गया है, क्योंकि ये प्रायश्चित्त कर्मकाण्ड की गरिमा तथा उसके फल के अनुरूप हुआ करते हैं और प्रत्येक कृत्य के बाद एक सामान्य प्रायश्चित्त के रूप में व्याहृति सहित एक होम किया जाता है - ऐसा ऐतरेय तथा जैमिनीय ब्राह्मणों में कहा गया है।[२]

यद्यपि कृष्ण यजुर्वेदीयशाखाओं में समष्टि यजु के पूर्व सामूहिक प्रायश्चित्त होम का प्रावधान किया गया है।[३] परन्तु आश्वालायन श्रौतसूत्र के अनुसार ऋत्विजों से सम्बद्ध प्रायश्चित्त यज्ञ के अन्त में तथा यजमान से सम्बद्ध प्रायश्चित्त यज्ञ के मध्य में किया जाता है।[४]

यज्ञ के अन्त में होने वाले विभिन्न रूप से प्रायश्चित्त को सम्पन्न करना आवश्यक प्रतीत होता है।[५] यहाँ पर दोनों प्रायश्चित्त की विधि को देखा जा सकता है।

---

१. ऐ. ब्रा., २५.३२, तद्यथात्मानंसन्दध्याद्यथापर्वणा पर्व यथा श्लेषणा चर्मन्यं वान्यद्वा विशिष्टम् संश्लेषमेदेवमेव एताभियज्ञस्य विश्लिष्ट संदधाति ॥ तथा जै. ब्रा., १.३.८५ तद्यथा शीर्ण तत्पर्वणा पर्व सन्धायभिषण्येत् एव्मेव तं विद्वान त सर्व विभिषज्यति —— तस्मादु हैवं विद एव प्रायश्चितं कारयेत्।

२. सैषा प्रायश्चित्तिः ये देवा व्याहृतयः तस्मादेवैव यज्ञे प्रायश्चित्तिः कर्तव्या। ऐ. ब्रा., २५.३२, जै. ब्रा., १.३५८

३. आप. श्रौ., ३.११.१, पर धूर्तस्वामी तथा रुद्रदत्त, तु. स. श्रौ. (महादेव), २.६.१५, वै. श्रौ., ७.११, आ. श्रौ., ३.११.१-२, बौ. श्रौ., ३.११.१-२

४. आश्वा. श्रौ., १.१३, संस्थित जघन्य त्रऋत्विजां सर्व प्रायश्चितानि जुहूयात्।

५. भा. श्रौ., ३.९.१४, प्रत्याहुतिं गृहीत्वा वा।

यह पहले बताया जा चुका है कि यज्ञ में होने वाली त्रुटि के लिए प्रायश्चित्त किया जाता है। ध्यातव्य है कि इसे तत्काल सम्पन्न करना चाहिए।[१]

क्योंकि प्रायश्चित्त का अनुष्ठान यज्ञ में सन्ताप तथा शान्ति प्रदान करता है।[२] स्रुव् से प्रायश्चित्त अनुष्ठान करना चाहिए।[३] सत्याषाढ श्रौतसूत्र के अनुसार जुहू से प्रायश्चित्त होम किया जाता है[४], परन्तु विकल्प से स्रुव अथवा जुहू से होम किया जा सकता है।[५] यह प्रायश्चित्त होम आहवनीय अग्नि में किया जाता है।[६] मानव श्रौ. के अनुसार पृथक्-पृथक् अग्नि में पृथक्-पृथक् प्रायश्चित्त होम किया जाता है।[७]

दर्शपौर्णमास इष्टि से सम्बद्ध प्रायश्चित्त : —

दर्शपौर्णमास याग के कालातिक्रमण (समय बीत जाने पर) प्रायश्चित्त अनुष्ठान —

दर्शपौर्णमास याग करने वाले व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि अमावस्या का कालातिक्रमण हो जाने से वह पथिकृत नामक अग्नि के लिए अष्टकपाल पुरोडाश की आहुति प्रदान करे।[८]

विकल्प से पौर्णमास याग में वैश्वानर नामक अग्नि के लिए द्वादश कपाल पुरोडाश की हवि दी जाती है।[९] कौषीतकि ब्राह्मण के अनुसार इन्द्र के लिए एकादश कपाल पुरोडाश की हवि दी जाती है।[१०] तै. सं. ब्राह्मण के अनुसार दोनों इष्टियों में से किसी एक का काल अतिक्रमण होने पर द्वादश कपाल पुरोडाश की हवि दी जाती है[११], परन्तु का. सं. ब्राह्मण के अनुसार अमावस्या हो या पूर्णमासी, दोनों के समय में अतिक्रमण होने पर अग्नि (पथिकृत) को अष्टकपाल पुरोडाश की हवि दी जाती है[१२], जिसमें "वेत्थाहिवधो"[१३] मन्त्र का विनियोग किया गया है। इस प्रायश्चित्त में वृषभ की दक्षिणा दी जाती है।[१४] कौषीतकि ब्राह्मण के अनुसार दण्ड और उपानह दक्षिणा में दिया जाता है।[१५]

---

१. का. श्रौ., २५.४.१, कर्मोपयान्ते प्रायश्चित्तं तत्कालम्।

२. का. सं., ३२.५, एता वै यज्ञस्य मृष्टस्य एताश्शान्तयः।

३. बौ. श्रौ., १.२१, भा. श्रौ., ३.९.१४, स्रुवेण सर्व प्रायश्चितानि जुहुयात्।

४. स. श्रौ., २.६

५. आ. श्रौ., ३.११.१-२

६. आ. श्रौ., ३.११.१, स. श्रौ., २.५, वै. श्रौ., ७.११

७. मा. श्रौ., ३.१.१

८. तै. सं. ब्रा., २.२.२.१, तु. मै. सं. ब्रा., २.१.१०, का. सं. ब्रा., १०.५, ऐ ब्रा., ७.८, गो. ब्रा., २.१.१३, बौ श्रौ., २३.३, आ. श्रौ. ३.७, भा. श्रौ., ९.६,५, आप. श्रौ., ९,४,२, स. श्रौ., १५.१.८.१.२.११, मा. श्रौ., १.३.१.३३-३४
अग्नये पथिकृते पुरोडाशमष्टकपालं निर्वपद्यते दर्शपूर्णमासयाजी सन्नमावस्यां वा पौर्णमासीं वाति पादयेत्।,

९. तै. सं. ब्रा., २.२.५,

१०. कौ. ब्रा., ४.३, अग्नये पथिकृतेऽष्टकपाल पुरोडाश निर्वपति - इन्द्राय वृत्रघ्नेएकादशकपालं वैश्वानराय द्वादशकपालम्।

११. तै. स. ब्रा., २.२.५.४, स. श्रौ., १.५.१.८.३, वैश्वानरं द्वादश कपालं निर्वपेदमावास्यां वा पौर्णमासों वातिपाद्य।

१२. का. सं. ब्रा., १०.५

१३. ऋ. सं., ३.१६.३, १०.२.३

१४. तै. सं. ब्रा., २.२.२, मै. सं. ब्रा., २.१.१०, गो. ब्रा., २.१.१३

१५. कौ. ब्रा., ५.२, दण्डोपानहदक्षिणा।

छः माह अथवा एक वर्ष के अन्तराल होने पर अथवा बार-बार विघ्न आने पर प्रायश्चित्त की विधि :- जो ६ महीने तक निरन्तर दर्शपौर्णमास का अनुष्ठान नहीं कर पाता है, उसे आठ कपालों पर निर्मित प्रत्येक पुरोडाश को पथिकृत अग्नि, तन्तुमन्त अग्नि वैश्वानर अग्नि व व्रतपति अग्नि को प्रदान करना चाहिए, तब अग्निहोत्र के बाद दर्श पौर्णमास इष्टि करनी चाहिए।[1] यदि कोई एक वर्ष तक निरन्तर दर्शपौर्णमास का अनुष्ठान नहीं कर सकता है, उसे आठ कपालों पर निर्मित प्रत्येक पुरोडाश पवमान अग्नि, पावक अग्नि, शुचिअग्नि, पथिकृत अग्नि, तन्तुमन्त अग्नि, वैश्वानर अग्नि व व्रतपति अग्नि को प्रदान करना चाहिए। इसके बाद दर्शपूर्णमास का अनुष्ठान करना चाहिए।[2] बार-बार विघ्न आने पर अन्वारम्भणीय इष्टि करनी चाहिए और तब अग्नियों का आधान करना चाहिए। विकल्प से आधेय अग्नि का आधान किया जा सकता है।[3]

यज्ञ में यजमान-पत्नी के रजस्वला होने पर प्रायश्चित्त की विधि : ——

यजमान की पत्नी यदि यज्ञ के मध्य में रजस्वला हो जाती है तो "**अमूहमस्मि", सात्वम्। द्यौरहम्। पृथिवीत्वम्। सामाऽहम्। ऋक्त्वम्। तावेहिसंभवाव। सह रेतोदधावहै। पु. से पुत्राय वतवै। रायस्पोषाय सुप्रजा। स्त्वाय सुवीर्याय**" इस मन्त्र से आहुति देनी चाहिये।[4]

व्रत के विरुद्ध आचरण करने पर यजमान के लिये प्रायश्चित्त की विधि : ——

इसमें अष्टकपाल पुरोडाश की हवि दी जाती है।[5] जिसमें "**त्वमग्ने व्रतपा असि यद्वो वयं प्रमिनामव्रतानि**"[6] मन्त्र का विनियोग किया जाता है।

व्रत में आँसू निकलने पर प्रायश्चित्त —— इसमें आहवनीय अग्नि में अष्टकपाल पुरोडाश की आहुति दी जाती है।[7] जिसमें "त्वमग्ने व्रतमृच्छचिः, व्रतानिबिभ्रद्व्रतपा अदब्धः[8]"का पाठ किया जाता है।व्रत में आहिताग्नि की मृत्यु हो जाने पर यज्ञ को बन्द कर देना चाहिए।[9]

व्रतोपायन से सम्बद्ध प्रायश्चित्त : —— दर्श इष्टि में अमावस्या के पूर्व चतुर्दशी को चन्द्रमा देखकर उपवास करने पर अभ्युदयेष्टि की जाती है जिसे प्रायश्चित्त इष्टि भी कहा जाता है।[10]

---

१. बौ. श्रौ., २८.१२, अथ षण्मासानहुते ग्निहोत्रे दर्शपूर्णमासाभ्यामनिष्ट्वा अग्नये पथिकृतेऽग्नये वैश्वानराग्नये व्रतपतये इति। अग्निहोत्र हुत्वा दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा - - - - - - -

२. बौ. श्रौ., २८, १२

३. वै. श्रौ., ३.२

४. तै. ब्रा., ३.७.१, का. सं. ब्रा., ३५.१८, कपि. सं. ब्रा. ४८.१६, बौ. श्रौ. २९.१०

५. तै. सं. ब्रा., २.२.२, मै. सं. ब्रा., २.१.१०, का. स. ब्रा., १०.५,ऐ. ब्रा., ७.८, बौ. श्रौ., १.३.३.२.३.१

६. तै. सं., ४.११.४, ऋ सं., ८.११.१, १०.२.४

७. ऐ. ब्रा., ७.८

८. आ. श्रौ., ३.१२

९. ऐ. ब्रा., ७.१

१०. श. ब्रा., ११.१.४, दर्शयागे पुरस्तान्यचन्द्रदर्शन प्रायश्चित्तेष्टिः। तै. सं. ब्रा., २.५.५, मै. सं. ब्रा., २.२.१३, का. श. ब्रा., १३.१.२, गो. ब्रा., २.१.९, बौ. श्रौ., १७.५०

कुछ लोग चतुर्दशी का चन्द्रमा देखकर ही याग की तैयारी करने लगते हैं स्यात् दूसरे दिन चन्द्रमा न दिखाई पड़े। परन्तु किसी भी परिस्थिति में चन्द्रमा निकल आने पर यजमान को चाहिए कि प्रज्ञात व्रत चर्या करे। प्रथम दिन के दूध को दही के रूप में भरपूर गाढ़ा कर दिया जाता है और पुनः हटा भी लिया जाता है।[१] यदि अन्वाधान के बाद यजमान का व्रत हिंसा से परिपूर्ण हो तो उसे आठ कपाल पर निर्मित पुरोडाश व्रत पति अग्नि को प्रदान करना चाहिए।[२]

पूर्ववत् उन बछड़ों को अपराह्ण में पर्णशाखा से हटाकर पुनः सायंकाल विधिपूर्वक दूध-दुहा जाता है, परन्तु पुनः व्रतचर्या नहीं करनी चाहिए और हवि लेने के पश्चात् चन्द्रमा निकल आने पर उसे अन्य प्रकार से सम्पन्न किया जाता है।[3] यज्ञ के लिये अपेक्षित तण्डुलों की भूसी छुड़ाकर और साफ करके "दाताअग्निः" के लिए अष्टकपाल पुरोडाश पकाया जाता है[४] और पूर्व दिन के दूध का दही "इन्द्रप्रदाता" के लिए अर्पित किया जाता है[५] तथा दूध में तण्डुल मिलाकर चरू बनाया जाता है। वह चरू "शिपि विष्णु"के लिए दिया जाता है।[६]

इस समय अधिक से अधिक दक्षिणा देनी चाहिए, अतः जिस दिन चन्द्रमा दिखाई न दे उसी दिन उपवास करना चाहिए।[७]

इसी तरह अमावस्या को बाद में चन्द्रमा दिखाई पड़ने पर नैमित्तिक इष्टि की जाती है।[८] क्योंकि जो यजमान "आज अमावस्या है" यह मान कर उपवास करता है और यदि चन्द्रमा पश्चिम में दिखाई पड़ता है, तो इसके लिए भी प्रायश्चित् किया जाता है, क्योंकि प्रायश्चित्त न करने पर यजमान के पशुओं का कल्याण नहीं होता है[९] और यजमान अपने पथ से हट जाता है। इस पर कुछ विद्वानों का कथन है कि यजमान यज्ञ करे अथवा न करे, पुनः कुछ विद्वान कहते हैं कि यजमान यज्ञ अवश्य करें। इसके अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं है अतः यजमान अमावस्या की तरह इष्टि करके तीन अतिरिक्त आहुति प्रदान करे।[१०] अग्नि पथिकृत के लिए आठ कपाल पुरोडाश, इन्द्र वृत्रघ्न के लिए ग्यारह कपाल पुरोडाश और अग्नि वैश्वानर के लिए द्वादशकपाल पुरोडाश की हवि दी जाती है।[११] इसमें सत्रह सामिधेनी मन्त्र बोला जाता है और मन्द ध्वनि से आहुति दी

---

१. श. ब्रा., ११.१.४.१, का. श. ब्रा. १३.१.२

२. तै. सं. ब्रा., २.२.२.२, मै. सं. ब्रा., २.१.१०, काठ. स. ब्रा., १०.५

३. श. ब्रा., ११.१.४, तान् अपराह्ने पर्णशाखायाऽपाकरोति। का. श. ब्रा., १३.१.२

४. श. ब्रा., ११.१.४.२, दाताग्नये पुरोडाशाष्टकपालपुरोडाशंश्नपयति।

५. श. ब्रा., ११.१.४.३, अथ यत् पूर्वेद्युः दुग्ध दधि तदिन्दोय प्रदात्रेऽथ। तै. सं. ब्रा., २.५.५, मै. सं. ब्रा., २.२.१३, का. सं. ब्रा., १३.१.२, गो. ब्रा., २.१.९, बौ. श्रौ. १७.५०, तै. ब्रा., ३.७.१६-७, काठ. सं. ब्रा., ३५.१८ कपि. स. ब्रा., ४८.१६, अथ यस्य सायं दुग्धं हविरार्तिमार्च्छलीतन्द्राय ब्रीहिन्निरुप्योपवसेत्। अपि वा प्रातर्दोहं द्वैधं कृत्वान्यतरदातप्य, सायं दोहस्थाने कुर्माच्भृतस्थान इतरत्। द्र. ऐ. ब्रा. ७.४. तु. आश्वा. श्रौ., ३.१०, बौ. श्रौ., २७.१३, २९.१०, भा. श्रौ., ९.२.९-१३,

६. श. ब्रा., ११.१.४.३, तदानीं दुग्धे विष्णवे शिपिविष्टाय तां स्तण्डुलाग्धुते चरुं श्रपयति।मै. सं. ब्रा., २.२.१३, का. श. ब्रा., १३.१.२, शां. ब्रा., ४.२, तै. सं. ब्रा., २.५.५ गो. ब्रा., २.१.९, बौ. श्रौ. १७.५०

७. श. ब्रा., ११.१.४.४

८. श. ब्रा. ब्रा., ११.१.५, पश्च्चान्द्रर्शने नैमित्तिकइष्टिः का. श. ब्रा., ११.१.२

९. श. ब्रा., ११.१.५.१, अद्यामावस्येति मन्यमान उपवसति। अथैष पश्चाद् दशेसहैष दिव्यःश्वा स यजमानस्य पशून् भ्यवसेत् तदपशव्य स्याद्प्रायश्चित्ति कृति - - - - - -। का. श. ब्रा., १.३.१.२, शां. ब्रा., १३.१.२

१०. श. ब्रा. १.५.४-५, तस्य त्रीणि हविषि भवन्ति, का. श. ब्रा., १३.१.२

११. श. ब्रा, ११.१.५.५, अग्नये पथिकृतेऽष्टकपाल पुरोडाशमिन्द्रय वृत्रघ्नऽएकादशकपालमग्नये, वैश्वानराय द्वादश कपालं पुरोडाशम्, का. श. ब्रा., १३.१.२, शां. ब्रा., ४.३

जाती है तथा वांछित मन्त्र को याज्या, पुरोनुवाक्या बना दिया जाता है।[१] इसी तरह दो याज्या और दो संयाज्या की आहुति दी जाती है।

इसकी-दक्षिणा में तीन तीर वाला धनुष होता है।[२] और एक डण्डा भी[३] तथा जो हो सके वही दक्षिणा देनी चाहिए।[४] यह पशु सम्बन्धी इष्टि है। अन्यत्र उक्त प्रायश्चित्त अनुष्ठान में दण्ड व जूते को दक्षिणा में दिया जाता है।[५]

व्रतोपायन के दिन यजमान द्वारा स्त्री प्रसङ्ग और मांस भक्षण करने पर अष्टकपाल पर निर्मित पुरोडाश व्रतपति अग्नि को प्रदान करना चाहिए। यदि ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करने के बाद यजमान स्त्री प्रसङ्ग करता है तो उसे गर्दभ का आलभन करना (मारना) चाहिए।[६] एसी परिस्थिति में भूमि पर पुरोडाश के श्रपण का विधान किया गया है।[७]

अग्नि के बिना अन्वाधान किये इष्टि करने पर प्रायश्चित्त : ––

यजमान को चाहिए कि " तुभ्यं ता अङ्गिरस्तम" विश्वाः सुक्षितयः पृथक्"। अग्ने कामाय येमिरे"[८] मन्त्र से आहुति प्रदान करनी चाहिए। यदि सूर्यास्त के बाद व्रत ग्रहण करता है तो उसे ''अग्नि हि सा तर्हि"मन्त्र से आहवनीय अग्नि की प्रार्थना करनी चाहिए।[९]

सान्नाय कृत्य से सम्बद्ध प्रायश्चित्त : ––

सायं दोहन के समय दोहन कर्ता के अनुपस्थिति रहने पर यजमान को अन्य व्यक्ति से दोहन कर्म करवाना चाहिए।[१०] यदि बछड़ा सान्नाय्य निमित्त दुही जाने वाली गाय का दूध पी ले तो वायु के निमित्त यवागू की आहुति देनी चाहिए।[११]

यदि सायंकालीन दूध गिर जाए अथवा फट जाय तो इन्द्र के लिए ब्रीहि का पुरोडाश निर्वाप कर उपवास

---

१. श. ब्रा., ११.१.५.९, तस्यै सप्तदशसामधेन्यो भवन्ति उपांशुदेवता यजति याः कामयते तायाज्यानुवाक्यायाः करोत्ये वमाज्यभामावेव संयोज्ये।

२. श. ब्रा., ११.१.५.१०, तिसृधन्वं दक्षिणाददाति।

३. श. ब्रा., ११.१.५.११, दण्ड दक्षिणां दधाति, शां. ब्रा., ४.३

४. श. ब्रा., ४.३, दण्डोपानहदक्षिणा, शा. श्रौ., ३.३.१-७

५. मा. श्रौ., ५.१.७.२८-३०, का. श्रौ., २५.४.२७

६. भा. श्रौ., ९.१७.१, आ. श्रौ., ९.१५.१, स. श्रौ., १५.४.२२, का. श्रौ., १.१.१३

७. भा. श्रौ., ९.१७.१

८. ते. ब्रा., ३.७.१, का. सं. ब्रा., ३५.१७, कपि. सं. ब्रा., ४८.१५, सर्वान्वा एषोऽग्नौकामान् प्रवेशयति योऽग्नी नन्वाधाय व्रतभुपैति स जुहूयात् तुभ्यं ता इति। तु. बौ. श्रौ., २९.१०

९. काठ. सं. ब्रा., ३१.१५

१०. बौ. श्रौ., २०.५,

११. तै. ब्रा., ३.७, का. सं. ब्रा., ३५.१७, कपि. सं., ४८.१५, बौ. श्रौ., २९.१०, भा. श्रौ., ९.२.६, आ. श्रौ., ९.१.२३, आश्वा. श्रौ., ३.१०, यस्य हविषे वत्साअपा कृता धामन्ति वा यज्या यवागूं निर्वपेत्।

करना चाहिए और प्रातः होने पर पुनः वत्सापकरण कृत्य को सम्पन्न करके उस दूध का दो भाग करके उसके एक भाग को आहुति देनी चाहिए।[१] प्रातःकालीन दुहाये गये दूध को नष्ट हो जाने पर अथवा चोरी हो जाने पर इन्द्र अथवा महेन्द्र के लिए पुरोडाश की हवि आहुति में दी जाती है।[२] अन्यत्र दही के साथ पुरोडाश की हवि दी जाती है।[३] यदि गर्म करने के बाद सान्नाय्य की हवि कम हो जाय तो किसी प्रकार से अल्पमात्रा में दूध दुहाकर तथा इसे जल से मिश्रित कर इसका प्रयोग करना चाहिए।

किसी भी परिस्थिति में अन्य स्थान से दूध नहीं लाना चाहिए।[४] यदि सान्नाय्य में कोई कीड़ा पड़ जाय तो पलाश के पत्ते के मध्य भाग से सान्नाय्य को लेकर सम्बद्ध मन्त्र से परिधियों के मध्य में गिराना चाहिए और वत्सापकरण के पश्चात् उपवास करना चाहिए।[५] परिधियों के मध्य में सान्नाय्य के निनयन के बाद भू का उपस्थान (प्रार्थना) करना चाहिए।[६] नष्ट हवियां को जल में अथवा गर्म राख पर फेंक देना चाहिए।[७] आश्वलायन श्रौतसूत्र के अनुसार कीट, पतंग, केश आदि दूध में गिर जाने से पलाश के पत्ते के मध्य भाग में उसे लेकर सम्बद्ध मन्त्र से वाल्मीकि के ऊपर डाल देना चाहिए।[८] सान्नाय्य दूध के गर्म होते समय अथवा हविनिर्वाप किए जाते समय आह्वनीय व गार्हपत्य अग्नि के मध्य से यदि कोई व्यक्ति अथवा कुत्ता अथवा रथ, अथवा बैलगाड़ी अथवा बकरी चला जाय तो सम्बद्ध मन्त्र से उस स्थान पर जल से प्रोक्षण करके उस स्थान से होकर एक गाय हाँकना चाहिए तथा "देवाः जनमगन"से शुरू होने वाली छः हवियों की आहुति देनी चाहिए, इसके साथ "इदं विष्णुर्विचक्रमः"से या तो उस स्थान पर झाड़ू लगाना चाहिए अथवा पद चिन्ह को मिटाना चाहिए।[९]

प्रातर्दोहन तथा सायं दोहन दोनों प्रकार के दूध हवि के लिए अनुपयुक्त होने पर इन्द्र के लिए ओदन अर्पित कर तथा वत्सापकरण के बाद अन्य हवि के लिए बछड़ों को हाँकना चाहिए।[१०]

इस प्रसङ्ग में कात्यायन का कहना है कि यदि दोनों प्रकार (सायं दोहन व प्रातर्दोहन) का दूध अनुपयुक्त हो जाय तो इन्द्र के लिए पंच शराव ओदन तथा एकादश कपाल पर निर्मित पुरोडाश का निर्वाप करना चाहिए।[११] सान्नाय के पूर्व चन्द्रोदय हो जाने पर बछड़ों को वापस बुला लेना चाहिए। यदि सायं का दूध मिलाने से हवि दही बन जाये तो व्रत ग्रहण करने वाले व्यक्ति को यथा समय यजन करना चाहिए। जो व्रत ग्रहण नहीं कर सका है, उसे चन्द्रोदय होने पर प्रायश्चित्त आहुति देनी चाहिए तथा प्रायश्चित्त हवि का निर्वाप करने (अभ्युदय इष्टि) के अनन्तर बछड़ों को दूर हाँककर पुनः यजन करना चाहिए।[१२] उक्त अनुष्ठान के साथ ही पथिकृत अग्नि

---

१. तै. ब्रा., ३.७.१.६-७, काठ. सं. ब्रा., ३५.१८,
२. ऐ. ब्रा. ७ .४, यस्य प्रार्तदुग्धं सान्नाय्य दुष्येद्वापहरेद्वा ऐन्द्रं वा महेन्द्रं वा पुरोडाशं तस्य स्थाने निरुप्य तेन यजेत्।
३. बौ. श्रौ. २७.१३
४. भा. श्रौ., ९.३५.७, आ. श्रौ., ९.२.५, स. श्रौ., १५.१.४३-४४, वै. श्रौ., २०.५, आश्वा. श्रौ., ३.१०
५. भा. श्रौ., ९.३.५-७, आ. श्रौ., ९.२.५, यदि सान्नाय्येऽग्निहोत्रे वा कीटोऽवपद्यते मध्यमेन पर्णेन द्यावापृथि व्यर्चन्तिः परिधि निनयेत्।
६. स. श्रौ., १५.१.४३-४४, वै. श्रौ., २०.५
७. का. श्रौ., २५.५.९.१०,
८. आश्वा. श्रौ., ३.१०
९. आ. श्रौ., ९.१०.१५-१६, तु. वैखा. श्रौ., २०.१९
१०. तै. ब्रा., ३.७.१.७-८, का. सं. ब्रा., ३५.१८, कपि. स. ब्रा., ४८.१६, बौ. श्रौ., २७.१३, भा. श्रौ., ९.२.१६, स. श्रौ., १.५.१.३५.-३८
११. का. श्रौ., २५.५.२-३
१२. मा. श्रौ., ३.१.१४-१६

के लिए तुरन्त अभ्युदयइष्टि करनी चाहिए।[१] इन अनुष्ठानों में तीरों से युक्त धनुषबाण देने का विधान दक्षिणा में बताया गया है।[२]

कपालो के टूट जाने अथवा पुरोडाश से सम्बद्ध प्रायश्चित्त : ——

यदि पुरोडाश से कपाल ढके हुए न हों अथवा भिन्न प्रकार से ढके हुए हों या अत्यधिक ढंके हुए हों, तो व्याहृतियों से आह्वनीय अग्नि में आज्य की आहुति देनी चाहिए।[३]

यदि कपाल टूट जायें तो दो कपालों पर निर्मित पुरोडाश अश्विन् देवता के लिए तथा एक कपाल पर निर्मित पुरोडाश द्यावा पृथिवी के लिए दिया जाता है।[४] तथा दो कपालों पर निर्मित पुरोडाश अश्विन्[५] देवता के लिए तथा अग्नि वैश्वानर के लिए द्वादश कपाल पुरोडाश की हवि दी जाती है।[६] जिसके आज्यानुवाक्या में "अश्विनावीतस्मत्"आगोभता ना सत्या रथेन" मन्त्र का विनियोग किया जाता है।[७] और एक शत बार गायत्री मन्त्र का पाठ करके कपाल को ठीक किया जाता है।[८] इस प्रायश्चित्त का अनुष्ठान जिस किसी भी समय कपाल टूटने पर अथवा और कोई गड़बड़ी होने पर करना चाहिए। जबकि कतिपय विद्वानों के अनुसार कपालोपधान के बाद तथा कपाल विमुचन के पूर्व यह अनुष्ठान करना चाहिए। उक्त प्रायश्चित्त अनुष्ठान करने के लिए होता भृगु गोत्री होना चाहिए तथा दक्षिणा में उसे एक वर्ष की आयु वाला बछड़ा देना चाहिए।[९] कुत्ता द्वारा चाट लिये जाने पर अथवा अन्य किसी कारण से कपाल दूषित होने पर उसे जल में फेंक देना चाहिए।[१०]

यज्ञ सामग्री से सम्बद्ध प्रायश्चित्त : ———

दर्वि, कूर्च, प्रस्तर, परिधि, वर्हि, विधृति, पवित्र, वेद, उपवेष, ईन्धन इत्यादि यज्ञ से सम्बद्ध सामग्री नष्ट होने पर पुनः दन सब वस्तुओं का निर्माण करना चाहिए। तथा "त्वमग्ने आयासि" और "प्रजापति." मन्त्र से स्रुव के द्वारा आहुति प्रदान करनी चाहिए।[११] ध्यातव्य है कि लकड़ी से सम्बद्ध यज्ञ पात्र नष्ट हो जाने पर उसे आहवनीय

---

१. वा. परि प्रा., ४

२. शां. ब्रा., ४२, शां. श्रौ., ३.२.७, तिसृधन्वं दक्षिणा।

३. बौ. श्रौ., २७.३, वै. श्रौ., २०.२८

४. तै. सं. ब्रा., २.६.३.६, भा. श्रौ., ९.१६.७, आ. श्रौ., ९.१३.१३, स. श्रौ., १५.४.७, वै. श्रौ., २०.२८, यदि नश्येदाश्विनौ द्विकपाल निर्वपेद द्यावापृथिवीमेककपालम्।

५. ऐ. ब्रा., ७.९, तु. का. श्रौ., २५.५.१

६. तै. सं. ब्रा., २.६.३, मै. सं. ब्रा., १.४.१३, मा. श्रौ., ५.१.१.२४, बौ. श्रौ., ३.१५

७. ऋ. सं., १.९.२.१६, ७.२२.१

८. ऐ. ब्रा., ७.१, मै. स., १.४.१३, भा. श्रौ., ९.१६.९

९. भा. श्रौ., ९.१६.८, आ. श्रौ., ९.१३.१४, स. श्रौ., १५.४.७, बौ. श्रौ., २०.२८, मा. श्रौ., ५.१.२५-२६

१०. आश्व. श्रौ., ३.१४, एवमवलीढ़ाभिः क्षिप्तेषु।

११. बौ. श्रौ., २७.१

अग्नि में डाल देना चाहिए।[१] तथा धातु से सम्बद्ध पात्र नष्ट हो जाने से "भूमिं भूमिं अगन्माता"[२] मन्त्र का पाठ करना चाहिए और मिट्टी से सम्बद्ध पात्र टूट जाने पर जल मे प्रवाहित कर देना चाहिए।[३]

पुरोडाश से सम्बद्ध प्रायश्चित्त : ———

हवि अपवित्र होने पर चार सकोरे में तण्डुल पकाकर ब्राह्मण को खिलाया जाता है।[४] यदि हवि को सम्मिश्रण करते समय कोई कीड़ा उस हवि में गिर कर मर जाये तो उस हवि को आहवनीय अग्नि में डाल देना चाहिए।[५] हवि के जल जाने पर अक्षत से आहुति देनी चाहिए तथा प्रधान देवता के लिए पुनः हवि का निर्माण करना चाहिए।[६]

कतिपय सूत्रकारों के अनुसार यदि हवि अच्छी तरह पकी न हो, तरल हो अथवा अत्यधिक मात्रा में हो जाये या बाहर गिर जाए तो ऐसी स्थिति में क्रमशः रूद्र, वायु, निश्चित, व उस दिशा के देवता को, जिस ओर हवि गिरे, आज्य की आहुति देनी चाहिए।[७] दक्षिणा के रूप में प्रत्येक ब्राह्मण को समान द्रव्य या वरण देना चाहिए।[८]

यदि पुरोडाश टुकड़े-टुकड़े हो जाए अथवा नीचे गिर जाये तो इसे वर्हि पर रखना चाहिए तथा वरुण देवता को आहुति देनी चाहिए।[९] बौधायन श्रौतसूत्र के अनुसार हवि टूट जाने से अथवा उलट जाने से व्याहृतियों के द्वारा आज्य-आहुति देनी चाहिए तथा उत्तर की ओर जाकर व्याहृतियों का जप श्वास रोककर करना चाहिए तथा व्याहृतियों के साथ लौट लेना चाहिए।[१०]

सम्पूर्ण हवि की चोरी हो जाने, खो जाने अथवा नष्ट हो जाने पर प्रत्येक देवता के लिए आज्य की आहुति देकर पुनः यजन करना चाहिए।[११] शतपथ ब्राह्मण[१२] में देवता सम्बन्धी हवि में त्रुटि आ जाने पर हवि निर्वाप का निषेध बताया गया है, विकल्प से अतिरिक्त हवि निर्वाप किया जा सकता है।[१३] वेदी के ऊपर हवि रखने के बाद उसके ऊपर से कौआ के उड़ने पर अथवा हवि पर बैठ जाने पर "इदं विष्णुः" मन्त्र से एक आहुति देनी चाहिए। हवि के ऊपर ऊंचाई से कोआ उड़ जाने पर उसके लिए प्रायश्चित्त की कोई आवश्यकता नहीं होती।[१४]

---

१. आ. श्री., ९.१६.३, आहवनीये दारूमयाणि।
२. भा. श्री., ३.१८.६, का. श्री., २५.५.९
३. आ. श्री., ९.१६.२, ३.१४,
यत्कि च यज्ञे मृन्मयं भिद्यते तदपोऽभ्यवरेद् भूमि भूमि मगात्।
४. मै. सं. ब्रा., १.४.१३
५. ऐ. ब्रा., ७.२
६. भा. श्री., ९.१७.६-८, आ. श्री., ९.१५.६-७, स. श्री., १५.४.२६-२७
७. भा. श्री., ९.१७.६-८, आ. श्री., ९.१५.६-७
८. स. श्री., १५.४.३८-३९
९. आ. श्री., ९.१६.११-१२, स. श्री., १५.४.४९-५०, मै. सं. ब्रा., १.४.१३, तु. भा. श्री., ९.१९.८-९, आश्व. श्री., ३.१४
१०. बौ. श्री., २७.३, वै. श्री., २०.२९
११. ऐ. ब्रा., ७.४, बौ. श्री., २७.१३, भा. श्री., ९.१८.१-२, आश्व. श्री., ९.१५.१४-१५, स. श्री., १५.४.३४-३५,
१२. श. ब्रा., ११.२.३.५.७
१३. का. श्री., २५.५.२६-२७
१४. आ. श्री., ९.११.२४-२५

आज्य से सम्बद्ध प्रायश्चित्त : ---

आज्य के उत्पवन के पूर्व आज्य गिर जाने से चित्रानामा अग्नि को आहुति दी जाती है[१] और दक्षिणा में चमकीला आभूषण दिया जाता है।[२] अन्यत्र तृण भोजी पशु दक्षिणा में दिया जाता है।[३] वैखानस के अनुसार दक्षिणा में बकरी देने तथा दुर्गा के लिए आहुति का उल्लेख है[४] ग्रहण किया हुआ आज्य गिर जाने से स्फन् नामक देवता को आहुति दी जाती है[५] तथा चमकीला आभूषण दक्षिणा में दिया जाता है[६] स्रुच स्थित आज्य गिर जाने से गिरे हुए आज्य को पूर्व, दक्षिण-पूर्व पश्चिम व उत्तर की ओर एक वित्त परिमाप पर्यन्त हथेली से उन-उन दिशाओं से सम्बद्ध मन्त्र से फैलाना चाहिए[७] कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार स्रुच् स्थित आज्य नष्ट हो जाने पर आज्यस्थाली से अथवा ध्रुवा से पुनः आज्य को ग्रहण करना चाहिए और ध्रुवा स्थित आज्य के नष्ट हो जाने पर उपभृत से कभी भी आज्य नहीं लेना चाहिए और आज्यस्थाली स्थित आज्य के नष्ट हो जाने पर दूसरा आज्य लेना चाहिए।[८]

आहुति देते समय उत्पन्न बाधा से सम्बद्ध प्रायश्चित्त : ---

प्रयाज आहुति देने के पूर्व परिधियों के बाहर यदि अंगार गिर जाए तो गिरे हुए अंगार की दिशा से सम्बद्ध मन्त्र का पाठ करना चाहिए। तत्पश्चात् सम्बद्ध स्रुव् के व्यूहन से मन्त्रोच्चारण पूर्वक बाहर गिरी हुई वस्तु को स्रुव तथा परिधियों को दबाने के बाद फेंक देना चाहिए।[९] मै. सं. ब्राह्मण के अनुसार आहुति देते समय हवि बाहर गिर जाने पर उक्त हवि को एकत्रित करके आग्नीध्र उस हवि का आहुति देना चाहिए तथा आग्नीध्र को पूर्ण पात्र देना चाहिए।[१०] अन्तिम प्रयाज आहुति के पूर्व सान्नाय्य अथवा आज्य बर्हि के स्थान पर अन्य वस्तु के ऊपर गिर जाने पर सम्बद्ध मन्त्र का पाठ करना चाहिए।[११] आहुति के निमित्त हाथ में ली गई हवि हवन के पूर्व बाहर गिर जाने पर गृह में उपलब्ध प्रचुर धन दक्षिणा में देना चाहिए।[१२]

यदि हवनीय आहुति न दी जाय या अनहवनीय की आहुति दी जाय अथवा पुरोनुवाक्या याज्या हवि

---

१. मै. सं. ब्रा., १.४.१३
२. मा. श्रौ., ३.१.२१
३. भा. श्रौ., ९.१५.८, आ. श्रौ., ९.१३.१
४. वैखा. श्रौ., २०.२७
५. मै. सं. ब्रा., ५.४.१३
६. स. श्रौ., १५.१४.४४
७. भा. श्रौ., ९.१५.११
८. का. श्रौ., २५.५.२०-२४
९. का. सं. ब्रा., ३५.१८, कपि. सं. ब्रा., ४६.१६, तै. ब्रा., ३.७.३-५
१०. मै. सं. ब्रा., १.४.१३, भा. श्रौ., ९.१९.२-३, आ. श्रौ. ९.१६.१, स. श्रौ., १.५.४.४८, म. श्रौ., ३.१.३१
११. बौ. श्रौ., ३.१५, वै. श्रौ., ५.४
१२. भा. श्रौ., ९.१९.५, आ. श्रौ., ९.१६.९

व आहुति के प्रसङ्ग में बाधा अथवा अन्तराल आए तो सम्बद्ध मन्त्रों से स्रुव् की आहुति देनी चाहिए।[१] दर्शपौर्णमास इष्टि में पवित्री का नाश होने पर अष्टकपाल पुरोडाश की हवि आहवनीय अग्नि में दी जाती है,[२] जिसमें याज्यानुवाक्या में "पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्य ते तपोऽप्यऽवित्रं विततं दिवस्पदे"[३] मन्त्र का विनियोग किया जाता है। प्रधान आहुति के पूर्व त्रुटि का स्मरण कराये जाने पर पुनः हवि का निर्माण करके आहुति देनी चाहिए।[४]

यदि होता पुरोनुवाक्या व याज्या से सम्बद्ध त्रुटि कर बैठता है तो उसे अग्नि या इन्द्र अथवा प्रजापति से सम्बद्ध पुरोनुवाक्या व याज्या का पाठ करना चाहिए (क्योंकि ये ही देवता समतुल्य हैं) अथवा होता को व्याहृतियों का पाठ करना चाहिए, क्योंकि ये सभी ऋक्, सभी साम, व सभी यजुष् के समतुल्य हैं।[५] दूसरों के द्वारा आधान की गई अग्नि में अथवा स्वयं द्वारा आधान की गई अग्नि में कोई दूसरा व्यक्ति हवन करता है तो अग्नि का मन्थन व परिस्तरण करना चाहिए और द्वादश कपाल पर निर्मित पुरोडाश का निर्वाप वैश्वानर अग्नि के लिए करना चाहिए।[६] अन्यत्र अग्नि विष्णु के लिए एकादश कपाल पर पुरोडाश की हवि देनी चाहिए।[७] विकल्प से अग्नि, विष्णु अथवा पथिकृत अग्नि के लिए हवन किया जा सकता है।[८] दक्षिणा में काला वस्त्र[९] व बैल[१०] देने का विधान है।

स्वर अथवा शब्द या छन्द के कारण गलती होने पर सम्बद्ध मन्त्र से स्रुव् की आहुति देनी चाहिए।[११] यज्ञानुष्ठान में "ऋक्"से सम्बद्ध त्रुटि होने पर "भूः"से, "यजुष्"से सम्बद्ध भूल होने पर "भुवः"से चार बार आज्य लेकर आहुति दी जाती है। इसी तरह साम से सम्बद्ध भूल होने पर "स्वः" मन्त्र से आहुति देनी चाहिए। ऋक्, यजु तथा साम से सम्बद्ध भूल होने पर सभी व्याहृतियों से आहुति दी जाती है। यह आहुति आहवनीय अग्नि में दी जाती है।[१२] अतः वैदिक मन्त्रों को जानने वाले ही यज्ञ में ग्राह्य बताये गये हैं।

आश्रवण, प्रत्याश्रवण व वषट्कार ऊंची ध्वनि में अथवा धीमी ध्वनि में उच्चारित हो अथवा उच्चरित ही न हो, तो सम्बद्ध मन्त्र से स्रुव् की आहुति देनी चाहिए।[१३]

देवताओं के आवाहन से सम्बद्ध प्रायश्चित्त : ––

आवाहन से सम्बद्ध मन्त्र से देवता का आवाहन करने पर अथवा भिन्न देवता का आवाहन करने पर

---

१. बौ. श्रौ., २७.१
२. ऐ. ब्रा., ७.९
३. ऋ. सं., ९.८३.१,२
४. का. श्रौ., २५.५.१२-१७
५. बौ. श्रौ., २७.१२
६. बौ. श्रौ., १२.४३, मा. श्रौ. ३.४.३, का. श्रौ., २५.८.१५
७. आ. श्रौ., ९.१४.१०, स. श्रौ., १५.४.४८
८. वै. श्रौ., २०.२, तु. आश्व. श्रौ., ३.१३
९. का. श्रौ., २५.८.१६, कृष्णं वासो दक्षिणा।
१०. आ. श्रौ., ३.१०
११. बौ. श्रौ., २७.२, वै. श्रौ., २०.२६
१२. श. ब्रा., ११.५.८.५-६, का. श. ब्रा., १३.५.८, शां. ब्रा., ६.१२, गो. ब्रा., १.३.३, बौ. श्रौ., २७.४, आ. श्रौ., ९.१६.४.५, वै. श्रौ., २०.३३
१३. बौ. श्रौ., २७.१, वै. श्रौ., २०.२४

सम्बद्ध मन्त्र से स्रुवाहुति का हवन करना चाहिए।[1] ध्यातव्य है कि जिस क्रम से देवता का आवाहन किया जाता है उसी क्रम से आहुति भी देनी चाहिए[2] और देवता के आवाहन में भूल होने पर खड़े होकर आवाहन करना चाहिए।[3]

अन्य प्रायश्चित्त अनुष्ठान : ----

दर्श पौर्णमास याग चार ऋत्विजों से सम्पन्न होता है। अनुष्ठान काल में एक ऋत्विक् के अनुपस्थित रहने पर तीन ऋत्विकों को अनुष्ठान कार्य करना चाहिए। दो ऋत्विजों के अनुपस्थित रहने पर अन्य दो ऋत्विजों से यज्ञ को सम्पन्न करना चाहिए। यदि केवल एक ही ऋत्विज् उपस्थित है, तो आज्यस्थाली से स्रुव् द्वारा आज्य लेकर प्रयाज आहुति के पूर्व सम्बद्ध मन्त्र से आहुति देनी चाहिए प्रायश्चित्त अनुष्ठान के बाद वेदी पर बैठकर अध्वर्यु को देवताओं का यजन करना चाहिए।[4]

अग्नि के आधान के बाद यजमान के अश्रुपात करने पर अष्टकपाल पर निर्मित पुरोडाश व्रतभृत अग्नि के लिए प्रदान करना चाहिए।[5]

अन्यत्र संवर्ग अग्नि के लिए उक्त हवि का निर्वाप का विधान किया गया है और उससे सम्बद्ध पुरोनुवाक्या व याज्य का पाठ करना चाहिए।[6] यदि किसी भी परिस्थिति में अश्रु निकले तब भी उक्त कृत्य को करना चाहिए[7] और ऋत्विजों को दक्षिणा भी देनी चाहिए, क्योंकि दक्षिणा के बिना कोई हवि "हवि" नहीं कहलाती। दर्शपौर्णमास याग को दक्षिणा अन्वाहार्य चरु है।[8] ब्रह्मा यदि व्रत में मौन भङ्ग करता है तो वैष्णवि ऋचा का पाठ करना चाहिए।[9] सभी ऋत्विक् अपना मौन भङ्ग करें तो "आपो हिष्टा" से प्रारम्भ होने वाले तीनों मन्त्रों से शाखा पवित्र से जल लेकर प्रोक्षण करना चाहिए। शाखा पवित्र के न रहने पर पवित्रों को प्रयोग में लाना चाहिए।[10] दक्षिणा देने के प्रसङ्ग में गलती होने पर अन्त में दक्षिणा में में उपजाऊ भूमि देनी चाहिए।[11] दक्षिणा न देने वाला व्यक्ति समृद्धि को नहीं प्राप्त करता[12] और ऐसा यज्ञ जल जाता है तथा यजमान की आयु में कमी हो जाती है।[13]

इस तरह प्रायश्चित्त की विधि को प्रतिपादित करने के पश्चात् सबके अन्त में जै. ब्रा. का कथन है

---

१. बौ. श्रौ., २७.१, भा. श्रौ., ९.१८.११-१३, आ. श्रौ., ९.१५.२३, स. श्रौ., १५.४.४३
२. बौ. श्रौ., २७.१, भा. श्रौ., ९.१८.१२, आश्व. श्रौ., ३.१३
३. मा. श्रौ., ३.१.३०
४. बौ. श्रौ., २७.६
५. ऐ. ब्रा., ७.८, बौ. श्रौ., १३.४३, भा. श्रौ., ९.६.१२. आ. श्रौ., ९.४.१६, स. श्रौ., १५.१.८५, मा. श्रौ., ५.१.७.२९, का. श्रौ., २५.४.२८, आश्व. श्रौ., ९.४.१७, शा. श्रौ., ३.४.१२
६. ऐ. ब्रा., ७.८, मा. श्रौ., ५.१७.२९-३०, आश्व. श्रौ. ३.१२, शां. श्रौ., ३.५.९
७. भा. श्रौ., ९.६.१३
८. श. ब्रा., ११.२.३५-७
९. श. ब्रा., १.७.४.२०
१०. ला. श्रौ., ४.११.६-९, द्रा. श्रौ., १२.३.५-८
११. मै. सं. ब्रा., १.४.१३; भा. श्रौ., ९.१८.८.१०, आश्व. श्रौ., ९.१५.२०-२१, स. श्रौ., १५.४.४०-४१, वै. श्रौ., २०.३२, मा. श्रौ., ३.१.२३, आश्व. श्रौ., ३.१४
१२. मै. सं. ब्रा., १.४.१३
१३. भा. श्रौ., ९.१८.९, आ. श्रौ., ९.१५.२०, स. श्रौ., १५.४.४०, वै. श्रौ., २०.३२

कि सभी प्रकार के विघ्नों को शान्ति के लिए "शंचम""उपचम"आयूस्य मे भूयश्च मे, यज्ञ शिवी मे सं तिष्टस्व, यज्ञ सिष्टो में संतिष्टस्व यज्ञोऽरिष्टा मे सतिष्टस्वेति"मन्त्र का पाठ करना चाहिए।[१]

सामूहिक प्रायश्चित्त होम की विधि : ----

इस विधि में अध्वर्यु पिष्ट लेप तथा फलीकरणकृत्य को करके वह जिस मार्ग से गया था उसी मार्ग से लौटकर दर्शपौर्णमास मे होने वाले अविज्ञात दोष को दूर करने के लिए जुहूस्थ आज्य से अथवा स्रुव आज्य से दर्शपौर्णमास प्रायश्चित्त होम को करता है।[२] इसमें ब्रह्म प्रतिष्ठा[३], आश्वावितम्[४], यद्वोदेवा[५], ततम आपस्तदुं[६], उद्वयखम्[७], उदुत्यं[८], इमं ये वरूण[९], तत्वायामि[१०], तन्नोग्ने[११], प्राजापत[१२], "अयाश्चाग्ने" इष्टेभ्यस्वाहा[१३], यदस्मिन्[१४], आज्ञातम[१५], यदधर्म[१६], यदस्यकर्मणो[१७], यत इन्द्र[१८], स्वतिस्तदा[१८], अभिगोत्रि[१९], अनाज्ञातम्[२०], पुरुष सम्मिता[२२], यतपाकता[२३], यद्विद्वांसो[२४], अयश्चाग्नि[२५], येतेशत[२६], योभूतानां[२७], उदबुध्यस्वाग्नि[२८], उदुत्तमम[२९], आदि मन्त्रों तथा व्याहृतियों से अलग-अलग तथा एक बार एक साथ ही प्रायश्चित्त नामक होम किया जाता है। ऐसा कृष्णयजुर्वेदीय शाखाओं में निर्दिष्ट है।

---

१. जै. ब्रा., २.४१
२. आप. श्रौ., ३.११.१, तु. बौ. श्रौ., १.२०-२१
३. तै. ब्रा., ३.७.११.२
४. तै. ब्रा., ३.७.११.३
५. तै. ब्रा., ३.७.११.४
६. वही., ३.७.११.५
७. वही., ३.७.११.६
८. वही., ३.७.११.७
९. वही., ३.७.११.८
१०. वही., ३.७.११.९
११. वही., ३.७.११.१०
१२. वही., ३.७.११.१५
१३. आप. श्रौ., ३.११.२
१४. वही , ३.१२.१
१५. वही , ३.१२.१
१६. तै. ब्रा., ३.७.११-२३
१७. वही , ३.७.११-२४
१८. वही , ३.७.११-२५
१९. वही , ३.७.११-२६
२०. वही , ३.७.११-२७
२१. तै. ब्रा., ३.७.११-२८
२२. अ. व., ६.११.५.१
२३. आप. श्रौ., ३.१३.१
२४. आप. श्रौ., ३.१३.४.१
२५. वही , ३.१३.४.१
२६. वही , ३.१३.१
२७. तै. सं., २.५.१२.१
२८. तै. ब्रा., ३.७.११
२९. आप. श्रौ., ३.११.२.३-१२

वैमृध इष्टि : ––

पौर्णमास इष्टि के अन्त में "इन्द्र वैमृध" के लिए एकादशकपाल पुरोडाश की हवि की आहुति दी जाती है।[१] क्योंकि यज्ञ का देवता इन्द्र है और पूर्णमासी की हवि अग्निषोमीय है। अन्य ऐसी कोई हवि नहीं दी जाती है, जिससे यह कहा जा सके कि "हे इन्द्र, यह हवि तेरे लिए है"। इस हवि में इन्द्र का भाग हो जाता है। इसलिए पौर्णमास इष्टि से शत्रु अर्थात् मृध् नष्ट हो जाता है। अतः पौर्णमास इष्टि के अनन्तर इन्द्र के लिए "वैमृध"इष्टि की जाती है।[२]

ध्यातव्य है कि इस इष्टि को पूर्णमासी इष्टि के आरम्भ में करे या जब तक पौर्णमास इष्टि प्रारम्भ हो जाय, तब तक करें या न करें।[३] विकल्प से इस इष्टि को पूर्णमासी इष्टि के साथ भी किया जाता है।[४] परन्तु यदि ऐसा किया जाता है तो उसका भी स्पष्ट संकेत करना चाहिए और संकेत कर लेने के पश्चात् इसं करने के लिए बाध्य होना पड़ता है।[५]

इसलिए उस यज्ञ में इन्द्र का भाग सुरक्षित हो जाता है, क्योंकि सारा यज्ञ इन्द्र का है, इससे इन्द्र का भाग हवि में हो जाता है और इन्द्र का यज्ञ में और इस इष्टि को करने से यजमान शत्रु रहित हो जाता है।[६] इस इष्टि में दक्षिणा भी श्रद्धानुसार दी जाती है।

दर्श तथा पौर्णमास इष्टि में दक्षिणा स्वयं अन्वाहार्य है।[७] इसमें सत्रह सामिधेनी मन्त्र पढ़ा जाता है।[८] इसकी याज्यानुवाक्या पुरोनुवाक्या में "शार्ध" शब्द प्रयुक्त होता है[९] और इसमें "अग्ने शर्ध[१०]" वातोपधुत[११], मन्त्र पढ़ा जाता है।

अदिति इष्टि : ––

इस तरह दर्श याग के अनन्तर अदिति के लिए चरू समर्पित किया जाता है।[१२] इसकी विशेषता वही है जो पौर्णमास इष्टि के अनन्तर होने वाले वैमृध इष्टि की है। अमावस्या के अनन्तर अदिति के लिए चरु इसलिए

---

१. श. ब्रा. ११.१.३.१, तै. सं. ब्रा., २.५.३, कौ. ब्रा., ४.२, इन्द्राय विमृध एकादश कपालं पुरोडाशं निर्वपति पौणमास्यां इन्द्रं यजति। का. श्रौ., ४.६.२३, आप. श्रौ., ३.१५.१, शा. श्रौ., ३.१.१, तु. आश्व. श्रौ., २.१०, मा. श्रौ., १.३.५.२८, तु. स. श्रौ., २.६.१६

२. श. ब्रा. ११.१.३.२

३. का. श्रौ., ४.६.२४, आदि विकल्पः,

४. आप. श्रौ., ३.१५.२, समानतन्त्र मेके समामन्ति।

५. आप. श्रौ., ३.१५.३, तस्या यथाकामी प्रक्रमे प्रकामयन्तु निनम्यते।

६. श. ब्रा. ११.१.४.६

७. श. ब्रा., ११.१.३.७, आप. श्रौ., ३.१५.४

८. आप. श्रौ., ३.१५.४, सप्तदश सामधेनीक, स. श्रौ., २.६.१६

९. आप. श्रौ., ३.१५.५,

१०. ऋ सं., ५.१८.३, मै. सं., ४.११.१

११. मै. सं., ४.११.४

१२. श. ब्रा., ११.१.३.१, , कौ. ब्रा., ४.१, अमावस्यायामदिति यजति। तु. मा. श्रौ., १.३.५.३०

दिया जाता है क्योंकि चन्द्रमा देवों का अन्न सोम है। यह रात को न पूर्व में चमकता है पश्चिम में। इसी तरह हवि भी अनिश्चित एवं अप्रतिष्ठित है, परन्तु यह अदिति, पृथिवी निश्चित ही, प्रतिष्ठित है, इसलिए चरु की हवि अदिति के लिए दी जाती है।[१] विकल्प से इस इष्टि को पशु की कामना के लिए भी किया जाता है। इसका महत्व वैमृध इष्टि के समान बताया गया है।[२]

" दर्श पौर्णमास याग से सम्बद्ध काम्य इष्टियाँ "

यह पहले बताया जा चुका है कि दर्शपौर्णमास याग दो प्रकार का होता है - नित्य और काम्य।[३] नित्य अर्थात् स्वर्गादि कामनाओं की पूर्ति हेतु करणीय दर्श पौर्णमास याग का विवेचन किया जा चुका है। सम्प्रति काम्य अर्थात् ऋद्धि से सम्बद्ध दर्शपौर्णमास याग का विवेचन किया जा रहा है, क्योंकि फल के उद्देश्य से किया जाने वाला याग काम्य यज्ञ कहलाता है। नित्य यज्ञ तो प्रत्यवाय की समाप्ति के लिए किया जाता है। तत्-तत् फल की दृष्टि से हवि दी जाती है।

अग्नीवैष्णावी इष्टि : ––

जिस यजमान के शत्रु होते हैं वह पौर्णमास इष्टि करके अग्नि तथा विष्णु देवता के लिए एकादश कपाल पुरोडाश सरस्वती के लिए चरु की हवि तथा आदित्य के लिए आज्य का निर्वाप करता हुआ यजन करता है।[४] ध्यातव्य है कि "भ्रातृव्यवान्"अर्थात् शत्रु रहित यजमान अमावस्या में भी पूर्णमासी इष्टि को करता है। यद्यपि अमावस्या में तो केवल पितृयज्ञ का विधान है परन्तु इस समय दर्श याग बज्र बनकर शत्रु का नाश करता है।[५] इसी प्रकार तीन अमावस्या का परित्याग करना चाहिए। इसी काल में कामना प्राप्त हो जाता है।[६] शत्रुवान् तथा अभिचार चाहने वाले यजमान की अमावस्या तथा पूर्णमासी इष्टि में अग्निसोम की प्रधानता होती है।[७]

---

१. श. ब्रा., ११.१.३.३,
अथ यदामावास्यानेष्ट्वा अदित्यै चरुमनु निर्वपतयेपवं सोमो संजा देवानां मन्न यच्चन्द्रमाः स यथैषऽएता रात्रिन्न पुरस्तान्न पश्चाददृश ते नैततदनद्वेवहविर्भवति तेन प्रतिष्ठित मिथं वै पृथिव्यदितिः क्षेममद्वा सेयं प्रतिद्विष्टै तेनो हास्यैनादद्वेव हर्बिभिवात्येन प्रतिष्ठित मेतन्नु तद्यस्यादनु निर्व्पत्यय यस्यातान्नु निर्वपेत्।
२. मा. श्रौ., १.३.५.३०, आदित्यभृते चरुमावास्यामिष्ट्वा पशुकामः।
३. चिन्न स्वामी - यज्ञतत्त्व प्रकाश, पृ. ७
४. तै. सं. ब्रा., २.५.४ , तु. आप. श्रौ. ३.१६.५, बौ. श्रौ., १७.४७-४८
५. तै. सं. ब्रा., २.५.४ , आप. श्रौ. ३.१६.६-७ , पौर्णमासी वै यजते, भ्रातृव्यबान् इत्यामावस्यायाम्।
६. आप. श्रौ., ३.१६.८
७. वही, ३.१६.९-१०

साकम्प्रथीययाग : ——

इस याग में अध्वर्यु बहुत से दोहों के साथ (अर्थात् गौओं के साथ) यजन करता है। फलतः यह याग साकम्प्रथीय याग कहलाता है।[१] शांखायन ब्राह्मण के अनुसार यह याग पौरुष काम के लिए किया जाता है।[२] तै. सं. ब्राह्मण के अनुसार यह पशुकामी ही करता है।[३] यह अनुष्ठान दर्श के विकार रूप में माना जाता है।[४] अर्थात् प्रकृति दर्शेष्टि है। अमावस्या में सायं-प्रातः दोह एक-एक ही होता है, परन्तु दो सायं दोह तथा दो प्रातः दोह भी होता है।[५] इस प्रकार इस याग में चार दोह होता है। सायं-प्रातः दोहों से प्रातःकालीन यजन करना चाहिए[६], विकल्प से समस्त दोहों के द्वारा प्रातःकाल में यजन किया जाता है।[७] इसमें बहुत से गायों के दुहने का विधान है। वेदी में पात्र को रखते समय चार उदुम्बर (गुलर) काष्ठ निर्मित पात्र रखे जाते हैं, जिन के द्वारा जुहू सदृश कार्य किया जाता है[८] तथा आज्य भाग होम तथा आग्नेय पुरोडाश यजन के पश्चात् अध्वर्यु दो स्रुचों को आग्नीध्र को सौंप देता है[९] तथा स्वयं कुम्भी लेकर वेदी को दक्षिण ओर से लाँघता हुआ इन्द्र देवताक पुरोडाश लेकर पुरोनुवाक्या और याज्या के पाठ हेतु होता को सम्पैष देता है और महेन्द्रयाजी महेन्द्र के लिए कहता है।

जितनी कुम्भियाँ उस समय प्रयुक्त होती हैं, उतने ही ब्राह्मण वेदी के दक्षिण में बैठे रहते हैं और उठकर वे कुम्भियों के द्वारा अपने-अपने पात्र को दूध से भरकर होता के द्वारा वषट्कार के पश्चात् अध्वर्यु के द्वारा आहुति कहने पर आहुति देते हैं। इस प्रकार ब्राह्मण गण अध्वर्यु की आहुति का अनुकरण करते हैं।[१०] ध्यातव्य है कि इस याग में स्विष्टकृत आहुति तथा भक्षण का निषेध है[११] और अन्य कार्य अमावस्या की भाँति प्रकृतिवत् किया जाता है।[१२]

इडादध : ——

इस यज्ञ को पशु तथा अन्न की कामना के लिए पूर्णमासी याग में [१३] सम्पन्न किया जाता है।[१४] इस याग में अग्नि के लिए पुरोडाश और सरस्वती के लिए चरू का निर्वाप किया जाता है।[१५]

---

१. आप. श्रौ., ३.१६.११, पर रूद्रदत्त भाष्य एवं धूर्तस्वामी भाष्य, तु-जै.पू.मी., २.३.५.११ पर शाबर तन्त्र वार्तिक।
२. शा. ब्रा., ६.४.९, तु. तै. सं. ब्रा, २.५.४.५,
३. तै. सं. ब्रा., २.५.४.५, साकम्प्रथीयेन यजेत पशुकामः आप. श्रौ., ३.१६.११. स. श्रौ., २.६.१६
४. आप. श्रौ., ३.१६.११ , जै. पू. मी., २.३.५, पर शाबर भाष्य,
५. आप. श्रौ., ३.१६.१२
६. आप. श्रौ., ३.१६.१४ , सर्वे वा प्रातः
७. तै. सं. ब्रा., २.५.४.५, आप. श्रौ., ३.१६.१५, स. श्रौ., २.६.१६
८. आप. श्रौ., ३.१६.१६
९. आप. श्रौ., ३.१६.६
१०. आप. श्रौ., ३.१७.१
११. वही , ३.१७.२
१२. वही , ३.१७.३
१३. शा. ब्रा., ४.५, कौ. ब्रा., ४.५ , पौर्णमास्यां प्रयुंक्ते, शा. श्रौ., ३.९ बौ. श्रौ., १७.५.२, आप. श्रौ., ३.१७.१२
१४. शा. ब्रा., ४.५,
१५. कौ. ब्रा., ४.५

सार्वसेनी यज्ञ : ––

यह यज्ञ प्रजापति की कामना के लिए सम्पन्न किया जाता है और पौर्णमास याग में किया जाता है।[१] इसमें अमावस्या तथा पौर्णमास की हवि अर्थात् पुरोडाश और चरु मिश्रित आहुति दी जाती है।

शौनकीय यज्ञ : ––

इस यज्ञ को पूर्णमासी के याग में सम्पन्न किया जाता है[२] और यह याग शत्रु के विनाश के लिए किया जाता है।[३]

वसिष्ट यज्ञ : ––

यह यज्ञ फाल्गुन की अमावस्या को सम्पन्न किया जाता है।[४] प्रजा तथा पशु के शत्रु के विनाश के लिए इसे किया जाता है।[५]

मुन्मयन यज्ञ : ––

यह समस्त कामनाओं को प्रदान करने वाला याग है।[६] और पौर्णमास याग में इसे सम्पन्न किया जाता है।[७]

तुरायण : ––

यह भी पौर्णमास याग में सम्पन्न होने वाला याग है[८] और इस याग को स्वर्ग की प्राप्ति के लिए किया जाता है।[९] इसकी हवि तीन होती है[१०] क्योंकि यह लोक भी तीन लोकों वाला है और इस यज्ञ से उनकी प्राप्ति हो जाती है।[११]

---

१. शा. ब्रा., ४.५, पौर्णमास्यां प्रयुंक्ते, कौ. ब्रा., ४.६, शां. श्रौ., ३.१०, बौ. श्रौ., १७.५४, आप. श्रौ., ३.१७.१२
२. बौ. ब्रा.४.७, शौनक यज्ञस्य - पौर्णमास्यां प्रयुंक्ते। शा. ब्रा., ४.७, शा. श्रौ., ३.१०, आप. श्रौ., ३.१७.१२
३. शा. ब्रा., ४.७,
४. कौ. ब्रा., ४.८, फाल्गुनअमावस्याया प्रयुंक्ते। श. ब्रा., ४.८, श. ब्रा., २.४.४.२, शा. श्रौ., ३.११, बौ. श्रौ., १७.५३-५४, आप. श्रौ., ३.१७.१२
५. शा. ब्रा., ४.८
६. शा. ब्रा., ४.१०, स एष सर्वकामस्य यज्ञः तेन सर्वकामोयजेत्। तु. शा. श्रौ., ३.११ बौ. श्रौ., १६.३०, कौ. ब्रा., ४.१०
७. कौ. ब्रा., ४.११
८. कौ. ब्रा., ४.११, तुरायणस्य सर्वकामस्य प्रयुंक्ते। शा. ब्रा., ४.११, शा. श्रौ., ३.११, आश्व. श्रौ., २.१४
९. शा. ब्रा., ४.११, तेन स्वर्गकामो यजेत्।
१०. शा. ब्रा., ४.११, तानि वे त्रीणिहविषि भवन्ति।
११. शा. ब्रा., ४.११ , तमो वा लोका इमे लोकाः स्माने वतं लोकं नाप्तोति।

दाक्षायण यज्ञ : ——

सर्वप्रथम दक्ष के द्वारा सम्पन्न किये जाने के कारण इस यज्ञ का "दाक्षायण यज्ञ" नाम पड़ा।[१]

तन्त्र वार्तिक के अनुसार उत्साही, शीघ्रकारी यजमान दक्ष है। उसके ऋत्विग् गण दक्ष हैं तथा इनके द्वारा किया गया प्रयोग ही दाक्षायण है।[२] कुछ लोग इसे वसिष्ट यज्ञ कहते हैं, क्योंकि वह वसिष्ठ ही है। इन्हीं के नाम पर ही यज्ञ का नामकरण हुआ है।[३] प्रजापति ने सर्वप्रथम इस यज्ञ को प्रजा की कामना के लिए किया था।[४] तदनन्तर "प्रतिदर्शश्वैक्र"[५] नामक आचार्य ने इसे सम्पन्न किया था। इसके बाद "सुप्ला सांजर्य"[६] ब्रह्मचर्य व्रत के लिए यहाँ आकर इस यज्ञ को सीखकर अपने देश में जाकर इसे सम्पन्न किया था, इस हेतु इस यज्ञ का नाम "सहदेव सांजर्य"पड़ गया। "देव यागत्रौंराष"ने भी इस यज्ञ को किया था। यह कुरुओं और "सृंजय" दोनों का पुरोहित था। चूंकि पुरोहित राष्ट्र का होता है, अतः इस यज्ञ को करने से राष्ट्र का कल्याण होता है और साथ ही इस यज्ञ को करने वाला राष्ट्र का महान् व्यक्ति कहलाता है।[७] दक्ष-पार्वती ने भी इस यज्ञ को किया था।[८] इस यज्ञ को फाल्गुन की पूर्णमासी से आरम्भ किया जाता है।[९] तै. सं. ब्राह्मण के अनुसार स्वर्गकामी यजमान इसे सम्पन्न करता है।[१०]

जब कि अन्यत्र, प्रजा, पशु, अन्न तथा यश की प्राप्ति विहित है। यह दर्शपौर्णमास याग का विकार है।[११] दाक्षायण यज्ञ में पूर्णमासी तथा प्रतिपदा और अमावस्या तथा प्रतिपदा को दो-दो बार यजन किया जाता है। प्रत्येक के लिए हवियाँ भी अलग-अलग हैं। पूर्णमासी के प्रथम दिन अग्नि हेतु अष्टकपाल पुरोडाश तथा अग्नि सोम देवतार्थ एकादश कपाल पुरोडाश का निर्वाप होता है[१२] और पूर्णमासी के द्वितीय दिन अर्थात् प्रतिपदा को अग्नि के लिए अष्टकपाल पुरोडाश तथा इन्द्र के लिए दधि की आहुति दी जाती है[१३], जब कि पौर्णमास याग के पक्ष में प्रतिपदा को एक ही याग होता है।

---

१. श. ब्रा., २.४.४.२, सवै दक्षोनाम तद्यदनेन सोऽग्नेऽयजत् तस्माद्दाक्षायण यज्ञो नाम - - - -।
२. जै. पू. मी., ३.५.११, तन्त्र वार्तिक, शाबर भाष्य
३. श. ब्रा., २.४.४.२ , वसिष्ठ यज्ञ इत्या चक्षते - - - - - -।
४. श. ब्रा., २.४.४.१ , प्रजापतिर्ह वा एतेताग्रे यज्ञनेजे
५. श. ब्रा., २.४.४.३ ,
६. श. ब्रा., २.४.४.४ , तम जगाम सुप्ला साञ्जर्यो ब्रह्मचर्यः।
७. श. ब्रा., २.४.४.५ , देवयागः श्रौतर्षः स उच येषा करुणा च सृञ्जयाना च पुरोहित आस परमता वै सा यो वैकरस्य राष्ट्रस्य पुरोहितोऽसर त्वेप परमता।
८. श. ब्रा., २.४.४.६ ,
९. शा. ब्रा., ४.४ , फाल्गुन पौर्णमास्यां प्रयुंक्ते, कौ. ब्रा., ४.४
१०. तै. स. ब्रा., २.५.५, दाक्षायण यज्ञेन तुस्वर्गकामो, तु. आ. श्रौ., ३.१७.४, बौ. श्रौ., २३.१७, मा. श्रौ., ८.१३.११.१, तु. जै. पू. मी., २.३.५ पर शाबर भाष्य, शा. श्रौ., ३.८, स. श्रौ., २.६.१६
११. श. ब्रा., २.४.४.१ , का. श्रौ., ४.४.१
१२. श. ब्रा., २.४.४.७ , तु. शा. ब्रा., ४.४, का. श. ब्रा., १.३.४, आप. श्रौ., ३.१७.५, स. श्रौ., २.६.१६
१३. श. ब्रा., २.४.४.८ , का. श. ब्रा., १.३.४, शा. ब्रा., ४.४.१, का. श्रौ., ४.४.५, आप. श्रौ., ३.१७.५, स. श्रौ., २.६.१६

इसी तरह अमावस्या के प्रथम दिन अग्नि के लिए अष्टकपाल पुरोडाश तथा इन्द्राग्नि के लिए एकादश कपाल पुरोडाश की आहुति दी जाती है[१], परन्तु द्वितीय दिन अर्थात् प्रतिपदा को अग्नि के लिए अष्टकपाल पुरोडाश तथा मैत्र वरुण के लिए पय की आहुति दी जाती है।[२]

विधि : —

इस यज्ञ की विधि दर्शपौर्णमास इष्टि की भाँति आज्य निर्वाप कृत्य को करके दूध में दधि को मिलाकर दोहन कार्य को किया जाता है। तदनन्तर उन दोनों पात्रों को उत्कर में रख दिया जाता है। यहाँ पर आधार कृत्य विकल्प से किया जा सकता है। पूर्ववत् प्रस्तर सम्बन्धि तृण को अग्नि में डालकर प्रधान याग किया जाता है। तदनन्तर अध्वर्यु पात्र में रखे गये पुरोडाश को जुहवा नामक पात्र में लेकर "वालिभ्योऽनुब्रूहि "इस तरह कहकर होता को अध्वर्यु प्रैष देता है।[3] होता आदिष्ट होकर "दिशोःप्रादिशः"[४] इस मन्त्र का पाठ करता है और ज्योंहि स्वाहा का पाठ करता है, वह आहवनीय अग्नि में प्रदक्षिणा क्रम से हवि को गिराता है। या मध्य में अथवा पूर्व भाग में आहुति दी जा सकती है।[५] ध्यातव्य है कि जिस मन्त्र से आहुति दी जाती है वह आहुति दिशाओं को दी जा सकती है, क्योंकि पाँच ऋतुयें तथा पाँच दिशायें इस आहुति की प्रतीक हैं। इसलिए जोड़ा मिलाने के लिए यह आहुति दी जाती है।[६] तदनन्तर पात्र में जो सान्नाय्य हवि बची रहती है उसे होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा, आग्नीध्र यजमान खाते हैं।[७] इस प्रकार वह ऋतुओं के तदरूप हो जाता है और जो वीर्य सींचा जाता है वह प्रतिष्ठित हो जाता है। यजमान सर्वप्रथम थोड़ा स्वाद लेता है जिससे उसे वीर्य की प्राप्ति हो और बाद में इसलिए चखता है जिससे उसमें वीर्य अन्त तक प्रतिष्ठित रहे इसके बाद "उपहूतउपहवधस्व"कहकर इस मट्ठे को सोम बना लिया जाता है।[८]

व्यावृत कामी से छुटकारा अथवा समान व्यक्ति से उत्कृष्टता चाहने वाला यजमान इस याग को करता है।[९] दर्शपौर्णमास व्रत-प्रसंग में अन्य व्रतों के साथ स्त्री का समागम निषिद्ध है तथापि इन में अन्य व्रतों के साथ ऐसा विधान किया गया है कि पत्नी के ऋतुकाल में समागम किया जा सकता है।[१०] यदि यजमान सन्तुष्ट होकर इस याग से विराम चाहता है, तो इसे पन्द्रह वर्ष तक अवश्य करते रहना चाहिए[११], यद्यपि दर्शपौर्णमास याग को तीस वर्ष पर्यन्त करने का विधान है परन्तु दाक्षायण यज्ञ पन्द्रह वर्ष तक ही विहित है।[१२] इसमें भी

---

१. श. ब्रा., २.४.४.९ , का. श. ब्रा., १.३.४, शा. ब्रा., ४.४, आप. श्रौ., ३.१७.५, स. श्रौ., २.६.१६
२. श. ब्रा., २.४.४.१० , तु - तै. सं. ब्रा., २.५.५, का. श. ब्रा., १.३.४ शा. ब्रा. ४.४, का. श्रौ., ४.४.५, आप. श्रौ., ३.५.१७.५. स. श्रौ., २.६.१६.
३. द्र. का. श्रौ., ४.४.७-१२
४. वा. सं., ६.१९
५. द्र. का. श्रौ., ४.४.१३-१७
६. श. ब्रा., २.४.४.२४
७. श. ब्रा., २.४.४.२५, का. श्रौ., ४.४.२२-२४
८. श. ब्रा., २.४.४.२५
९. तै. सं. ब्रा., २.५.५.१०, आप. श्रौ., ३.१७.७, व्यावृत्तकामः।
१०. आप. श्रौ., ३.८.८, तु-स. श्रौ., २.६.१६
११. श. ब्रा., ११.१.२.१३, पञ्चदशो वर्षाणी दाक्षायण यज्ञ यजेत्। का. श्रौ., ४.२.४.८, स. श्रौ., २.६.१६, आप. श्रौ., ३.१७.१०. बै. श्रौ., १.४.२४, वा. श्रौ., १.१.२.८५
१२. श. ब्रा., ११.१.२.१३, दाक्षायणी यज्ञो स्यादयोऽपिपञ्चदशैव वर्षाणि यजेत तत्र।

वही पूर्णता मिलती है, जो पौर्णमास याग में प्राप्त होती है। दाक्षायण याग की दक्षिणा के लिये सुवर्ण विहित है, विकल्प में अन्वाहर्य दक्षिणा भी दी जा सकती है।[१]

इस प्रकार स्पष्ट है कि दाक्षायण वैमृध याग दर्शपौर्णमास का परिष्कृत रूप है। केवल इसे भिन्न-भिन्न कामनाओं के साथ जोड़ दिया गया है।[२] आचार्य विद्याधर के अनुसार दर्श पौर्णमास तथा दाक्षायण में केवल नाम का अन्तर है, परन्तु कृत्य एक है[३], अतः दर्श पौर्णमास अनुष्ठान के पक्ष में दाक्षायण करना चाहिए और दाक्षायण यज्ञ के पक्ष में दर्शपौर्णमास याग करना चाहिए।[४]

इसी तरह दर्शपौर्णमास याग नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य के रूप में किया जा सकता है[५], अतः दर्शपौर्णमास याग न केवल स्वर्ग प्राप्ति के लिए ही किया जाता है अपितु अभीष्ठ फल प्राप्ति के लिए भी सम्पन्न किया जाता है - ऐसा शास्त्रकारों ने बताया है।[६]

पिण्डपितृ यज्ञ

पितरों को उद्दिष्ट करके पिण्ड द्वारा किया जाने वाला याग पिण्ड पितृ यज्ञ कहलाता है।[७] इस यज्ञ में पके हुए चावल के द्वारा निर्मित पिण्ड पितरों को दिये जाते हैं, अतः इसको "पिण्डपितृ यज्ञ" की संज्ञा दी गई है।[८] कतिपय विद्वानों के अनुसार यह दर्श याग का अंग है।[९] परन्तु आचार्य जैमिनि के अनुसार यह एक स्वतन्त्र याग है। यह न तो दर्शयाग का अंग है और न उसके अन्तर्गत ही सम्पन्न किया जाता है।[१०] इस मत का समर्थन करते हुए भाट्ट दीपिकाकार आचार्य खाण्डदेव ने कहा है कि प्रत्यवाय की समाप्ति के लिए पिण्डपितृ यज्ञ दर्शपौर्णमास के नित्य कर्म में किया जा सकता है, परन्तु फल की अभिलाषा के लिए इसे नहीं किया जा सकता है। अतः यह एक स्वतन्त्र यज्ञ है, जिसे अमावस्या के अपराह्ण में सम्पन्न किया जाता है।[११]

इस कृत्य को उसी दिन किया जाता है, जिस दिन चन्द्र का दर्शन नहीं होता है अर्थात् अमावस्या के तीसरे भाग में अथवा अपराह्ण में जब तक सूर्य की किरणें वृक्षों के ऊपरी भाग में रहती हैं।[१२] दूसरे दिन दर्श इष्टि की जाती है। पिण्ड पितृयज्ञ का श्रपण दाक्षिणाग्नि में होता है न कि आहवनीय अग्नि में।[१३]

---

१. का. श्रौ., ४.४.२८, मा. श्रौ., ८.१३.११.६
२. का. श्रौ., पृ. १५०, विद्याधर टीका
३. शा. श्रौ., ३.३.७.१८.११, जै. पू. मी. ३३.५-११, वौ श्रौ., १.२.१
४. का. श्रौ., (विद्याधर टीका) पृ. १४८, तु. आप. श्रौ., ३.१७.९, तु. स. श्रौ., २.६.१६
५. आप. श्रौ., ३.१४.११
६. यज्ञ तत्त्व प्रकाश - चित्र स्वामी, पृ. १८
७. आप. श्रौ., १.७.२, पर धूर्तस्वामी भाष्य।
८. आप. श्रौ., १.७.१-२ , पर रूद्रदत्त् - "पिण्डैः पितृयज्ञः"स. श्रौ. पर महादेव - पृ. २६७, पिण्डैः पिण्ड दानेन सहितः पितृभ्योदेवेभ्यो यज्ञो होमः स पिण्डपितृयज्ञः।
९. का. श्रौ., ४.१.३०
१०. जैमिनि पूर्व मीमांसा, ४.४.१९-२१
११. भा. दी., ४.४.८
१२. श्र. बा., २.४.२.९, स वा अपराह्ने ददाति। आप. श्रौ., १.७.२, तथा अधिवृक्षसूर्येवा पिण्डपितृयज्ञेन चरन्ति। तु. शा. श्रौ., ४.३, तु. आ. श्रौ., २.६, भा. श्रौ., १.७.१, का. श्रौ., ४.१.१, मा. श्रौ., १.१.२.१, वैखा. श्रौ., ३.६, स. श्रौ., २.७.१७
१३. का. श्रौ., ४.१.२. दाक्षिणाग्नौ श्रपणं होमश्च।

इस विधि में सर्वप्रथम "अपमिध्यः" मन्त्रोंच्चार पूर्वक एक ही झटके में मूल सहित काटा गया कुश लाया जाता है।[१] वैकल्पिक रूप में कुशों के स्थान पर अन्य यज्ञीय तृण भी जाये जा सकते हैं।[२] तदनन्तर लाये गये कुशों को दक्षिण की ओर अग्रभाग करके दक्षिणाग्नि के चारों ओर बिछाया जाता है और अध्वर्यु दक्षिण पूर्वीय कोणादिक क्रम से पिण्डपितृयज्ञ मे प्रयुक्त पात्रों को बिछे कुशों के ऊपर रख देता है। पिण्ड पितृयज्ञ के पात्र में स्फय, मेक्षण, कृष्णाजिन्, उलुखल, मूसल, शूप, आज्यस्थाली तथाचरु स्थाली आदि पात्र रखे जाते हैं।[३]

तदनन्तर अध्वर्यु गार्हपत्य के पीछे बैटकर यज्ञोपवीत को दक्षिण स्कन्ध पर रखकर दक्षिण की ओर मुँह करके हवि को ग्रहण करता है।[४] ध्यातव्य है कि वह कुश से बने हुए पवित्र को स्थाली में रखकर शकट के दक्षिण अथवा उत्तर में खड़ा होकर भरी स्थाली द्वारा ब्रीहि का निर्वाप करता है। यह निर्वाप मिट्टी के पात्र में "पितृभ्यस्त्वा।[५]" मन्त्र द्वारा अथवा मौन होकर किया जाता है।[६] तदनन्तर दक्षिणाग्नि के पश्चिम में उत्तर पश्चिम कोणादिक क्रम से ग्रीवा को घुमाकर कृष्णाजिन् को बिछाया जाता है। और उस पर उलुखल और मूसल रखा जाता है।[७]

इसके बाद यजमान, यजमान-पत्नी दक्षिणपूर्वाभिमुख खड़ी होकर उलूखल में डाले गये हवि को पछोरती है।[८] चालने का निषेध है।[९] फलीकरण कृत्य एक ही बार किया जाता है[१०], तदनन्तर उस तण्डुल को दाक्षिणाग्नि पर पकाया जाता है।[११] वह इस तरह से पके कि चावल का आकार बना रहे, वह टूटने न पाये।[१२] तब उसमें आज्य को छोड़ा जाता है।[१३] आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के अनुसार गार्हपत्य तथा दाक्षिणाग्नि के मध्य में अथवा दाक्षिणाग्नि के दक्षिण पूर्व में अध्वर्यु स्फय द्वारा एक ही बार खोदकर दक्षिण पूर्व की ओर एक वेदी का निर्माण करता है और इस खोदी गई वेदी को "शुन्यन्तपितर"[१४] मन्त्र द्वारा अपेक्षिततथा "आयान्तुपितरो"[१५] मन्त्र से अभिमन्त्रित किया जाता है। पुनः एक ही झटके में काटे गये कुशों से वेदी को "सकृदाच्छिन्नं"[१६] मन्त्र द्वारा आच्छादित किया जाता है[१७] तथा उसके वेदी के ऊपर स्थाली पाक को रख दिया जाता है तथा उसके दक्षिण में क्रमशः तकिया, अञ्जन, अभ्यञ्जन, उबटन, तथा जल से भरा घड़ा रखा जाता है। तदनन्तर अध्वर्यु यज्ञोपवीत सव्य करके

---

१. तै. ब्रा., ३.७.४.९, स. श्रौ., २.७.१७
२. श. ब्रा., २.४.२.१७, तै. ब्रा., १.३.१०, आप. श्रौ., १.७.३
३. भा. श्रौ., १.७.२, तै. सं., ११.६.८, आप. श्रौ., १.४.४, शा. श्रौ., ४.३.२, स. श्रौ., २.७.२४७, मा. श्रौ., १.२.२, का. श्रौ., ४.१.३, बौ. श्रौ., ३.१०-११
४. श. ब्रा., २.४.२.९
५. आप. श्रौ., १.७.५
६. आप. श्रौ., १.७.५, तु. आश्व. श्रौ., २.६
७. मा. श्रौ., १.१.२.४, भा. श्रौ., १.७.५, स. श्रौ., २.७.१७
८. श. ब्रा., २.४.२.९
९. आप. श्रौ., १.७.५
१०. श. ब्रा., २.४.२.९
११. श. ब्रा., २.४.२.१०, तं श्रपयति, मा. श्रौ., १.१.२.५. स. श्रौ., २.७.१७, बौ. श्रौ., ३.१०-११
१.२. आप. श्रौ., १.७.६
१३. श. ब्रा., २.४.२.१०, आप. श्रौ., १.८.२, बौ. श्रौ., ३.१०, स. श्रौ., २.७.१७, बौ. श्रौ., ३.१०-११
१४. आप. श्रौ., १.७.७
१५. आप. श्रौ., १.७.७
१६. तै. ब्रा., ३.७.४.१०
१७. आप. श्रौ., १.७.७

अपनी बायीं जाँघ के ऊपर दक्षिण घुटने को रखकर बैठता है तथा स्थालीपाकस्थ हवि को चलाये गये काष्ठ को छप्पर में खोंस देता है।[१]

तदनन्तर वहाँ से उठकर दाक्षिणाग्नि में दो आहुति देता है, यह क्रमशः अग्नि तथा सोम को दी जाती है,[२] क्योंकि अग्नि को सभी जगह आहुति दी जाती है। सोम को इसलिए दी जाती है कि सोम पितरों का देवता है, अतः अग्नि तथा सोम को एक साथ आहुति दी जाती है।[३] तै. ब्रा. के अनुसार तीन देवता को आहुति दी जाती है। ऐसा का. सं. ब्रा. में भी कहा गया है[४], परन्तु शाखान्तर के अनुसार यम के लिए आहुति नहीं दी जाती है।[५] आहुति देते समय क्रमशः "अग्नयेकव्यवाहनाय" स्वाहा, पितृमते स्वाहा", यमायत्वांगिरस्पते स्वाहा"[६] मन्त्र का उच्चारण किया जाता है।[७] तदनन्तर आहुति देने के बाद मेक्षण को स्विष्टकृत याग के पक्ष में रख दिया जाता है।[८] इसके बाद दाक्षिणाग्नि के दक्षिण ओर एक रेखा खींची जाती है[९], जिसमें "अपहता[१०]" मन्त्र का विनियोग किया जाता है। चूंकि वेदी के पहले पितर एक ही बार मृत्यु को प्राप्त हुय इसलिये एक ही बार रेखा खींची जाती है।[११] तदनन्तर "ये रूपाणि"[१२] मन्त्र से दाक्षिणाग्नि से एक उल्मुक निकालकर खींची गई रेखा के ऊपर रखा जाता है।[१३] तत्पश्चात् यजमान तीन अंजलि जल लेकर उस रेखा के ऊपर पितरों को देता है।[१४]

इसमें क्रमशः पिता, पितामह, प्रपितामह का नाम लेकर जल देना चाहिए। इसमें यजमान कहता है कि हे पितर! आप सब अपना हाथ धोइए।[१५] तदनन्तर दाक्षिणाग्नि के पास बिछे कुशों के ऊपर तीन पिण्डों को क्रमशः "पिता-पितामह-प्रपितामहेभ्यः"कहकर देता है अथवा प्रपितामह पितामह तथा पिता कहकर देता है।[१६] विकल्प में चतुर्थ पिण्ड भी चुपचाप रखा जाता है।[१७] ध्यातव्य है कि पिण्डदान के समय सम्बन्धित व्यक्तियों का नाम अवश्य लेना चाहिए[१८] अन्यथा दिया गया पिण्ड उन्हें नहीं मिलता है। यदि सम्बन्धित व्यक्तियों का नाम स्मरण नहीं हो तो " स्वधापितृभ्यः, पिधिविपधेभ्यः "[१९] से प्रथम " स्वधापितृभ्यांऽन्तरिक्ष[२०]" समम् से दूसरा तथा "स्वधा

---

१. आप. श्रौ., १.८.७, तु. मा. श्रौ., १.१.२.११, भा. श्रौ. १.७.९, बौ. श्रौ., ३.१०-११

२. श. ब्रा., २.४.२.१, का. श्रौ., ४.१.६, भा. श्रौ., १.८.१-२, स. श्रौ., २.७.१७,

३. श. ब्रा., २.४.२.११-१२, सवा अग्नये च सोमाय च जुहोतिसयदग्नये जुहोति सर्वत्र हयेवाग्निरन्वाभकतो ऽथ यत् सोमाय जुहोति पितृदेवेभ्योवै सोमस्वस्मादग्नये च सोमाय च जुहोति।

४. तै. ब्रा., १.३.१०, बौ. श्रौ., ३.१०-१६

५. आप. श्रौ., १.८.४, तु. मा. श्रौ., १.१.२.१७-१८

६. वा. सं., २.२९, वा. का. सं., २.७

७. श. ब्रा., २.४.२.११-१३, स जुहोति। तै. ब्रा., १.३.१०, का. सं. ब्रा. १०.१२

८. श. ब्रा., २.४.२.११-१३, भा. श्रौ., १.८.३.४, स. श्रौ., २.७.१७, बौ. श्रौ., ३.२०-२१

९. श. ब्रा., २.४.२.११-१३, का. श्रौ., ४.८.७, स. श्रौ., २.७.१८, बौ. श्रौ., ३.१०-११

१०. वा. सं., २.२९

११. वा. सं., २.३०

१२. श. ब्रा., २.४.२.११-१५, का. श्रौ., ४.१.८, मा. श्रौ., १.८.५, बौ. श्रौ., ३.२०-२१

१३. श. ब्रा., २.४.२.११-१६, म. श्रौ., १.८.६, स. श्रौ. २७.१०

१४. श. ब्रा., २.४.२.११-१३,

१५. श. ब्रा., २.४.२.१६

१६. श. ब्रा., २.४.२.१९, का. स. ब्रा., १२, का. श्रौ., ४.१.११, मा. श्रौ., १.१.२.१९, भा. श्रौ., १.८.७, स. श्रौ., २७.१८, बौ. श्रौ., २०-२१.२४.३२

१७. भा. श्रौ., १.९.२, तूष्णीं चतुर्थपिण्डं, स. श्रौ., २७.१८

१८. आ. श्रौ., २.६.२४, बौ. श्रौ., २०.२१.२४.३२

१९. अ. वै., १८.४.७८

२०. वही, १८.४.७०

पितृभ्यो दिविषदभ्य:"से तीसरा पिण्ड दिया जाता है।[१] यदि यजमान के दो पिता हो तो दोनों पिता के कुल के पूर्वजों के लिए एक ही साथ पिण्डदान किया जाता है, ऐसा भारद्वाज का विचार है।[२] आपस्तम्ब के अनुसार यजमान एक-एक पिण्ड पर दोनों का उपलक्षण करता है।[3] यदि किसी का पिता जीवित है तो वह पिण्डदान न करके केवल दक्षिणाग्नि में आहुति करके चुप हो जाता है।[४] आचार्य जातुकर्ण्य के अनुसार जीवित पिता के पक्ष में पिण्डदान निषिद्ध है।[५] स. श्रौ. सूत्र के अनुसार जीवित पिता को भी पिण्डदान करना चाहिए।[६]

तदनन्तर "मन्येमातम्"तथा "पितृभ्य स्वधायिभ्य:"द्वारा उपस्थान करके "अत्रपितरो:" मन्त्रपूर्वक पीछे घूमा जाता है।[७] तदनन्तर दक्षिण दिशा की ओर मुख करके पिण्ड देकर उत्तर मुख घूम जाना गाहिए।[८] जब तक पिण्डों के वाष्प निकलें, तब तक उन्हें उदंगमुख रहना चाहिए।[९] परन्तु याज्ञवल्क्य के अनुसार एक मुहूर्त तक घूम कर रहना चाहिए।[१०] इसके बाद दक्षिण की ओर मुँह करके "अमीमदत्र[११]" पितरो यथा भागमावृषायिषत" मन्त्र का वह जप करता है।[१२] आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के अनुसार यजमान स्थाली में बचे हुए ओदन को सूँघता है, उस ओदन को केवल दीर्घरोगी, कामी अथवा अन्नखाने की शक्ति न रहने पर अन्न न खा पाने वाला यजमान खाता है, वह सूँघता नहीं है।[१३] तदनन्तर पिण्डों के ऊपर वस्त्र रखा जाता है[१४] और "नमो वः[१५]" इत्यादि छः मन्त्रों से नमस्कार करके तीन बार जल गिराया जाता है[१६], कात्यायन के अनुसार छः बार जल गिराया जाता है।[१७] कृष्ण यजुर्वेदीयों के अनुसार अञ्जन, अभ्यञ्जन, उबटन का विधान बताया गया है और तीन अंजलि जल गिराया जाता है।[१८] यदि यजमान नयी आयु का है, तो " एतानिक पितरोः [१९] " मन्त्र द्वारा अपने उत्तरीय की झालर को फाड़कर "उषीस्तुक"को रखता है,[२०] यदि यजमान पचास वर्ष के ऊपर का है तो उसे अपने हृदय का लोम उखाड़कर पिण्ड पर रख देना चाहिए[२१] और पिण्डों से वाष्प निकल जाने पर "नमोवः[२२]" मन्त्र से पितरों को नमस्कार

१. वही, १८.४.७९
२. आप. श्रौ., १.९.२, मा. श्रौ., १.१.२.२२, भा. श्रौ., १.९.१, स. श्रौ., २.७.१८ भा. श्रौ., १.९.८, अयमादिदित पितास्यात् प्रतिपुरुष पिण्डान् देयात्।
३. आप. श्रौ., १.९.२, यदिदिविपितास्यादेककस्मिन्पिण्ड दवोदवातुपल स्यते।
४. आप. श्रौ., १.९.३; तु. मा. श्रौ., १.१.२.२१, का. श्रौ., ४.१.२५-२७, भा. श्रौ., १.८.१२
५. का. श्रौ., ४.१.२६, न व्यवेते जातूकर्ण्यः।
६. सं. श्रौ., २.९.१३, जीवपिता पितामहायप्रापतेमहायंमेति दद्यात्।
७. आप. श्रौ., १.९.४
८. का. सं., ३८.२, तु. तै. ब्रा., २.६.३.२
९. आप. श्रौ., १.९.४
१०. श. ब्रा., २.४.२.२१
११. वही , २.४.२.२१
१२. वा. सं., २.३
१३. श. ब्रा., २.४.२.२२, का. श्रौ., ४.१.१४
१४. आप. श्रौ. , १.९.३
१५. आप. श्रौ. , १.९.३, मा. श्रौ., १.१.२.२, का. श्रौ., ४.१.१६
१६. वा. सं., २.८, वा. का. सं. २.७
१७. श. ब्रा., २.४.२.२३.२४
१८. का. श्रौ., ४.१.१५
१९. आप. श्रौ., १.९.७, मा. श्रौ., १.१.२.२९-३०, स. श्रौ., २.७.१८
२०. आप. श्रौ., १.१०.१
१. तै. ब्रा., १.३.१०, आप. श्रौ., १.१०.१, आश्व. श्रौ., २.७, मा. श्रौ., १.१.२.२९, का. श्रौ., ४.१.१८, भा. श्रौ., १.९.८-९, स. श्रौ., २.७.१९, कौ. श्रौ., २०.२१.२४.३२
२. वा. सं., २.३२, पा. का., २.७

करना चाहिए।[१] पुनः "पितृरोगृहान्न[२]" मन्त्र के द्वारा पितरों का उपस्थान करके "उर्ज वहन्ती[३]"मन्त्र से पिण्डों के ऊपर जल गिराता है।[४] तदनन्तर वह पिण्डों को उठाकर पिण्डस्थाली में रखकर स्थाली सहित पिण्ड को सूंघता है[५] और उल्मूक तथा बिछाये गये कुश को अग्नि पर फेंक देता है।[६] तै. शाखा के अनुसार पिण्डों को उठाते समय "उत्तिष्ठतपितरः[७]" द्वारा पिण्डों को उठाया जाता है और उठाये गये पिण्ड को "पितरोपितरः[८]"मन्त्र से नदी में प्रवाहित कर दिया जाता है।[९] ध्यातव्य है कि ऋतुस्नान की हुई पुत्र की इच्छा रखने वाली स्त्री मध्यम पिण्ड को खाती है,[१०] जिसमें "आधातेति[११]" मन्त्र का उच्चारण किया जाता है। विश्वास के अनुसार वह पुत्रवती होती है और बचे हुए पिण्डों में से एक को यजमान "पस जाता[१२]" मन्त्र से खाता है, या नहीं भी खाता है।[१३] तदनन्तर पितृयज्ञ में प्रयुक्त पात्रों को जल से प्रोक्षण करके उन्हें जोड़े के रूप में रख दिया जाता है[१४] और पहले निकाले गये अंगार को पुनः आहवनीय अग्नि में डाल दिया जाता है[१५] तथा स्थालीस्थ पिण्ड जल को फेंक दिया जाता है अथवा ब्राह्मण को खिला दिया जाता है।[१६]

निष्कर्ष : ––

इस यज्ञ को गृहस्थ भी कर सकता है। ऐसा गृहस्थ जो वैदिक अग्नियों की स्थापना नहीं की हो।[१७] गौतम ने कहा है कि प्रत्येक गृहस्थ यदि याग करने में असमर्थ है तो कम से कम उसके लिये तर्पण तथा यथाशक्ति भोजन की आहुति का विधान बताया गया है।[१८] आचार्य मनु ने भी दैनिक पितृतर्पण की बात कही है।[१९] तै. ब्रा. के अनुसार पिण्डपितृयज्ञ धरती पर रहने वाले समस्त मनुष्यों का है और अन्य यज्ञ देवताओं का है।[२०]

---

१. श. ब्रा., २.४.२.२४, तै. ब्रा., १.५.१०, का. सं. ब्रा., १२, का. श. ब्रा., १.३.३, भा. श्रौ., १.१.२.३४, भा. श्रौ., १.९.१०, बौ. श्रौ., २०.२१.२४.३२
२. वा. सं., २.३४
३. वही २.३४
४. का. श. ब्रा., १.१.३.२०, आप. श्रौ., १.१०.२.३
५. श. ब्रा., २.४.२.२४, का. श्रौ., ४.१.२०
६. श. ब्रा., २.४.२.२४, का. श्रौ., ४.१.२१, भा. श्रौ., १.१०.१
७. आप. श्रौ., १.१०.४
८. तै. सं., १.८.५.२
९. आप. श्रौ., १.१०.४, तु. आश्व. श्रौ., २.७
१०. आप. श्रौ., १.१०.६, तु. शा. श्रौ., ४.५.८ आश्व. श्रौ., २.७, तु. बौ. श्रौ., २०.२१, स. श्रौ., २.७.२०, मा. श्रौ., १.१.२.३१, का. श्रौ., ४.१.२२, भा. श्रौ., १.१०.८.९
११. वा. सं., २.३३, वा. का. सं., २.७
१२. तै. सं., २.६.३.५
१३. आप. श्रौ., १.१०.७, अवशिष्टनामेकं यजमानप्राश्नाति वा। बौ. श्रौ., २०.२१.२४.३२
१४. आप. श्रौ., १.१०.७, मा. श्रौ., १.१.२.४१, भा. श्रौ., १.१०.४, स. श्रौ., २.७.२०
१५. श. ब्रा., २.४.२.२४, का. श. ब्रा., १.३.३.२०, तु. मा. श्रौ., १.१.२.४२
१६. आप. श्रौ. १.१०.८, तु. शा. श्रौ., ४.५.६.७, आश्व. श्रौ., २.७, मा. श्रौ., १.१.२.३२
१७. आप. श्रौ., १.१०.९, सोयम्मेवविहितस्वानाहितायाः। स. श्रौ., २.७.५५, मा. श्रौ. २.७
१८. गौ, ध. सू., ५.५
१९. मनुस्मृति, २.१७६
२०. तै. ब्रा., १.३.१०

सप्तम—अध्याय

दर्शपौर्णमास याग से सम्बन्ध सामान्य अनुष्ठानों की प्रतीक व्यंजना

सप्तम-अध्याय

दर्शपौर्णमास याग से सम्बन्ध सामान्य अनुष्ठानों की प्रतीक व्यंजना

सामान्य परिचय

वेदों का अध्ययन करने वालों को यह ज्ञान कर लेना चाहिए कि वैदिक यज्ञ कर्मकाण्ड एवं विभिन्न धार्मिक कृत्यों का संकलन मात्र ही नहीं है। अपितु यज्ञ वह कृत्य है जिससे ऊर्जा स्वयम् उद्‌भूत होती है—यज्ञ का विनियोग अत्यन्त व्यापक है जिसके द्वारा हमें मानव जीवन के विभिन्न आयामों का मार्गदर्शन तथा हमें अपने जीवन में सही मार्ग पर चलने की सही-शिक्षा प्रदान करती है।

अतएव यज्ञ केवल कर्मकाण्ड मात्र नहीं है बल्कि यज्ञ के द्वारा ब्रहमाण्ड में कार्यरत प्रकृति की अनन्तशक्तियों में परस्पर समन्वय एवं सामजंस्य स्थापित करने के लिए उर्जा प्रदान करती है। समय अधिष्ठात्री दैवी शक्तियां यज्ञ से प्रसन्न होते हैं और उनमें समरूपता का प्रतीक से ही यह संसार का वातावरण शान्त एवं जीवनोपयोगी बनने में सहायक हो सकता है इन देवी देवताओं के विस्फोटक से यह संसार सर्वनाश की ओर जा सकता है इन सबसे बचने के लिए यज्ञ अत्यन्त उपयोगी है।

अग्नि में डाली गई आहुति कभी भी नष्ट नहीं होती है जिन देवताओं के निमित्त आहुति डाली जाती है। उनके गन्ध सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप में तत् देवताओं के तक पहुँच जाती है। हविष के सुगन्ध को प्राप्त करके देवता प्रसन्न होते हैं तथा यह ब्रहमाण्ड का वातावरण शान्त एवं अनुकूल वातावरण में प्रचलित होता रहता है।

प्रायः यह ज्ञात होता है कि विद्वान लोग यज्ञ से इस सार्वभौमिक तथा व्यापक प्रकृति तथा उन यज्ञों के प्रतीकात्मक रूप का सही रूप से आंकलन नहीं कर पाते हैं। जिससे यज्ञ को मात्र एक आडम्बर मानकर दृष्टि को फेरलेते हैं। जिस गम्भीरता से यज्ञ के बारे में चिन्तन करना चाहिए वह नहीं किया जाता है, उदाहरण स्वरूप एक वेद समीक्षक का यह कहना है कि यज्ञ स्वयं में साध्य नहीं थे वे यज्ञ कर्ता के पक्ष में लाये जाने हेतु देवताओं को प्रसन्न करने का साधन मात्र था यज्ञों का कोई रहस्यात्मक तथ्य नहीं है।[1]

डॉ. देशमुख के अनुसार भी यज्ञ को अनावश्यक महत्व दिया गया है जिसके द्वारा वैदिक विद्वानों के मानसिक स्तर पर गिरावट आ गई थी यह गिरावट अपेक्षाकृत ऋग्वेद के उज्ज्वल काल तक चलती रही। मानसिक पतन की इस कड़ी में जादू टोना, प्रेत कर्म एवं पौरोहत्य प्रपंच तक ही सीमित रहा।[2]

इन विद्वानों के आक्षेप को विशेष न लिखते हुए मूल विषय पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

---

१. वी. एन. लूनिया—इवोल्यूशन् आव् इण्डियन कल्चर प्रा. ६५.६६

२. डॉ. देशमुख—रेलिजन् इन्वेदिक लिट्रेचर पृ. ६२

ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ के विभिन्न विधानों में प्रतीकात्मक स्वरूप पर पर्याप्त ज्ञान मिलता है, जिसके लिए ब्राह्मण ग्रन्थों का सूक्ष्मता से अध्ययन करने की आवश्यकता है। जो प्रतीक व्यंजना ब्रहमाण्ड के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिए सहायक होती है याग कर्मकाण्ड इसके अलावा समस्त वैदिक धर्म जन सामान्य की पूजा है। जिसके द्वारा हमें ईश्वर का ज्ञान स्वभाविक रूप से प्राप्त होता है।[1]

तैतरीय ब्राह्मण में यह कहा गया है कि व्यक्ति द्वारा किया गया होम, जो आश्रवित, प्रत्याश्रवित ब्रह्म एवं बषट्कार को जानता है वही वास्तविक होम है। जिसके द्वारा हमें ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण वस्तु की जानकारी होती हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राण आश्रावित है अपान प्रत्याश्रावित है, मन होता का प्रतीक है, चक्षु ब्रह्म का प्रतीक है तथा वषट्कार निमेष की प्रतीक है।[2]

जैमिनीय ब्राह्मण में ब्रह्मवादियों के विचार विमर्श के बाद यह निष्कर्ष बताया गया है कि यज्ञ में जिस किसी भी वस्तु की आहुति दी जाती है वह सब प्राण के प्रतीक रूप में दी जाती है।[3]

अग्नि मंथन की पांच स्थिति को पांच प्राण की प्रतीक बताया गया है। उदाहरणार्थ, अन्न मनस्, चक्षुष् स्रोत्र एवं वाक् इन्हें तीनों अग्नि में विभाजित कर दिया जाता है तथा उनमें आहुतियां दी जाती है।[4] तैत्तरीय ब्राह्मण के अनुसार अग्नि होत्र को ब्रह्माण्ड तक ले जाता है। जो क्रमशः पृथ्वी सदस्य है अन्तरिक्ष आग्निध्र की प्रतीक है द्यौ हविर्धान है, दिव्य जल (वर्षाजल) प्रोक्षणी (अभिषेकाय जल है, औषधी वर्हि है, वनस्पतियां इध्म (इंधन) है दिशाऐं परिधियाँ सीमास्थित दर्भ है, आदित्य यूप की प्रतीक है यजमान पशु है, समुद्र अभृथ है तथा संवत्सर स्वर्गाकार है, जो हवियों को देवता तक पहुँचाता है।[4] दैनन्दिन सम्पादन होने वाले अग्नि होत्र कर्म को विराट यज्ञ के रूप में कल्पित किया गया है।

यज्ञ में वास्तविक स्वरूप हो विराटता का अन्दाज इस कथन से लगाया जा सकता है वेदि को पृथ्वी के समान विशालस्वरूप का प्रतीक बताया गया है।[5] यज्ञ का अर्थ मात्र कर्मकाण्ड तक ही सीमित नहीं है यद्यपि वह इस सीमा से कहीं आगे हैं यज्ञ का प्रतीकात्मक अर्थ कुछ और ही है। वेदि को पृथ्वी के प्रतीक मानकर, वेदि के रूप में पृथ्वी उसी तत्व की महिमा की वृद्धि करती है।[6]

पंचविश ब्राह्मण के अनुसार कुरुक्षेत्र उतना ही बड़ा है जितना कि वेदि—कुरुक्षेत्र शब्द का अर्थ इतिहास प्रसिद्ध युद्ध क्षेत्र न होकर कर्म क्षेत्र रखा है।[7]

ब्राह्मण साहित्य के अध्ययन से यह पता चलता है कि अहिताग्नि अग्नि में जो भी कुछ आहुति प्रदान करता है वह दक्षिणा की प्रतीक है।[8]

---

१. विशेष के लिए देखें ऑलडस हक्सले, पेर्टोनमल फिलासफी पृ.३१४

२. यो वा अग्निहोत्रस्याश्रावित प्रत्याश्रवितं होतारं ब्रह्माण बषट्कार वेद, तस्यत्वेव हुतम्। प्राणोवा अग्निहोत्रस्याश्रावितं-अपानः प्रत्याश्रवितं। मन होता चक्षु ब्रह्मा। निमिषो बषटकारः। य एवं वेद तस्यत्वेवहुतम्।तै. ब्रा. २.१.५.९

३. प्राणे नैव जुहोति प्राणेहूयते जै. ब्रा. १.१.२

४. वही.

५. तै. ब्रा. २.१.५१-२ तस्य पृथिवी सद्। अन्तरिक्षमाग्नीध्रिम्। घौ हर्विधानम्। दिव्याआपः प्रोक्षणयः ओषधयो वर्हिः। वनस्पतयः इध्मः दिशः परिधात्रः। आदित्योयूपोः। यजमान पशुः। समुद्रोऽवभृथः संवत्सरः स्वर्गाकारः।

६. तै. ब्रा. १०.३. २.९.१२, एतावती वै वृथ्वी यावतीवेदि ३.२.९.१२,

७. पंचविंश ब्राह्मण २५ १३-३, जै.ब्रा. २-३००,

८. तस्मात् अहिताग्नेः सर्वमेव वर्हिष्यदत्तं भवति तै.ब्रा.२.१.५.३

कहने का तात्पर्य यह है कि जीवन का प्रत्येक दैनिक कृत्य यज्ञ कृत्य है। वास्तव में यज्ञ शरीर से ही ब्रह्माण्ड की रचना हुई है। प्रो.वी.आर. शर्मा अग्नि वेदि के प्रतीक का अध्ययन किया है। उनके कथन भी सराहनीय है।[१]

यह ब्रह्माण्ड का केन्द्र बिन्दु एवं उद्‌भव स्थल है,[२] पहले ही बता चुके हैं कि यज्ञ के द्वारा ही निखिल ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ है तथा वह सदैव यज्ञ में ही प्रतिष्ठित रहता है। यज्ञ विश्व का भरण पोषण करता है यही विश्व में सत्ता के रूप में विद्यमान है यही सृष्टि के अन्त तक स्थित रहता है।[३]

डॉ. दास गुप्त ने यह कहा है कि यज्ञ में ही हमें ब्रह्माण्ड की सत्ता की व्यवस्था अथवा प्रकृति में परिव्याप्त कानून की मान्यता का दर्शन होता है।[४]

यज्ञ स्वयं पुरुष है जिसके द्वारा पृथ्वी पर स्थित समस्त वस्तुऐं मापी जाती है। यज्ञ देवताओं का वह आवास का प्रतीक है जो कभी भी असुरों के द्वारा पराजित नहीं होता है।[५]

यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले आश्रावण प्रत्याश्रवण, प्रैष, याज्या बषट्कार को व्याहृतियों की संज्ञा दी गई है—ये सब प्रत्येक यज्ञ में आती है जिसमें कि सम्पूर्ण क्रिया परिव्याप्त है।[६]

संवत्सर काल का प्रतीक एवं मापक तत्व है वस्तुतः यज्ञ है। काल स्वयमेद यज्ञ है, ब्राह्मणों में अनेकशः यज्ञ को सर्वव्यापी विष्णु कहा गया है,[७] यज्ञ सर्वश्रेष्ठ कर्म है।[८]

उपरिवर्णित यज्ञ के महात्म्य एवं सार्वभौमिक रूप से चिन्तन करने से यह ज्ञात होता है कि जीवन के विविध कर्म एवं कर्तव्य यज्ञ के अंग है, रूप है, जीवन का सम्पूर्ण आयाम यज्ञमय है, जिसके द्वारा सारे संसार में परिव्याप्त प्राकृतिक लीलाओं का झांकी मिल जाती है तथा निरन्तर गतिशील जीवन चक्र का दर्शन होता है।

विभिन्न अनुष्ठानों के प्रतीक व्यंजना

व्रतोपायन : —

किसी भी अनुष्ठान को करने के लिए उपवसथ एवं व्रतोपायन आदि कर्मों को करना अत्यन्त आवश्यक है। इसी क्रम में दर्शपौर्णमास याग में भी इसी कृत्य से यज्ञ को प्रारम्भ किया जाता है जिस की विधि हम पूर्व

१. प्रो. वी.आर. शर्मा सिम्बलिज्म आव्द् फायर आल्टर एवी.ओ. आर. ३३, १९५२ पृ. १९४

२. यज्ञवभूव भुवनस्य गर्भः तै.ब्रा. २.४.७.५

३. In the same manner that the world originated though sacifice— जंग, साइकोलाजी अव द अनकान्शस पृ. २५९

४. It is in the Yajna that we see the first recognition of cosmic onder on law pacuailing in Nature, Das Gupta H.I.P.I. 27.

५. पुरुषों वै यज्ञः तेनेदं सर्वमिदम् श.ब्रा. १०.२.१.२

६. एतत् खलु वैदेवानामपराजित मायातनम् यघज्ञः तै. ब्रा.१० ३.३.७.७

७. यज्ञोवै विष्णुः तै. ब्रा. ३.२.३.१२, श.ब्रा. १.१.३.१, पंचविंश ब्राह्मण। १३.३.२, ३.३.७.४, तै. ब्र.

८. यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म— वा. सं. प्रथम अध्याय।

के अध्याय में वर्णन कर चुके हैं। वर्तमान समय में हम उपरोक्त अनुष्ठान का प्रतीक व्यंजना मात्र प्रस्तुत कर रहे हैं। इसी तरह सम्पूर्ण अनुष्ठानों के प्रतीक व्यंजना प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे।

दर्श पौर्णमास इष्टि में व्रतोपायन एवं उपवसथ से प्रारम्भिक कृत्य को किया जाता है। जिसको क्रमशः अमावस्या एवं पूर्णमासी को किया जाता है। जिसको उपवसथ भी कहा जाता है।

उपवसथ का मतलब यह है कि इष्टि के पूर्व दिन से ही प्राणरूपी देवता यजमान के यज्ञशाला में उपस्थित हो जाते हैं अतः उपवसथ कृत्य से यज्ञ को प्रारम्भ किया जाता है।

उपरोक्त कृत्य में चार नियमों का पालन करना अनिवार्य होता है। जो क्रमशः इस प्रकार से हैं।

(१) सत्य भाषण (२) हविष्यान्न (३) अधः शयन, (४) ब्रह्मचर्य का पालन,

सत्यभाषण : ––

इसकी अर्थवत्ता यह है कि यजमान यज्ञ के द्वारा सत्य स्वरूप परमात्मा को प्राप्त करने वाला है अतः यजमान उपवसथ के दिवस से ही सत्य बोलने की प्रतीज्ञा करता है। क्योंकि सत्य स्वरूप भगवान स्वयं यज्ञ है। इस समय में यजमान भी सत्य बोलता हुआ देवता के स्वरूप को प्राप्त करने वाला है अतः यज्ञ में सत्य बोलता है और यज्ञ के समाप्ति के वाद यजमान सत्य से असत्य को प्राप्त करता है अर्थात् देवत्व से मनुष्यत्व को प्राप्त करता है।[१]

भोजन : ––

जिस अन्न से हम देवता को हवि रूप में प्रदान करेगें उस अन्न को छोड़कर शेष समस्त अन्न को खा सकते है। इसलिए की यजमान को पितृदेवत्व दोष न लगे और जिस अन्न की हवि नहीं दी जाती उसको देवों से पहले खा लेने से दोष भी नहीं लगता।[२]

यजमान उपवसथ के दिन आहवनीय एवं गर्हपत्यागार में भूमि पर शयन करता है, इसलिए कि देवताओं के सामने भक्त का उच्चासन पर बैठना एवं शयन करना अहंकार का प्रतीक है अतः यजमान को भूमि पर शयन करना चाहिए यही अतिथी की सच्ची सेवा एवं श्रेष्ठ सेवा है।[३]

---

१. शब्रा. १.१.४.५ सत्य चैवानृत च सत्यमेवदेवा अनृतं मनुष्या इदमहमनृतात्सत्य मुपैमीति तन मनुष्येभ्यो देवानुपैति, स वै सत्यमेव वदेत। एतद्वैदेवा व्रतं चरन्ति यत् सायं तस्माते यत्तोला यशोह भवति य एवं विदांत्सायं व्रदुन्ति।

२. श. ब्रा. १.१.१.९ तदुहहोवाच याज्ञवलक्यः नाऽश्रुति पितृदेवत्वो भवति यघुऽअश्नाति तदुह होवाच देवानत्यश्नातीति स य देवोऽशियमन शितं तदश्नीयामि यस्य वै हविर्न गृहणन्ति तदशित मन शितं स यदश्नाति तेना पितृ देवत्यो भवति तदऽश्नाति यस्य हविर्न गृहणन्ति तेन देवा नात्यश्नाति।

३. श. ब्रा. १.१.१.११ स आहवनोयां गारे वैतां रात्रिशयीत। गर्हिपत्यगारेवादेवान्वा ऽएष उपवसीते यो व्रतमुपैति स याने बपावर्तते तषामेवै तनूमध्ये शतेऽधः शयीतधस्तादिव हि श्रेयस उपचारः।

आचमन : —

यजमान की आत्मा मिथ्या दोष से अपवित्र है, जिसके द्वारा सत्यरूपी देवताओं को प्राप्त नहीं कर सकता है। अतः जल से सर्वप्रथम आत्मा को पवित्र करना ही आचमन कृत्य है। क्योंकि जल के द्वारा यज्ञरूपी दिव्यात्मा की उत्पत्ति होती है।

आचमन गार्हपत्य एवं आहवनीय के मध्य में अग्नि को साक्षी रखकर दिया जाता है। इसकी अर्थवत्ता यह है कि, गार्हपत्य पृथ्वी स्थानीय देवता है, आहवनीय स्वर्ग की प्राप्ति है। यदि पश्चिम दिशा की ओर खड़ा होकर आचमन करेगा तो यजमान का सम्बन्ध स्वर्ग से नहीं रह जाएगा और पूर्व में खड़ा होकर करेगा तो तो उसका पृथ्वी से सम्बन्ध नहीं रहेगा अतः दोनों के मध्य में आचमन करना चाहिए।

अग्नि को देखकर आचमन इसलिए करता है कि अग्नि देवों के व्रतपति है अतः यजमान भी व्रतपति है अतः समस्त देवताओं को साक्षी रखकर आचमन करता है ब्राह्मण ग्रन्थों में आहवनीय अग्नि को समस्त देवताओं का प्रतिनिधि बताया गया है।[1]

ब्रह्मा का वरण एवं उसके प्रतीक व्यंजना

व्रतोपायन के बाद ब्रह्मा का वरण किया जाता है। प्रकृति यज्ञ का रक्षक ब्रह्मा है। ब्रह्मा ही यज्ञ का अर्थात् विश्व का प्रतिष्ठाता है। अतः जब तक ब्रह्मा का वरण हम नहीं करेंगे तो यज्ञ ही प्रतिष्ठित नहीं हो पाएगा अतः ब्रह्मा का वरण अत्यन्त आवश्यक है, ब्रह्मा सम्पूर्ण यज्ञ की प्रतिष्ठा है इसका पूर्ण ज्ञान के लिए ब्रह्म विज्ञान जानना अत्यन्त आवश्यक है।

संसार में स्थिति और गति दो तत्व होते हैं और ये दोनों एक दूसरे के ऊपर निर्भर करते हैं। ब्रह्मा को प्रतिष्ठा तत्व कहा गया है, जिसकी गति में स्थिति नहीं है। अतएव गतिरूप में चलते हुए स्थिति न रहने से वह स्थिति रूप में परिणित हो जाता है।

प्रतिष्ठा तत्व का नाम ब्रह्मा है, जिसकी गति में थोड़ी सी भी गति प्रतीत नहीं हो सकती, अतएव जो शीघ्र चलता हुआ भी गति में स्थित रहने से स्थित रूप में परिणित हो जाता है वही तत्व ब्रह्मा कहलाता है।[2] निष्कर्ष यह है कि प्रकृत यज्ञ में सबसे पहले ब्रह्मा का वरण किया जाता है।

प्रणीता प्रणयन की प्रतीक व्यंजना

प्रणीता प्रणयन को अपां प्रणयन भी कहा जाता है। प्रस्तुत प्रसङ्गमें चार हेतु प्राप्य हैं।

प्रथमहेतु—जल को यज्ञ का स्वरूप बताया गया है[3], और जल के माध्यम से ही यज्ञ को अपने अधिकार में करना है अतः इसे अपां प्रणयन कहा जाता है।

---

१. श.ब्रा. ११.१.१-२ अग्नि वै दवानां व्रतपति।

२. ईशा. उप., ४ श्लो. श. ब्रा. हिन्दी विज्ञानभाष्य या मोतीलालशर्मा चौखम्बा विधाभवन पृ. २५९ ब्रह्मास्य सर्वास्य प्रतिष्ठ्य।

३. श.ब्रा. १.१.१.२ यज्ञों वाऽआपो,

द्वितीयहेतु --- जल के द्वारा सम्पूर्ण संसार परिव्याप्त है, अतः जल सम्पूर्ण विश्व में अभिव्याप्त हो रहा है। सर्वरूप में समर्थ जल का प्रणयन करता हुआ अध्वर्यु कर्म से ही सब कुछ प्राप्त कर लेता है। अर्थात् जल की भांति यजमान सम्पूर्ण विश्व में आत्मसात प्रतिष्ठित कर लेता है।[१]

तृतीय हेतु --- मनुष्य सुलभ अज्ञात दोष से ग्रसित होकर होता अध्वर्यु, अग्निध्र अथवा स्वयं यजमान यज्ञ के द्वारा जिस याग को प्राप्त नहीं कर सकते हैं इसलिए कि यज्ञांश को छोड़ देते हैं। परन्तु उस यज्ञांश की पूर्ति अपां प्रणयन से हो जाती है।[२]

चतुर्थ हेतु --- देवता लोग जब यज्ञ को सम्पन्न कर रहे थे उस समय राक्षसों ने यज्ञ को करने से रोका, जिसके द्वारा देवता चिन्तित हुए, चिन्तित होकर जलरूपी वज्र के द्वारा राक्षसों का नाश किया, आशय यह है कि राक्षसों के नाश हेतु वज्र को देवताओं ने जल से ही निकाला था और उसी वज्र के नीचे यज्ञ को सम्पन्न कराया था अतः जल को वज्र के प्रतीक बताया गया है।[३]

पात्रासादन के प्रतीक व्यंजना

पात्रासादन के प्रकरण में दो हेतु प्राप्त होता है।

प्रथम हेतु—सर्वप्रथम पात्रों को कुशों के ऊपर दो दो करके रखा जाता है। इस तरह पात्रों की संख्या दश होती है। इन दशपात्रों को शतपथ ब्राह्मण में विराट छन्द की प्रतीक बताया गया है। क्योंकि विराट छन्द दश अक्षर का होता है और विराट छन्द को ही यज्ञ का प्रतीक बताया गया है अतः दश पात्रों की स्थापना करके विराट अर्थात् यज्ञ को प्राप्त कर लेता है यही प्रथम हेतु है।[४]

द्वितीय हेतु --- द्वितीय हेतु यह है कि छन्दवीर्य का प्रतीक है और किसी काम को दो मनुष्य करते हैं तो और वह काम सफल होता है अतः दो दो पात्रों को रखते हुए अध्वर्यु प्रजनन क्रिया को सम्पन्न कराता है।[५]

---

१. वही ११.१.४ अद्भिः वा इदं सर्वप्राप्तं तत् प्रथमे नैवैत कर्मणा सर्वमाप्नोति।

२. यद्वेवास्यात्र होतावाध्वर्युवा ब्रह्मा वाग्नीध्रोवा स्वयं वा यजमानो नाभ्यापयति तदेवास्यैतेन सर्वमाप्तं भवति। श. ब्रा. ११.१.५।

३. श. ब्रा. १.१७,।

४. अततृणैः परिस्तृणति। द्वन्दं पात्राण्युदाहरति शूर्प. चार्ग्रहोत्रहवणीं स्फय च कपालानि च शम्यां च कृष्णजिनं योलु खलमुसले दृषदुपले तद्दश दशाक्षरात्वै विराड विराडवै यज्ञस्त द्वि०राजमेवैततघर्मभि सम्पादत्य यद् - - -। श. ब्रा. १.१.२.२

५. द्वन्दं द्वन्दं वै वीर्य्यं यदा वै द्वै। संष्यतेऽअथतद्वीर्यं भवति द्वन्दं वै मिथुनं प्रजननमिथुन मवैत प्रजननं क्रियते। श. ब्रा. १. १. २. १।

हवि संरचना की प्रतीक व्यंजना

पात्रा सादन के पश्चात वाणी को रोकते हुए हवि को पात्र में लेने के पूर्व पात्रों को तपाया जाता है।[१] तदनन्तर रखे गये शकट में हवि को लेने के लिए शकट की तरफ अध्वर्यु बढ़ता है।[२] शकट को बहुत्व रूप का प्रतीक बताया गया है और शकट से हवि ग्रहण करता हुआ भूमा भाव की ओर जाता है।[३] इस तरह शकट को यज्ञ का प्रतीक बतलाया गया है।[४] हवि को ग्रहण करते समय धूरसि[५] मन्त्र का पाठ करता है "धू" अर्थात् अग्नि की प्रतीक है। शकट को वहन करने वाले वैल को कन्धे के ऊपर रखे गये कस्तम्भी से काला हो जाता है। शकट के आगे तथा पीछे भाग को, तथा मध्यभाग के हविर्द्धान स्थान को यज्ञ का प्रतीक बताया गया है।[६]

हवि का ग्रहण पांच अंगुलियों से मिश्रित हवि को ग्रहण करना चाहिए। पांच अंगुलियों के सम्बन्ध में श्रुति कहती है कि यज्ञ पांक्त है (अर्थात् पञ्चावयव है) पांच अंगुलियाँ पांक्त यज्ञ का प्रतीक है। जिसके द्वारा अध्वर्यु पांक्त यज्ञ को ही पांच अंगुलियों के द्वारा हवि में प्रतिष्ठित करता है।[७]

हवि ग्रहण अश्विन कुमार में दोनों बाहों से करता है। इसलिए प्रकृति यज्ञ की देवता अश्विन कुमार स्वयं अध्वर्यु है और वर्तमान में सम्पन्न करने वाला के याग को अध्वर्यु अश्विन कुमार देवताओं का प्रतिनिधि है। देवताओं में प्रसिद्ध पूषा देवता तत् तत् देवताओं को हवि का विभाजन करने वाला है अतः हाथ को पूषा का प्रतिनिधि बताया गया है।[८]

दर्शपौर्णमास इष्टि में जिन देवताओं के लिए आहुति प्रदान की जाती है, उन देवताओं के लिए पृथक रूप से हवि ग्रहण किया जाता है। इसलिए कि यजमान की इस भावना से देवता अध्वर्यु के समीप आ जाते हैं। तथा देवताओं का भी यह कर्तव्य बन जाता है कि जिस भावना से ऋत्विक् हमें हवि प्रदान करते हैं हम उस के कामनाओं की पूर्ति करें—ऐसा न होने पर देवता यजमान के ऋणि हो जाते हैं अतएव देवता के नामनिर्देश पूर्वक हवि को ग्रहण करना चाहिए।[९]

---

१. शा. बा. १.१.२२,

२. वही १.१.२.४,

३. वही १.१.२.६

४. यज्ञोवाऽअनः १ यज्ञोहिवाऽअन्, श.बा. १.१.२.७

५. शु. य सं. १.८

६. श. बा. १.१.२.९, तस्य वा एतस्यानसः। अग्निरेवधूरग्निर्हि वैधूरश्थय एन दहन्त्यग्निदग्धमिवैषां वहं भवत्यय यज्जघनेन कस्ताम्भी प्र ४३ गं वेदिरेवस्या सानीऽएव हविर्धानम्।

७. श.बा. १.१.२.५,
अत्राभिपधते। मच्छन्तां पञ्चेतिपञ्च वाऽइमा अङ्गुलयः पांक्तो वै भरास्तधजामेवैतदत्रदधाति।

८. श. बा. १.१.२.१७,
अथगृहणति—एवैतद्गृहणाम्य—शिवनोवाहुभ्यमित्यश्विन, वध्वर्यु पूष्णोहस्ताभ्यसिति पूषा भागदुधोऽशनं पाणिभ्यामुपनिधतांसत्यं देवा अनृतं मनुष्याभ्यास्तत्सत्यनै वैतद्गृहणान्ति।

९. श. बा. १.१.२.-१९
युद्धेव देवतायाऽआदिशति। यावतीभ्यो हवै देवताभ्यो हवीꣳषि गृहयन्तऽऋणमुहैव तास्तेन मन्यन्ते यदस्मैत तं कामं ꣳ समर्धयुर्यत्काम्या गृहणाति तस्माद्वै देवतायाऽ आदिशत्येवमेव यथापूर्ण ꣳ हविं ꣳषि गृहीत्वा।

हवि ग्रहण के अनन्तर शकट के ऊपर खड़ा होकर अध्वर्यु पूर्व की ओर देखता है, इसलिए कि, स्वर्ग, अहः देवता सूर्य सब यज्ञ के प्रतीक है अतः अध्वर्यु व्यापक स्वर्ग रूप यज्ञशाला की ओर दृष्टिपात करता है।[१]

हवि को आहवनीय एवं गार्हपत्य के मध्य में स्थापित करता है इसलिए कि मध्यस्थान को नाभि का प्रतीक बताया गया है।[२]

हवि एवं यज्ञ-पात्र के पवित्रीकरण के प्रतीक व्यंजना

पवित्र बनाने के लिए दो कुशाओं की आवश्यक्ता होती है।[३] जो स्वयं में पवित्र होता हुआ यज्ञ की प्रतीक है।[४] एक कुश पवित्र प्राण वायु पुरुष में प्राङ् अर्थात् पूर्व दिशा तथा एक प्रत्याङ्ग अर्थात् पश्चिम दिशा के रूप में प्रतिष्ठित हो रहा है, और ये दोनों प्राण तथा उदान की प्रतीक है[५] अतएव दो कुशाओं से पवित्र बनाई जाती है।[४] कुश तीन होते हैं, जो क्रमशः प्राणतत्व उदान तथा ग्यान की प्रतीक है।[६]

पवित्रीकरण के पूर्व जल का उत्पवन पवित्री के द्वारा की जाती है। अध्वर्यु पवित्रीयुक्त प्रोक्षणी जल को अपने हाथ में ग्रहण करता है। उस प्रोक्षणी युक्त जल को प्रतीक रूप में बताते हुए श्रुति कहती है कि।७,

(१) सोमपान करने के कारण आप को अग्रेपूः कहा जाता है।

(२) यजमान दक्षिणा आदि से यज्ञ को उत्तम प्रकार से अथवा विधि विधान से सम्पन्न होने के कारण आप सुधातु के प्रतीक है।

(३) अधिभूत के द्वारा अपने आध्यात्मिकि देवताओं को अधिदैवत मण्डल के साथ संयुक्त करने के कारण आप देवयुव है।

(४) दिव्यभागसम्पन्न दर्भ के सम्बन्ध से जल सुन्दर बन जाता है अतः इन्हें देवीरूप की प्रतीक बताया गया है।

(५) जल आगे चलकर समुद्र में मिल जाते हैं अतः इन्हें अग्रेपूवः का प्रतीक बताया गया है।

(६) वृत्र नामक राक्षस को मारने के लिए इन्द्र ने जल की सहायता ली थी अतः इन्हें युष्मा इन्द्रोप इत्यादि कहा गया है।

(७) वृत्र को परास्त करने के लिए जल के द्वारा इन्द्र को वरण किया अतः इन्हें "यूयंमिन्द्र वृणोध्वं" बताया गया है।[८]

---

१. श.ब्रा. वही अथ प्राङ्ग प्रेक्षते स्वरभविख्येषमिति परिवृत मिव वऽएतेदनो भवति तदस्यै तच्चक्षुः पाप्म गृहीतमिव भवति यज्ञोवैस्याह दैंवाः सुर्य्यस्तातस्वरे वैतदतोऽभिविपश्यति।

२. श. ब्रा. १.१.२-२३,

३. श. ब्रा. १.१.२.२३

४. तेवैद्वे भवतः १.१.३.२,

५. यज्ञियेस्थे इत्येवैदराह १.१.३.१

६. वही १.१.३.२

७. वही १.१.३.३, अथोऽपि त्रीणिस्युः नोहि तृतीयोद्दे-वेवभवतस्ताभ्यमेताः प्रोक्षणीरूपयताभिः प्रोक्षति तद्देवाताभ्यमुत् प्रुनति

८. श. ब्रा. १.१.३.७-१०,

कृष्णाजिन ग्रहण की प्रतीक व्यंजना

यज्ञ की परिपूर्णता के लिए मृर्गचर्म को लिया जाता है। अतः मृर्गचर्म को यज्ञ का प्रतीक बताया गया है[१] मृर्गचर्म में दिखाई पड़ने वाला शुक्ल एवं कृष्ण चिन्ह क्रमशः ऋक् एवं साम का प्रतीक हैं, और वभु अर्थात् भूरेरंग से सुशोभित यजु की प्रतीक है।[१]

इस तरह त्रयी विधा एवं रूप से परिपूर्ण मृगचर्म को यज्ञ का प्रतीक बताया गया है। कयोंकि बिना त्रयी विधा से यज्ञ अपूर्ण है अतः यज्ञ की सम्पन्नता के लिए त्रयी के स्वरूप इस कृष्णमृग चर्म का ग्रहण यज्ञ के लिए नितान्त आवश्यक है।[२]

दक्षिण हस्त में अनुरूप उलुखमुसल के लिए वामहस्त में मृगचर्म को ग्रहण करता है।—यज्ञ विध्वसंक असुर मृगचर्म में प्रवेश न करे, और ब्राह्मण निश्चय ही राक्षसों का विनाशक है अतः कृष्ण मृगचर्म को स्पर्श करते हुए पात्रों को ग्रहण करता है।—उलूखमूसल में हवि को मौन होकर डालना चाहिए, हवि रूप यज्ञ का सर्वात्मनाव्यप्ति हेतु उलूखल में हवि को डाला जाता है। हवि द्रव्य यज्ञ का शरीर का प्रतीक है।[३] हवि को डालने के वाद मौन व्रत को यजमान तोडता है अर्थात् वाणी यज्ञ का प्रतीक है अतः वाक्रूप यज्ञ को प्रतिष्ठित करता है।[४]

वाणी रूप यज्ञ के चार सुप्रसिद्ध महिमा में बताया है। एहि "ब्राह्मण" को बुलाने का साधन रूपी वाणी है। "आग हि" क्षत्रिय को बुलाने का साधन रूप वाणी है, "आद्रव" वैश्य को बुलाने की साधनरूप वाणी है। निष्कर्ष यह है कि ब्राहणामनानुगति वाक् ही यज्ञीय तम तत्व है यज्ञिय तत्व श्रेष्ठ होता है यही वाणीविवर्त का शान्ततंम स्वरूप है।[५]

हवि की कुटाई अग्निध्र करता है कुटे हुए अन्न को शूपमें डालता है और कूटे हुए हविद्रव्य के छिलके निकालकर उत्कर में फेंक दिया जाता है। पुनः हवि ग्रन्थि को पृथक रूप से वीनने का श्रम को करता है। इसलिए कि अन्तरिक्ष आकाश में जो भी कुछ प्रवाहित हो रहा है, वह वायु का प्रतीक है, और जो भी कुछ पृथक किया जाता है वह सब वायु से अलग किया जाता है—इस विधि को तीन बार किया जाता है इसलिए यज्ञ निश्चयेन त्रिवृत्त है।[६]

हवि पेषण एवं कपालोपधान दोनों कृत्य एक साथ किया जाता है—पुरोडाश यज्ञ का मस्तक के प्रतीक

---

१. श. ब्रा. १.१.४.१-२, अथ कृष्णाजिन मादन्ते—१ तस्य यानिशुकिलानि च कृष्णानि च लोमनि तन्यृयां च साम्रां च रुपं यानि शुक्लानितानि साम्रां रुपं यानि कृष्णानि तन्यृचां यदि वेतरथायान्येव कृष्णानि तानि साम्रां एवं यानि शुकलानि तन्यृयां यान्येव वभ्रणीव तानिय-जुषां रूपम्।

२. श. ब्रा. १.१.४.३ सैषा त्रयीविधा यज्ञः तस्या एतच्छि एकमेषवनस्तघात् कृष्णाजिनं भवति यज्ञस्यैव सर्वस्वं च तस्मात् कृष्णाजिनः रधि दीक्षन्ते।—१

३. श. ब्रा. १.१.४.४.८,

४. श. ब्रा. १.१.४.९.११

५.' वही १.१.४.१२ तानि वाऽ एतानि चत्वरिवाच एहीति ब्राह्मतण्स्यागहया द्रवेति वैश्यस्यच राजन्य वन्धोश्चा धावेति शुद्रस्थ सचदेव ब्राह्मणस्य तदा हैतद्दियजि ज्ञमम वा च शान्ततम् वेदेहति तस्या देहात्वयव ब्रूयात्।

६. श. ब्रा. १.१.४. १८-२४,

है और कपाल मस्तक सम्बन्धी खोपडी एवं हड्डीयों की प्रतीक है और दोनों मिलकर मस्तक के नामसे व्यवहृत अंग बनाया जाता है। अतः दोनों कृत्य एक साथ किया जाता है।[१]

पुरोडाश का आहवनीय अग्नि में पकाने के पूर्व तीन प्रकार के अग्नि को बाहर निकाला जाता है, जिसको क्रमशः आमात् , क्रयात् एवं देवयज अग्नि के नाम से जाना जाता है।[२]

कपालोपधान के प्रतीक व्यंजना : ——

कपाल स्थापना क्रम में सर्वप्रथम मध्यम कपाल को पश्चिम कि तरफ प्रोक्षण करके रखा जाता है, प्रोक्षण यजुके मन्त्र से किया जाता है यजुमन्त्र अग्नि का प्रतीक है, सर्वप्रथम अग्नि से सम्बन्ध करके राक्षस का विनाश किया जाता है। तदनन्तर पूर्वानुरूप, द्वितीय कपाल को रखते हुए, द्यु लोक को सुदृढ़ करता है द्वित्तीय कपाल द्यु लोक का प्रतीक है[१] इस तरह दक्षिण कि तरफ कपाल कि स्थापना करता है-इसलिए कि लोकत्रय के अलावा चोथा लोक नहीं है अतः वह शत्रु को दूर करता है और अन्त में समस्त दिशाओं के प्रतीक के रूप में शेष कपालों को मौन रूप से स्थापित करता है तथा उन दो अंगारों से आच्छादित कर देता है। वे अंगार भृग एवं अंगिरस ऋषि की तपस्या का प्रतीक है। अतः तेज को समाहित किरने के लिए अंगार को ढक दिया जाता है।[३]

पेषण विधि की प्रतीक व्यंजना : ——

जिस पाषाण से हवि की कुटाई की गई वह पत्थर शम अर्थात् कल्याण प्रद के प्रतीक है। नीचे के पाषाण खण्ड को पृथ्वी का प्रतीक बताया गया है। और उसके ऊपर रखे जाने वाला शमी (लोढा) वह धुलोक को थामने वाला है–अतः पृथ्वी एवं घु लोक में सम्बन्ध स्थापना हेतु शमी को रखा जाता है। इस तरह शमी को जिह्वा प्रतीक बताया गया है—जिह्वा के द्वारा ही किसी से बोला जाता है अतः शमी को थप थपाया जाता है।[४]

हवि को प्रेषण करते समय प्राण, अपान, ब्यान को पेषण करता है। इसलिए कि क्रमशः आयु तथा आंख के अमरत्व के लिए पींसता है व्यान के लिए अर्थात् लम्बी आयु के लिए अपान आंख की प्रतीक है इन आखों को जीवन चिह्न का प्रतीक बताया गया है। उदान उपभृत का प्रतीक है जिससे अमरता की प्राप्त होती है।[५]

"प्राणयत्वा" इत्यादि मन्त्र बोलकर हवि को पीसने का कारण यह है कि हवि को कूट कूट कर निर्जीव बना दिया जाता है। टूटे हुए तथा पिष्ठान्न को मर्त्य का प्रतीक बताया गया है न कि वह जीव है अतः जब तक उसमें पंच प्राण स्थापित नहीं कर दिया जाता है तब तक वह हवि निर्जीव और मर्त्य का प्रतीक रहता है।

---

१. वही १.२.१.३-५
२. १. २.१.६-१२
३. वही १.२.१.१३
४. शब्रा १.२.१.१४-१६.
५. वही १.२.१. १७-२१.

परन्तु अमृत भाव से युक्त होता हुआ देवताओं के लिए हवि बन जाता है। अतः देवताओं के निर्मित मर्यादा रहित निर्जीव हवि को सजीव करने के लिए प्राण यत्वा इत्यादि मन्त्र से हवि को प्रेषण किया जाता है और इस हवि में चक्षु आयु, एवं अमरता का समावेश होता हुआ देवताओं के लिए जीव बन जाता है, क्योंकि सजीव हवि को देवता ग्रहण करते हैं उस हवि में पंच प्राण स्थापित करने के लिए **प्राणयात्वा** इत्यादि मन्त्र से हवि को पीसा जाता है।[१]

हवि पेषण के अनन्तर पीसे गये हवि में उपसर्जनी नामक जल को गिराया जाता है, वह जल रस का प्रतीक है और हवि औषधि का प्रतीक है, जल रेवती छन्द की प्रतीक है तथा हवि अर्थात् (औषधि) जगती छन्द के प्रतीक है। तदनन्तर हवि को गूंथा जाता है इसलिए कि यजमान को भी अन्न एवं सन्तान की प्राप्ति होवे, क्योंकि यह हवि की, अन्न, एवं सन्तान की प्रतीक है। गूंथे हुए हवि को जिस तरह ब्रह्मा को किया गया इस समय भी तत् देवताओं के लिए हवि का दो भाग किया जाता है—तदनन्तर अग्निध्र आज्य को अग्नि के ऊपर रखता है—आज्य यज्ञ की आत्मा है, जिसको यज्ञो वै आत्मा से नाम से बोला जाता है। आज्य रस का प्रतीक है अग्नि के ऊपर रस के प्रतीक रूप में स्थापना करता है, उर्जेत्वा कह कर आज्य को अग्नि से हटा दिया जाता है—घी हटाते समय वह रस के प्रतीक रूप में अर्थात् वृक्षों में रस की अभि वृद्धि हो—अतः यहाँ पर उर्जेत्वा का सम्बोधन किया गया गूंथे गये हवि को पाकार्थ कपालों के ऊपर फैलाया जाता है, यह स्थापना क्रिया से यजमान को आशिर्वाद प्राप्त होता है, पुरोडाश को अधिक फैलाना अशुभ की प्रतीक है—जल के द्वारा हवि को फैलाया जाता है, जल शान्त का प्रतीक है और जल के द्वारा सम्पूर्ण यज्ञ शान्तमय हो जाता है—राक्षस आदि की दृष्टि न पडे इसलिए पुरोडाश को भस्म से अच्छादित कर देता है। पात्रों को धोकर तत् तत् देवताओं के लिए जल को प्रदान करता है।[२]

पुरोडाश मीमांसा को बताते हुए महर्षि याज्ञवलक्य का यह कहते है कि पुरोडाश पशु की प्रतीक है। पशु के आलम्भन से जो लाभ वही पीसे गये हवि से होता है, अतः पांक्त यज्ञ की प्रतीक है अर्थ व पांच पशु—पुरोडाश का पीठ को जल , उपसर्जनी नामकजलह मांस पकने के बाद हड्डी, जब उस पर गीला की जाती है वह मज्मा का प्रतीक बन जाता है। इस प्रकार वह हवि पांच पशु का प्रतीक बन जाता है।[३]

वेदि संरचना के प्रतीक व्यंजना : ——

किसी भी यज्ञ को सम्पादन करने के लिए वेदि का निर्माण अत्यन्त आवश्यक है—वेदि निर्माण के पूर्व स्ताम्बयजुर्हरण कृत्य असुरों में नाश हेतु किया जाता है।

यज्ञ के मूल प्रतिष्ठ वेदि है अतः सर्वप्रथम वेदि का निर्माण किया जाता है, वेदि का निर्माण जहां पर होंना है वहीं पर वेदि की कल्पना करते हुए निंश्चित स्थान पर पूर्वपरिग्रह तथा उत्तर परिग्रह के नाम से रेखा खींची जाती है। जो वेदि खनने से पूर्व तथा वाद में तीन तीन रेखा खींची जाती है। इस की प्रतीक त्र्यंजना

१: श. ब्रा. १.२.१.२१ सयदाह। प्राणयत्वोदानयत्वेति तत् प्राणदानौ दयाति व्यानायत्वेति तद्व्यानं दधति दीर्धमनु प्रसितिमायुषेधतमिति तदार्युदधति देवोव: सविता हिरण्यपाणि: प्रति गृत्राभ्णत्वापिन्द्रेण पाना संपृति गृहीतान्य सत्रिति चक्षुपेत्वेति तच्चक्षुदर्थात्येतानि वै जीवतो भवत्येवमु हैत तज्जीवमेव देवाना υ हविर्भवत्यभृतमृतानां तस्मादेवपिष्ठि पिबन्ति पिष्टान्य चीन्धते कपालानि।

२. श. ब्रा. १.२.२.२-२२,

३. वही १.२.३.१-१९

यह है कि षडपरिग्रह की समिष्टि ही षडऋतु की प्रतीक है और षडऋतु ही संवत्सर है, संवत्सर ही मन्त्र एवं व्याहृति का प्रतीक है और संवत्सर यज्ञीय प्रजापति का प्रतीक है।[१]

परिग्रह कृत्य को करने के पूर्व स्फय नामक यज्ञ पात्र से भूमि की सफाई की जाती है और उसी स्फय पात्र से वेदि निर्माण के स्थान को खोदा जाता है, स्फय वज्र का प्रतीक है और वज्र के द्वारा ही इन्द्र ने वृत्र का वध किया था अतः स्फय को शत्रुनाशक में प्रतीक बताया गया है। पूर्व परिग्रह के तीन रेखा को गायत्री जगती, त्रिष्टुभ छन्द का प्रतीक है व जो क्रमशः दक्षिण पश्चिम, उत्तर की ओर खींची जाती है। पुनः बाद में तीन रेखा खींची जाती है जिसको उत्तर परिग्रह कहा जाता है और वह शिव, सुखद, पयस्वती की प्रतीक है। पूर्व की दिशा अग्नि की प्रतीक है अतः वह स्वतः ही विद्यमान है इसलिए पूर्व की तरफ रेखा नहीं खींची जाती है।[२]

वेदि स्त्री की प्रतीक है, अग्नि पुरुष का प्रतीक है, वेदि पश्चिम की ओर चौड़ी तथा बीच में पतली तथा पूर्व की ओर चौडी होनी चाहिए ऐसे वेदि को सुन्दर स्त्री की प्रतीक बताया गया है। अर्थात् नीचे का भाग भारी कन्धो के निकट कुछ कम चौड़ी और कमर पतली होना चाहिए। वेदि पूर्व दिशा की ओर तथा पश्चिम दिशा की ओर ढालू होना चाहिए इसलिए दिशा क्रमशः देवष्वं मनुष्य के प्रतीक बताया गया है, तथा कूंड को दक्षिण दिशा की ओर हटा देना चाहिए। यह पितरों की दिशा होती है। वेदि निर्माण के बाद वेदि को लिपा जाता है वेदि को लिपने के पूर्व उस जमीन को चांद के काले धब्बे के प्रतीक के रूप में लिया गया है। अतः लोग कहते हैं कि चन्द्र लोक में पृथ्वी का यज्ञ स्थान है अतः देवयज्ञ इस पृथ्वी पर किये जाते हैं।[३]

स्रुक् सम्मार्जन की प्रतीक व्यंजना : ––

यज्ञ पात्र के आगे के भाग को प्राण तथा भीतर के भाग को उदान की प्रतीक बताया गया है, प्राण तथा उदान की प्राप्ति के लिए स्रुक् संम्मार्जन किया जाता है। स्रुवा पुरुष की प्रतीक है और स्रुक् स्त्री की प्रतीक है।

पत्नी सन्नहन की प्रतीक व्यंजना : ––

यजमान पश्चिम से पूर्व की ओर बढ़ता हुआ स्वयं में प्रतिष्ठित रहता है। अतः पत्नी की अभाव में पश्चिम की दिशा में रहना असम्भव है, न हीं यज्ञ का विस्तार होगा अतः यज्ञ की विस्तार के लिए पत्नी संयोग करना नितान्त आवश्यक है। यजमान पत्नी की कमर को रस्सी से कसता है पत्नी यज्ञ का पिछला भाग है इसकी प्रतीक व्यंजना यह है कि—इस कृत्य से यज्ञ को जोडना है।[४]—पत्नी के बिना यज्ञ सर्वथा अपूर्ण है, यज्ञ के

---

१. श. ब्रा. १.२.५. १२-१३
सवै त्रिः पूर्व परिग्रहं परिगृहणति त्रिरुत्तरं तत् षड कृत्वः षड् वाऽऋतवः संवत्सास्य संवरसरो यज्ञःप्रजापतिः।

२. श. ब्रा. १.२.४ १-७

३. वही १.२.५-१५-१८

४. पाणनीय सि. कौ. पत्युनों यज्ञ संयोगे।

द्वारा सृष्ट रूप प्रजा को उत्पन्न करने की इच्छा रखने वाला प्रजापति को अपना शरीर पति पत्नी के रूप में दो भागों में विभक्त करना पड़ता है और मिथुन भाव से ही विराट प्राण को उत्पन्न करता है।[1] संवत्सर रूपी यज्ञ देवताओं को प्राप्त करने के लिए यज्ञ कर्ता यजमान का सबसे पहले यज्ञ रुप बनना पड़ेगा और यज्ञ के स्वरूप को बनने के लिए यज्ञ कर्ता यजमान पत्नी को यज्ञ में भोग करना पड़ेगा।[2]

रस्सी मूँज की होती है उसको वस्त्र के ऊपर बांधा जाता है—वस्त्र औषधि का रुपान्तर है, रस्सी वरुण पाश की प्रतीक है, और गांठ वरुण देवता का प्रतीक है।[3]

ग्रन्थि रूपपाश बन्धन के अधिष्ठाता बरुण बल है और दक्षिण -दक्षिण उत्तर भाग में गांठ न लगाकर बांधा जाता है इसलिए कि योकत्र एवं स्थान में रुका नहीं रहे और पत्नी का योग योक्त्र से रहता है योक्त्र को दक्षिण कि तरफ मोड दिया जाता है और जिस के द्वारा अग्नि मर्त्य यज्ञ विष्णु यज्ञ में प्रतिष्ठित है, अतः उपरोक्त भावना को ध्यान में रखते हुए दक्षिणपाश के अग्रभाग को ऊपर की ओर मोड दिया जाता है। तदनन्तर यजमान पत्नी आज्य को देखती है, पत्नी स्त्री और आज्य वीर्य्य की प्रतीक है। इस प्रकार दोनों में सम्पर्क स्थापित करने के लिए संतति प्रजनन करता है। आज्य अग्नि के जीभ की प्रतीक है, और आज्य समस्त यज्ञ के लिए सुहू है। अर्थात् सुन्दर है। आज्य एवं वेदि के दोनों यज्ञ के प्रतीक है, अतः यज्ञ से यज्ञ को प्राप्त कराना है अतः वेदि के ऊपर आज्य को रखता है।

आज्य ग्रहण कर्म की प्रतीक व्यंजना : ——

यज्ञ का पूर्णता के लिए आज्य को लिया जाता है। आज्य स्वयं ही यज्ञ है। जैसी स्थिति आधि दैविक यज्ञ का वही स्थिति पार्थिव शरीरात्मक आध्यात्मिक यज्ञ का है "पुरुषो वैयज्ञः" इथादि श्रुति" वाक्य से यज्ञ का वितान करते हुए कहते हैं कि यह पुरुष मानव प्रयत्न के साध्य यज्ञ पुरुष मानव का आकृति वाला है अतः यज्ञ को यज्ञ पुरुष कहा गया है।[4]

यज्ञ पुरुष इसलिए कहा गया है कि जिस प्रकार मानव शरीर की संरचना की गई है उसी तरह यज्ञ की संरचना भी की गई है। पंच भौतिक शरीरपिण्ड यज्ञीय स्थान है भूतात्मा यज्ञ कर्ता यजमान है वैरवटा नामाग्नि होता है श्वास एवं प्रश्वासात्मक वायु "अध्वर्यु" है। हृदय में स्थित प्रज्ञान मय "ब्रह्मा" है कण्ठ स्थित तेज नाडी में प्रतिष्ठित उदान प्राण उद्गाता है। मुलाधार मण्डल "गार्हपत्य कुण्ड है" उपान वायु गर्हिपत्याग्नि है, शिरोमण्डल आहवनीय कुण्ड है। प्राणग्नि आहवनीय, केश, लोम, बर्हि, अस्थि समूह, अभिध द्रव, द्रव्य, प्रणीता व प्रोक्षणी है। अन्न आहुति द्रव्य है, दक्षिण भूजा दक्षिणपाद है—वामभुजा बामपाद "उपभृत है" मध्याङ्ग ध्रुवा और सर्वाङ्ग

---

१. मनुस्मृति १-३२
द्विधा कृतात्मनो देह मर्देन पुरुषोऽभवत।
अर्द्धेन नारी तस्यां साविरुनमेसृजत् पशुः॥

२. तै. ब्रा. ३-३.४, २२.२.६, २१ ११ ३.१.१२
अथोअर्द्धोवाएव आत्मनः मपत्नी।
अयज्ञ वा एवः यो पत्नी कः॥

३. १. २. १. ७. १५

४. श. ब्रा. १.३.२.१-१ "पुरुषो वैयज्ञः"

शरीर में चैतन्यता प्रदान करने वाली स्रुवा है। इस प्रकार हमारे पुरुष संस्था का यज्ञ स्वरूप का ही प्रतिरूप कहा गया है। ऐसा यज्ञात्मक पुरुष की तरह यज्ञात्मक पुरुष के आधार पर ही वैध यज्ञ का वितान किया गया है। अतएव वैध यज्ञ की यज्ञ पुरुष का पुरुष कहा जा सकता है।[1]

जुहू द्यु लोक का, उपभृत अन्तरिक्ष, ध्रुवा को पृथ्वी को प्रतीक बताया गया है। पृथ्वी से समस्त लोक की उत्पत्ति होती है अतः ध्रुवा से यज्ञ की उत्पत्ति हेतु बताया गया है। स्रुवा प्रवाहित वायु है, वायु का प्रवाह लोक हित में अच्छा होता है अतः स्रुवा से स्रुचों तक अर्थात् वायु से पृथ्वी लोक तक जाता है। यज्ञ का उद्देश्य देवताओं के लिए एवं ऋतुओं के लिए छन्दों के लिए होता है। हवि सोम राजा को हवि, पुरोडाश अन्य देवताओं के लिए दिया जाता है।[2]

स्रुव में लिए जाने वाला आज्य ऋतु एवं छन्द के लिए जुहू के लिए जानावाला आज्य ऋतुओं के प्रतीक रूप में लिया जाता है और प्रमाणों के लिए भी आज्य को लिया जाता है। प्रमाण ऋतु की प्रतीक है। उपभृत में आठ बार छन्द के प्रतीक रूप में लिया जाता है, स्रुवा में चार बार समस्त देवताओं के प्रतीक रूप में, जूहू में लिये जाने वाला आज्य खाने वाला परिमित स्वरूपता के लिए उपभृत में आठ बार खाद्य पदार्थ अपरिमित अर्थात् प्रचुर मात्रा में अन्न की प्राप्ति के लिए लिया जाता है। परन्तु वास्तविक समृद्धि वही है जिसमें भोक्ता संख्या में कमी हो किन्तु बलवीर्य समृद्धि के लिए भोक्ता स्थानीय जूहू में चार बार आज्य को ग्रहण करते हुए मांत्रा की वृद्धि की जाती है। वहाँ भोग्य को निर्बल बनाने के लिए भोग्य स्थानीय उपभृत में आठ बार आज्य ग्रहण करते हुए भी मात्रा का ह्रास किया जाता है।[3]

जुहू में लिये जाने वाला घृत को जुहू से ही आहुति दी जाती है। किन्तु उपभृत में गृहीत आज्य को जुहू से ही आहुति दी जाती है, इसकी प्रतीक व्यंजना यह है कि अन्न अन्नाद की स्वरूप की रक्षा के लिए आज्य लिया जाता है। उपभृत प्रजास्थानीय है, प्रजा का बल राजा का बल होता है—यदि प्रजा स्वतन्त्र होकर राजा के समस्त सम्पत्ति को खर्च कर देता है तो राज्य अर्थहीन हो जाएगा और राजस्व प्रजा से दोनों के स्वरूप खो जाएगा। और उसे धर्म दण्ड दिया जाएगा, एक स्थान पर प्रतिष्ठित ध्रुवा ब्रह्म बल है, जूहू "क्षत्रबल" है उपभृत "वैश्य" बल है और पशु सम्पति शुद्र भाग का प्रतीक है।[4]

राष्ट्र की अभ्युदय के लिए, ब्रह्म बल क्षत्रबल, और वैश्यबल शुद्र बल की आवश्यकता होती है। यह तभी सम्भव है जब चारों बलों में सामजंस्य रहे अतः इन सबकी समृद्धि के लिए उपभृत में संग्रहित आज्य को भी जुहू से ही दी जाती है। जुहू में चार बार आज्य चतुरस्त्र गायत्री छन्द के प्रतीक रूप में लिया जाता है, उपभृत में आठ बार आज्य, त्रिष्टुप तथा जगती छन्द के लिए लिया जाता है ध्रुवा में लिये गये आज्य अनुष्टुप छन्द से सम्बन्ध है, उक्त चारों छन्दों के मूल अनुष्टुप छन्द है, अनुष्टुप को वाणी का प्रतीक बताया है, बस वाणी के द्वारा बषट्कार के उच्चारण से समस्त प्रजा उत्पन्न होते हैं। ध्रुवा से समस्त यज्ञ उत्पन्न होता है अनुष्टुप पृथ्वी है, पृथ्वी से समस्त जगत उत्पन्न होता है—अतः ध्रुवा से ही समस्त यज्ञ उत्पन्न होते हैं और ध्रुवा से ही समस्त यज्ञ काल सम्पन्न होते हैं। इसी क्रम में आज्य को वज्र प्रतीक बताया गया है। इसलिए जब तक वज्ररूपी आज्य

---

१. श. ब्रा. १.३.२.२-४
२. वही १.३.२-५
३. श. ब्रा. १.३.१.७ १५
४. श. ब्रा. १.३.१.७-१६

को ग्रहण नहीं कर लेता तब तक वह देवों के प्रियतम धाम और देवों के यज्ञ का अजेय स्थान नहीं प्राप्त कर सकता है अतः आज्य को वज्र का प्रतीक बताया गया है।[१]

जुहू, उपभृत एवं ध्रुवा में आज्य को लेते समय एक बार समन्त्रक शेष मौन के रूप में लिया जाता है, कतिपय विद्वानों के अनुसार तीन बार मन्त्र बोलकर लेना चाहिए क्योंकि यज्ञ त्रिवृत्र की प्रतीक है। परन्तु यज्ञ व आज्य के अनुसार एक बार मन्त्र बोलकर लिया जाता है। तीनों पात्रों में आज्य लेने से वह स्वतः ही तीन बार हो जाता है।२

इघ्म वर्हि, आदि को प्रोक्षण किया जाता है अर्थात् समस्त यज्ञीय सामग्री यज्ञ के स्वरूप बन जाए अतः इन सब वस्तुओं के प्रोक्षण किया जाता है। यद्यपि सम्पूर्ण यज्ञीय वस्तु स्वयमेव पवित्र है, फिर भी इसमें मेध्य भाव का अभाव है—मेध्य धर्म को प्राप्त करने के लिए प्रोक्षण कर्म किया जाता है। अवशेष जल को औषधियों में जड़ में डाल दिया जाता है, यह कहकर अदिति रसवान होवे, पृथ्वी स्वयं ही अदिति है।३

तदनन्तर प्रस्तरमुष्टि को खोलता है। प्रस्तर को बांधे गये अग्रभाग विष्णु की चोटी की प्रतीक है। क्योंकि यज्ञ ही भगवान विष्णु है और यह ग्रन्थि यज्ञ की चोटी है। प्रस्तर को लोक के प्रतीक बताया गया है। अतः प्रस्तर को वेदि के ऊपर बिछाता है और प्रस्तर समूह को वेदि के दक्षिण कोणों में रखा जाता है। इसलिए यजमान पत्नी बिना कष्ट के बच्चा जन्म दे सके —— ये प्रस्तर यजमान के कमर के प्रतिनिधि है कमर को कपडे से ढक जाता है अतः वर्हि को बिछाकर वेदि के ऊपर लोम का प्रतिरोपण करता है। अतः वर्हि को बिछाया जाता है।[४]

सर्वप्रथम वेदि को स्त्री का प्रतीक बताया गया है। वेदि के चारों तरफ यज्ञ को सम्पादन करने के लिए ब्राह्मण बैठे हुए हैं, ब्राह्मणों के समान वेदि अर्थात् स्त्री को नग्न नहीं बैठना चाहिए। लोकाचार भी यही कहता है। किसी भद्र पुरुष के मध्य में स्त्री को सर्वाङ्ग शरीर दृढ़ करके बैठना चाहिए। अतः कुश को बिछाकर वेदि रूपी स्त्री को ढ़क दिया दिया जाता है। जितनी वेदि उतनी पृथ्वी है—वर्हि, ओषधि, का प्रतिरूप है। मानो पृथ्वी में ओषधी की स्थापना करता है। कुशँ को तीन बार बिछाया जाना चाहिए। क्योंकि यज्ञ स्वयमेव त्रिवृत्र है।५

अग्नि का प्रबलीकरण की प्रतीक व्यंजना : ——

अग्नि को भलीभाँति प्रज्वलित करना अग्नि प्रबलीकरण क्रिया है।

आहवनीय अग्नि यज्ञ का मस्तक है, प्रस्तर चोटी की प्रतीक है। मानो मस्तक (आहवनीय) अग्नि प्रस्तर अर्थात् चोटी को धारण करता है। अग्नि प्रज्वलन के लिए चारों तरफ तीन समिधाओं को रखा जाता है वह

---

१. श. ब्रा. १.३.२.१६-१७,

२. वही १.२.२.१८,

३. वही १.३.३.१-४
अथ या प्रोक्षणयः परिशिष्यन्ते ताभिरपोधीनां मूल पानेतितां इमा आद्रमूला ओषधियस्तस्मा घपि शुष्काणयग्राणि भवन्त्या द्राणयेव मूलमानिभवन्ति।

४. श. ब्रा. १.३.३.५-७,
अथ विस्रस्य ग्रन्थिम् पुरस्तात् सपटतरं गृहणन्ति विष्णुस्तुपोऽस्तेति—यज्ञोवै विष्णुस्तस्येय शिखास्तुप—।

५. वही १.३.३-८-१०,

समिधा पलाश की होना चाहिए, पलाश ब्राह्मण का प्रतिरूप है, यदि पलाश समिधा न हो तो विकृत कार्यमय आदि समिधा से कार्य को सम्पन्न किया जा सकता है।[१]

समिधा हरी होनी चाहिए, हरापन जीवन का प्रतीक है। जिसके द्वारा शान्ति का संचार होता है, प्रथम परिधि को अग्नि से पश्चिम तक विश्वकल्याण के प्रतीक रूप में, दक्षिण परिधि को इन्द्र देवता के प्रतीक रूप में, दक्षिण परिधि को भुजा के प्रतीक रूप में उत्तर की तरफ परिधि को इडा, वरू की प्रतीक रूप में स्थापना करता है।[२]

नियमानुकूल परिधि की स्थापना करने के बाद अग्नि की प्रार्थना किया जाता है कि आप पूज्य अग्नि है।[३]

परिधि स्थापना के बाद समिधा के द्वारा अग्नि का प्रज्वलन किया जाता है—प्रथम समिधा को गायत्री छन्द के प्रतीक, रूप में तथा देवताओं के आहवानार्थ उस प्रकाशस्वरूप को हम प्रज्वलित करते हैं, तथा गायत्री छन्द जलकर दूसरे छन्दों को जला देती है और दूसरे छन्द जलकर देवताओं तक ले जाते है।[४]

द्वितीय समिधा को वसन्त ऋतु के प्रतीक रूप में, वसन्त ऋतु सन्तान को उत्पन्न करती है और औषधियां को पकाती है। यह प्रार्थना करता है कि सूर्य तेरी पूर्व की ओर रक्षा करे और अन्य बुराइयों से दूर रखे, यद्यपि परिधियां चारों ओर रक्षा के लिए रखी जाती है। पूर्व दिशा की रक्षा सूर्य करता है इसलिए कि कहीं पूर्व की तरफ से दुष्ट राक्षस यज्ञ में प्रवेश न करलें, सूर्य दुष्ट राक्षसों को नष्ट करने वाला है।

तृतीय समिधा को अनुधाज के प्रतीक रूप में ब्राह्मण को प्रज्वलित करता है—अग्नि प्रज्वलित होने के बाद ब्राह्मण देवों तक हवि ले जाते हैं।[५]

अग्नि प्रज्वलन के वाद कुशों से आच्छादित वेदि के पास आता है दो कुशों को लेकर वेदि के ऊपर अलग अलग बिछाता है जिसको विधृति नाम से कहते हैं। विधृति सविता देवता के भुजाओं की प्रतीक है, प्रस्तर या चोटी इन कुशों को भौहें की तरह बिछाता है। दोनों प्रस्तर क्षत्रिय एवं वैश्य के प्रतीक है, अतः क्षत्रिय एवं वैश्य को अलग अलग स्थापित करता है। तदनन्तर जुहू आदि समस्त पात्रों को प्रस्तर के ऊपर रखता है, जुहू क्षत्रिय की प्रतीक है, अतः प्रस्तर के ऊपर जुहू को रखता है और स्रुव वैश्य की प्रतीक है अतः उन सब को नीचे रखा जाता है।[६]

हवियों को स्पर्श करता है यह कहकर कि ये हवियां ऋतुओं के घर में है। यज्ञ ऋतु की योनी है, यज्ञ स्वयं ही विष्णु है अतः यह प्रार्थना करता है कि यज्ञ से यज्ञ की रक्षा होवे यह प्रार्थना विष्णु भगवान के प्रतीक रूप में किया गया है।[७]

---

१. श. ब्रा. १.३.३.१२, अथाग्नि कल्पयति। शिरो वैयज्ञ स्याहवनीयः पूर्वाऽर्धोऽवैशिरः पूर्वार्ध मेवैतघज्ञ कल्पयत्यु पर्युपरि प्रस्तरं धारयन् कल्पत्ययं वैस्तुपः प्रस्तर एतमेवास्मि म्नेताप्रतिदधांत तस्मादुपर्युपरि प्रस्तरं धारयन् कल्पयति।

२. श. ब्रा. १.३.३.१९-२० ब्रह्मो वै प्रलाशः।

३. श. ब्रा. १.३.४.,

४. वही १. ३.४.६

५. श.ब्रा. १.३.४.७-९,

६. वही १.३.४.१०, १४, १५, १६

७. श. ब्रा. १.३.४.६.

सामधेनी अनुष्ठान की प्रतीक व्यंजना : —

दर्शपौर्णमास इष्टि में सामधेनी एक विशेष कर्म है इसमें होता सामधेनी ऋचाओं को बोलकर अग्नि को प्रज्वलित करता है।[१]

सर्वप्रथम होता गायत्री छन्द के मन्त्र को बोलता है, गायत्री अग्नि का छन्द है अतः अपने छन्द से ही अग्नि को प्रज्वलित करता है। गायत्री ब्रह्म एवं वीर्य की प्रतीक है अतः वीर्य से अग्नि को प्रज्वलित करता है।[२]

यज्ञ त्रिवृत होने से सामधेनी मन्त्र को तीन बार बोला जाता है।[३] सामधेनी मन्त्रों की संख्या १५ होती हैं, १५ वां अङ्क वीर्य की प्रतीक है, वज्र वीर्य की प्रतीक है अतः वीर्य रूपी वज्र से यज्ञ को समन्वित करता है। एक महीने में दो पक्ष होते हैं जिसमें कि १५ दिन और १५ रातें होती हैं। इस तरह १५ दिन और १५ रात वर्ष पाख-पाख में समाप्त हो जाता है। १५ गायत्री मन्त्र में ३६० अक्षर होते हैं, एक वर्ष में ३६० दिन होता है अतः वह सामधेनी ऋचा से वह दिनों को प्राप्त करता है।[४]

विशेष उद्देश्य से १७ सामधेनी ऋचाओं का उच्चारण किया जाता है। इसलिए कि वर्ष में १२ महीने होते हैं और पांच ऋतुऐं होते हैं, प्रजापति भी सत्रह होते हैं, प्रजापति सम्पूर्ण है अर्थात् सत्रह सामधेनी से यजमान सम्पूर्णता को प्राप्त करता है।[५]

कतिपय विद्वानों के अनुसार इक्कीस सामधेनी मन्त्र बोलना चाहिए। १२ मांस, पांच ऋतु, तीन लोक और इक्कीसवां सूर्य का प्रतीक है जिसके द्वारा गति और प्रतिष्ठा की प्राप्ति होती है क्योंकि सामधेनी स्वयं गति एवं प्रतिष्ठा है।[६]

सामधेनी में प्रथम मन्त्र को एवं अन्तिम मन्त्र को तीन बार बोलना चाहिए, लोक तीन होते हैं, मनुष्य में तीन प्राण होते हैं अतः तीनों प्राणों को तानते हुए जीवन को बढ़ाता है। मन्त्र को बिना तोड़े पढ़ा जाता है इसलिए कि एक एक पद को प्राप्त करने वाला है, गायत्री प्राण है, गायत्री मन्त्र को पढ़कर पूरे प्राण को सम्पादन करता है अतः बिना सांस के मन्त्र को पढ़ना चाहिए।[७]

---

१. श. ब्रा. १.३.५.१

२. वही १.३.५.४
अग्नयरन्वाह स्वयैवैनमेत देवताया समिन्धे गायत्रीरन्वाह गायत्र वाऽआग्नेश्छन्दः स्वे नैवेनमेतच्छुन्दसा समिन्धे वीर्य गायत्री ब्रह्म गायत्री वीर्य नैवैन मेतत समिन्धे।

३. श.ब्रा. १.३.५.६ यज्ञाह्नि वृद्धद्यनास्तस्मात्रि प्रथमा मन्वाह त्रिरुत्तमम्।

४. १.३.५.५-९ ता पंचदश सामधेन्यः सम्पघन्ते वज्रोर्वाय्य पञ्चदश वै मेवैतन् सामधेनीरभि सम्पादयति। तस्मादेता स्वन्च्वमानासु यं द्विष्यान्मऽगुणाभ्यायवाधेतेत महममुमववकाधऽइति तदेनमेतन वज्रेण वंवाधते। पंचदशवा अर्द्धमासस्यरात्रयः। अर्द्धमासशोथोवैसवत्सरो भवन्नेति तद् रात्री समाप्नोति।

५. श. ब्रा. १.३.५.१०-११
सप्तदश सामधेनीः। तस्यै देवतायै यजति यस्याऽइष्टि निर्वपति द्वादश वैमासाः संवत्सतस्य पञ्चार्तव एव एव प्रजापतिः सप्तदशः सर्व वै प्रजापतिस्तन सर्वेणैव तं काममन पराधं राध्नोति यस्मैकामामेष्टिं निर्ववत्युपांशु देवता यजत्य निरुकतं वा उपांशु सर्व वाऽअनिरुक्तं तंतत सर्वेवैवतं कामनुपराधं राध्नेति यस्यै कामयेष्टि निर्ववत्यष इष्टेरूपचारः।

६. वही. १.३.५.१३, एक विशंति सामधेनी अपिदर्शपूर्णमासयोःरनुब्रूयादित्याहु द्वादश वैमासाः संवत्सरस्य पञ्चविस्त्रयो लोकान्त दि शतिरेऽएकेकं विठं शोय एष तपति सैषा गतिरेषा प्रतिष्ठा तदेनांगति मेतां प्रतिष्ठां गच्छति तस्मात् एक विशंति मनुब्रूयान्।

७. वहीं १.३.५. १४-१५,

सामधेनी मन्त्र में बोले जानावाला "हिङ्ग" होता का प्रतिरूप है, और प्रणव साम का प्रतीक है अर्थात् ओम के अच्चारण मात्र से ही समस्त यज्ञ सामरूप हो जाता है।

प्राण हिङ्कार है जिसका उच्चारण आ एवं प्र के बाद बोला जाता है "आ" देवताओं को हवि में जाने वाला गायत्री है। और "प्र" देवताओं से लौटती हुई मनुष्यों की रक्षा करनेवाली गायत्री है। इसका एक कारण यह है कि "अ" से वीर्य को सींचा जाता है और "प्र" से सन्तान उत्पन्न होती है।

वस्तुतः संसार में हवि अपने स्थान को जाती है और अपने स्थान को लौटती है अतः "आ" को सर्वप्रथम उच्चारण किया जाता है "आ" से आना "प्र" से जाना यही होता है।[१]

प्रथम सामधेनी से अन्न की प्राप्ति होती है[२], द्वितीय सामधेनी को अग्नि यज्ञ की वृद्धि के लिए बोला जाता है।[३]

यद्यपि सामधेनीयों को किसी न किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए बोला जाता है, जो किसी न किसी प्रतीक के रूप में भी दिखाई पड़ता है।

निगदानुवचनम् : —

अग्नि की प्रशंसा ही निगदानुवचन है जिसमें मुख्यतः अग्नि की स्तुति की गई है, जिसमें तीन विशेषण बताया गया है, जिसको क्रमशः ब्राह्मण को भरत नामक अग्नि के रूप में स्तुति किया गया है, अग्नि स्वयं ही अग्नि की प्रतीक है अतः अग्नि को ब्राह्मण कहा देवताओं के पास हवि को ले जानेवाला अतः अग्नि भारत है जिसके द्वारा प्रजाओं का पालन पोषण किया जाता है।[४]

आर्षेयानुवचनम्[५] : —

अग्नि को आर्ष होता कहा गया है जिसके द्वारा पुराने से लेकर नवीन ऋषियों का वरण करता है प्रस्तुत प्रकरण में अग्नि को आर्ष होता बताकर—भग इत्यादि विशेषणों से स्तुति किया गया है। जिसको क्रमशः देवताओं के द्वारा सर्वप्रथम प्रज्वलित होने वाला, ऋषियों से स्तुति किये जाने वाला, विप्रों से प्रसन्न किया गया, कवियों से प्रशंसित, वेदों से प्रशंसित यज्ञों के प्राणी और अध्वर के रथी, राक्षस जिसको रोक नहीं सकता देवताओं के खाने की थाली या मुख्यपात्र, देवताओं के पीने योग्य चमस देवताओं के चारों तरफ में यजमान को पास बुलाने वाला सोम को लानेवाला अग्नि को लाने वाला, देवताओं को लाने वाला होता के लिए अग्नि को बुलाओ तथा अपनी महिमा को लाओ वाणी ही अपनी महिमा है अर्थात् आप अपनी वाणी को लाइए हे जातवेद अग्नि देवताओं को लाकर यज्ञ को सम्पादन करें जिससे यथा विधि याग सम्पन्न हो सके।[६]

---

१. श. ब्रा. १.३.५.१-८

२. श. ब्रा. १.४.१.९

३. श. ब्रा. १.४.१.२२, तद्वेति भवति वीतयऽइति समन्तिक मिव हवाऽइमेऽग्नेलोका–।

४. श. ब्रा. १.४.२.१-२
अग्ने महार्त्त असि ब्राह्मण भारतेति। ब्रह्म हयग्निस्तस्मदाह ब्राह्मणेति भारतत्येष हि देवेभ्यो हव्यं भरति तस्माद् भरतोऽग्निरित्याहुरेष उवाऽइमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा विभर्ति तस्माद्वेवाह भारतेति।

५. श. ब्रा. १.४.२.३-१७,

६. श. ब्रा. १.४.२.३-१७,

होता को चाहिए कि खडे होकर आवाहन करना चाहिए क्योंकि वह घुलोक की प्रतीक है। आज्य की आहुति बैठकर देता है पृथ्वी हीं स्वयं याज्य है अतः पृथ्वी पर बैठकर याज्या बोलना चाहिए, "असौ" का अर्थ वह अर्थात् घौ है इयं अर्थात् "यह" अर्थात् पृथ्वी हुई।[1]

सामधेनी शान्ति कर्म की प्रतीक व्यंजना

प्रथम सामधेनी प्राण की प्रतीक है, दूसरा अपान कि प्रतीक, तीसरी उदान की प्रतीक है, चौथी सामधेनी कान की प्रतीक तिसरी उदान की प्रतीक है चौथी सामधेनी कान की प्रतीक है, पांचवी सामधेनी वाणी की प्रतीक है, छः मन की प्रतीक है, सातवीं आंख की प्रतीक है, आठवीं मध्यम प्राण, नवीं उपस्थेन्द्रिय की प्रतीक है, दसवीं सामधेनी यह नीचे का प्राण की प्रतीक है, और ग्यारहवीं सामधेनी सर्वाङ्ग शरीर का प्रतीक है, अर्थात् यह सामधेनीयों जिन जिन अङ्गो के प्रतीक रूप में विद्यमान है उसमें प्राप्त होने वाला तत् तत् अङ्गो की अभिवृद्धि होता है।[2]

अभिचारात्मक सामधेनी की प्रतीक व्यंजना

किसी भी अनुष्ठान को करते समय "देवंभूत्वा देवं यजेत" इत्यादि होकर अनुष्ठान को सम्पन्न करना चाहिए। सामधेनी मन्त्रों का उच्चारण करते समय कोई भी बाहरी व्यक्ति मध्य में न बोले, न ही कर्ता मन्त्र को बोलते समय मध्य में वार्तालाप करे—ऐसा करने से अलग अलग कष्ट को प्राप्त करता है अर्थात् जिन जिन अङ्गो के प्रतीक है वह उन अङ्गो से कष्ट को प्राप्त करता है।[3]

पूर्वाघार की प्रतीक व्यंजना

सामधेनी मन्त्रों से अग्नि को प्रज्वलित किया उस प्रज्वलित अग्नि में दो आहुति दी जाती है, एक आहुति मन की प्रतीक रूप में दूसरी आहुति वाणी की प्रतीक रूप में दी जाती है, जिसके द्वारा दोनों मिलकर देवताओं के पास यज्ञ को ले जाते हैं।[4] मन को दी जाने वाली आहुति स्रुवा से दी जाती है स्रुवा मन एवं पुरुष की प्रतीक है वाणी को दी जाने वाली आहुति स्रुव से दी जाती है—वाणी एवं स्रुव स्त्री की प्रतीक है, मन को दी जाने वाली आहुति मौन होकर दिया जाता है इसलिए कि मन का कार्य चुपके से कार्य को सम्पादन करता है। वाणी को दी जाने वाली आहुति आवाज करके दी जाती है क्योंकि वाणी स्पष्ट है मन्त्र भी—। मन

---

१. वही ४.२.१८-१९
सवै तिष्टन्नन्वाह। अन्वाह हयेतदसौ ह्यनुवाकयः तदसा वेवैतद्भूत्वान्वाह तस्मातिष्ठन्नन्वाह। आसीनो याज्यां यजति। इयं ϑ हि याज्या तस्मान्न कश्चन तिष्ठन्याज्यां यजतीय ϑ हि याज्या तदिय मैवेतद् भूत्वा यजति तस्मादासीनो याज्यां यजति।

२. श. ब्रा. - १० ४.३. १-१०,

३. श. ब्रा. " १.४.३.११-२२,

४. श. ब्रा. १.४.४.१-२,

को दी जाने वाली आहुति बैठकर के वाणी को दी जाने वाली खड़े होकर इसलिए कि वाणी एवं मन एक साथ हवि को देवताओं के पास ले जाते हैं।

> स्रुवेण तमाघारयति यं मनसऽआधारयति वृषाहि मनो वृषा हि स्रुवः।
> स्रुचा तमाघारयतिं यं वाचंऽआधारयति योषाहि वाग्याषोहिस्रुक्।
> तुष्णीं तमाघारयति यं मनसऽआधारयति न स्वाहेति चना निरुक्तं हि मनोऽनिरुकत द्वेयतधतूष्णीम्।
> मन्त्रेण तमाघारयति यं वाचऽआधारयति निरुकताहि वाङ्निरुकतो हि मन्त्रः।[१]

जो यज्ञ का मूल है उसे स्रुवा से आहुति देता है और जो यज्ञ का शिर है उसको स्रुव से देता है शिर को दी जाने वाली आहुति मन्त्र पढ़कर वाणी ही मन की प्रतीक है।[२]

तदनन्तर अग्नि को साफ किया जाता है यह क्रिया तीन वार करना चाहिए इसलिए कि यज्ञ त्रिवृत्र है दो आहुतियों के बीच में साफ किया जाता है जिससे दोनों आहुतियों को अलग अलग दिया जाता है अर्थात् मन और वाणी को अलग करता है।[३]

उत्तराघार की प्रतीक व्यंजना

उत्तराघार आहुति देने के पूर्व दोनों हाथों से जुहू एवं उपभृत को होथ जोड़ा जाता है। जो इसमें देवता एवं पितरों के प्रतीक रूप में प्रणाम करता है।

किसी भी शुभ कर्म को करने के पहले अपने पूर्वजों एवं इष्ट देवताओं को प्रार्थना निविघ्न यज्ञ समाप्ति के लिए प्रार्थना करता है। इसीतरह वेदि पर चलने वाले वेदि के भूमि को प्रार्थना करता है। प्रार्थना विष्णुरूप मानकर करना चाहए, क्योंकि यज्ञ भूमि स्वयं यज्ञ भगवान विष्णु के प्रतीक है—इसी तरह घौ एवं पृथ्वी का प्रार्थना करता हुआ इन्द्र को प्रार्थना करता है, इन्द्र देवता है और इन्द्र का नाम वाणी है.[४]

उत्तराघार के प्रथम आहुति को यज्ञ का शिर भाग का प्रतीक बताया गया है, ध्रुवा को शरीर बताया, शिर को श्री कहा जाता है, परिवार के जो मुखिया होते हैं वह परिवार का शिर होता है, द्वितीय आहुति में जुहू के घृत को उपभृत के घृत में मिला देता है मानों श्री को प्राप्त करता है अर्थात् यजमान "श्री" सम्पति आदि सम्पति को प्राप्त करता है। इसी तरह दोनों आहुतियों को ज्योति के प्रतीक बताते हुए दोनों घृत को मिलाया जाता है।[५]

---

१. श. ब्रा. १.४.४.३-६,

२. श. ब्रा. १.४.७-१०
स्रुवेण तमाधारयति। यो मूलं यज्ञस्य स्रुचा तमाघारयति यः शिरो यज्ञस्य। तूष्णी तमाधारयति, यो मूलं यज्ञस्य तूष्णीमिव हीदं मूलं नोहयत्र वागवदति। मत्रण तमाधरयति यः शिरो यज्ञस्य वागिय मन्त्रः शीष्णो ही यमधि वाग्वेदति।

३. श. ब्रा. १.४.४, १५,

४. १.४.५.१-४,

५. श. ब्रा. १.४.५.५ ध्रुवया समनकित शिरो वैयज्ञस्योत्तर आधार आत्मा वैध्रुवा तदात्मन्ये वैतच्छिरः प्रतिदधाति शिरावैयज्ञस्योत्तर आधार श्रीवै शिरः श्रीहि वै शिरस्तास्यमाघोऽर्द्धस्य श्रेष्ठो भवत्यसावमुष्यार्द्धस्य शिर इत्याहुः।

होतृवरण का प्रतीक व्यंजना

यज्ञ कर्म में होने वाला होत्र कर्म जिस ऋग्वेदी ऋत्विक् के द्वारा सम्पन्न होता है वह "होता" कहलाता है। हौत्र कर्म को अधिकार प्रदान करने के लिए होने वाला अध्वर्यु कर्म होतृवरण कर्म है।

अर्थात् होता को इस यज्ञ में बुलाया जाता है उसे प्रवर कहा जाता है—जिस को आश्रवण प्रत्याश्रवण कृत्य कहा जाता है—आश्रवण को यज्ञ का प्रतीक बताया गया है।

कुश अथवा समिधा को लेकर होता का वरण किया जाता है जिसमें यजमान विपत्तियों से वच सके। कुश अथवा समिधा दोनों ही यज्ञ के प्रतीक है। अर्थात यज्ञ को लेकर बुलाता है। होता ही अग्नि है, देवताओं का भी होता है इससे अग्नि एवं देवता दोनों को प्रसन्न करता है—मनु ने सर्वप्रथम यज्ञ को किया था अतः होता को मनु के समान प्रतीक बताया— अग्नि देवताओं को हवि प्रदान करता है अर्थात् प्रजाओं का पालन पोषण करता है अतः अग्नि को भरतवत कहा गया है।[१]

तदनन्तर अग्नि को आर्ष होता के ब्राह्मण के रूप में वरण करता है—जिसमें कि ऋषि दोनों के प्रति निवेदन करता है—आर्ष होता का वरण इसलिए करता है कि यज्ञ करने वाला महान् वीर्यवान होता है—इसी तरह शेष पूर्वजों का भी वरण करता है—आर्ष होता के वरण के पश्चात् होता को ब्रह्म के समान कहा है इसलिए जिन देवताओं को लाना है वह यहाँ आवें, ब्राह्मण यज्ञ को संरक्षक के रूप में विद्यमान है—वेदपाठी विद्वान यज्ञ को फैलाते हैं अतः ब्राह्मण ही यज्ञ का संरक्षक होता है।[२]

देवताओं के होता को वरण के पश्चात् मनुष्य रूपी होता का वरण किया जाता है। क्योंकि इसके पूर्व होता नहीं था परन्तु अब होता बन गया है वही होता देवताओं के पास बषट्कार के द्वारा हवि को ले जाता है। देवताओं के पास पहुँचकर भिन्न भिन्न देवताओं के नाम को एवं उनके महिमा का वर्णन करता है, सर्वप्रथम सविता देवता को प्रेरक के लिए वरण करता है—क्योंकि सविता देवता देवताओं के प्रेरक है।[३]

तदनन्तर अग्नि को प्रसन्न करता है, सर्वप्रथम अग्नि कहकर अग्नि को प्रसन्न किया जब देवताओं का होता कहां तो देवताओं को प्रसन्न किया। इसी तरह संवत्सर एवं प्रजापति को तथा पूषा एवं वृहस्पति कह कर इन देवताओं को यज्ञ के लिए कहता है। वसु, रुद्र और आदित्य तीनों देवताओं को प्रसन्न करता है। इसलिए कि इन देवताओं के सत्संग में यज्ञ को सम्पन्न कर सकूं।[४]

---

१. श. ब्रा. १.५.१.७-८,

२. वही १.५.१.९.१०,

३. श. ब्रा. १.५.१.१०-१५,

४. वही १. ५. १. १६-१७,
वसूनां ७ रातौस्याम। रुद्राणां मुर्व्यायां स्वदित्या अदितये स्यामाने हस इत्यते वैत्रया देवा यद्रसवो द्राआदित्या एतषाभिगुप्तौस्या मेत्येवैतदाह।

देवताओं तथा ब्राह्मण एवं प्राणी के प्रति बोले जाने वाला वाणी समृद्धि सूचक के प्रतीक है। अत प्रिय वाणी बोलना चाहिए।

तदनन्तर मनरूपी अध्वर्यु तथा वाणी रूपी होता को स्पर्श करता है अर्थात् मन एवं वाणी का मेल करता है।रोग को शमन करने के लिए, अग्नि पृथ्वी, जल वायु और रात्रि का प्रार्थना करता है।

इस तरह प्रार्थना करने के वाद होता का यह कर्तव्य होना चाहिए कि देवताओं के पास हवि कैसे ले जाऊं इत्यादि आदेश देवताओं से प्राप्त करता है।

पुनश्च अग्नि, यजमान होता आदि आपस में सब अनुकूल हो इसकी प्रार्थना यज्ञ से करता है। क्योंकि यज्ञ ही मोक्ष का साधन है।[१]

आश्रवण प्रत्याश्रवण निगद की प्रतीक व्यंजना

एक दूसरे ऋत्विक् एक दूसरे ऋत्विक के प्रति यज्ञ स्वरूप के महिमा क्रा बखान ही आश्रवण प्रत्याश्रवण निगद कर्म कहलाता है।[२]

यज्ञ देवताओं से भाग गया था देवता उसको बुलाने लगे, यज्ञ लौट आया—तदनन्तर देवताओं ने यज्ञ किया अतः देवता हुए, जब अध्वर्यु अग्निध्र को बुलाता है मानो यज्ञ को बुलाता है आग्नीध्र उत्तर नहीं देता बल्कि स्वयं यज्ञ आता है। इस तरह अध्वर्यु अपना सम्प्रदाय वाणी के द्वारा चलाता है। वाणी यज्ञ की प्रतीक है वाणी ही वीर्य की प्रतीक है अतः वाणी के द्वारा सम्प्रदाय को चलाते हैं।[३]

अध्वर्यु को चाहिए कि यज्ञ के पूर्व कुछ भी अपशब्द का उच्चारण न करें अर्थात् जबतक "यज" कहकर होता तक यज्ञ को पहुँचाता है होता भी तबतक कुछ भी अपशब्द न कहे जबतक वषटकार का उच्चारण न करलेता। क्योंकि वषट कार से यज्ञ को अग्नि में सींचता है जैसा कि योनि में वीर्य को सींचता। अग्नि यज्ञ की योनि है यज्ञ यज्ञाग्नि से उत्पन्न होता है। होता भी यज्ञ से उत्पन्न होता है। अतः यज्ञ के मध्य में अपशब्द का उच्चारण न करें।[४]

प्रस्तुत निगद कर्म : ——

यज्ञ में पांच व्याहृतियां होती हैं, जो पांच प्रकार की वस्तुओं की प्रतीक है। पशु, ऋतु के प्रतीक है, और यही यज्ञ की मात्रा और उसकी सम्पत्ति तथा पूर्णता भी है।[५]

---

१. श. ब्रा. १.५.१.१-८,

२. १.५.१.९

३. वही १.५.१.१०
"समृद्धं योजुष्टं देवेभ्योऽनुब्रुवन्"

४. श. ब्रा. १.५.२.६-७,
यज्ञो ह देवेभ्योऽपचक्राम।. ते देवा सन्वयमन्त्रयन्ता नः श्रृणूप न आवर्तस्वेति सोऽस्तु तयेत्येव देवानु पावर्त्त तोनोपा वृत्तेन देवा अयजन्त तेनष्टवैतद्भवन्यदिदं देवाः। स यदाश्रवयति—यज्ञमेवैतदनुमन्त्रयतऽआनः—।

५. वही १.५.२, ९-११

पांच व्याहृतियों में सत्रह अक्षर होता है जो प्रजापति के प्रतीक है और प्रजापति ही यज्ञ है, प्रजापति यज्ञ की पूर्णता है,

ओश्रावय से पूर्व दिशा की तरफ वायु चलाते हैं, अस्तु श्रोषट् से वादलों को लाते हैं, यज से विजुली औरन्थें यजामह से गर्जना को बुलाते हैं और बषट्कार से पानी को बरसाते हैं।

वर्षा करने की इच्छा से दर्शपूर्णमास यज्ञ को करने वाले होता आदि सर्वप्रथम अध्वर्यु वायु एवं विजुली को मन से ध्यान करता है—अग्निध्र बादल को ध्यान करता है होता गर्जना एवं वाणी को ध्यान करता है इसतरह एक दूसरे को समझकर यज्ञ को सम्पन्न करते हैं जिससे अवश्य ही वर्षा होती है।

पांच व्याहृतियों को विराट के प्रतीक बताया, गाय में सम्पूर्ण ब्रह्माण है अतः सर्वप्रथम गाय को ओश्रावय कहकर देवों ने विराटस्वरूप को गाय को बुलाया, अस्तु श्रौषट् कहकर बछड़े को खोल देता है "यज्" कहकर बछड़े के सिर को गाय के स्तन तक पहुँचाया, येजामहे कहकर गाय के पास बैठ गया "बषट्कार" से उन्होंने गाय को दूहता है अर्थात् विराट् को दूहता है। जो पुरुष इस विराट को दूहना जानता है वह विराट सब इच्छाओं को पूरण करता है।[१]

प्रयाज याग की प्रतीक व्यंजना

प्रयाज याग को ऋतु के प्रतीक बताया गया है। प्रयाज पांच होते हैं ऋतु भी पांच होते हैं।[१] प्रयाज याग की हवि घृत होती है, घी वज्र की प्रतीक है, पय संवत्सर की प्रतीक है और पय से घृत की निर्माण होती है अर्थात् पय के द्वारा संवत्सर को अपनाकर घृत से आहुति देता है।[२]

प्रथम प्रयाज वसन्त ऋतु आदि के प्रतीक है, द्वितीय प्रयाज से ग्रीष्म ऋतु की तृतीय प्रयाज से वर्षा ऋतु, चतुर्थ प्रयाज से शरद ऋतु की पंचम प्रयाज हेमन्त ऋतु की प्रतीक है जिसको क्रमशः समिधा, तननूपात, ईडा, वर्हि स्वाहाकार, करके प्रयाज यज्ञ को करता है, ये सब भी क्रमशः वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त ऋतु की प्रतीक है।[३]

जुहू में बचे हुए घृत को पूर्व की भाँति पुरोडाश के ऊपर घृत को अभिसिंचित करता है। अर्थात् जिसके द्वारा यज्ञ की संस्थापना की थी उसके द्वारा यज्ञ को संस्थापना करता है।[४]

अनन्तर प्रयाज याग में समिधा को यजन करता है, समिधा प्राण की प्रतीक है अतः वह प्राणों को प्रज्वलित करता है। तननूनपात से रेत को अर्थात् वीर्य को अभिसिंचन करता है, तननूनपात् वीर्य की प्रतीक है।, प्रजा इडा की प्रतीक है और सिंचन किए गये वीर्य से इडा का यजन करता है अर्थात् सन्तान उत्पत्ति कर्म करता

---

१. श. ब्रा. १.५.३.१,
ऋतवो हवै प्रयाजाः। तस्मात् पंच भवन्ति पांच हयृतवः।

२. श. ब्रा. १.५.३.४-५,
ते वोऽआज्यहविषो भवन्ति। वज्रोवाऽआज्यमेतेन वै देवा वज्रेण—तस्मादाज्य हविषो भवन्ति॥

३. श. ब्रा. १.५.३.९-१३,

४. वही १.५.३.२५
स यज्जुहवा याज्यं परिशिष्ट मासीत्। येन यज्ञं ॏ समस्थापयं स्तेनैव यथा पूर्वं ॏ हवि ॏ व्यभ्यधाटमनपुटरेवैनाति—

है। वहि यजन से बहुत सन्तान को पैदा करता है वहि बहुतायात की प्रतीक है स्वाहा यज्ञ से समस्त प्रजाओं को वश में करता है समस्त प्रयाजों के बारे इस तरह के ज्ञान को प्राप्त करते हुए वह समस्त श्री तथा अन्न को प्राप्त कर लेता है।[१]

अभिचारात्मक प्रयाज याग के प्रतीक व्यंजना

प्रस्तुत प्रकरण में देव एवं असुर सम्बन्धि एक आख्यान प्राप्त होता है। जिसको हम आख्यान भाग में प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे।

देवता जब जब असुरों से धनुष आदि शस्त्रों से नहीं जीत सके तव देवताओं ने राजा इन्द्र से कहा वाणी को बोलो जिससे असुर यह पुलिंग वाणी या स्त्रीलिंग वाणी यह नहीं समझपाये।

इस तरह पांच प्रयाजों में एकमम, द्वौमम, त्रयोमम, चत्वारो नम, पञ्चमम को पुरुष के प्रतीक रूप में स्त्री के प्रतीक रूप में एका मम अस्माकम् द्वे, अस्माकमस्त्रिः, अस्माकम् चतस्त्रः पंचमम्, इत्यादि कहकर प्रत्येक प्रयाज में जो हमसे द्वेष करता है और हम जिससे द्वेष करते हैं इस तरह उच्चारण करता है अपने शत्रुओं को परास्त करता है।२

चतुर्थ प्रयाज में यज्ञ को प्राप्त किया और पांचवे प्रयाज में यज्ञ की स्थापना किया और इसे पूर्ण किये जाने वाले प्रयाज याग से प्रयाज की कल्पना की जाती है, जिसको क्रमशः पूर्व में वर्णन किया जा चुका है और पांचवे प्रयाज से ही स्वर्ग लोक को प्राप्त करता है।३

आज्याहुति से अग्नि राक्षसों को मारकर स्वर्ग लोक को प्राप्त करता है, और यह भी कहा है अगर प्रयाज यज्ञ के पूर्व जो निन्दनीय व्यवहार करता है, उसके मुख में रोग हो जाता है—अगर मध्य में —प्रजाहीन—पशुहीन—हो जाता है।

यज्ञ के पीछे दुष्ट व्यवहार करने वाला दरिद्र होकर स्वर्ग से ऐतर लोक को प्राप्त करता है।४

निष्कर्ष यह है कि प्रयाजों से संवत्सर को जीता जाता है—जैसे यज्ञ ही प्रयाज है, जब यज्ञ नहीं होगा प्रयाज कहाँ हो पायेगा—संवत्सर के द्वारा वसन्त और हेमन्त ऋतु इसी दरवाजे से ही स्वर्ग लोक को प्रतिष्ठित करता है वस्तुतः संवत्सर "सर्ब" है, सर्व उसको कहते हैं कि वह जो अक्षय होता है अर्थात् प्रयाज से ही अक्षय द्रव्य, अक्षय लोक की प्राप्ति होती है।५

आज्य की आहुति को प्रजापति देवता के लिए दिया जाता है, तथा मौन होकर दियें जातें हो, क्योंकि प्रजापति अस्पष्ट है, अपने यज्ञ का यजमान प्रजापति स्वयं है—इसी तरह कहने से ऋत्विक् लोक यज्ञ को विस्तार करते हैं।६

१. श. ब्रा. १.५.४.१-५,
२. श. ब्रा. १.५.४, ७ से ९,
३. श. ब्रा. १.७.१० तु. १३,
चतुर्थेन वै प्रयाजेन देवाः यज्ञमाप्तुवेस्तं पंचमेन समस्थापयनाय भरत ऊर्ध्वमसं[illegible] स्थितं यज्ञस्य स्वर्गमेवतेन लोकं समाश्रुवत।
४. वही १.५.४. १६-१८,
५. वही १.५.४.१९ सर्वं वै संवत्वसरः सर्व वाऽअक्ष स्यमेतेन हास्याक्षय्यं सुकृतं भवत्यक्षय्यो लोकः।
६. श. ब्रा. १.७.२.१७,-१६

हवि के ऊपर घी लगाकर काटा जाता है और काटने के बाद पुनः आज्य को पुरोडाश के ऊपर गिराया जाता है मानो यजमान से ही मिश्रित आहुति दी जाती है, चाहे वह दूर हो या पास में—यज्ञ इस प्रकार किया जाता है मानों वह निकट ही है।[१]

स्विष्टकृदाहुति की प्रतीक व्यंजना

यज्ञ के द्वारा देवताओं ने द्यौलोक को प्राप्त किया, और देव पशुओं के अधिष्ठाता पृथ्वी में रह गया—रहने वाला पशु देवता को स्विष्टकृदाहुति दी जाती है।—इस आहुति को भी अग्नि में ही आहुति दी जाती है अग्नि ही देवता है उसका पूर्वनाम, रवि, भव, पशुओं के पति रुद्र, अग्नि अशान्त जिसमें अग्नि ही शान्त दिखाई देती है अतः स्विष्टकृदाहुति अग्नि में दी जाती है।[२] यज्ञ के अन्त में स्विष्टकृद्आहुति दी जाने वाली आहुति वह वस्तु के समान है।[३]

वास्तु वीर्य हीन अर्थात् निर्बल होता है त्रिष्टुभ वीर्यवान स्विष्टकृद् के द्वारा बल को धारण करता है। अतः ये दोनो त्रिष्टुभ कहलाए या इन दोनों को अनुष्टुप कहा जा सकता है, अनुष्टुप वास्तु की प्रतीक है स्विष्टकृद् भी वास्तु की प्रतीक है अतः वास्तु में वास्तु की स्थापना करता है जिससे उसका घर फूलता फलता रहता है।[४]

स्विष्टकृद् आहुति पुरोडाश के उत्तरीभाग को काटकर अग्नि के उत्तर भाग में आहुति देता है, यह देवताओं कि दिशा है, स्विष्टकृद् आहुति के बाद प्रजाऐं उत्पन्न होती है और स्विष्टकृद् कृत ही शक्ति है। यह रुद्र शक्ति पशु शक्ति में न मिल जाए इसलिए कि यह आहुति अलग दिशा में दी जाती है।[५]

आहवनीय अग्नि तथा गार्हपत्य अग्नि के माध्यम से देवता द्युलोक में आरोहण कर गये—गार्हपत्य अग्नि प्राधान्य बन गया आहवनीय अग्नि को गार्हपत्य अग्नि से आठ पग दूरी पर रखे गायत्री आठ अक्षर की होती है—गायत्री के द्वारा द्युलोक में जाना है, या ग्यारह पग दूरी रखे ग्यारह त्रिष्टुप होता है, त्रिष्टुप के द्वारा द्युलोक को आरोहण करता है या बारह पग दूर रखे बारह अक्षर जगती की प्रतीक है अर्थात् जगती के द्वारा द्युलोक में चढ़ता है।[६]

जब आहवनीय अग्नि के द्वारा द्युलोक को देवता चले गये क्यों न हवि को आहवनीय अग्नि में पकाया जाए, क्योंकि आहवनीय स्वयं यज्ञ है ऐसा कतिपय विद्वानों के मत है। अतः गार्हपत्य या आहवनीय अग्नि कही भी पकाया जा सकता है।[७]

---

१. श. ब्रा. १.७.२. २०-२१

२. श. ब्रा. १. ७. ३. ६-८,

३. श. ब्रा. १.७.३.१७,
" वास्त्वनुष्टुव्वास्त स्विष्टकृदाऽस्ता वेनैतद्वास्तु, वास्तु वा एतत् यज्ञस्य यत्सिष्टकृद्वीर्य्यं वै"

४. श. ब्रा. १.७.३ १७-१८,

५. वही १.७.३.२०

६. वही १.७.३.२२-२५

७. वही १.७.३.२६.२७,

यज्ञ के नंगापन दूर करने के लिए कुश का आस्तरण तथा यज्ञ की प्यास बुझाने के लिए ब्राह्मण भोजन स्विष्टकृद् आहुति से दी जाती है।[१]

ब्रह्मणः प्राशित्र हरण की प्रतीक व्यञ्जना

ब्रह्मणः प्राशित्र हरण की प्रतीक व्यंजना प्रजापति एवं उसके लडकी के संभोग से प्रारम्भ होता है। जिसकी व्याख्या हम आख्यान भाग में करेंगे।

प्रजापति एवं उसके लड़की आपस में सम्भोग कर रहे थे देव एवं पशुओं के आधिष्ठाता रुद्र ने क्रोध पूर्वक बाण चलादी, जिससे ब्रह्मा का आधा वीर्य भूमि में गिर पड़ा, उस वीर्य से अग्नि, मारुत, उद्गीथ उत्पन्न हुए और देवताओं ने अपना क्रोध शान्त करके प्रजापति को मारे गये तीर को निकाला इसलिए कि प्रजापति स्वयं यज्ञ है।[२]

तीर लगे स्थान को और उस स्थान को नष्टता से बचाने के लिए दक्षिण की दिशा में अवस्थित भग के पास गये, भग ने उस क्षत स्थान को देखा वे देखते ही भग की आखें जलगई वह अन्धा हो गया, फिर भी ठीक नहीं हुआ अतः पूषा देवता के पास ले गये पूषा ने उसको आस्वादन किया—आस्वादन करते ही उसके दाँत टूट गये, पूषा बिना दांत के बन गये अतः पूषा देवता के लिए बनाऐ जाने वाले पीठ पीसे हुए अन्न के होते हैं।[३]

पुनः वह क्षत स्थान शान्त नहीं हुआ इसलिए वृहस्पति देवता के पास ले गये, वृहस्पति ने सविता देवता के प्रसव प्रेरणा हेतु भेज दिया—सविता देवताओं के प्रेरक है। प्रसव देवता के प्रेरणा से वह शान्त हो गया और कार्य करने लगा। निदान में प्राशित्र भाग है।[४]

प्राशित्र यज्ञ है अर्थात् यज्ञ को अर्थात् प्राशित्र को काटता है। प्राशित्र के वह भाग को काटता है जो तीर से बींधा हुआ था। जल शान्त है अतः जल के द्वारा उसे शान्त करता है और इडा को जो पशु का प्रतिनिधि है अतः उसे काटता है। इस को काटने के बाद पूर्व की ओर नहीं लिया जाता है इसलिए कि पूर्व में पशु यजमान की ओर मुँह करके खड़ा होता है और रुद्र पशु को शक्ति दे देगा इससे बचने के लिए इडा को पूर्व की ओर नहीं लेना चाहिए।[५]

इडा को दाँत से नहीं चबाया जाता है इसलिए कि रुद्र भाग मेरे दांत को हानि प्रदान कर दें, जल से आचमन करता है इसलिए कि जल शान्त है। तदनन्तर ब्रह्म भाग को ब्रह्मा के पास लाते हैं इसलिए यज्ञ के संरक्षक ब्रह्मा होता है वह इस समस्त यज्ञ दिशा में विराजमान है ब्रह्मा स्वभाग को खाकर शेष इडा के भाग की रक्षा करता है।[६]

---

१. वही १.७.३.२८
२. श. ब्रा. १.७.१.४, "यज्ञएव प्रजापति"
३. वही १७.४.७
४. श. ब्रा. १.७.४. ८
५. श. ब्रा. १.७.४. ८-१२,
६. श. ब्रा. १.७.४.१६ तत्प्राश्नाति, तत्दद्भिः खादेत्

मौनव्रत धारण किया हुआ अध्वर्यु ब्रह्मा कि आज्ञा से आगे का कार्य करता है इसलिए कि समस्त ऋत्विजों के वैध स्वंय ब्रह्मा है।

यदि अध्वर्य मानुषी भाषा का प्रयोग कर लेता है तो विष्णु से सम्बन्धित ऋचा का पाठ करना चाहिए। ब्रह्मा के आज्ञा को लेकर अध्वयु इसलिए जाता है कि, ब्रह्मा ही यह आज्ञा देता है कि, हे सविता देवता तुम्हारे इस यज्ञ की पोषण के लिए जाता है सविता देवता देवों के प्रेरक है, वृहस्पति ब्रह्मा के प्रेरक है।

वृहस्पति देवताओं के ब्रह्मा है अतः इस यज्ञ को उसके लिए अर्थात् ब्रह्मा के लिए धारण करता है और यज्ञपति मेरी रक्षा करें। आगे यह भी कहा है मन से ही यह सब व्याप्त है मन के द्वारा सबकुछ प्राप्त करता है—वृहस्पति इस यज्ञ को पूर्ण करें और घायल हुए प्रजापति को इस तरह वाणी से प्रसन्न कर देता है। यह कहते हुए विश्व देवता हम लोगों के ऊपर प्रसन्न रहें ऐसा कहकर विश्व देवता को प्रसन्न करता है।[१]

इडा से सम्बन्धित प्रतीक व्यंजना

इड़ा की प्रतीक व्यंजना आख्यान से प्रारम्भ होता है। जो आख्यान सृष्टि के प्रक्रिया से सम्बन्ध रखता है। कयोंकि वर्तमान की सृष्टि की प्रक्रिया महर्षि मनु से सम्बन्ध है अतः मनुउपाख्यान के नाम से जाना जाता है। एक समय की बात यह है कि मनु प्रातः काल अपना मुख प्रक्षालन करने के लिए जल के पास जाकर जल को ग्रहण किया, ज्योंहि जल को ग्रहण किया उस समय हाथ में एक मछली आ गई और उस मछली ने मनु से कहा मेरा पालन करो मैं तुम्हारी रक्षा करूंगी, मनु को इस पर शंका हुई, पुनः वह मछली बोली, जिस समय तूफान आयेगा उस समय सारे प्रजा नष्ट हो जाऐंगे मैं उस समय तुम्हारी रक्षा करुँगी।

मनु ने पूछा तुम्हारी पालन मैं कैसे करुँ मछली ने कहा सर्वप्रथम मुझे घड़े में पालन करो, जब बडी हो जाऊंगी गढ्डा करके उसमें जल भरकर मुझे छोड़ देना, जब और बड़ी हो जाऊं तो मुझे समुद्र में छोड देना और जब तूफान आएगा मेरे कहने के अनुसार एक नाव का निर्माण करना और उस नाव पर बैठकर मेरे पास आना मैं उस समय तुम्हारी रक्षा करुँगी।

इस तरह मनु ने मछली के कथनानुसार समस्त कृत्यों को सम्पन्न किया, तूफान आया, नाव पर मनु आये उस समय मछली तैर कर आई और अपनी सींग से रस्सी को बांध दिया और उत्तरी पहाडी तक मनु को पहुँचा दिया और जब पानी खत्म हुआ तब मनु ने उसे पहाड से नीचे उतारा, समस्त प्रजा तो नष्ट हो चुकी थी, मात्र मनु शेष बचा रहा, मनु ने संतान की इच्छा से पूजा एवं श्रम किया , तथा पाक यज्ञ को भी सम्पन्न कराया—जिसमें घृत, दही, मट्ठा को जल में देता रहा—निरन्तर पाक यज्ञ के बाद एक वर्ष के अनन्तर एक स्त्री उत्पन्न हुई जो अत्यन्त सुन्दरी थी, जिसके पैर में घृत था सर्वप्रथम उससे मित्र एवं वरुण नामक देवता मिले। दोनों में सम्वाद हुआ, देवताओं ने कहा तुम कौन हो उसने मनु की लडकी ऐसा परिचय दिया- मित्र वरुण कहे तुम हम लोगों के हो उसने नहीं किया मैं मनु की लड़की हूँ ऐसा कहती हुई वह मनु के पास चली गई।

मनु ने उससे पूछा तुम कौन हो, तुम्हारी लड़की हूँ, कैसे मेरी लड़की हुई मनु को उस लडकी ने यह उत्तर दिया कि तूने जल में घी मट्ठा अर्पण किया उससे मैं उत्पन्न हुई मैं आयी हूँ आप मेरा प्रयोग करें

---

१. श. ब्रा. १.७.१९-२२

यदि मेरा प्रयोग यज्ञ में होगा पशु और सन्तान वाला होगा जो भी वस्तु की आवश्यकता होगी वह मैं दूंगी, और उसने यज्ञ के मध्य में उस लडकी का प्रयोग किया अतः प्रयाज और अनुयाज के मध्य में जो कुछ किया जाता है वह यज्ञ के मध्य में किया जाता है मनु प्रजा की कामना पूजा अर्चना करते रहे और प्रजा का उत्पन्न हुआ तथा यह लड़की मनु की पुत्री कहलाई, उसके प्रतीक रूप में इडा हवि के रूप में विद्यमान है अर्थात् जो इस यज्ञ को करता है वह सब कुछ प्राप्त कर लेता है।[१]

जैसा कि आख्यान भाग से यह पता चलता है कि इडा मनु की पुत्री है और दर्शपौर्णमास इष्टि से हवि के प्रतीक रूप में विद्यमान है मनु की पुत्री इडा से हुई विशद विवेचन आख्यान भाग में देख जा सकता है।

इडा का पांच भाग किया जाता है, इसलिए कि इडा पशु की प्रतीक है अर्थात् पशु के (इडा) के पांच भाग होते हैं। इडा को बराबर काटकर प्राण की अभिवृद्धि के लिए तेज तथा दान के लिए इडा का भक्षण करता है।[२]

पाक यज्ञीय इडा यज्ञ के सबसे कमजोर भाग होता है—राक्षसों से बचने के लिए होठों से स्पर्श करके यथा स्थान रख देता है। इड़ा को टुकड़े टुकड़े करके होता के हाथ में रख देता है इसलिए कि यजमान को आर्शीवाद प्रदान करता है, यजमान को आशीर्वाद प्रदान करने के लिए रथन्तर, वामदेव्य और वृहती तीनों साम को धीरे धीरे बुलाता है इसलिए कि राक्षसों के कान में यह आवाज न पड़े।[३]

इडा को सात प्रकार से प्रतीक रूप में बुलाया जाता है। १. पशु रूपी इडा, २. सात होताओं से पूजा की गई इडा, ३. विजय पाने वाले इडा, भक्षण मित्र, प्राण रूपी सखा है—इडा गौ चार पौरवाली को बुलाता है, मनु की लडकी घी के पैर वाली, मैत्रावरुणी नामक इडा इसलिए कि मैत्रावरुणी प्रकृति की प्रतीक है देवकृत् ब्रह्म कहलाई, देव अध्वर्यु और मनुष्य की इडा को बुलाया ऐसा कहकर देवरूप अध्वर्यु, मनुष्य रूप अध्वर्यु, दैव्य अध्वर्यु को वत्स कहा गया है और शेष मनुष्य अध्वर्यु है। यज्ञपति को बहाने वाले इडा घावा पृथ्वी ऋतावरी, देवपुत्र इडा यजमान को आशीर्वाद प्रदान करता है कि जो जीवन भर यज्ञ किया आगे भी करुंगा। आशीर्वाद परोक्ष रूप से दी जाती है न कि प्रत्यक्ष जिसमें कि यजमान का सन्तान होंवें, पशु के लिए जीविका के लिए आदि आशीर्वाद प्रदान करता है, यजमान और पुरोहित इडा को खाते हैं न कि अग्नि में डालते हैं, इडा पशु की प्रतीक है पशु को अग्नि में नहीं छोडा जाता है इसलिए यजमान एवं पुरोहित उस इडा का भक्षण करते हैं।[४]

जिसकी परिभाषा प्राणों में आहुति देना है। अतः इडा को पूर्वाध भाग से काटकर ध्रुवा में रखा जाता है, ध्रुवा यजमान का प्रतीक है और इडा को पांच व्यक्ति मिलकर खाते हैं इडा पशु है पशु पांच प्रकार के होते हैं अतः इडा को पांच व्यक्ति खाते हैं।[५]

१. श. ब्रा. १.८.१.११
सैषा निदानेन यदिडा सयो हैवं विद्वनिडया चरन्येताठहैव प्रजातिं प्रजायते या मनुः प्राजायन यास्वेनया कां चाशिषमापास्ते सास्यै सर्वा ससमृध्यतें

२. श. ब्रा. १.८.१.१२, १४,१५,
सा वै पचावत्ता भवति। पशवोवाऽइडा पाङ्क्ता वै पशवस्तरस्मातपन्चावत भवति।

३. श. ब्रा. १.८.१.१८
अथोपां Ძ शूपहवयते। एतद् वैमनुविभयां चकारेदं वैतनिष्ट यज्ञस्य यदियमिडा पाक यज्ञिया मद्वैमऽइहरक्षा Ძसि यज्ञं न हन्युरिति तामिततपुरा रक्षोभ्यः पुनरक्षोम्य इत्यवोपासᲫ शूपाहवयत तथोऽएस्वैनामेष स्ततपुरारक्षोभ्यः पुरारक्षोभ्य इत्येवोप शूपहवयते।

४. श. ब्रा. १.८.१९-३०

५. श. ब्रा. १.८.१,३९
प्राणष्वेषहूयते—प्राशतं भवति सर्वे प्राश्नन्ति सर्वेषुमेहुतसदिति पञ्चप्राश्नन्ति पशवोवाऽइडा पांक्ता वै पशवस्तस्मातपंच प्राश्नन्ति।

पुरोडाश को चार भाग करके कुश के ऊपर रखा जाता है इसलिए कि वह यहाँ पितरों के स्थान पर होता है। अवान्तर दिशायें भी चार होती हैं अवान्तर दिशा पितर की प्रतीक है इसलिए पुरोडाश का चार भाग करके कुशों के ऊपर रखा जाता है। अग्नीध्र दो टुकड़े करके इडा को खाते हैं अग्नीध्र अग्नी की प्रतीक है इडा घा पृथ्वी है यह कहता हुआ अग्निध्र इडा को खाता है।[१]

इडा के द्वारा पाक यज्ञ को समर्पण कर दिया शेष यज्ञ को कुश के मार्जन से पूरा किया जाता है, अध्वर्यु दोनों पवित्रों को प्रस्तर के ऊपर त्याज्य करता है—इसलिए कि यजमान प्रस्तर का प्रतीक है—प्राण एवं अपान के प्रतीक ये दोनों कुश हैं अतः यजमान प्राण एवं अपान को धारण करता है इस हेतु दोनों कुशों को प्रस्तर के ऊपर छोड़ देता है।[२]

अनुयाज क्रम की प्रतीक व्यंजना

अनुयाज क्रम उसे कहा जाता है जो पीछे से आहुति दी जाए, जो कुछ यज्ञ में शेष रह जाता है वह सब इस आहुति से पूर्ति की जाती है।

जिन देवताओं को आहुति दी जा चुकी है अनुयाज के द्वारा उन्ही देवताओं के इष्ट देवताओं को आहुति दी जाती है अतः इसका नाम अनुयाज है।

सर्वप्रथम आहवनीय अग्नि से दो समिधा निकाली जाती है-क्योंकि यही समिधाऐं ही देवताओं के पास हवि ले जाते हैं, इस कृत्य को होता करता है होता के अज्ञानता से यजमान भी कर सकता है, अग्नि को एकत्र करता है जिसको वैदिक प्रक्रिया के अन्तर्गत सम्मार्जन की संज्ञा दी गई है अग्नि का संमार्जन यह कहकर करता है कि हे अन्नों को जितने वाले अग्नि अन्न लिए हुए नाप को सम्मार्जित करता हूँ।[३]

अनुयाज छन्द की प्रतीक है छन्द देवताओं के पशु है जिस प्रकार पशु भार को ले जाता हैं। भार के जाता है उसी तरह अनुयाज छन्द से युक्त होकर देवताओं के पास हवि को ले जाता है।[४]

इसका हेतु यह है कि अनुयाज छन्द है अतः इस कृत्य से छन्द को प्रसन्न करता है। इस कृत्य में सर्वप्रथम वर्हि यज्ञ को किया जाता है। छन्दों में सबसे छोटा छन्द गायत्री छन्द है—छन्दों वाहन का प्रतीक है। इसलिए श्येन होकर अर्थात् पक्षी होकर। सोमरस को देवता तक पहुँचाया, वर्हि लोक की प्रतीक है ओषधी वर्हि

---

१. श. ब्रा. १.८.१.८.१.४०
अथ यत्र प्रतिपद्यते। तच्चतुर्धा पुरोडाशं कृत्वा वर्हिषदं करोति तदत्र पितृणां भाजनेन चतस्रो वाऽअवान्तरदिशोऽवान्तरदिशो वैपितरस्तस्माच्चतुर्धा पुरोडाशं कृत्वा वर्हिषदं करोति।

२. वही १. ८.१.४३-४४
अथ पवित्रयो मार्जयन्ते—। अथते पवित्रे प्रस्तरे विसृजति—। यजमानो वै प्रस्तरः प्राणौदानौ पवित्रे यजमाने तत् प्राणौऽपानौ दधाति तस्माते पवित्रेऽपिसृजति—।

३. श. ब्रा. १.८.२.१
तेवाऽएतेऽउल्मुक्तेऽउद्हन्ति।. . . . .।

४. वही १.८.२.८-७
छन्दांसि वाऽअनुयाजाः पशवोवैदेवाना छन्दाटसि—।

की प्रतीक है अतः छन्दों के माध्यम से ओषधियों को स्थापित करता है। इसलिए कि छन्दों के द्वारा समस्त जगत को प्रतिष्ठित है।[१]

नरांशस यज्ञ करता है—अन्तरिक्ष नराशंस की प्रतीक है प्राणों को नर कहा जाता है—शंसन उसे कहा जाता है जब मनुष्य बोलता है, अतः अन्तरिक्ष को नरांशस कहा गया है—अन्तरिक्ष त्रिष्टुप छन्द की प्रतीक है, यह अन्तिम अग्नि है अतः गायत्री को अग्नि का प्रतीक बताया गया। छन्द देवताओं के देव है और यह पशु की प्रतीक है—पशु देवताओं के गृह हैं घर ही प्रतिष्ठा अर्थात् अनुयाज छन्द है. अनुयाज के कोई अलग से देवता नहीं होते हैं अग्नि, इन्द्र न सोम, अग्नि ही गायत्री छन्द है, और जो अग्नि है वह निदान में गायत्री छन्द की प्रतीक है। छन्दों के देवता इन्द्र तथा अग्नि है देवता के लिए जो वषट्कार का उच्चारण किया जाता है और देवता के लिए ही आहुति दी जाती है इस तरह अन्तिम अनुयाज में समस्त घृत को छोड़ देता है। यही प्रयाज़ और अनुयाज है।[२]

सूक्तवाक् तथा शंयुवाक् के प्रतीक व्यंजना

प्रस्तुत कर्म का प्रारम्भ जुहू तथा उपभृत को अलग करने से होता है जुहू एवं उपभृत अग्नि तथा सोम की प्रतीक है और यजमान अपनी विजयी की कामना से जुहू को पूर्व की तरफ उपभृत को पश्चिम के तरफ हटाता है अर्थात् अग्नि और सोम की जीत से ही यजमान का विजय सुनिश्चित है क्योंकि पौर्णमास याग अग्नि तथा सोम की है।[३]

इसी तरह दर्श इष्टि में जुहू तथा उपभृत को अग्नि का प्रतीक बताया इन्द्र और अग्नि अमावस्या के देवता है, इन्द्र और अग्नि की विजय से ही यजमान की विजय है अतः जुहू तथा उपभृत को अलग करता है।[४]

जिन देवताओं को आहुति दी गई और जिन देवताओं से यज्ञ की समाप्ति हुई उसी परिधि समिधाओं को जुहू के घृत से संमजन करता है जिसमें कि उन परिधियों को, वसु, रुद्र, आदित्य के प्रतीक रुप में ऐसा करता है।[५]

परिधि को उठाकर आश्रवण करता है. अर्थात् स्तुति करता है, आश्रवण ही यज्ञ की प्रतीक है अर्थात् यज्ञ के द्वारा ही परिधियों को प्रसन्न करता है। आश्रवण के पश्चात् परिधियों को दिव्य होता के प्रतीक बताया गया है क्योंकि होता ही अग्नि है, तदनन्तर प्रस्तर को ग्रहण किया जाता है प्रस्तर यजमान का प्रतीक है अर्थात् यजमान का स्वागत किया जाता है।

वृष्टि कि इच्छा से भी प्रस्तर को द्यौ और पृथ्वी के रूप में लिया जाता है। द्यौ और पृथ्वी जब साथ में चलेंगे तभी वर्षा होगी, मित्र और वरुण वर्षा के अध्यक्ष है अतः वृष्टि से रक्षा हेतु वायु बहने वाला होता है

---

१. वही १.८.२.१० सवैखलु वर्हि प्रथतम यजति। अयं वैलोको बर्हिरोषधयो बर्हिरस्मिन्नेवैताल्लोकऽओषधीर्दधाति ता इमा अस्मिल्लोकऽओषधयः प्रतिष्ठितास्तदिदं ϑ. सर्व जगदस्यां तेनेयं जगती तज्जगतीं प्रथमाम कुर्वन्न।

२. श. ब्रा. १.८.२.१२-१७,

३. श. ब्रा. १.८.३.१

४. श. ब्रा. १.८.३.३

५. वही १.८.३.४, स समनकित, वसुभ्यस्त्वा रुद्रेभ्यस्त्वा दित्येभ्यस्त्वेर्यात वैत्रयोदेवा यद्धसवोरुद्रा आदित्या एतेभ्य स्त्वेत्येवैतदाहा।

तथा पुष्प के आगे पीछे होकर बहता है, जिसको प्राण और उदान के प्रतीक बताया है। प्राण उदान ही मित्र वरुण के प्रतीक है, अतः जो वृष्टि का अध्यक्ष है वह हमारी रक्षा करें तथा सदा अनुकुल रहें इसलिए निम्नलिखित मन्त्र से प्रस्तर को ग्रहण करता है, प्रस्तर को घी इसलिए लगाता है कि मानो यजमान को आहुति के रुप में प्रदान कर रहा हो। जिससे यजमान देवलोक को प्राप्त कर सके।[१]

प्रस्तर के अग्रभाग जुहू की प्रतीक है, वीर्य की प्रतीक उपभृत है, प्रस्तर के जड भाग को ध्रुवा के प्रतीक बताया है अतः क्रमशः जुहू, उपभृत, ध्रुवा के घृत से समजंन करता है। इसी कामना से घी लगता है कि देवता घी लगाये अंश को पक्षी के रुप में चाटते रहें, अतः यजमान भी पक्षी की प्रतीक है और मनुष्य लोक से देवलोक को पक्षी के रुप में भेजता है—प्रस्तर यजमान व। है।[२] इसलिए अपनी प्रतिष्ठा को न हटाते हुए अपने स्थान पर वर्षा हो लाता है। दो बार इसलिए नीचे आता है कि घोडियों के पास और द्वितीय बार देवलोक को फिर गाय होकर घु लोक में जाओ और हमारे लिए वर्षा को लाओ, यहतीन लोक पृथ्वी अन्तरिक्ष तथा घौ के प्रतीक है अतः सर्वप्रथम यज्ञ पृथ्वी से अन्तरिक्ष और धौ में से होकर वर्षा को लाना, वर्षा गाय की प्रतीक है अतः गाय पृथ्वी बनकर घौलोक में जावे तथा वहाँ से वर्षा को लावें वर्षा से ही श्री और सम्पति की प्राप्ति होती है।[३]

प्रस्तर यजमान का प्रतीक है। इसलिए प्रस्तर को एक तृण के अग्नि में डालता है ताकि समस्त प्रस्तर को मनुष्य की आयु जितनी होती है उस समस्त आयु को प्राप्त किरने के लिए प्रस्तर को ग्रहण करता है। परन्तु शेष समस्त प्रस्तर को भी अग्नि में फेंक देता है कि **जहाँ पूर्व प्रसार के आत्मा भाग गया वहीं भेज देता है** इसलिए कि यजमान का परलोक से सम्बन्ध विच्छेद न हो परन्तु उसको पूर्व की ओर अग्र भाग करके फेंकता है। पूर्व दिशा देवताओं कि दिशा है या उत्तर की दिशा है ओर उत्तर मनुष्य की दिशा है द्वित्तीय बार फेंके जाने वाला प्रस्तर मौन होकर फेंकता है—तथा चक्षुष्प। इस मन्त्र से अपना शरीर का स्पर्श करता है यह कहकर अपने को अग्नि में नहीं फेंकता हैं।[४]

परिधियों को भी अग्नि में डाल देता है. प्रथम परिधि को अग्नि की प्रसन्नता के लिए, शेष दोनों परिधियों को अग्नि के प्रिय स्थान को प्राप्त होवें। यह कहता हुआ अग्नि में परिधि को डालता है।[५]

जुहू तथा उपभृत में आज्य को विश्व देवता के लिए ग्रहण करता है इसलिए कि जिस हवि में किसी देवता का निर्देश नहीं होता है देवता समझते हैं कि यह हमारा भाग है अतः समस्त देवताओं के लिए जुहू तथा उपभृत में आज्य को ग्रहण करता है। तदनन्तर जिस गाडी से हवि ली गई थी अब उसी गाडी के धूरी को स्रुवों से अलग करता है। जहाँ पर जोड़ा होता है वहीं अलग भी किया जाता है।[६]

स्रुवों को यज्ञ के बैल की प्रतीक बताया गया है[७], स्विष्टकृद् याग के द्वारा दोनों यज्ञ पात्र अर्थात् स्रुव् तथा स्फय को अलग करता है। अर्थात् गाडी से दोनों बैलों को अलग करता है अनुयाज में पुनः जोड दिया

---

१. श. ब्रा. १.८.३.८-१५,
२. वही श. ब्रा. १. ८. ३. १५
३. वही १६ यजमानो वै प्रस्तरः
४. श. ब्रा. १.८.३. १७-१८,
५. वही १. ८. ३. १९
६. वही- १. ८. ३. २४
७. वही १. ८. ३. २७, युजीह वाऽएवे यज्ञस्य यत्स्रुचो।

जाता है पुनः खोल देते हैं, जिसमें दोनों बैल अर्थात् स्रुव् को भद्र की संज्ञा दी गई है अर्थात् आप चद्र की प्रतीक है अर्थात् मुझ यजमान को कल्याण प्रदान करो।[१]

सूक्तवाक् की प्रतीक व्यंजना

अध्वर्यु के आदेश से होता सूक्तावाक् के लिए आता है सूक्तावाक् यजमान के आशीष के प्रतीक है इसलिए कि जो यज्ञ करता है वह यज्ञ को उत्पन्न करने वाला भी होता है। ऋत्विक् ही उत्पन्न एवं विस्तार के निमित्त होते हैं अतः यज्ञ के अनन्तर आशीष प्राप्त होती हैं।[२]

यज्ञ के द्वारा देवताओं को प्रसन्न करना यह स्वभाविक है, ऋचा एवं यजु तथा आहुति से वह देवताओं का हिस्सादार हो जाता है, अतः देवता के प्रतीक रूप में आशीष प्राप्त होता है, उस आशीष की संज्ञा सूक्तवाक् तथा नमोवाक् से ली गई है, सूकतवाक् एवं नमोवाक् दोनों ही यज्ञ की प्रतीक है। आशीष के प्रतीक रूप में यजमान अन्न पशु, गृह वर्षा, रस की कामना करता हुआ आशीर्वाद प्राप्त करता है।

देवताओं के पास जाने वाला होता सुसभ्यम् होवे। इस प्रकार प्रत्यक्ष रुप से दीर्घायु के लिए अच्छी सन्तान के लिए, पशु की प्राप्ति, अपने मित्रों के अभ्युदय के लिए दिव्य धाम की प्राप्ति के लिए अर्थात् स्वर्ग की प्राप्ति के लिए इस प्रकार पांच प्रकार से आशीष को प्राप्त करता है। पांच आशीष तीन इडा, इस तरह आठ होते हैं, गायत्री आठ अक्षर वाला होता है, गायत्री वीर्य की प्रतीक है अतः इस कार्य से वीर्य को सम्पादन करता है।

सीमा के अतिक्रमण से बचने के लिए अत्यधिक आशीष नहीं देना चाहिए। यजमान देवताओं को नमस्कार, वृहस्पति यज्ञपति, वृहस्पति यज्ञपति, वृहस्पति के पुत्र शंयु को क्रमशः प्रार्थना करके दुपायों तथा चौपाय प्राणी के लिए कल्याण चाहता है—दुपायों तथा चौपाय से ही समस्त संसार है अतः यज्ञ को समाप्त करके यजमान के लिए कल्याण मांगता है।[३]

इसी क्रम में अङ्गुली से पृथ्वी को स्पर्श करता हुआ पृथ्वी प्रतीक एवं सुरक्षित स्थान है अतः पृथ्वी पर सुन्दर भाव से खड़े होकर यज्ञ को सम्पन्न करके मनुष्य हो जाता है अतः अङ्गुली से पृथ्वी का स्पर्श किया जाता है।[४]

पत्नी संयाज की प्रतीक व्यंजना

यज्ञ से निश्चित सन्तान उत्पन्न होती है। यज्ञ के अन्त में जो कुछ उत्पन्न होते हैं। वे सब जोड़े में होते हैं। अतः पत्नी संयाज कृत्य को प्रजा के उत्पन्न के रूप में किया जाता है।

---

१. वही
२. वही १.९.१.१
३. श. ब्रा. १.९.१-३-१८,
४. वही १.९.१.२९

पत्नी संयाज में चार देवताओं के लिए यज्ञ किया जाता है। दो जोडे चार होते हैं अतः चार देवताओं के लिए यज्ञ किया जाता है। जिसकी हवि घृत से दी जाती है—घृतवीर्य की प्रतीक है घृत को आहुति देकर प्रजा के उत्पन्न के लिए वीर्य को सींचता है।[१]

आहुति देते समय धीमी आवाज में देना चाहिए—समागम क्रिया भी छिपकर किया जाता है तथा धीरे धीरे किया जाता है अतः धीमी आवाज को समागम क्रिया की प्रतीक रुप में बतलाया है। वीर्य के प्रतीक रूप में सर्वप्रथम सोम देवता को आहुति दी जाती है। तदनन्तर वीर्य की विकृत रूप में त्वष्टा को आहुति देता है। पत्नियों के योनि में वीर्य को स्थापित करने के लिए प्रतीक रुप में देव पत्नियों को आहुति देता है जिससे सन्तान उत्पन्न होवें।[२]

देव पत्नियों को आहुति देते समय अग्नि को छिपा लिया जाता है, अग्निगृहपति है—अग्नि इस लोक की प्रतीक है, जिसके द्वारा इस लोक के लिए सन्तान उत्पन्न होती है अतः गृहपतिरुपी अग्नि को आहुति दी जाती है।[३]

वर्तमान समय में, इडा, परिधि, प्रस्तर, कुछ भी नहीं होते हैं, जिस तरह यजमान को विदा किया उसी तरह यजमान पत्नी को भी इस समय विदाई की जाती है। यदि प्रस्तर के स्थानापन्न की आवश्यकता होवे तो वेद अथवा कुश के गुच्छों से एक तृण को लेकर जुहू में अमलाभाम बीच से भाग को स्रुवा में शेष भाग को थाली में डूबोकर पीछे फेंक देता है, जुहू एवं स्रुवा को साथ उठाता है। सर्वप्रथम प्रस्तर को सिंचन करके यजमान के लिए आहुति दी थी जो कि वह आहुति बनकर देवलोक को जाता है अतः जुहू एवं स्रुवा को लेता है।[४]

समिष्ट यजु की प्रतीक व्यंजना

जिन देवताओं को यज्ञ में बुलाया गया है और जिनके लिए यज्ञ किया जाता है उसे समिष्ट यजु कहते हैं। इसका आशय यह है कि जो देवता चाहे हुए न चाहे हुए यज्ञ में आजाते हैं इन्हें दी जाती है।

समिष्ट यजु को जिन देवताओं के लिए यज्ञ किया जाता है उन्हीं देवताओं को विधिवत आहुति देकर देवताओं का विसर्जन कर दिया जाता है, जिस विधि के द्वारा यज्ञ को उत्पन्न किया और विकसित किया और उसी को उत्पन्न करके प्रतिष्ठा में स्थापित करता है अतः समिष्ट यजु को प्रतिष्ठा के प्रतीक रूप में किया जाता है। यज्ञ को यज्ञ से मिलाना ही समिष्ट यजु है।[५]

---

१. श. ब्रा. १.९.२,५-७ अथ पत्नी संयाजयन्ति। यज्ञाद्वे प्रजाः प्रजायन्ते यज्ञात् प्रजायमाना मिथुना अजायन्ते मिथुनात् प्रजायमाना मिथुनाअजायन्ते,—-प्रजाः प्रजायन्ते तस्मात्पत्नीः संयाजयन्ती। चतस्रो देवता यजति। चतस्रो वै मिथनं द्वन्दं वै मिथुन द्वद्वें हि खलु भवति मिथुमेवैतनप्रजननं क्रियते तस्मात् चतस्त्रोदेवतायजतिता वाऽआज्य हविषा भवन्ति। रेतो वाऽ आज्यं ϑ रेत एवैत सिंचति तस्मात् आज्यो हविषो भवन्ति।

२. श. ब्रा. १. ९. २. ८-१२

३. श. ब्रा. १.९.२.१३,

४. श. ब्रा. १.९.३-१४-२०,

५. श. ब्रा. १.९.२-२४-२६,

वर्हि लोक की प्रतीक है, औषधियाँ हा वर्हि है—इस लोक में औषधि को प्रतिष्ठित करता है अतः वर्हि यज्ञ करना चहिए।[१]

समिष्ट यजु : ––

यज्ञ का अन्न है, जिसको अतिरिक्त आहुति कहना कोई अतिश्योक्ति नहीं है, समिष्ट यजु की आहुति अनन्त असीमित ओषधियों की प्रतीक है। जिसकी हवि घृताकत वर्हि है, इन्द्र आदित्य वसुओं, रुद्र, तथा विश्वदेव से संयुक्त के रुप में आहुति दी जाती है।२

पत्नी वेद को खोलती है—वेदि स्त्री की प्रतीक है—वेद पुरुष का प्रतीक है अर्थात् वेद से वेदि को स्पर्श करके सन्तान उत्पन्न करने वाली हो जाती है—पत्नी स्त्री होती है, वेद पुरुष है—स्त्री और पुरुष में सन्धि होने के लिए वेद को खोलती है।

होता वेदि को फैलाता है इसलिए कि वेदि स्त्री है और वेद पुरुष है। पुरुष स्त्री के पास पीछे से ही जाता है अर्थात् पश्चिम से पुरुष के प्रतीक वेद को स्त्री के प्रतीक वेदि तक ले जाती है।

पूर्व दिशा में यज्ञ की समाप्ति के लिए समिष्ट यजु की आहुति दी जाती है, पत्नी संयाज अगर बाद में हो तो अर्थात् समिष्ट यजु के बाद यज्ञ पश्चिम में समाप्त होता है।

तदनन्तर वर्हि यज्ञ को करता है—लोक वर्हि की प्रतीक है, ओषधियाँ वर्हि की प्रतीक है, लोक में ओषधि धारणार्थ वर्हि यज्ञ किया जाता है।

इसके अनन्तर एक अतिरिक्त आहुति दी जाती है जिसको समिष्ट यजु के अन्तिम आहुति के रुप में दिया जाता है—इस आहुति से अनन्त असीमित ओषधियां प्राप्त होती है।३

यजमान विष्णु क्रम के प्रतीक व्यंजना

यज्ञ समाप्ति के अनन्तर अध्वर्यु दक्षिण की ओर घूमकर पूर्णपात्रके जल को उत्तर की ओर गिरा देता है, यज्ञ का उद्देश्य यह है कि देवलोक की प्राप्ति, यज्ञ से देवलोक प्राप्त कर लेती है—जिसके पीछे स्वयं दक्षिणा चलती है जो दक्षिणा पुरोहित को दी जाती है।[४]

देवताओं के पास जाने के लिए तीन (यान) वाहन की आवश्यकता होती है, जिसको, मार्ग, देवयान, अथवा पितृयान के नाम से जाना जाता है उस मार्ग में अर्थात् जिस मार्ग में देवताओं को जाना है वह मार्ग दीपशिखा से प्रज्वलित होता रहता रहता है। उस मार्ग को शान्त करने के लिए शान्ति के प्रतीक जल के द्वारा

---

१. वही १.९.२.२९

२. वही–श. ब्रा. १.९.२.३०-३१
तां वाऽअतिरिक्तं जुहोति। समिष्ट यजुहर्येवान्तो यज्ञस्य यद्द्ध्र्व समिष्टयुजुऽरिक्तं यधदाहि समिष्ट यजुर्जुहोत्यथैताभ्यो जुहोति तस्मदिमा अतिरिक्त। असंम्मित ओपभय: प्रजायन्ते। स जुहोति। संवर्हिरङ्क्ता ए हविषा घृतेन समदित्यैर्वसुभि: सं मरुद्धिः समिद् विश्वदेवेभिरङ्क्तां दिव्यं नमोगच्छतु यत्स्वाहेति।

३. श. ब्रा.—१.९.२ २८-३०,

४. श. ब्रा. १. ९. ३. १

उस मार्ग को शान्त करता है—वह जलपूर्ण पात्र का होता है—पूर्ण का अर्थ समस्त इस प्रकार (समस्त) से मार्ग को निरन्तर शान्त करता है।[१]

यज्ञ में किए गए अपराध को शमन करने के लिए पूर्णपात्र के जल को गिरा देता है, क्योंकि जल शान्ति की प्रतीक है, जल को अजस्र, अर्थात् निरन्तर गिराते रहना चाहिए और उस जल को अजंलि से ग्रहण करना चाहिए। जिससे तेज शक्ति शरीरों और कल्याणकारी मन से सब को मिला देता है।[२]

तदनन्तर मुख का स्पर्श करता है। इसके दो हेतु है। एक तो जल अमृत के प्रतीक है—अर्थात् जलरूपी अमृत से मुख का स्पर्श करता है। तदनन्तर यजमान जिस यज्ञ में ऋचाओं तथा युवाओं से आहुतियों से देवता को प्रसन्न किया तथा अब वह उसका हिस्सेदार बनकर, उन देवताओं के विष्णु के पगद्वारा पहुँचाता है।[३]

विष्णु के पगों से इसलिए चलता है कि विष्णु स्वयं यज्ञ है—जिस यज्ञ के द्वारा देवताओं ने विक्रान्तशील प्राप्त कर लिया था जो वर्तमान में देवताओं के पास स्थिर है। जिसके प्रकाश, पृथ्वी, अन्तरिक्ष, तथा द्यौ को प्राप्त करलिया था अब उस विक्रान्त को यह विष्णु के प्रतीक यजमान उस शक्ति को प्राप्त करके विष्णुके पगों में चलाता है। अर्थात् पृथ्वी से बहुत ऊपर की ओर जाता है।[४]

जिसमे कि पृथ्वी को गायत्री छन्द से—अन्तरिक्ष में त्रिष्टुप छन्द से द्यौलोक में जगती छन्द से चलकर विष्णु लोक को प्राप्त करलेता है। जिसका नाम गति है यही प्रतिष्ठा है।[५]

यह जो तपता है अर्थात् सूर्य की किरण है वे सुष्टु है, यह जो परम प्रकाश है, वह प्रजापति स्वर्ग लोक है, इस प्रकार वह यजमान इस लोक को प्राप्त करता हुआ वह गति और प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है।

शत्रु से विजयी होने पर देवताओं ने क्रमशः द्यौ अन्तरिक्ष, पृथ्वी को जितकर उसी तरह होता ने भी धौ, अन्तरिक्ष पृथ्वी को जीतकर पृथ्वी का प्रतिष्टा है इसलिए वह प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होता है।[६]

यजमान पूर्व की तरफ देखता हुआ चलता है अर्थात् पूर्व देवों की दिशा है अतः पूर्व दिशा की ओर देखता हुआ चलता है। सर्वप्रथम यह कहता है कि स्वर्ग में हम पहुँच गये, देवों में, प्रकाश में अर्थात् मिल गये, सूर्य को देखता है—सूर्य स्वयं गति है वही प्रतिष्ठा है गति और प्रतिष्ठा को प्राप्त करने के लिए सूर्य की ओर देखता है इस तरह गति और सूर्य को देखता हुआ यजमान समस्त वस्तु को प्राप्त करलेता है।[७]

गति और प्रतिष्ठा को प्राप्त करके यजमान लौटता है। गार्हपत्य अग्नि के पास गहिपत्य घर है—घर ही प्रतिष्ठा है घर में अर्थात् प्रतिष्ठा में ठहरता है—ठहरकर सम्पूर्ण आयु को प्राप्त करता है अतः गार्हपत्य के पास विश्राम करता है।[८]

---

१. श. ब्रा. १.९.३.२
स एष देवयानोवा पितृयानो वा पन्थाः— ।

२. वही १.९.३. ३—६,

३. वही, श. ब्रा. १. ९. ३. ७ अथ मुख मुपस्पृशते । द्वयं तधस्मान्मुखमुपस्पृशतेऽमृतंवाऽआपोऽमृते वैवैतस ◌ स्पृशतऽएतदु चैवैत कर्मातम कुरुते तस्मात्मुखमुपस्पृशते। अथ विष्णु क्रमानः क्रमते।

४. श. ब्रा. १.९.३.७-९,

५. श. ब्रा. १.९.३.१०,

६. वही—११-१२

७. श. ब्रा. १.९.३.१५,
अथ सूर्यमुदीक्षते। सैषा गतिरेषा, प्रतिष्टानं देना गतिमेता प्रतिष्ठां गच्छन्ति तस्मात् सूर्यमुदीक्षते।

८. वही १.९.३.१७

यजमान सम्पूर्ण कामनाओं के लिए प्रार्थना करता है, जो गृहपति, दुःख रहित होता हुआ शतायू बना रहे।

इस तरह अभीष्ट वस्तु को प्राप्त करता हुआ अर्थात् गति और प्रतिष्ठा को प्राप्त करता हुआ इसी मार्ग से लौटता है, जिस मार्ग से गया था उसी मार्ग से आकर आहवनीय के पास खडा होकर मेरा पुत्र मेरे इस वीर्य को जारी रखे यह कहते हुए आहवनीय अग्नि के पास खड़ा इसलिए होता है कि पूर्व में मेरा यज्ञ समाप्त हो गया।[१]

तदनन्तर इदंमहएवास्मि कहता हुआ जो मैं पहले था वह हो गया, इसतरह व्रत को विसर्जन करता है।[२]

॥ इतिशम् ॥



१. वही - १८

२. वही- १९-२३,

अष्टम—अध्याय

दर्शपौर्णमास याग से सम्बन्धित (मिथक्) इतिहास

अष्टम-अध्याय

"दर्शपौर्णमास याग से सम्बन्धित (मिथक्) इतिहास"

"प्रस्तावना"

अंग्रेजी में इतिहास शब्द को मिथ् कहा जाता है। भारतीय परम्पराओं में इतिहास शब्द का प्रयोग देव कथाओं के लिए किया गया है। महान् विभूति कृष्ण द्वैपायन ने यह कहा कि इतिहास पुराण के द्वारा वेद का विस्तृत अर्थ ज्ञान करना चाहिए।[1] तब उसका अर्थ इतिहास से सम्बन्धित था जिस अर्थ में उसका प्रयोग यहाँ किया गया है। महर्षि याज्ञवलक्य देवासुर युद्ध को ऐसा युद्ध बताते हैं जिसका वर्णन अन्वाख्यान एवं आख्यान से किया जाता है। परन्तु जो कभी नहीं हुआ था।[2] इस कथन से स्पष्ट है कि इतिहास मिथ् के अर्थ में प्रयुक्त होता था, श.ब्रा. में ही अन्यत्र विधान की परिगणना में इतिहास एवं पुराण का अलग अलग उल्लेख प्राप्त होता है।[3]—सायण भी इसी अर्थ में ऋक् संहिता के भाष्य में इतिहास शब्द का प्रयोग करते हैं।[4] श. ब्रा. के भाष्य में सायण सृष्टि गाथा के प्रतिपादक ब्राह्मण को इतिहास बताते हैं।[5] आचार्य शंकर ने इसके विपरीत सृष्टि पादक कथा को पुराण माना है तथा उर्वशी पुरुरवा जैसे आख्यान को इतिहास माना है।[6] इसका समर्थन वासुदेव ब्रह्म अपनी वासुदेव प्रकाशिका में किया है।[7] षडगुरु शिष्य भी देव कथाओं के लिए इतिहास शब्द का प्रयोग उचित मानते हैं।[8] इस अर्थ में नीतिमञ्जरी में भी इतिहास शब्द का प्रयोग किया है।[9] वस्तुतः मिथ् के लिए इतिहास शब्द का प्रयोग सर्वथा समुचित है। इस औचित्य को देखकर ही आनन्द कुमारस्वामी ने इतिहास का अर्थ मिथ् किया है।[10] प्रचलित अर्थ में इतिहास शब्द से अलग इतिहास शब्द प्रयोग करने के कारण सर्वत्र कोष्ठक में "मिथ्" शब्द दिया गया है। अन्यथा प्रचलित अर्थ में इतिहास तथा मिथ्क शब्द में सन्देह हो सकता था।

---

१. महाभारत आदि पर्व १.२९७ इतिहास पुराणभ्या वेद—समुपवृहयेत्।

२. श. ब्रा. ११.१.६.९ "नैन दस्तियद् देवाऽसुरं यदि समन्वाख्याने तदवधुते इतिहासत्वंतः। तु. १३.४.१२" इतिहासी वेदः सोऽयमिति कथिदितिहासऽयसीति।

३. श. ब्रा. ११.५.६.८,११.५.७.८, ११.५.४.११, १४.६.१०.६ वु तै आ. १.९.१.९, २.१०.१.२-११-१ श आ. ८-११

४. सायण ऋ सं. २.१२.१ अवतरणिका अग्रेतिहासो वृहद्देवतायामुक्तः ५. २. १ शाखांयन ब्राह्मणोकत इतिहासइहोदूयते।

५. सायण श.ब्रा. ११.५.६.८ अपां इवा इदमग्र समिन्नभासइत्यादिकं सृष्टि प्रतिपादकं ब्राह्मनं मितिहासः। उर्वशी हाप्सराः पुरुष सभेदं भक्ते इत्याधीना पुरातने पुरुष वृतान्त प्रतिपादिकानि पुराणिनि।

६. शंकर पृ०व०३०,२-४-१० इतिहास इत्युर्वशी संवादरादिः उर्वशीहाप्सरा इत्यादि ब्राह्मणमेव। पुराणम् अप इव इदमग्र आसीन् इत्यादि।

७. वासुदेवब्रह्म तदैव।

८. षडगुरु शिष्य वेदार्थदीपिका कात्यायन सर्वनुक्रमणी स. मैकडॉनल ऑक्सफोर्ड १८८६, पृ. ८४ अत्रेतिहासः श्रुत्येक्तः सम्यगेरा प्रवर्तयते पृ० १०२, अपरे वर्णयनीतिहासः पृ. १४२ इतिहासश्यार्भम् वृत्ति ऐ. ब्रा. पृ० ५४२ अत्रेतिहासं कथ्यन्ते।

९. नीतिमंजरी हरिहरमण्डल वाराणसी वि. सं. १९९८ पृ. ४१सरमा सम्बन्धी इतिहासौ वृहद्देवतायमेव वर्णितोऽस्ति।

१०. आनन्द कुमार स्वामी हिन्दूज्म् एण्ड वुद्धिज्म् मुंशीराम-मनेहर लाल नई दिल्ली १९७५, पृ. ६

ब्राह्मण ग्रन्थों में विधि अर्थवाद का वर्णन इतने विस्तार से किया गया है, जो साधारण पाट को से उद्‌वेग हुए नहीं रहता, फिर भी उद्वेग व्यूह रचना में कहीं कहीं रोचक आख्यान देखने को प्राप्त होते हैं एवं और जिससे आकर्षक तथा महत्वपूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में शतपथ ब्राह्मण भी एक अलौकिक ग्रन्थ है जिसमें आख्यान साहित्य का पूर्ण भण्डार आभासित होता है, शतपथ ब्राह्मण में भी वर्णित दर्शपूर्णमास इष्टि में स्वल्पकाय तथा लम्बे आख्यानों का महत्वपूर्ण रोचक वर्णन है।

स्वल्पकाय आख्यानों का वर्णन उन कथाओं का वर्णन है जो सद्यः विधि का ज्ञान है, ये आख्यान किंचिद् भेद से अनेक ब्राह्मणों में उपलब्ध होते हैं। इन छोटे छोटे आख्यानों से कभी कभी गम्भीर तात्विक शब्दों का रोचक प्रसंग मिलता है जो गूढ़ार्थ को द्योतित करता है।

प्रजापति की प्रार्थना उपांशु रुप से करने का कारण शतपथ में जिन कथानक का उपक्रम किया है वह नितान्त ही रहस्यमय है। श्रेष्ठता को प्राप्त करने के लिए मन और वाक् में कलह, दोनों का प्रजापति के पास जाना, प्रजापति का निर्णय मन के पक्ष में देना। वाणी की अपेक्षा मन को श्रेष्ठ मानना इत्यादि मनोवैज्ञानिक तथ्य का आभास होता है।

लम्बे आख्यानों में प्राचीन जलप्रवाह का इतिहास है। यह कथा मत्स्यावतार से सम्बन्ध है। तथा पुराणों में इसका विस्तृत विवरण प्राप्त होता है।[१]

"दर्शपौर्णमास इष्टि तथा सृष्टि की उत्पत्ति से सम्बन्धित आख्यान"

सृष्टि के पूर्व मात्र जल था, प्रजापति ने प्रजा के उत्पन्न के सम्बन्ध में सोचते हुए तपस्या किया, प्रजापति की तपस्या से हिरण्यमय अण्डा का उत्पन्न हुआ, उस समय संवत्सर भी नहीं था। परन्तु यह अण्डा संवत्सर तक तैरता रहा कुछ समय पश्चात् संवत्सर पुरुष का उत्पन्न हुआ वह प्रजापति था। अतः स्त्री या गौ, घोडी एक वर्ष में बच्चे को जन्म देती है। इसलिए कि साल भर के बाद प्रजापति का उत्पन्न हुआ था, उसने इस अण्डे को तोड़ा, उस समय कोई प्रतिष्ठा का स्थान नहीं था यह हिरण्यमय अण्डा एक वर्ष पर्यन्त तैरता रहा।[२]

साल भर के बाद उसने बोलने की इच्छा की जब उन्होंने कहा "भूः" वह पृथ्वी हो गई, जब उसने "भुवः" कहा तब वह अन्तरिक्ष हो गया, उसने कहा " स्वः " तब वह धैलोक हो गया। अतः बच्चा साल भर में बोलने की इच्छा प्रकट करता है इसलिए कि प्रजापति सालभर के अन्तराल में बोलने की प्रवृत्ति बनाई थी।

सर्वप्रथम प्रजापति एक या दो अक्षर बोलने की इच्छा प्रगट की थी अतः बच्चा भी सर्वप्रथम एक दो अक्षर को बोलता है।[३]

---

१. भा. पु. ८/२४,

२. श.ब्रा. ११.१.६.१-२
आपोहवाऽइदमग्रे समिलमेवास। ता अकमायन्त कथं नु प्रजाययहीति ता आश्राभ्य एतास्तपोऽतप्यन्त तासु—आस तदिदं हिरण्यमयमाण्डं भावत्संवत्सरस्य वेला तावत् पर्यप्लवत। ततः सवत्सरे पुरुषः समभवत्—।

३. श. ब्रा. ११.६.१.३ ६. स सवत्सरे व्यांजहीर्षन् स भूरिति व्याहरत्सेय पृथिव्यमवद्भुव– ।स वाऽएकाक्षदघत्तर रात्रयेव– । तानि वाद एतानि पंचाक्षराणि—।

" भूः भूवः स्वः " को उच्चारण करते हुए पांच ऋतु का निर्माण किया, अतः वर्ष में पांच ऋतु होते हैं, इस ऋतु के उत्पन्न से प्रजापति साल भर में खड़ा हो गया अतः बच्चा भी साल भर में खड़ा होता है।[१]

प्रजापति सहस्र वर्ष आयु वाला बन गया, जैसे कोई नदी के उस पार देखता है उसी तरह प्रजापति अपनी आयु को उसपार देखा।[२]

जब वह सन्तान की इच्छा से पूजा एवं कर्म करता रहा, उसने अपने में ही प्रजा की उत्पन्न की और शक्ति को धारण किया, और अपने मुख से देवताओं को उत्पन्न किया, और वे देवता द्यौलोक में प्रवेश होते समय उत्पन्न हुए, यही देवों का देवत्व है। देवताओं के उत्पन्न होने के बाद दिन हुआ यही देवत्व है। प्रजापति के नीचे से प्राण से असुर उत्पन्न हुए, और वे सब पृथ्वी में प्रवेश कर गये, और असुरों से उत्पन्न सारा संसार अन्धकार मय हो गया।[३]

प्रजापति यह सोचा कि मैं पाप को जन्म कर दिया, क्योंकि उसके बाद मेरे लिए अन्धकार मय हो गया। प्रजापति ने पाप से असुरों को बांध दिया इसलिए असुर पराजित हो गए। इस पर लोगों का कहना है कि देवासुर संग्राम के विषय में जो आख्यान या इतिहास के रूप में है वह ठीक नहीं है।[४]

इसलिए ऋग्वेद[५] में यह कहा गया है जिसमें कि प्रजापति की महिमा बताई गई है वह इस प्रकार से है, हे भगवन् आपने एकदिन भी लड़ाई नहीं की। न आप का कोई शत्रु है, जो तुम्हारे दूत है वे भी माया है, न आपने किसी शत्रु से लड़ा और न पहले, आपने देवों को जन्म देकर दिनको प्राप्त कर लिया और असुरों को जन्म देकर अन्धकार अर्थात् रात्रि प्राप्त किया।[६]

प्रजापति ने यह सोचा कि मैंने देवता को निर्माण करके यह सब मैंने चुरा लिया इसका संवत्सर या सर्वत्सर हो गया, सर्वत्सर का नाम ही संवत्सर है जो संवत्सर के सर्वत्सर को जानता है, उसको यदि पाप या माया से उछालता है तो उसका पराजय नही होता है, जो संवत्सर के सर्वत्सर को जानता है उसको कोई धोखा नहीं दे सकता है। प्रजापति ने सोचा कि जो मैंने अपनी निजी प्रतिमा बनाई, और संवत्सर को बनाया, इसलिए संवत्सर ही प्रजापति है, प्रजापति में चार अक्षर होते है संवत्सर में भी चार अक्षर होते हैं। प्रजापति के द्वारा इतने सारे देवता उत्पन्न हुए जिनका अग्नि, इन्द्र, सोम परमेष्ठी प्राजापत्य आदि नाम है और वे सब सहस्र वर्ष वाले आयुवान बन गए और उन देवताओं ने अपने आयु को अधिक से अधिक देखा।[७]

प्रजापति का अर्चना पूजा पुत्र परमेष्ठियों ने प्रारम्भ कर दिया यही दर्शपौर्णमास यज्ञ है, उन दोनों ने यज्ञ को किया और इष्टियों को करके अपनी कामनाऐं की पूर्ति हेतु निवेदन किया कि मैं यहाँ पर सब कुछ हो

---

१. वही,

२. श. ब्रा. ११. १. ६. ६ स सहस्रायुर्जज्ञे । स यथा नद्यपार परापश्ये देवं स्वस्यायुष पारं परा चारण्यौ।

३. वही ११.१.६.७-८,
सोऽर्चञ्छ्राम्यंश्चचार प्रज्ञाकामः संअत्यन्येव प्रज्ञांत मधत्त— । अथ यो ऽयम् वाक् प्राणः। तेनापुरानु सृजत तऽइमामेव पृथवीमभिपधासृज्यन्त तस्यै ससृजानाय तम-इवास

४. वही ११.१.६.९

५. ऋग्वेद, नात्वं मुमुत्से कतमच्च नाहर्म तेऽमित्रों मघवनकश्चनास्ति मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाध शत्रून्न नुपुरा युयुत्से।

६. श. ब्रा. ११.१.६.१०

७. श. ब्रा. ११.१.६.१२-१५, स एक्षेत प्रजापतिः इमं वाऽआत्मनः प्रतिमामसृक्षि मन्संवत्सरमिति— ।ता वाऽएताः । प्रज्ञापते रधि देवता असृज्यन्ताग्निरिन्द्रः सोमः परमेष्ठी प्राजापत्यः । ता वा सहस्रायुषो जज्ञिरे । ता यथा नद्यै पारं परापश्ये देवं स्वस्यायुषः पारं पराचख्युः।

जाउं, और वह जल हो गया, यहाँ पर जल ही सब कुछ हैं क्योंकि वे परम स्थान दूर देश में रहते हैं, जो इसको खोदकर निकालता है वही पाता है और अत्यन्त दूर स्थान मे वर्षा होती है अतः इसका नाम परमष्ठी है।[१]

परमेष्ठी ने पिता प्रजापति से यह कहा कि मैं एक कामना पूर्ति करने वाला यज्ञ को देखा हूँ, और उससे आप का पूजा, करुंगा, उसके लिए यज्ञ किया, परमेष्ठी ने सोचा कि मैं यहाँ सब कुछ हो जाउं और वह प्राण हो गया प्राण यहाँ सब कुछ है, क्योंकि वह जो चाहता है वह प्राण ही है, वही प्रजापति है, जो कोई यह समझे कि यह जो कहता है वह प्रजापति की आंख है और प्राणि ही प्रजापति है और प्रजापति की इस दृष्टि को जो समझता है वह प्रजापति में तल्लीन होकर प्रजापति के स्वरूप को प्राप्त करता है वह जन्म हो जाता है।[२]

उस प्रजापति ने पुत्र इन्द्र से कहा जो यज्ञ मेरे लिए परमेष्ठी ने किया है उसी काम अर्थात् कामनाओं को पूर्ण करने वाला यज्ञ को फिर मैं तुम्हारे लिए करना चाहता हूँ, और प्रजापति ने यज्ञ किया और वह वाणी हो गया, वाणी ही सब कुछ है इसलिए इन्द्र को वाणी कहते हैं।[३]

इन्द्र ने अपने भाई ऐन्द्र और अग्नि से यह कहा कि मेरे पिताजी प्रजापति जी ने जो यज्ञ किया था उस यज्ञ को मैं आप लोगों के लिए करना चाहता हूँ और दोनों के लिए यज्ञ किया। यज्ञ के द्वारा अग्नि और सोम ने यह सोचा कि हम लोग सब कुछ हो जाऐं परन्तु एक अन्न को खाने वाला और एक स्वयं अन्न हो गया। अग्नि अन्नाद हो गया और सोम अन्न ये सब जगत दो ही है अन्नाद और अन्न।[४]

इस तरह पांच देवताओं ने यज्ञ को किया, देवताओं ने जिस कामना से यज्ञ किया और वह कामना पूर्ति हो गई—जो कोई इस यंज्ञ को करता है उसकी समस्त कामनाऐं स्वतः ही पूर्ति हो जाती है।[५]

देवताओं ने यज्ञ को करके पूर्व दिशा की ओर देखने लगे अतः वह सामने की दिशा को देखा, यही प्राची दिशा है इसलिए सब प्राणी आगे की ओर चलते हैं, इस सामने की दिशा को शक्तिशाली दिशा बनाया और ऊपर को देखकर घौ हो गया। तदनन्तर दक्षिण दिशा को देखा उसको दाहिनी दिशा बना लिया, इसलिए दक्षिणा अथवा गौ। वेदी की दक्षिण की और खडी रहती है और गाय को दक्षिण की ओर से हांकी जाती है, इस दिशा को दाहिनी दिशा बताते हुए अच्छा बनाने का प्रयत्न किया, और इसको लोक बनाया लोक को देखें, यह अन्तरिक्ष हो गया, यही अन्तरिक्ष लोक है, जिस तरह इस लोक में पृथ्वी सब चिजों के आधार पर हैं वैसे ही उस लोक में अन्तरिक्ष, लोग यहीं बैठे हुए उस लोक को नहीं देख सकते हैं इसलिए वह लोक परोक्ष है।

तत्पश्चात् पश्चिम दिशा को देखकर आशा का निर्माण किया इसलिए जब आगे या पूर्व दिशा में चलकर कामना का लाभ प्राप्त करता है पुनः इस दिशा को प्रत्यावर्तन आता है। क्योंकि इसको आशा बनाया था, सोचा मैं इसको सुधारूं इससे वह श्री हो गई, श्री के रूप में देखूँ, इससे वह पृथ्वी हो गई यही पृथ्वी श्री की प्रतीक है, इसलिए जिस के पास अधिक जमीन होती है वह श्रेष्ठतम होता है। तत्पश्चात उत्तर की दिशा की ओर देखा और जल का निर्माण किया, जल के शुद्धिकरण में जल को धर्म बनाया, जल "धर्म" है।[६]

---

१. वही ११.१.६.१६,

२. वही ११.१.६.१७,

३. श. ब्रा. ११.१.६.१८ स प्रजापतिरिन्द्र पुत्रमब्रवीत–। सर्व० तस्यादाहु रिन्द्रो वागिति।

४. वही ११.१.६.१९

५. श. ब्रा. ११.१.६.२
ता वा एताः। पञ्चदेवता एतेन कामप्रेण यज्ञेना यजन्त ता यत्कामा अयजन्त स आभ्यः कामः समार्ध्यत यत्कामौ हवाऽस्तेन यज्ञेन सोऽस्मै कामः स मृध्यते।

६. श. ब्रा. ११.१.६.२४, ——तऽइष्टवा प्राचीं दिशम पश्यन्—।
अथदक्षिणां दिशमपश्यन्। तां दक्षिणामेवाकुर्वत सेय दक्षिणैव—अथ प्रतीचिदिशं पश्यत्। अथोदचीं दिशम पश्यन्—आदते धर्मो हयापः।

जब जल इस संसार में आता है यह संसार यथाधर्म के अनुकुल हो जाता है, जब वर्षा नहीं होती है तो बलशाली कमजोर हो जाता है अर्थात् धर्म का क्षय हो जाता है क्योंकि जल धर्म है।[१]

दर्शपौर्णमास इष्टि में ग्यारह देवता होते हैं पांच प्रयाज, दो आज्य भाग, स्विष्टकृत और तीन अनुयाज, इस ग्यारह आहुति से देवताओं ने इस लोक को तथा दिशा को जीता था इस तरह यजमान भी आहुतियों के द्वारा इन लोकों और इन दिशाओं को विजय प्राप्त कर लेता है।

अन्तर दिशाऐं चार होती है, यही चार, पत्नी संयाज है, इन पत्नी संयाज से देवताओं ने अवान्तर दिशाओं को जीता था उसी तरह यजमान भी पत्नी संयाज कृत्य से घर के अवान्तर दिशा को विजय प्राप्त कर लेता है।[२]

इडा के द्वारा देवताओं ने भोजन को प्राप्त किया था, यजमान भी इडा यज्ञ के द्वारा भोजन को प्राप्त करते हैं। अर्थात् दर्शपूर्णमास इष्टि से यह देवों से सम्बन्धी पूर्णता हो जाती है।[३]

पुरुष में पांच प्राण होते हैं ये पांच प्रयाज है दो आज्य भाग दो आखें हें।[४] नीचे का प्राण स्विष्टकृत है। इस आहुति को समस्त आहुतियों से अलग दिया जाता है। इसलिए समस्त प्राण समस्त प्राणों से डरकर अलग हो जाते हैं, स्विष्टकृत आहुति के लिए हवियों को काटकर अलग से लिया जाता है। इसलिए जो कुछ चीज इन प्राणों से प्रविष्ट हो जाती है वह प्राणों में भी प्रविष्ट हो जाता है।

तीनों अनुयाज को शिश्न की प्रतीक बताया गया है। इन सब में मुख्य अनुयाज मुख्य शिश्न है आचार्यों का कहना है कि इस आहुति को सांस रोककर देने में ही फल प्राप्त होता है। परन्तु एक बार सांस लेना चाहिए, शिश्न जुड़े होता है, यदि कोई जोड न होतो वह लटका रहता है, या सीधा खडा रहता है। परन्तु वह लटका रहता या सीधा खडा रहता है, अतः एक बार सांस लेना चाहिए।[५]

चारों पत्नी संयाज को बाहु के प्रतीक कहा है और दो जंघा के प्रतीक है, यह प्राण प्रतिष्ठा है और इडा भी इडा को अग्नि में आहुति नहीं दी जाती है।वह बिना जले रहती है इसलिए प्राण विभाजित नहीं होता है।[६]

याज्य तथा अनुवाक्य हड्डीयां है, हवि मांस है, याज्य और अनुवाक्य छन्द के प्रतीक है। अतः मोटे तथा पतले आदमी की हड्डी एक जैसे होती है, हवि कभी स्वरूप मात्रा में कभी अधिक मात्रा में इसलिए मोटे आदमी के मांस अधिक होता है पतले आदमी का कम होता है। इस दर्शपौर्णमास इष्टि से जिस देवता की कामना की जाती है और जिसके लिए आहुति होती है उसी देवता को आहुति देना चाहिए।

आहुतियां अत्यन्त आवश्यक होती है, फिर भी कोई आहुति छूट जाए तो या यजमान का अंगभग, या प्राण में गड़बड़ी आ जाए तो कोई बात नहीं है आहुतियां घट-बढ़ सकती है।[७]

---

१. वही ११. १.६. २५-२६,
ता वा एताः एकादशदेवताः पञ्च प्रयाजा द्वौ आन्यभागै। स्वितरकृत्रयोऽनुयाजाः। ता वाएकादशाहुतया—।

२. वही ११.१.६.२७, चतस्रोऽवान्तरदिशः त एव चत्वारः पत्नी संयाजा अवान्तरदिशौ वै देवश्चतुर्भिः पत्नी संयाजै रजयन्नवान्तरदिश उऽ एवैष एतैर्ज्ञयति।

३. वही ११.१.६.२८ अथेडा अन्नाधमेवैतया देवा . . . .— — ।

४. श. ब्रा. ११.१.६.२९
अथाध्यत्मम् पञ्चमे पुरुषि प्राणा ऋते चक्षुर्भ्या तऽ एव पञ्च प्रयाजा चक्षुषीऽ आज्यऽभागै।

५. वही ११.१.६.३०-३२

६. श. ब्रा. ११.१.६.३१,

७. श. ब्रा. ११.१.६. ३२-३५,

ये सब आहुतियां सोलह होती है, पुरुप में सोलह कला होती है, पुरुष स्वयं यज्ञ है इसलिए दर्शपौर्णमास इष्टि में १६ आहुतिया दी जाती है।[१]

दर्शपौर्णमास इष्टि तथा मानव शरीर के विकासगत तथ्यों से सम्बन्धित आख्यान

कुरुपंचाल देश के निवासी उद्दालक आरुणि गौतम के पुत्र है। जो उत्तरदेशीय के लोगों में प्रतिष्ठित होकर विचरण कर रहा था आरुणि ने एक उपहार की घोषणा की, हमसे ब्रह्म विद्या सम्बन्धि जो शास्त्रार्थ करेगा उसको हम प्रचुर धन देगें। पूर्व समय की बात थी विद्वानों में शास्त्रार्थ होता था और जो शास्त्रार्थ में पराजित हो जाता था वह जीतने वालों को प्रचुर धन देता था। परन्तु आरुणि के इस घोषणा से उत्तरदेशीय ब्राह्मण से डर गये, परन्तु स्वैदायन शौनक नामक एक पुरुप आरुणि से शास्त्रार्थ करने के लिए तैयार हुआ, और स्वैदायन शौनक से आरुणि ने प्रश्नों का बौछार लगा दिया।[२]

स्वैदायन का उद्दालक से प्रश्न

प्रश्नों के उत्तर में स्वैदायन शौनक ने गौतम से यह कहा कि वही प्रतिष्ठित होकर विचरण कर सकता है जो दर्श पौर्णमास इष्टि में दी जाने वाली आठ आज्य भाग को और मध्य के पांच हवि भाग को छः प्राजापात्य को और पिछले आठ आज्य भाग को और वही श्रेष्टता को प्राप्त कर सकता है जो यह जानता है दर्शपूर्ण इष्टि के द्वारा किस से बिना दाँत और किस प्रयोग से दाँत वाला उत्पन्न होते हैं और किससे नष्ट और किसके द्वारा बराबर बने रहते हैं। और किसके द्वारा अन्त आयु के साथ वह भी नष्ट हो जाते हैं। और किस विधि से नीचे का दाँत निकलते हैं और किससे ऊपर के बडे दाँत, और किससे दाँत बडा होता है तथा बराबर और प्राणी बिना बालों का किससे उत्पन्न होता है और किसके द्वारा बालों से परिपूर्ण, पुनः फिर द्वारा ढाढ़ी मूँछ के बाल और कांख के बाल और अन्य स्थानों के बाल उत्पन्न होते हैं यह बतावें कि सर्वप्रथम शिर का बाल सफेद क्यों होता है और बाद में समस्त शरीर का बाल। और यह भी बतावें किसके द्वारा बालक का वीर्य सींचने योग्य नहीं होता और किससे युवा होता है और किस के द्वारा वृद्ध का वीर्य नहीं होता है। जो सुवर्ण पखोंवाली गायत्री को जानता है जो यजमान को स्वर्ग लोक को जाता है।[३] इन प्रश्नों से उद्दालक को आश्चर्य होना। इन प्रश्नों से उद्दालक आरुणि आश्चर्यचकित हो गये। हे स्वैदायन आप विद्वान है, वस्तुतः जो स्वर्ण को जानता है उसे स्वर्ण प्राप्त होता है, ऐसा कहकर स्वर्ण को छिपाते हुए चला गया, परन्तु लोगों को आश्चर्य हुआ गौतम पुत्र ने यह कैसा व्यवहार किया।[४]

इस के उत्तर में गौतम पुत्र ने कहा कि जैसा ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण से करता है, जो कोई ब्राह्मण से ब्राह्मण का झगड़ा करेगा उसका मस्तक गिर जाएगा यह सुनकर दर्शनार्थी भी इधर उधर हो गये। कुछ समय

---

१. वही ११.१.६.३६ ता वाऽएताः षोड़शाहुतयो भवन्ति षोड़शकस्ती वै पुरुषः पुरुषो यज्ञस्वंस्मात्पोड़शाहुतयो भवन्ति।

२. गो. ब्रा. १.३.६.१०, श. ब्रा. ११.४.१.१-३,

३. श. ब्रा. ११.४.१.४.७,

४. वही ११.४.१.८,

के पश्चात उद्दालक के हाथ में समिधा लेकर स्वैदायन शौनक के पास आए और कहा कि हे महाराज मुझे अपना शिष्य बनालें स्वैदायन ने पूछा कि क्या सीखना चाहते हो आपने जो प्रश्न पूछे थे उसका उत्तर बताइए, उन्होंने उसके प्रत्युत्तर में बिना शिष्य हुए ही मैं तुम को बताता हूँ।[१]

स्वैदायन का उत्तर : ––

उत्तर में उन्होंने यह कहा कि, दो आधार, पांच प्रयाज, आठवां अग्नि का आज्य भाग, सर्वप्रथम ये आठ आज्य भाग सोम की हवि है, हवियों में सर्वप्रथम सोम का आज्य भाग है, अग्नि का पुरोडाश और अग्नि स्विष्टकृत की आहुतिं ये पांच बीच के हविर्भाग हुए।

प्राशित्र और इडा, जो आग्निध्र को दिया जाता है ब्रह्मयाग, यजमान याग, अन्वाहार्य, ये छः आहुतियां प्राजापत्य आहुति होती है, तीन अनुयाज, चार पत्नी संयाज आठवां समिष्टयजु, ये आठ पिछले आज्य भागाहुति है।

प्रयाजों के पूर्ण अनुवाक्य नहीं होते है, अतः प्राणी बिना दांत के उत्पन्न होता हैं। प्रधान हवियों में अनुवाक्य होता है इसलिए प्राणीयों के दांत निकल आते हैं, अनुयाज के पूर्व अनुवाक्य नहीं होते हैं, अतः प्राणियों का दुग्ध के दाँत गिर जाते हैं। पत्नी संयाज में अनुवाक्य होते हैं इसलिए दुबारा निकले दाँत बने रहते हैं। समिष्ट यजु में अनुवाक्य नहीं होता हैं अतः वृद्धावस्था में दाँत गिर जाते हैं। अनुवाक्य को कहकर याज्यों से आहुति देता है इसलिए नीचे का दाँत सर्वप्रथम निकलते हैं तत्पश्चात् ऊपर के। गायत्री पढ़कर फिर त्रिष्टुप से आहुति देता है इसलिए नीचे के दाँत छोटे होते हैं ऊपर के बड़े, दो आधार आहुति आगे की ओर देता है इसलिए दांत बडा होता है, दो संयाज एक ही छन्द में देता है इसलिए अन्दर के दाँत बराबर होते हैं। वेदि के ऊपर कुश विछाने से प्राणी बालवाला होता है पुनः कुश को बिछाता है इसलिए प्राणियों के ढाढ़ी कांख, तथा अन्य स्थान के बाल फिर निकल आते हैं। प्रस्तर को डालता है इसलिए बुढ़ापे में बाल सफेद हो जाता है,

प्रयाज की आहुति घी होती है, इसलिए कुमार का वीर्य सींचने के योग्य नहीं होता, केवल पानी होता है—धीमी पानी सा ही है। यज्ञ के मध्य में सान्नाय्य तथा पुरोडाश की आहुति दी जाती है इसलिए कि युवावस्था में वीर्य सींचने योग्य होता है वीर्य गाढ़ा हो जाता है, अनुयाज की आहुति घी की होती है अतः अन्तिम अवस्था में वीर्य सींचने योग्य नहीं रह जाता पानी हो जाता है।[१]

वेदी गायत्री है—सर्वप्रथम दिये जाने वाला आठ आज्य भाग इसका दक्षिण बाहु है, और बाद के आठ आज्य आहुति वाम भुजा है, इस तरह रहस्य को समझकर जो दर्शपौर्णमास यज्ञ को करता है उसे सुवर्ण पंखोवाली गायत्री स्वर्ग लोक को ले जाती है। जहाँ पर चिर सुख का अनुभव प्राप्त होता है।[२]

---

१. श. ब्रा. ११.४.१.१०-१६
तस्माऽ उ हैवउवाच। द्वावाधारौ—। प्राशित्रं चेडा च—अथयदुपरो—अथ यदनुवाक्या मनूच्य—अथ यद्धर्हस्तृणति—अथयदाज्यहविषःभवन्ति प्रयाज भवन्ति। कमिव हयाज्यम्।

२. वही ११.४.१.१६ वेदिरेव गायत्री। तस्यै येऽष्टौ पुरस्तादाज्यभागः स दक्षिणः पक्षी येऽष्टाऽउपरिष्टादाज्यभागाः स उत्तरः पक्षः सैषा गायत्री हरिणी ज्योतिष्पक्षा यजमान स्वर्ग लोकमभिवहति य एव मेतद्वेव।

दर्शपौर्णमास इष्टि को हविर्यज्ञ बताने वाला मिथक्

देव और असुर प्रजापति के दोनों वेदों ने पिता अर्थात् प्रजापति के मरने के बाद दोनों ने उत्तराधिकार प्राप्त किया। महीने के दोनों पक्ष जो शुक्ल कृष्ण पक्ष कहलाता है। शुक्ल पक्ष को देवों ने प्राप्त किया और निरन्तर क्षीण होने वाला कृष्ण पक्ष को असुरों ने प्राप्त किया। देवताओं ने सोचा कि असुरों के भी इस भाग को कैसे छिन लें। तब देवताओं ने अर्चना तथा अनुष्ठान किया, देवताओं ने हवि यज्ञ को देखा जो दर्शपूर्णमास हविर्यज्ञ है। उन्होंने देव तथा असुरों को यज्ञ के द्वारा यजन किया, और यज्ञ करते करते देवताओं ने असुरों के दाय भाग को ले लिया। जिस समय एक के बाद एक पखवाड़े आते हैं तब महीना होता है और महीना से संवत्सर होता है संवत्सर वर्ष ही सब कुछ है। इस प्रकार देवताओं ने असुरों का सब कुछ अपहरण कर लिया और समस्त जगहों से अपने शत्रु असुरों को बाहर कर दिया।

अतः इसतरह रहस्य को समझकर जो दर्शपौर्णमास यज्ञ करता है वह शत्रुओं को अपने वश में कर लेता है।[1]

प्रतिपदा के दिन उपवसथ सम्बन्धिमिथक् : ––

दर्शपौर्णमास इष्टि के प्रारम्भिक कृत्यों मे यह कहा गया है कि यजमान चाहे तो प्रतिपदा के दिन उपवसथ नियम का पालन कर सकता है इससे सम्बन्धित एक मिथक् प्राप्त होता है।[2]

प्रजाओं को सृजन करने वाले प्रजापति का जोड अर्थात् रात और दिन है। संवत्सर प्रजापति है और उसके जोडे रात और दिन, पूर्णमासी अमावास्या तथा ऋतुओं के प्रारम्भ में प्रजापति उठ नहीं सकता था। **तब देवताओं ने हवियज्ञ के द्वारा उस प्रजापति** हविर्यज्ञ के द्वारा देवताओं ने प्रजापति की चिकित्सा की अग्निहोत्र के द्वारा रात दिन की संधि वाले जोड़े की चिकित्सा की, अग्निहोत्र के द्वारा उन्होंने रात दिन की संधिवाले जोड की चिकित्सा की और उसे एकत्र करके स्थापित कर दिया। पूर्णमास इष्टि व दर्श इष्टि के द्वारा पूर्णिमा व अमावस्या के जोडे की चिकित्सा की और सब को एकत्र कर दिया। चातुर्मास्य यज्ञ के द्वारा ऋतुओं के जोडे को ठीक किया, जोड़ों से ठीक होने के बाद प्रजापति स्वस्थ होकर अपने अन्न को खाया, जोड़ों से ठीक होकर प्रजापति अपने समस्त उपयोग्य वस्तु की ओर बढ़ने लगा।

इस तरह ज्ञात होने पर उसी समय (प्रतिपदा के दिन) उपवास करता है तो वह सद्य मानों प्रजापति को जोड़ों को चिकित्सा करता है और प्रजापति को तृप्त करता है और वह भी प्रजापति के समान उपभोक्ता बन जाता है अतः प्रतिपदा के दिन भी उपवसथ किया जा सकता है।[3]

---

१. श. ब्रा. १.७.२, २२-२४
देवाश्चया असुराश्च उभये प्राजापत्याः—तेअनर्चन्त श्राम्यन्तश्ये रुस्त एत हविर्यज्ञ द दृशुर्यद्दर्शपूर्णमासौ। ताभ्यामयजन्त—।

२. श. ब्रा. १.६.३.३५-३७,
प्रजापतेर्ह वै प्रजाः ससृजानस्य, पर्वाथि विसस्र—पौर्णमासेन चैवाभावास्येन—संहितैः पर्वभिः—सम्प्रत्युपवसति—हैव प्रजापतेः पर्व भिषज्यत्यवति है नं प्रजापतिः—य एव विद्वांन्त्सम्प्रत्युपवसति—।

दर्शपौर्णमास इष्टि में हवि ग्रहणार्थ सृप व अग्निहोत्र हवणी को लेकर अग्नि पर मन्त्रोच्चारण पूर्वक तपाता है। इस अनुष्ठान का हेतु प्रदर्शित करने वाला नियम इस प्रकार से हैं।

देवताओं ने जब यज्ञ किया असुरों से भयभीत हो गये, कहीं असुर यज्ञ में विघ्न न डालें अतः प्रतपन क्रिया के द्वारा राक्षसरूपी दूषित तत्व को जलाकर नष्ट कर देते हैं।[१]

हवि ग्रहण से सम्बन्ध मिथक् : ———

यज्ञ स्वयं विष्णु है। विष्णु ने अपने पराक्रम से देवताओं को पराक्रम युक्त किया क्योंकि देवों में पराक्रम है, प्रथम पग से पृथ्वी को, द्वितीय पग से अन्तरिक्ष को एवं तृतीय पग से घु लोक को नाप डाला, इस प्रकार से उन्होंने सम्पूर्ण पृथ्वी को अपने अधिकार में कर लिया।[२]

प्रतिकात्मक रूप में यजमान विष्णु के पराक्रम को प्राप्त करता है तथा आरोहण क्रिया के द्वारा यज्ञ रूप भगवान विष्णु वश में होकर यज्ञ अनुष्ठान को सम्पन्न करता है।

पवित्रों के द्वारा प्रोक्षणी जल को पवित्र करने के सम्बन्ध में मिथक् : ——

इन्द्र का शत्रु वृत्र सम्पूर्ण पृथ्वी को व्याप्त करता हुआ धौ और पृथ्वी के मध्य में जो कुछ है उन सबको ढ़कता हुआ सो गया, वृत्र का इन्द्र ने वध किया, वृत्र कटकर चारों तरफ दुर्गन्ध करता हुआ जल की ओर जाकर बहने लगा—किंचित जल भयभीत होकर ऊपर की ओर बहने लगे—इन्हीं पवित्र जलों से दर्भ की उत्पत्ति हुई जिनसे पवित्र बनते हैं, शेष अन्य जल दुर्गन्धयुक्त भाग था क्योंकि वृत्र उसमें बहकर निकला।[३]

दर्शपौर्णमास याग में पुरोडाश के निर्माण हेतु व्रीहि आदि को कूटने पीसने के लिए कृष्णाजिन् नामक मृगचर्म को ग्रहण किया जाता है— मृगचर्म से सम्बन्ध नियम इस प्रकार है।

एक बार की बात यह है कि यज्ञ देवताओं के पास से कहीं ओर चला गया और काले मृग के रूप में भ्रमण करता रहा, खोजते हए देवताओं ने उसके त्वचा को प्राप्त किया उसके सफेद, काले बहु हरित वर्ण के लोम है वे तीनों वेद अर्थात् ऋग् यजु, साम के स्वरूप है। यही त्रयीविद्या यज्ञ है।[४] जिसकी व्याख्या हम प्रतीक भाग में कर चुके हैं।

---

१. श. ब्रा. १.१.२.३
देवाहवै यज्ञं तन्वानाः। ते असुराऽराक्षसेभ्य आसङ्गा द्रिभयां चक्रस्तघज्ञ मुखा देवैतन्नाग्ना रक्षां ऐ स्यन्तोऽपहन्ति। तु. का. श. ब्रा. २-१२,

२. श. ब्रा. १.१.२.१३,
विष्णुस्त्वा क्रमतामिति यज्ञे वै विष्णुः स देवेभ्य इमा विक्राति विचक्रमे यैषामियं विक्रान्तिरिदमेव प्रथमेन पदेन पस्पाराथेदमन्तरिक्षं द्रितीयेन दिवयुत्तमें नैताम्बेवैष एतस्मै विष्णुयज्ञे विक्रान्ति विक्रमते। तुं. का. श. ब्रा. १.७.४.९

३. श. बा. ११.१.२.४.५
वृत्रो हवाऽइदं सर्व वृत्वा शिश्ये। यदिदमन्तरेण द्यावा पृथिवी स यदिदं सर्व वृत्वा शिश्ये तस्माद्वृत्रोनाम।—तमिन्द्रो जघान। स हतः पूति सर्वत एवापोऽभिप्रसुस्राव सर्वत इव ह्ययं ऐ समुदस्तस्माद् हैका आपो वीभत्साञ्चक्रिरेता उपर्युपर्यति पुप्रविरेऽत इमे दुर्भीस्ता हैता अनापूयिता आपोऽस्ति वाऽइतरासु—। तु का. श ब्रा. २.१.३ तै. ३.२.२५।

४. श. ब्रा. १.१.४.१-३
अथ कृष्णाजिनमादत्ते यज्ञस्यैव सर्वत्वाय यज्ञोह देवेभ्योऽपचक्राम स कृष्ण भूत्वा चचार तस्य देवा अनुविध त्वच मेवामच्छायाजहुः। तस्य यानि शुक्लानि च कृष्णानि च लोमानि तान्यृचां च साम्रा च रुपं यानि— शेषा त्रयीविद्या यज्ञ। तु. का. श.ब्रा. २-१-३, तै. ब्रा. ३-२-५,६

पुरोडाश प्रकरण के अन्तर्गत हवि को कूटते समय अध्वर्यु हवि घृत को तीन बार बुलाता है–इसका मिथक् इस प्रकार है।

मनु के पास एक बैल था। उस बैल में असुर एवं शत्रुओं को मारने वाणी घुस गई—अर्थात् जब वह बैल हुंकारता व चिल्लाता तो असुर राक्षस मर जाते थे—इसको लेकर असुरों के मध्य में सम्वाद हुआ-कि हम बैल से पराजित हो जाते हैं। अतः हमे बैल को नष्ट कर देना चाहिए। इस बात को लेकर असुरों के ऋत्विक् किलात एवं आकुलि ने श्रद्धालु मनु के पास जाकर उनके मन के अभिप्राय जानने की चेष्टा की। इस प्रयोजन के लिए वे दोनों मनु के पास गये और उनके समक्ष यज्ञ करने की इच्छा प्रकट की, यज्ञ का साधन मनु बैल था। मनु ने इसे स्वीकार कर लिया। बैल के मरने पर वाणी वहाँ से चली गई और मनु की पत्नी मानवी में प्रवेश कर गई। परिणाम यह हुआ कि मनु पत्नी मानवी के बोलते ही असुर एवं राक्षस मर जाते है। तब असुरों ने कहा "तिर्यण जाति वाले वृषभ की ध्वनि का श्रवण करने से पूर्व हम को केवल पराजय ही प्राप्त हुआ था, किन्तु वर्तमान समय में मनुष्य के शरीर से निकली हुई वाणी से हमको अतिशय पराजय प्राप्त हो रहा है क्योंकि बैल से अधिक मनुष्य बोलता है। मनुष्य की वाणी पशु पक्षीयों के वाणी से श्रेष्ठ होती है। यह सुनकर दोनों असुर पुरोहितों किलात व आकुलि श्रद्धालु मनु के अभिप्राय जानने के लिए उनके पास जाकर उनकी पत्नी से यज्ञ करने की इच्छा प्रकट की मनु कि पत्नी उनकी बात को स्वीकार कर ली। मनु की पत्नी मर जाने पर वाणी उनमें से निकल गई और यज्ञ व यज्ञ पात्रों में प्रवेश कर गई। दोनों पुरोहित किलात व आकुल उसे फिर न निकाल सके। अतः दृषद् व उपल का तीन बार पीटते समय यही असुर रुपी शत्रुओं को मारने के लिए इन पत्थरों से वाणी निकलती है जिससे असुरों का नाश होता है।[१]

हवि का परिपक्व कपालों के द्वारा होता है अतः कपाल को मन्त्रयुक्त स्थापना किया जाता है—जिसमें कि सर्वप्रथम मध्यम कपाल को स्थापना किया जाता है।

यज्ञ को करते हुए देवता असुरों से भयत्रस्त हो गये असुर राक्षस-हमारे इस हवि के नीचे से न निकल पड़े अग्नि राक्षसों का नाशक है—अतः अङ्गार के ऊपर कपालोपधान करते हैं, समस्त कपालों में से यही एक कपाल राक्षसों को नष्ट करने में समर्थ है इसलिए कि यजुष मन्त्रों से पवित्र किया हुआ मन्त्र बल से युक्त है।

अतः मध्यम कपाल को स्थापना करके शत्रुओं के आक्रमण का भय विलुप्त हो जाता है।[२]

अंगार का जो भाग भूमि पर प्रतिष्ठित रहता है यह आसुर भाव से आक्रान्त रहता है। कारण यह है कि उस अधोभाग में वायु प्रविष्ट नहीं हो सकता।[३] निवास स्थान में असुर प्राणिधिष्ठाता वरुण देवता का सम्राज्य रहता है अधोभाग में अग्नि प्रज्वलित नहीं रहती चारों तरफ से भष्म को हटा देने पर भी नीचे का भस्म को हटाना तथा उसके सम्बन्ध को विच्छेद करना कठिन है। अतः असुरों से वंचित रहने के लिए यह मिथक् अतिश्योक्ति लगता है।

---

१. शब्रा. १.१.४.१४-१७,
मनो ई वा ऋषभ आस—पार्पायासो हेवास्य सपन्ता सपला भवन्ति। द्र. तै. ब्रा.३.२.५.६ का. श. ब्रा. २.१.३,

२. श. ब्रा. १.२.१.-६,
तं मध्यमेन कपालेनाभ्युपदधाति। देवा हवै यज्ञ तन्वानास्तेऽसुररक्षसेभ्य—।

३. को. ब्रा. " यदेव वातो नाभिवाति, तत् सर्व वरुण देवत्यम्।"

पात्री निनेयन तथा उसके उपयोग से सम्बन्धित मिथक्

पुरोडाश के निर्माण होने पर अध्वर्यु अपनी अंगुलियों में लगे पिष्ट भाग को छुडाने के लिए जल से अंगुलियों को धोकर पुरोडाश पात्री में डाल देता है। इस जल का क्या उपयोग है जिसके पात्री निनेयन नामक जल से जाना जाता है। जिस पर एक मिथक् भी प्राप्त होता है।[१]

अग्नि पहले चार प्रकार था, सर्वप्रथम देवताओं ने जिस जिस अग्नि को होता के लिए वरण किया था वह नष्ट हो गया। दूसरी बार जिस अग्नि को वरण किया वह भी नष्ट हो गया, तीसरी बार भी ऐसा ही हुआ, जो अग्नि यज्ञ में है वह भय से जल में प्रविष्ट हो गया। देवताओं ने उस अग्नि को खोजते हुए जल से खोज निकाला, अग्नि ने जल में थूक दिया और कहा तुमने मुझे आश्रय नहीं दिया मेरी इच्छा के बिना देवता मुझे ले जा रहे हैं इसलिए तुम दूषित हो जाओ। अग्नि के इस थूक से एकत, द्वित, त्रित, (आप्त्य) देवता उत्पन्न हुए। वे सब इन्द्र के साथ घूमते रहे जिस प्रकार आजकल पुरोहित राजा का अनुगमन करता है, इन्द्र ने जिस समय तीन मस्तिक वाले त्वष्टा के पुत्र "त्वाष्ट्रा" नाम से प्रसिद्ध विश्वरूप को मारा था, उस समय इनके साथ रहने वाले इन आप्त्य देवताओं ने भी इस विश्वरूप के वध के योग्य समझा, अर्थात् इसे मारने में कोई दोष नहीं है। इस दुष्ट को मार ही देना चाहिए। इस प्रकार आप्त्यों ने त्वाष्ट्र के मारने में अपनी सम्मत्ति ही प्रकट की थी। जब इन्द्र त्वष्ट्रा को मारने लगे तो आप्त्यों ने ही इस कृत्य में विशेष सहायता प्रदान की थी उन्होंने विश्वरूप का पर्याप्त हनन किया था और अन्त में "त्रित" नाम के आप्त्य ने ही उसे मारा था। परिणाम यह हुआ कि इन्द्र इस हत्या के दोष से सर्वथा विमुक्त हो गया। इस घटना से वहाँ उपस्थित हुए देदताओं ने कहा इस हत्या का पाप इन्हीं आप्त्यों को लगे जिन्होंन कि त्वाष्ट्र का वध का समर्थन किया। उस हत्या का दण्ड का क्या स्वरूप होगा ? इस प्रश्न के उपस्थित होने पर अन्त में यही निर्णय हुआ कि यज्ञ में जो कुछ दूपित भाग हो, उसे इनके साथ ही संश्लिष्ट कर दिंया जाए। इस प्रकार यज्ञ में जो पात्री निर्णेजन, अंगुलि प्रणेजन को आप्त्यों के लिए डालते हैं, उससे इन आप्त्यों को उसी दोष भाग से संश्लिष्ट करते हैं। इस पातक को तथोकत से अपने उपर आया देखकर आप्त्यों देवताओं ने परस्पर निश्चय किया कि इस पाप को अपने से अन्य किसी में डालदें। इस पर निर्णय हुआ कि जो यजमान दक्षिणा शून्य हवि से यजन करें। उसी में यह पाप संक्रमित हो यज्ञ सम्बन्धी दोष पाप्मा भाग आप्त्यों में संशिलष्ट हो रहा है। आप्त्य देव स्वपाप्मा उसमें डाल देते हैं, जो बिना दक्षिणा की हवि से यजन करता है। आप्त्य देवता यजमान में अपने पाप को संश्लिष्ट न कर दें इस आपत्ति से बचने के लिए ही देवताओं ने दर्शपूर्णमास यज्ञ में इस दक्षिण का विधान किया जो यजमान अपने यज्ञ में दक्षिणा नहीं देता। उसका हवि सर्वकामनाओं के अधिकार में रहता हुआ निर्वल बन जाता है। ऐसी अवस्था में आप्त्यों में रहने वाला दोष यज्ञ कर्ता यजमान के साथ संलग्न हो जाता है। इस दोष से बचने के लिए अवश्य ही दक्षिणा दान करना चाहिए। उन आप्त्यों के लिए पृथक्-पृथक् निनयन करता है। निनयन के लिए उपस्थित जल को तप्त अङ्गार से तपाता है ऐसा करने से आप्त्यों के अनुरुप यह जल सम्पति परिपक्व हो जाती है पात्री निनेणन रूप आपत्यों के लिए निनयन का यही कारण है।

१. श. ब्रा. १.२.३.१.

तात्पर्य यह है कि हिंसा जनित दोष से आप्त्य का स्वरुप दोष मुक्त हो जाता है। शुद्ध आप्त्य के द्वारा लाए गये हवि से देवता बलवान बन गए। वारुण त्वाष्ट्र आपोमय असुर मारा गया। जल याग वारुण आप्त्य के साथ संक्रान्त हो गया। मिथक् सिद्ध प्राकृतिक यज्ञ में रहने वाला पार्थीव जल याग अन्तरिक्ष आप्त्यों में प्रतिष्ठित रहता है, शुद्ध हवि सौर प्राण देवों में आहुत हो जाता है।[1]

प्रकृति याग दर्शपौर्णमास याग केवल भूपिण्ड के साथ सम्बन्ध है अतः यहाँ पार्थीव मेधरूप व्रीहि यव से कार्य को सम्पन्न कर लिया जाता है, जबकि पशु की आवश्यकता होनी चाहिए। भूपिण्ड सब यज्ञों की प्रतिष्ठा है। इस पर उत्पन्न होने वाले व्रीहि यव में पुरुष, अश्व, गौ अवि, अज, इन पांच पशुओं का मेध भाग विधमान है. पुरुष पशु का मेध भाग, अश्व एवं अश्व का मेध भाग गौ में आता है। गौ का मेध भाग अन्तरीक्ष अवि पशु में संक्रान्त होता है एवं अवि का मेध भाग पार्थिव जल पशु में आता है। अज में पांचों रस है अतः अज को "सर्वपशु" माना जाता है, प्राणात्मक इसी अज पशु के मेध भाग से व्रीहि यव की पुष्टि होती है—इस सम्बन्ध में मिथक् इस प्रकार से हैं।[2]

पुरोडाश यज्ञ का पशु आलम्भन होता है। देवताओं ने सर्वप्रथम यज्ञ पशु का आलम्भन किया था, आलम्भन से ही पुरुष से मेध चला गया और घोड़े में घुस गया, पुनः घोड़े का आलम्भन किया तब मेध घोड़े से निकल कर गाय में धुस गया, तब गाय का आलम्भन किया तब मेध गाय से निकल कर भेड में घुस गया तब उन्होंने भेड का आलम्भन किया तब मेध भेड में से बकरी में चला गया, बकरी के आलम्भन से पृथ्वी में चला गया, पृथ्वी को खोदी गई जो प्राप्त हुआ यही चावल और जौ है जिसको आज पृथ्वी से जोत कर निकाला जाता है। उन सन पशुओं के आलम्भन से जो लाभ होता है वह सब चावल हवि से होता है अतः इस नियम को जानकर जो यज्ञ को सम्पन्न करता है यह पाक्त यज्ञ का लाभ होता है अर्थात् पांच पशुओं का। जिन पशुओं को हमने आलम्भन किया था वह कि पुरुष हो गया घोड़े के आलम्भन से गाय का गौर, गवय, बन गये, भेड का आलम्भन किया तो ऊंट बन गया बकरी का आलम्भन किया तो वह शरभ बन गया अतः हमें पांच पशुओं को नहीं खाना चाहिए क्योंकि इसमें मेध नहीं रहा।

इस प्रकार से दर्शपूर्णमास इष्टि में पुरोडाश से पशुसम्पत्ति प्राप्त हो जाती है।

स्तम्बयजु हरण से सम्बन्ध मिथक् –

दर्शपौर्णमास याग हेतु वेदि का निर्माण किया जाता है, वेदि के निर्माण पूर्व कृत्य को स्तम्ब यजु कृत्य कहा जाता है। वैदिक भाषा में कुश मुष्टि को स्तम्ब कहा जाता है—स्फयरूपी वज्र से मन्त्र बोलता हुआ अध्वर्यु

---

१. श. ब्रा. १.२.३.१.५,
चतुर्धा विहितो हवा अग्रेऽग्निराक्ष—त्रितायत्वा द्वितीय त्वैकताय त्वे "ति—ततो देवाः एतां दर्शपूर्णमासयोर्दक्षिणम् कल्पयन्मदन्वाहर्य—द्द का. श. ब्रा. २.२.१ का. सं. ३१-७
य. सं. संवत्सरो नाम अग्निरे को वृत्तिभेदोच्चतुर्धा प्रतिपद्यते छन्दोऽग्निः त्रऋत्वग्निः ब्रह्माग्निः आहवनीचाग्निरिति तत्र छान्दसोऽग्नि सप्रवायवो गान्धर्वः। आयर्त्तवोऽग्निः पचावयव ए..। अथ ब्राह्मणोऽग्नि सांतपनो मैत्रावरुणः भुवः पतिः भुवनपतिः भूतानां पति रित्येतेषां नामनि। त्रयोऽप्यैते बषट्कारेण प्रवृक्ता। ।वर्षट्कारतया यज्ञ भाजेन संभवतीति स्वयं पृथिव्याः सकाशाद् द्युपर्यन्तं हव्यं वोढुमसमर्थाः होतारो न भवन्ति।
अथ चतुर्थोयमाहवनीय आदित्यो द्यावापृथिव्योरा ।दतिमभि सरचन् परितः समुद्रेऽप्सुः प्रविश्य निलिन्ति। तं देवा अनविद्य सहसैव अद्भ्य आनयन्ति, बलादानीतः सो वश्य केनचित भागेनापोभि तिष्ठेव। प्रथमाहरणे चा वदपोभितिष्ठेव स त्रितः। द्वित्तीयाहरणे यावत् स द्वितः। तृतीयाहरणे यावत् स एकतः—

२. तु. श. ब्रा. १.२.१.५-९, का. श.ब्रा. २.२.१, का. सं. ३१.७

प्रहार करता हुआ उखाडी गई मिट्टी को उत्कर में प्रक्षिप्त कर देता है। इस कुश मुष्टि को भी स्तम्ब यजु कहा जाता है, स्तम्ब यजु हरण से असुर निरस्सनव्यापार को स्तम्बयजु हरण कहा जाता है। इस प्रयोजन का मिथक् इस प्रकार से हैं।

प्रजापति की दो पत्नीयां थी, एक द्रिति और दूसरी अदिति, अदिति के पुत्र देव हुए दिति के पुत्र असुर हुए, वे परस्पर स्पर्धा करने लगे, अपनी महत्ता के लिए लड़ाई कर लिए, जिसमें कि दोनों में लड़ाई हुई, देवताओं ने असुरों को पराजित किया, असुर भी देवों को लक्ष्य करके उन्हें पराजित करने की कोशिश किया—इस पर देवताओं ने चिन्तन किया, और यह निश्चय किया कि किस तरह असुरों को पराजित किए जाए जिससे वे पुनःदेवों को आक्रमण न कर सके। इस पर अग्नि ने कहा मैं उत्तर की ओर जाऊंगा तुम लोग इस स्थान से राक्षसों को रोको जब हम रोकेंगे तो तीनों लोकों से दवा देंगे और तीनों लोकों से आगे जो चौथा लोक है इससे वे पुनः उठ न सकेगे और नष्ट हो जाऐंगे। यह कहकर अग्नि उत्तर की ओर चला गया और दूसरे देवों ने इन असुरों को इधर से रोक दिया और उन्हें तीनों लोकों मे दवा दिया। जो चौथा लोक इन लोकों से परे हैं उससे वे फिर उठ न सके। अतः प्रतीकात्मक रूप से यह स्तम्ब यजुहरण निदानेन असुर पर प्रहार करना है।[१]

जिस प्रकार देवता असुरों को समस्त मार्ग का अवरुद्ध करके असुरों को सदा के लिए परास्त कर दिया था अतः स्थानीय स्तम्बयजु से यजमान अपने दिव्य यज्ञ से सदा के लिए असुरों को बाहर निकाल देता है।

वेदि से सम्बन्ध मिथक् : ––

इस प्रकार से स्पष्ट ज्ञान करना चाहिए कि स्ताम्वयजु कृत्य से असुरों को परास्त करना है या असुरों के ऊपर प्रहार करना है।

स्तम्बयजु के प्रक्रिया से देवता पृथ्वी को तीन तरफ घेरकर चौथे लोक से असुरों को घेर लेता है, जिससे असुरों को आक्रमण करने का अवसर नहीं मिलता है।

वेदि के निर्माण से सम्बन्धित मिथक् –

वेदि संरचना के प्रसंग में त्र्यङ्गुल वाली वेदि बनने के कारण एक मिथक् भी प्राप्त होता है जो इस प्रकार है।

प्रजापति के दो सन्तान हुए एक देव और असुर दोनों में परस्पर अपनी महत्वाकांक्षा हेतु लड़ाई होने लगा जिसमें कि देवता हार गये और असुर जीत गये, असुरों ने यह सोच लिया कि सारा जगत हम लोगों का हो गया।

सम्पूर्ण भूमण्डल को अपनी निजी सम्पत्ति समझते हुए इन असुरों ने बैलें को बाँधने की औक्ष्णी नाम से प्रसिद्ध चर्ममयीरज्जु से पश्चिम की ओर से पृथ्वी की और विभाग करते हुए पूर्व की तरफ से प्रवेश करना प्रारम्भ कर दिया।

---

१. श. ब्रा. १.२.४-८-१२
देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्याःपस्मृधिरे— तेह देवाऊचुः। तेदतन्निदानेन यन स्तम्बयजुः। काठ.सं. ३१-८, मै.सं. ४.१.१०, तै.ब्रा. ३.२.९, का. श. २.२.२,

जब देवताओं ने यह सुना कि असुर गण इस पृथ्वी का विभाजन कर रहे हैं तो देवता उस स्थान पर जाने का निश्चय किया जहाँ असुर पृथ्वी का विभाजन कर रहे थे। जिसका नेतृत्व यज्ञ भगवान ने किया। यज्ञ भगवान विष्णु ने असुरों से यह कहा कि इस पृथ्वी में हमारा भी भाग होना चाहिए। असुरों ने संकोच करते हुए कहा कि तुम्हारा यज्ञ भगवान विष्णु जितने अंश में शयन कर सकता है उतना अंश तुम्हें मिल सकता है। अर्थात् हम उतनी जमीन दे सकते हैं। यज्ञ भगवान विष्णु वामन का रूप तो धारण किया हुआ था—और असुरों को भगवान विष्णु के प्रतीक वामन के स्वरूप का ज्ञान नहीं था—अनन्तर देवता अपना अनादर न समझते हुए भगवान विष्णु पूर्व की ओर का लिटा कर दक्षिण की ओर गायत्री छन्द से पश्चिम की ओर त्रिष्टुप छन्द से उत्तर की ओर जगती छन्द से घेर दिया—इस तरह तीनों दिशाओं से घेर कर भगवान वामन पूर्व की ओर आहवनीय अग्नि की स्थापना करते हुए पूजा अर्चना करते रहे इस तरह दक्षिण की तरफ दक्षिणाग्न पश्चिम की तरफ गार्हपत्य स्थापना करते हुए यज्ञ को आरम्भ किया इस तरह भगवान यज्ञ की कृपा से देवताओं से सम्पूर्ण " भू " प्रदेश में अपना अधिकार जमा लिया तभी से यजमान योग्य यह सम्पूर्ण पृथ्वी 'वेदि' के नाम से प्रसिद्ध हो गई।[1]

तीनों तरफ छन्द के द्वारा तथा पूर्व की तरफ से अग्नि के द्वारा ढ़का हुआ होने से यज्ञ भगवान विष्णु थक (क्लान्त) गये। पूर्व की तरफ अग्नि होने से वहीं से कोई भाग नहीं पा सकता था अतः यज्ञ भगवान विष्णु औषधियों के जड़ों में छिप गया।

यज्ञ कहाँ गया इस तरह कहते हुए देवता यज्ञ को खोजने लगे। अतः जमीन को खोदने लगे, जमीन को तीन अंगुल खोजते ही यज्ञ मिल गया—अतः वेदि को तीन अंगुलि खोदा जाता है—औषधियों को जड के नीचे यज्ञ को पाया इसलिए औषधियों को काट दिया जाता है। यज्ञ को प्राप्त किया अतः "विद्" लाभे धातु से भी यही अर्थ होता है इसलिए इसका नाम वेदि पड़ा।[2]

पूर्व काल में यजमान जब भी यज्ञ को सम्पादन करते थे वर्हिस्तरण से पूर्व वेदि का स्पर्श करते थे अर्थात् स्पर्शास्पर्श दोष का भय नहीं था। जो कि वर्तमान समय में ऐसा हो रहा है।

परिणाम यह होता गया कि यज्ञ करने वाले यजमान का अभ्युदय अवनति की ओर जाने लगा। और यज्ञ न करने वालों की प्रगति अच्छी होती गई। जिससे तत्कालीन समाज में यज्ञ के प्रति अश्रद्धा का भाव जागृत होता गया। जिससे यज्ञ होना बन्द हो गया। अपना जीवन साधन अवरुद्ध होता हुआ देखकर देवताओं ने वृहस्पति के पुत्र अङ्गिरस को बुलाकर यह कहा कि भूलोक निवासी मनुष्यों के प्रति अश्रद्धा प्रविष्ट हो गई है कृपया आप जावें तथा भूलोक के निवासियों को यज्ञ का महत्त्व समझाइए। देवताओं के निवेदन को सुनकर अङ्गिरस ने भूलोक में आये तथा प्राणियों को अश्रद्धा भाव को हटाते हुए यह कहा कि यज्ञ विद्या देवताओं के प्राणमयी विधा है अतः यज्ञ देवता से ही परिपक्व होता है। आप लोगों ने परिपक्व हवि और निष्पन्न वेदि से स्पर्श करते हुए यज्ञ को सम्पादन किया—जिससे तुम लोगों का अनिष्ट हुआ। अतः भविष्य में ध्यान रखते हुए वेदि को बिना स्पर्श किये यज्ञ को सम्पादन करें जिससे आप लोगों का अभ्युदय अवश्य होगा।

---

१. श. ब्रा. १.२.३.१०,
देवाश्च वा असुराश्च। अभय प्राजापत्याः पस्पृधिरे। ततो देवा अनुप्यमिवासुरय—वामनो ह विष्णुरास—छन्दोभिरितः पर्यगृहणन्—त्रयङ्गुले—न्वविन्दंस्तस्माज्यङ्गुला वेदिः—। विष्णु मन्वविन्दंस्तस्मादवेदिनीम।
तुं. का.सं. ३१-८. मै.सं. १०-१०, तै. ब्रा. ३ २.८-९, का. श. २.२.३.

२. श. ब्रा. १.२.५. ८-१०

अङ्गिरस के वचन को सुनकर भूलोक निवासियों ने यह प्रश्न किया कि कब तक वेदि का स्पर्श नहीं करना चाहिए। इसके उत्तर में आचार्य अङ्गिरसजी ने यह कहा कि जब तक वेदि का वर्हिस्तरण प्रक्रिया न हो जाए—वर्हि से वेदि शान्त हो जाती है—वर्हिस्तरण के पूर्व तृण आदि भी कुछ गिर जाता है उसे निकालने की चेष्टा नहीं करना चाहिए। और वर्हिस्तरण के समय गिरे हुए तृण आदि को निकाल देना चाहिए। इस प्रकार प्राणयज्ञ के स्वरूप को जानता हुआ जो विद्वान वेदि का स्पर्श न करता हुआ यजन करता है वह अवश्य ही अभ्युदय का भागी हो जाता है।

अभ्युदय साधन भूत यज्ञ फल की प्राप्ति के लिए वर्हिस्तरण तक वेदि का स्पर्श न करते हुए यजन करना चाहिए।[१]

परिधि आधान से सम्बन्धित आख्यान : ––

अग्नि के चारों ओर तीन परिधियों का समन्त्रक आधान किया जाता है उक्त अनुष्ठान के हेतु ज्ञान कराने वाला मिथक् ———

जब देवताओं ने अग्नि को होता के रूप में वरण किया तो अग्नि ने होता बनने से इन्कार कर दिया और कहा कि तुमने तीन होता बनाए थे, वे लुप्त हो गये उन्हें मुझे दिलादो तब मैं तुम्हारा होता बनूँगां और हवि को ले जाऊंगा। तदनन्तर देवताओं ने तीनों परिधियों की कल्पना किया। अग्नि ने यह कहा कि बषट्कार रूपी वज्र ने उन तीनों देवताओं को मार डाला था अतः मुझे भी डर है कि बषट्कार मुझे भी मार डालें। इसलिए तीनों परिधियों का स्थापना करदो–जिससे बषट्कार मुझे मार नहीं सकेगा। देवताओं ने तीनों परिधियों कि स्थापना कर दिया और बषट्कार उसे मार नहीं सका, ये तीनों परिधियां अग्नि वर्ण है। तब अन्य अग्नियों ने यह कहा कि यदि तुम हमारे साथ इस प्रकार यज्ञ में शामिल रहें हो तो हमें भी यज्ञ में भाग दो—देवों ने कहा जो परिधियों के बाहर से गिर जाए वह तुम्हारा है और जो आहुति अग्नि में दी जाए वो तुम्हारा है—इस प्रकार से अग्नि में दी जाने वाली आहुति वह अग्नियों के तृप्ति के लिए दी जाती है—और जो परिधियों के बाहर गिर जाता है वह भी उन्हीं का होता है। इस प्रकार जो आज्य गिर जाता है उसका भी दोष नहीं लगता है इसलिए कि जब अग्नियां जाने लगी तो पृथ्वी में प्रविष्ट हो गई। इस प्रकार जो आज्य गिर जाता है वह पृथ्वी में ही रहेगा—बषट्कार कहकर जो आहुति दी जाती है वह देवताओं को प्राप्त होता है—और वही आज्य अग्नि को प्राप्त होता है।[२]

"घृताच्या" शब्द से सम्बन्धित मिथक् : ––

अग्नि समिन्धन कर्म में प्रयुक्त होने वाले ऋचा में घृताच्चा पद की महत्व अन्य पदों की अपेक्षा अधिक महत्व है१ श्रुति ने एक पुरातन मानुष इतिवृत्ति द्वारा मानव चरित्रानुगता एतिहासिक घटना के द्वारा इस पद की

---

१. श. ब्रा. १.२.५-२४-२६

२. श. ब्रा. १.२.६.१३-१७,
देवा अग्रेऽग्नि होत्राण प्रावृणत उद्धोवाच न वा अहममिदयुत्सहे— ।सऽस्कन्नमभिमृशति—युवपतये स्वाहा—वषट्कृतं हुत मेवमस्यैतेष्वग्निषु भवति।

गरिमा को समलकृत किया है। जिसकी प्रामाणिकता श्रुति के द्वारा पई जाती है जो **एक मानुष कथा से सम्बन्ध है।**[१]

आख्यान : ——

विदेध का राजा माधव अपने मुख में वैश्वानर नामक अग्नि को रखता था, और विदेध राजा का पुरोहित राहुगण था, पुरोहित ने जब विदेध राजा को पुकारा तब मुख से कहीं अग्नि गिर जाए इस हेतु वह राजा बोल नहीं सका, तब पुरोहित ने मन्त्र से बुलाने लगा, फिर भी राजाने कुछ भी उत्तर नहीं दिया पुनः " तंत्वा—आवीतये वह मन्त्र" का उच्चारण करके बुलाया, ज्योंहि घृत शब्द मन्त्र का उच्चारण किया है, तब वह अग्नि मुख न रहकर पृथ्वी पर गिर पड़ा।

विदेध माधव उस समय सरस्वती के किनारे था, और वह अग्नि जलते जलते पूर्व की ओर बढ़ा, गौतम राहुगण, और विदेध माधव जलते हुए अग्नि के पीछे आ गये, अग्नि ने समस्त नदिओं को सुखा दिया, एक नदी का नाम सदानीरा जो उत्तरी पहाडी से निकलती है उसे नहीं सुखा सका—पूर्व काल में ब्राह्मण लोग इस नदि को नहीं पार करते थे, इसलिए कि वैश्वानर नामक अग्नि ने इसको नहीं सुखा सका था, परन्तु इस नदी के पूर्व की तरफ बहुत ब्राह्मण रहते हैं। पूर्वकाल में सदानीरा से पूर्व की तरफ जमीन खाली पडी थी उस जमीन में दल-दल बहुत था इसलिए कि वैश्वानर अग्नि ने उसका आस्वादन नहीं किया था परन्तु इस समय जमीन बहुत उपजाऊ है इसलिए ब्राह्मण यज्ञ करके उसको आस्वादित कर दिया है गर्मी के दिनों में भी वह नदी खूब बहती है, अग्नि वैश्वानर ने इस नदी को नहीं जलाया अतः यहीं पर अत्यधिक ठण्ड रहती है।

विदेध माधव ने अग्नि से पूछा मैं कहां रहूं तब अग्नि ने कहा पूर्व की तरफ तेरा घर है, वर्तमान समय तक यह नदी कौसल और विदेह देशों के बीच की सीमा है—इसलिए कि यह सब माधव के सन्तान है तदनन्तर गौतम राहूगण ने राजा से पूछा कि मैं आपको बुलाया आप क्यों नहीं उत्तर दिये, मेरे मुख में वैश्वानर अग्नि था अग्नि कहीं गिर जाए इसलिए मैं नहीं बोल सका, पुनः गौतम ने पूछा कि फिर क्या हुआ राजाने इस पर उत्तर दिया कि जब आप घृत का उच्चारण करने लगे अग्नि वैश्वानर जल उठा और मैं नहीं रोक सका। इसलिए सामधेनियों में जो घृत शब्द है वह अग्नि को जलाने के लिए बड़ा ही उपयुक्त है अतः सामधेनी प्रयोग में घृताच्या शब्द को पढ़कर अग्नि को जलाने का काम किया जाता है घृताच्या अर्थात् घी से भरे हुए चम्मच को कहा जाता है। वह शान्ति का इच्छुक वह अर्थात् घृताच्या देवों के पास जाता है, यजमान सुम्नयूः शान्ति का इच्छुक है और वह देवों के पास आना चाहता है अतः यह कहा कि आगे भी ऋचा अनिरुक्त है और (अनियत) है "सब" भी अनियत है अतः अनिरुक्त वचन को पढ़कर "सब" अर्थात् घृताच्या शब्द को सार्थक करता है।[२]

अग्नि प्रज्वलित से सम्बन्ध आख्यान : ——

होता सामधेनी मन्त्रों को पाठ करते समय **अग्निदूतं वृणीमहे**[३] मन्त्र को उच्चारण करते हुए अग्नि के ऋचाओं से अग्नि को प्रज्वलित करता है—**जो एक मिथक् से सम्बन्ध है।**

---

१. ऋग्वेद ५.२६.३, ३ वही ८.४४.१७

२. श. ब्रा. १.४.१-१०-२१,

३. ऋसं. १.१.२२-१,

प्रजापति के सन्तान देव और असुर अपनी अपना प्रभुत्व के लिए लड़ पड़े—दोनों के लड़ाई के मध्य में गायत्री मध्य में आगई। क्योंकि गायत्री ही पृथ्वी है जो दोनों के मध्य में आ गई। अतः देव एवं असुर दोनों को गायत्री ने धीरे धीरे बुलाने लगी देवताओं के दूत गायत्री बनी और अअसुरों के दूत "सहरक्षा" नामक एक राक्षस बना—गायत्री देवताओं के साथ चली गई अतः सर्वप्रथम अग्नि का वरण किया जाता है—गायत्री देवों के साथ देने से देवता जीत गये अतः अग्नि को सुक्रतुः कहा गया है।[१]

पूर्वाधार तथा उत्तराघार से सम्बन्धित मिथक् : ——

पूर्वाधार मन के प्रतीक---उत्तराधार वाक् के प्रतीक पूर्वाधार की आहुति मन को मौन रूप में दी जाती है उत्तराधार की आहुति वाणी को बोलते हुए दिया जाता है। जिसका सम्बन्ध एक कथानक से है।[२]

मन और वाक् दोनों में मैं श्रेष्ठ हूँ। इस प्रतिस्पर्धा को लेकर लड़ाई छिड़ गई—वाक् कहने लगी मैं बड़ी हूँ मन कहने लगा मैं बड़ा हूँ—वाक् की अपेक्षा अपना प्रभुत्व स्थापित करता हुआ वाक् को मन कहने लगा कि मेरे अनुसार तुझे चलना पड़ेगा और तुम्हारे संकल्प को मैं ही वाक्रूप प्रदान करती हूँ—अन्य लोगों को सम्यक् रूप से बोध कराती हूँ, दोनों ने अपने इस विवाद को सुलझाने के लिए प्रजापति की सेवा में उपस्थित हुए—प्रजापति ने अपना निर्णय में मन को श्रेष्ठ बताया। प्रजापति वाक् से यह कहा कि मन के द्वारा संकल्पित मनोभाव का अनुकरण करने वाली है। इस प्रकार के वाणी सुनकर वाक् दुःखित हो गई। और अहंकार में पूर्ण होता हुआ वाक् प्रजापति से यह कहने लगी कि आपने मुझे छोटा बताया है अतः आज से हवि द्रव्य को वहन नहीं करूंगी अतएव यज्ञ कर्म में प्रजापति सम्बन्धी जो भी कार्य किए जाते हैं वह उपांशु ही किया जाता है। उक्त आख्यान से मन तथा वाक् का स्वभाविक स्वरूपों का विश्लेषण हुआ है।

आश्रवण प्रत्याश्रवण सम्बन्धित आख्यान

त्रेता युग में यज्ञ देवताओं को छोड़कर चला गया, कालान्तर में देवताओं ने विनय भाव से यज्ञ को बुलाने लगे। यज्ञ प्रसन्न होकर पुनः लौट आया—आये हुए देवताओं ने यज्ञ को सम्पन्न किया। इस यज्ञ से देव देवता बन गये जिसका स्वरूप आज विश्व में प्रतिष्ठित है। इस प्रकार देवताओं ने अनुनय विनय के द्वारा वापस लौटे हुए यज्ञ कर्म से ही अपना देवत्व सुरक्षित रखा—जो यज्ञ ही देवों का देवत्व बना। अतः आश्रवण क्रिया देवताओं को विनय भाव से बुलाने से सम्बन्धित आख्यान है।[३]

---

१. श. ब्रा. १.३.३.३४-३५,
देवाश्च वा असुराश्चोभये प्राजापत्याः पस्पृंभिरे तान् स्पर्धमानान् गायत्रान्तरातस्थौ—देवानां दूत आस सह रक्षा इत्युसुररक्षसमसुराणां— ।
तै. सं. २.५.७-८ कां. शं ब्रा. २-३-४

२. श. ब्रा. १.४.५, ८-१२,
अथातो मनसश्यैव वाचश्च। अहं भद्रं उदितं मनश्च ह वै—वाक्याहं—स प्रजापतिर्मनस एवानूवाच—तस्माद्यत्कि च प्राजापत्यं यज्ञे क्रियत उपांश्येव तत् क्रियते हव्यवादि वाक् प्राजापतय आसीत्।

३. श. ब्रा. १.५.२.६, तुं. १.५.२.१६-१७, १.५.२५,
यज्ञो ह देवेभ्योऽपचक्राम। तं देवा सन्वमन्त्रयन्ता न श्रृणूप न आवर्तस्वेति सोऽस्तु तथत्येव देवानुपववर्त तेनोपा वृतेन देवा अयजन्त तेनैष्ठवैतद् भवन्यदिदं देवाः ॥

प्रयाज याग से सम्बन्धित आख्यान : --

ऋतु सम्पति पूर्वक संवत्सर सम्पति की प्राप्ति के लिए ही वह प्रयाजों से ऋतुओं का यजन करता है। इन ऋतुओं के यजन से अग्नि पूर्ण हो जाता है किन्तु स्वाहा लक्षण युक्त पंचम प्रयाज याग में केवल अग्नि का ही सम्बन्ध विहिता नहीं है। अपितु पूर्ण प्रयाज चतुष्टयी के समान अग्नि के सम्बन्ध अतिरिक्त तीन विशेषाग्नियों का चयन क्यों किया जाता है— इस प्रसंग से एक आख्यान प्राप्त होता है।

देवों ने यह प्रसन्नता जताई कि हमने यज्ञ करके सम्पूर्ण यज्ञ को जीतलिया है अतएव हम यज्ञ को संस्थापित कर देते हैं। देवताओं ने कहा हमारा सम्पर्क असुर और राक्षसों के साथ हो जाएगा तो हमारा यज्ञ संस्थित रहेगा। इसके साथ देवों ने अन्तिम प्रयाज के साथ स्वाहा शब्द को उच्चारण करते हुए सम्पूर्ण यज्ञ को स्थापित कर दिया।२

पंच प्रयाज याग से सम्बन्धित आख्यान : --

प्रयाज पांच है जो ऋतुओं के प्रतीक है प्रयाज कर्म ही ऋतु कर्म है, प्रकृत इष्टि कर्म में ऋतु लक्षण प्रयाजों का यजन क्यों किया जाता है इस प्रश्न का समाधान एक आख्यान से सम्बन्ध रखता है।१

देव और असुर एक ही प्रजापति की सन्तान होने से, प्रजापति नास प्रसिद्ध देवता और असुर दोनों ही यज्ञात्मक संवत्सर को लक्ष्य बनाकर—यह हमारा होगा ऐसा कहते हुए आपस में स्पर्धा करने लगे। असुरों ने स्पर्धा जरूर किया परन्तु जिस भावना से एवं अर्चना से यज्ञ करना चाहिए उसका पालन उन्होंने नहीं किया—परन्तु देवता वास्तविक यज्ञ को लक्ष्य बनाकर यज्ञ सम्पति की उपाय खोजने लगे। फलस्वरूप देवताओं ने इन प्रमाणों को प्राप्त कर लिया और इन प्रयाजों के माध्यम से यज्ञ प्रजापति का यजन किया। यह पांच प्रयाज ऋतु के प्रतीक है—इन पांच प्रयाजों से देवताओं ने संवत्सर अवयव भूत पांच ऋतुओं को एवं पांच ऋतुओं के द्वारा ही संवत्सर को जीत लिया और इन प्रयाजों के माध्यम से शत्रुओं को बाहर कर दिया—अतः असुरों के प्रति विजय प्राप्ति और अपने प्रति जय की प्राप्ति ही पांच प्रयाज कहलाये जिसको यज्ञ में प्रयाज के नाम से अभिशंसित किया गया है।

प्रयाज वृत पद्धति से सम्बन्धित आख्यान : --

प्रजापति कि सन्तान देव और असुर आपस में स्पर्धा करने लगे लड़ाई डण्डा एवं धनुष तक पहुँच गई फिर भी दोनों में जीत किसी कि भी नहीं हुई। तब दोनों ने कहा अब ब्रह्म वाणी से एक दूसरे को जीतने

---

१. श. ब्रा. १.५.३ २१-२३,
देवाह वा ऊचुः। हन्त विजित मेवान सर्व यज्ञं सम्स्थापयामः यदि नोऽसुररक्षसान्या सजेयुः संस्थित एव नो यज्ञः स्यादिति—।

२. श. ब्रा. १.५.३.१-३,
ऋतवो हवै प्रयाजाः—देवाश्च वा असुराश्च उपये प्राजापत्याः—ततो देवाः अर्चन्त श्राभ्यन्नश्चेरुस्त एतान् प्रयाजान् यद्दशु—संवत्सारत्सपत्नानन्तरेति तस्मात्प्रयाजै भजते।

की इच्छा करनी चाहिए—जो हमारी कही गई वाणी को जोड़े में दो मिलकर अर्थात् पुलिंग स्त्रीलिंग का ज्ञान न हो पाएगा वह हार जाएगा और जीतने वाला सब कुछ ले लेगा देवताओं ने ऐसा ही हो स्वीकार कर लिया। इन्द्र ने कहा कि एक मेरा है दूसरे लोगों ने कहा कि एक मेरी है। इस प्रकार यह जोडा बना क्योंकि एक पुरुष व एक स्त्री मिलकर जोडा बनते है इन्द्र ने कहा कि दो मेरे है दूसरों ने कहा कि दो मेरी है। इस प्रकार उन्होंने उसका जोड़ा पा लिया क्योंकि दो पुरुप व दो स्त्री का जोडा होता है। इन्द्र ने कहा तीन मेरा है। दूसरों ने कहा कि तीन मेरी है इस प्रकार उन्होंने जोडा प्राप्त कर लिया क्योंकि तीन पुरुष व तीन स्त्री का जोडा होता है। इन्द्र ने कहा चार मेरा है। दूसरों ने कहा चार मेरी है और इस प्रकार उन्होंने जोड़ा प्राप्त कर लिया क्योंकि चार पुरुप व चार स्त्री का जोड़ा बनता है। इन्द्र ने कहा कि पांच मेरा है तब दूसरों ने उसका जोडा नहीं पाया क्योंकि दोनों लिंगों में पंच ही होता है। इस प्रकार असुर पराजित हो गए और देवों ने असुरों का सब कुछ जीत लिया। अतएव इन पांच प्रयाजों से यजमान अपने शत्रुओं को परास्त करता है।[१]

पंचप्रयाज पांच ऋतुओं के प्रतीक है इसीसे सम्बन्धित आख्यान : ––

दर्शपौर्णमास इष्टि में प्रयाज भाग का विशेष महत्व है इस आधिदैविक तत्व का एक वैज्ञानिक आख्यान इस प्रकार है।

ऐसा प्रसिद्ध है कि वसन्तादि ऋतुओं ने देवताओं के यज्ञ में अपना भाग मांगा, और हमे यज्ञ से बाहर मत करो परन्तु देवताओं ने अस्वीकार कर दिया और ऋतुओं को अपना भाग नहीं दिया। ऋतु दुःखित होकर असुरों के पास चली गई, और ऋतुओं ने असुरों के समृद्धि को बढ़ाने लगे, असुरों के बिना बोये ही अन्न पक जाती थी, फल पहले ही पक जाते थे जिससे देवता चिन्तत हुए चिन्तित होकर देवता ऋतु को किस प्रकार बुलाए जाए यह चिन्ता करने लगे और निर्णय लिया कि सर्वप्रथम ऋतुओं को ही यज्ञ में यज्ञ में यजन किया जाएगा। तब अग्नि ने कहा हमें आप लोग सर्वप्रथम यजन करते हैं तो मैं कहाँ जाऊं परन्तु देवताओं ने यह आश्वासन दिया कि आप को हम यथास्थान रखेंगे आप इन ऋतुओं को बुलावें। अग्नि ऋतुओं के पास गया और यह कहा कि वास्तविक में आप लोगों को यज्ञ में भाग मिलना चाहिए यह भूल हो गई है। ऋतुओं ने अग्नि से पूछा कि हमारा भाग यज्ञ है यह आपने कैसे जाना—तब अग्नि ने कहा कि देवों ने यह निश्चय किया है कि यज्ञ में सबसे पहले तुम्हारा ही यजन करेंगे। ऋतुओं ने अग्नि से कहा कि तुमने देवताओं के यज्ञ में हमारा भी भाग जाना अतएव हम लोग भी तुम्हें यज्ञ में भागीदारी बनाएंगे। अतः अग्नि ऋतुओं में भागीदार होता है। इसलिए प्रयाजों के उच्चरित मन्त्र में, समिध, तननूनपात, इडा, वर्हि वह स्वाहा देवों के साथ अग्नि पद का भी उच्चारण किया जाता है जो क्रमशः वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरत, हेमन्त इन पांच ऋतुओं से सम्बन्ध रखती है।[२]

---

१. श. ब्रा. १.५.४.६-१६,
देवाश्च व असुराश्च उभये प्राजापत्याः परस्पृधिरे ते दण्डै र्धनुर्भिन व्यजयन्त ते हवि जयमाना ऊचुर्हन्त—ततोऽसुरः ।सर्वं पराजयन्त सर्वस्माददेवा असुरान जयन्त सर्वस्भात्सपत्नामसुरान्निर भजन्। तस्मात् प्रथमे प्रयाज इष्टे ब्रुयात् एको ममत्येका तस्य यमहं द्वेष्मी—द्धौममेति द्वितीये—त्रयो ममेऽति तृतीयें चत्वारोममति चतुर्थे प्रयाजे—पञ्चममेति पञ्चेति प्रयाजे सर्वं संवृङ्क्ते सर्वस्मात्सपत्ना न्निर्भजति य एवमतद्द्वेव।

२. श. ब्रा. १.६.१.१.१-८, ऋतवो हवै देवेषु यज्ञे भागमीषरे।
— त ऋतवो देवेष्वजानत्स्वसुरानुपावर्तन्ता प्रियान् देवानां द्विषतो भातृण्यान्।—त ऋतवोऽग्निमब्रुवान्—तस्यां पुण्यकृत्यायां भवति मामत्य समानो ब्रुवाण. करोत्यग्नि मत ह वा अस॥ अग्निमन्त ऋतव ओषधीः पञ्चनीदं सर्वं य एवमेतमग्निमृतुष्वा भक्तं वेद।

स्वाहात्मक पंचम प्रयाज याग के आदि एवं मध्य अवसान में क्रमशः आज्यभाग, प्रधानयाग, स्विष्टकृद याग ये तीन विशेषाग्नियाग पूर्व के चार प्रयाजों की अपेक्षा विशेष रूप से दर्शाया गया है—जो एक वैज्ञानिक आख्यान से सम्बन्ध है।

देवताओं ने चतुर्थ प्रयाज के द्वारा यज्ञ को प्राप्त कर लिया था और पंचम प्रयाज से यज्ञ को संस्थापित कर लिया था· इसके बाद जिस अंश को यज्ञ में संस्थित नहीं किया था उसके द्वारा देवों ने स्वर्ग लोक को प्राप्त किया था, स्वर्ग को जाते हुए देवता असुरों के संगति को भयभीत हो गये थे। उन्होंने अग्नि को आगे कर दिया था इसलिए कि अग्नि राक्षसों को मारने वाला तथा दूर भगाने वाला था अतः अग्नि को मध्य में रखा, अग्नि को पीछे भी रखा जिससे राक्षसों को मार सके और भगा सके। यदि असुर और राक्षस सामने आक्रमण करते तो अग्नि उन्हें नष्ट कर देता यदि मध्य में असुर राक्षसों का सम्पर्क देवताओं से हुआ होता तो राक्षसों का वध करने वाला अग्नि उन्हें नष्ट कर देता। इस तरह अग्नि के चारो तरफ के संरक्षण में देवों ने स्वर्ग लोक को प्राप्त किया।[1]

स्विष्टकृद याग से सम्बन्धित मिथक् : ——

देव यज्ञ के माध्यम से द्युलोक को चले गए अतः इन्हें वास्तव्य कहा जाता है—क्योंकि वह वस्तु में छूट गया, जिस मार्ग से देवता स्वर्ग की ओर प्रस्थान किए थे उसी मार्ग के द्वारा वे अर्चना पूजा करते रहे—फिर भी पशुओं का स्वामी यहाँ छूट गया। उस पशु ने सोचा कि यज्ञ से सभी ने मुझे बाहर कर दिया है इस तरह सोचता हुआ उत्तर दिशा की ओर चल दिया—यह स्विष्टकृत आहुति का समय था, उस समय पशु ने देवताओं को शस्त्र मारना प्रारम्भ कर दिया, देवताओं ने आपत्ति जताई यह कहा कि यज्ञ को मत फेंको, तदनन्तर इस के प्रत्युत्तर में पशु ने यह कहा कि मेरे लिए यज्ञ में आहुति का विधान करें, देवों ने कहा ऐसा ही होगा इस तरह के उत्तर को सुनकर उस पशु ने शस्त्र हटा लिया और यज्ञ को फेंका नहीं और किसी कि हिंसा नहीं की।

देवताओं ने आपस में विचार किया कि जो हवियों हम लोगों ने प्राप्त किया है उस हवि से हम लोग यज्ञ का विधान करें। देवताओं ने अध्वर्यु को बुलाकर यह कहा तुम यथाक्रम हवियों को आज्य से अवधारित करो और पुरोडाश के एक अवदान के लिए फिर उसे बढ़ाओ और उसे सारयुक्त बनाते हुए इस पशुदेवता के लिए आहुति का विधान करो उस अध्वर्यु ने एक अवदान के लिए यथाक्रम हवियों को आज्य से अवधारित किया उसे पुनः सारयुक्त बनाया फिर उससे एक-एक अवदान लेकर उस पशु को दिया गया। इसलिए भी इसे वास्तव्य कहते हैं कयोंकि वह यज्ञ का वास्तु है जो हवियों को प्रधान आहुति के बाद बच गया है।[2]

---

१. श. ब्रा. १.६.१.१०-१४,
चतुर्थेन वै प्रयाजेन देवाः यज्ञमाप्नुवस्तं पञ्चमेन—रक्षसामपहन्तारमग्नि मध्यतो कुर्वत रक्षाहं—सद्यधेनात् पुरस्तात्—सर्वतोग्निभिर्गुप्यमानः। स्वर्ग लोकं समाश्नुवत। तथो एवैष एतत् चतुर्थेनैव प्रयाजेन यज्ञ माप्नोनितं पञ्चमेन संस्थापयत्यथ यदत उर्ध्व संस्थितं यज्ञस्य स्वर्गमेव तेन लोकं समश्नुते।

२. श.ब्रा. १.७.३.१-९,
यज्ञेव वै देवाः। दिवमुपोदक्रामन्नथ—तेनो एवार्चन्तः श्रात्म्यन्तश्चेहरथ—स्विष्टकृतः कालः। ते देवा आश्रुवन्—तेषां हुतंमुपजानीत यथास्मा आहुतिं कल्पयामेति। यस्मै कस्यै च देवतायै हवि गृहयते सर्वत्रैव स्विष्टकृदन्वा भक्तः—अग्नि रित्येव शन्ततमं तस्मादग्रय इति क्रियते स्विष्टकृतः—ते होचुः—चत्त्वयमुत्र सत्ययस्महि—स्विष्टकृत इति।

अतः जिस किसी भी देवता को हवि दी जाती है उन सभी में स्विष्टकृद भागीदार है क्योंकि सभी हवियों में देवों ने इसे हिस्सेदार बनाया था यह हवि अग्नि के लिए बनाई जाती है, क्योंकि सर्वाधिक शान्त नाम अग्नि है। अतएव यह हवि अग्नि के लिए दी जाती है और अच्छी तरह से इच्छाओं कि पूर्ति के लिए दी जाती है और यजमान स्विष्टकृद आहुति के द्वारा समस्त कामनाओं को प्राप्त करता है।

स्विष्टकृत याग के सम्बन्धित द्वितीय आख्यान : ––

यज्ञ ने कहा कि मैं अपने नंगेपन से डरता हूँ। तब उससे पूछा गया कि कौनसा उपाय करें जिससे तुममें नंगापन न रहे, तब यज्ञ ने कहा हमारे चारों तरफ कुश बिछा दो—अतएव यज्ञ के चारों ओर कुश बिछा देते हैं। तत्पश्चात् यज्ञ ने कहा कि मैं प्यास से ग्रसित हूँ उससे यह पूछा गया कि तुम्हारी तृप्ति कैसे होगी—तब उसने कहा ब्राह्मण के तृप्ति के बाद मेरी तृप्ति होती है। अवएव यज्ञ की समाप्ति पर ब्राह्मण को तृप्ति करने के लिए कहना चाहिए इस प्रकार के कार्य से वह यज्ञ को तृप्त करता है।[१]

दर्शपौर्णमास इष्टियों में प्राशित्रहरण विधि का मिथक् : ––

प्रजापति ने (काम भावना से) अपनी पुत्री का ध्यान किया जो द्यौ अथवा ऊषा की दोनों के स्वामी बन जाएें। इस तरह के कृत्य को देखकर देवताओं के मन में क्रोध जात हुआ। उन देवों ने पशुओं के स्वामी रुद्र से कहा कि यह प्रजापति मर्यादा हीन आचरण कर रहा है-जो हमारे बहन तथा उसके बेटी के साथ यह कार्य कर रहा है अतएव इसे मार दो, रुद्र ने अपने धनुषवाण से तीर छोड दिया जिसके द्वारा मध्य में ही वीर्य स्कलित हो गया। इस बात को लक्ष्य कर ऋषि ने यह कहा जब पिता प्रजापति ने अपनी बेटी के साथ संगमन किया तब उसने पृथ्वी पर स्कलित अपने वीर्य का सिंचन कर दिया था जिसके द्वारा अग्नि मारुत नामक उकथ्य पैदा हुआ था।

देवताओं के क्रोध शान्त होने पर उन्होंने प्रजापति की चिकित्सा की और प्रजापति के शरीर में से शल्य को काटकर अलग किया वस्तुतः वह प्रजापति यज्ञ ही है। देवताओं ने यह कहा कि कोई ऐसा उपाय करना चाहिए यज्ञ अर्थात् प्रजापति के शरीर का वह भाग जो तीर से छिद गया था। नष्ट न हो जाए जिससे यह आहुति छोटा न रहे उन्होंने कहा कि दक्षिण की ओर बैठे हुए भग देवता के पास ले जाओ भग देवता उसको खा लेगा और यह आहुति दीए के समान हो जाएगा। देवों ने उसे भग देवता के पास पहुँचाया, भग देवता ने उस क्षत स्थान को देखते ही दोनों आखें जल गई इसलिए भग देवता को अन्धा कहा जाता है।

तदनन्तर उन देवताओं ने सोचा भग देवता के पास भी शान्त नहीं हुआ अतः इन्हें पूषा देवता के पास ले चलो, पूषा देवता के पास ले गये पूषा देवता ने उसे चक्खा, जिससे पूषा देवता के दांत टूट गये, अतः

---

१. श. ब्रा. १.७.३.२८,
स हैष यज्ञ उवाच नग्नाताया वै विभेमीति—परिस्तृणीयु तृष्णाया वै विभेमीति—ब्राह्मणस्यैव तृप्तिमनुतृष्ये—तस्मात संस्थिते यज्ञे ब्राह्मण तर्पमित वै ब्रूयाद् यज्ञ मे वैततर्पयति।

पूषा देवता बिना दांत वाले हैं। इसलिए पूषा देवता को चरु बनाकर भोजन दिया जाता है क्योंकि पूषा देवता के दाँत नहीं है।

देवताओं ने पुनः सोचा कि अभी भी शान्त नहीं हुआ अतएव वृहस्पति के पास ले चलो, उसे वे वृहस्पति के पास ले गये—वृहस्पति सविता देवता के पास प्रेरणा के लिए ले गये—सविता देवता देवताओं के प्रेरक हैं—सविता देवता के द्वारा प्रेरित होने से उसने हानि नहीं पहुँचायी अतएव वह शान्त हो गया निष्कर्ष यह है कि प्राशित्र का वही पहला भाग है जिसके द्वारा प्रजापति शान्त हुआ।

प्राशित्र भाग को काटता है मानो यज्ञ का वह भाग को काटता है— जो तीर से बींधा हुआ था जो रुद्र का भाग था वह जल को स्पर्श करता है इसलिए कि जल शान्त है अर्थात् जलों के द्वारा शान्त करता है।[1]

परन्तु जल के प्रवाह से समस्त प्रजाऐं नष्ट तो हो गई थी मात्र मनु ही अवशेष रहा।

मनु सन्तान की कामना से पूजा अर्चना प्रारम्भ कर दिया, और हवि यज्ञ के द्वारा घी, मधु, दही आदि का जल में होम किया—एक वर्ष के बाद वहाँ पर एक स्त्री हुई अत्यन्त सुन्दरी थी, सर्वप्रथम उसको मित्र एंव वरुण नामक देवता मिले और उसको बोले की तुम कौन हो, उसने उत्तर दिया कि मैं मनु की बेटी हूँ। मित्र, वरुण ने कहा कि तुम हम लोगों कि बेटी कहो, नहीं जिसने मुझे पैदा किया है उसी का मैं कहूंगी। ऐसा कहती हुई वह मनु के पास चली आई।

मनु ने उसे पूछा कि तुम कौन हो तो उसने कहा कि मैं तुम्हारी बेटी हूँ—कैसे मेरी बेटी हुई, तब उस लड़की ने कहा कि घृत, मधु, दही इत्यादि से तुमने अर्चना और आहुति दिया जिससे मैं पैदा हुई हूँ अतः मैं तुम्हारा आशीर्वाद बनकर आई हूँ और मुझे यज्ञ में संरचित करो और जिससे तुम सन्तान, पशु आदि से सम्पन्न रहोगे और तुम जिस कामना की इच्छा करोगे वह सब तुम्हें मिलेगा। वे सभी तुम्हारे लिए समृद्ध से युक्त होंगे।

मनु ने कथनानुसार यज्ञ की परिकल्पना की यज्ञ का मध्य में अर्थात् प्रयाज अनुयाज, के मध्य में होता है। मनु सन्तान की कामना से पूजा अर्चना करता रहा और उसके द्वारा प्रजाओं को उत्पन्न किया, जो मनु की प्रजा कहलाती है मनु ने इससे सभी आशीर्वाद को प्राप्त किया और वह समृद्ध हो गया।[2]

निष्कर्ष यह है कि इडा के द्वारा जो यज्ञ करता है वह समस्त प्रजाओं से सम्पन्न होता है, जिससे मनु ने समस्त संसार के प्रजा को बसाया था और प्रजाओं को उत्पन्न किया था, और आशीर्वाद को प्राप्त करके आज समस्त विश्व प्रजामय दिखाई देता है।

शतपथ ब्राह्मण में वर्णित इडा ब्राह्मण के अन्तर्गत जलप्लावन की कथा इडा कैसे उत्पन्न हुई किस तरह अस्तित्व में आई इन प्रश्नों का समधान एक आख्यान के द्वारा प्राप्त होता है।

एक समय की बात यह है कि वैवस्वत मनु के पास हाथ धोने के लिए उनके शिष्यगण जल लाए, मनु के हाथ में जल डालते ही हाथों को धोने वाले उस मनु के अंजली में एक मछली आ गई— उस मछली

---

१. श. ब्रा. १.७.४, १-९,
प्रजापति र्हवै स्वां दुहितरमभिदध्यौ ।—तेह देवा ऊचुः—तस्मादेतदृषिणाभ्यनूकतम्—पिता यत्स्वां दुहितर मधिस्कन—शल्यं निरक्नतन्त्स—न्वेवात्राशमतपूष्ण एनत् परिहरतेति तत्पूष्णे—तदेतननिदानेन यत्प्राशित्रम्—। शान्तितपस्तद्दिभिः शमयत्यथोडा पशूनात्समवद्यति।

२. श. ब्रा. १.८.१,१-११,
मनेव हवै प्रातः अवनेग्नमुदकमुदकमाजुहूर्यथेदं—मत्स्यः पाणी आपेदे – स होवाच यावद्दैसुल्लकाभावामो – मत्स्यं गिलति कुम्भ्यां—गिरेर्यनोखसर्पणमित्यौध। ह ताः –सोऽर्चिञ्छ्राम्यंश्चचश्चार प्रजाकामः मनुहवाच कासीति। तव दुहितेति कथ – वा मा यज्ञऽकल्पय – सैषा निदानेन यदिडा। यो हैवं त्रिद्वा निडया चरत्येतां हैव प्रजाति प्रजायते।

ने मनु से कहा कि मेरी रक्षा करो मेरा पालनपोषण करो मैं तुम्हे सहायता करुंगी। मनु ने पूछा कि कैसे मेरी रक्षा करोगी। इस पर मछली ने कहा। एक बार ऐसा जल प्रवाह आएगा जिससे सारी प्रजाऐं नष्ट हो जाऐंगे उस समय मैं तुम्हारी रक्षा करुंगी। इसके प्रत्युत्तर मे मनु ने पूछा कि किस तरह तुम्हारा भरण पोषण होगा—मछली ने कहा कि जब तक मैं छोटी रहूँगी तब तक मुझे बड़ी मछलियां मुझे खा लेगी अतः मुझे सर्वप्रथम एक गगरी में रखो, जब थोडी और बड़ी हो जाऊंगी तो मुझे एक गड्ढा करके उसमें पानी भरकर छोड़ देना। जब मैं और बड़ी हो जाऊंगी तो मुझे समुद्र में छोड देना जिससे मैं विनाश को जीतने वाली बन जाउंगी। जिस तरह मछली और जब जल प्रवाह आएगा तब तुम एक नाव बनाकर नाव के ऊपर बैठे रहना और मैं तुम्हारी रक्षा करुंगी, जिस तरह मछली ने कहा वैसा ही मनु ने किया।

मनु ने उसका इस प्रकार से भरण पोषण किया उसे समुद्र में पहुँचा दिया और मछली ने जितने वर्षों तक निर्देश दिया था मनु ने तब तक नाव बनाकर बैठा रहा—पूर्व कथनानुसार जल को प्रवाह आने पर मनु नाव से ऊपर चढ़गया और मछली उसके पास तैर रही थी, मनु ने मछली के संग को नाव में बांध कर हिमालय की ओर दौड पड़े। उस मछली ने कहा मैंने तुम्हें पार कर दिया है अथवा मैंने तुम्हारी रक्षा कर दी है, तदनन्तंर पेड में नाव को बांध दिया, वर्तमान समय में यहाँ तुम निवास करो और ज्योंहि जल नीचे उतरेगा तब तुम भी नीचे उतरना।

शंयुवाक् कर्म से सम्बन्धित मिथक्

शंयुवाक् कर्म के द्वारा यज्ञ एवं यज्ञपति के लिए कल्याण की कामना किया जाता है इसका हेतु क्या है जो एक मिथक् से सम्बन्ध है।

वृहस्पति के पुत्र शंयु ने अत्यन्त शीघ्र यज्ञ संस्था को प्राप्त कर लिया था और देवताओं के पास पहुँच गया था। इससे ऋषियों में आश्चर्यता एवं शंका था अतएव वे ऋषि शंयोः का उच्चारण करके यज्ञ की उस संस्था को जान लिया जिसे वृहस्पति के पुत्र शंयु जान लिया था अतः शंयुः के उच्चारण करके यज्ञ संस्था को शीघ्रंता से प्राप्त किया जा सकता है।[1]

अध्वर्यु कहे गये मन्त्र के द्वारा **फलीकरण अर्थात् चावल के कण को रुमाल के द्वारा कृष्णाजिन के नीचे फेंक देता है** इस सन्दर्भ में **एक मिथक्** देखा जा सकता है।

प्रजापति के दोनों पुत्रों देव एवं असुर ने इस यज्ञ प्रजापति पिता अर्थात् संवत्सर के लिए यह हमारा होगा, ऐसा कहते हुए प्रतिस्पर्धा करने लगे। तव देवों नें सम्पूर्ण यज्ञ को अपने अधिकार में कर लिया था और जो पापयुक्त अंश था वह सब असुरों के लिए छोड़ दिया था। पाक यज्ञ में चावल के कणों को और पशु यज्ञ में पशु के रक्त को और इसके अतिरिक्त कोई कण न मिले। क्योंकि जिस को यज्ञ का पापयुक्त भाग मिलता है वह न मिलने के बराबर होता है अतः जो भाग देवों और असुरों के लिए रखा था वही भाग उन असुरों को देता है—अतएव यज्ञ से सम्बन्धि व्यर्थ अंश को कृष्णा जिन के नीचे गिराकर घोर अन्धकार में उन राक्षसों के लिए कणों को गिरा देता है।[2]

---

१. श. ब्रा. १.९.१, २४,
अथ शंयोराह शंर्युह वै वर्हिस्पत्यो—जसा—देवलोकम् पीयाम तत्र दन्तर्हितमिव मनुष्येभ्य आस—तामेव यज्ञस्य संस्थामुपायन्—शंयोराह।

२. श. ब्रा. १.९.२ ३४-३५
देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्यः पस्पृधिरे—कमयं भविष्यत्मस्माकभयं भविष्यतीति। ततोदेवाः—स्नापशोः फली करणैहविर्यज्ञा—रक्षसां भागोऽसोत्यनग्नावन्धे तमांस प्रवेशयति तस्मात्पशोस्तेदानीं न कुर्वन्ति राक्षसां हि स भागः।

नवम--अध्याय

दर्शपौर्णमास इष्टि की अर्थवत्ता तथा फलश्रुति

ऋषियों
संस्कृति
ही कोइ
अव्यव
रोकने
ने अप
भी सम
बनती
में आ
देते हैं

में कह
हुए है
वामदे
मित्र, अ
शक्ति

का त
का द

१.

२.
३.

४.
५.

नवम-अध्याय

दर्शपौर्णमास इष्टि की अर्थवत्ता तथा फलश्रुति

वैदिक ऋषियों ने अपने जीवन की विविध समस्याओं का समाधान यज्ञ-संस्था में अन्वेषण किया था। ऋषियों ने अपनी प्रतिभा भरी प्रज्ञा के सहारे यज्ञों में उस महान् रहस्य को प्राप्त कर लिया था, जो किसी भी संस्कृति तथा समाज की प्राणदात्री की चेतना, नियम-बद्धता व्यवस्था, संरचनात्मकता तथा विश्वव्यापकता के द्वारा ही कोई समाज मनुष्य-जीवन के श्रेय और प्रेय को उपस्थित करने में समर्थ होता है। इसके विपरीत निमय-विहीनता, अव्यवस्था तथा व्यक्तिगत लालसा के आस-पास घूमने वालो संकुचित मनुष्य के अभ्युदय की संभावनाओं को रोकने के साथ-साथ उसके विश्व तादात्म्य के आमुष्मिक मार्ग को भी तमसाछन्न कर देती है। वैदिक ऋषियों ने अपनी मननशील तथा चिन्तनशील प्रज्ञा के द्वारा अनेकता तथा एकता के मर्म को समझ लिया था। किसी भी समाज में अनेकता उसकी जीवन शक्ति को क्षीण करती है और एकता उसमें गति भरने वाली प्राणशक्ति बनती है। इस सन्दर्भ में ऋषियों ने "एकं सत्"का दर्शन किया था। परम् सत् से सारा ब्रह्माण्डीय जीवन सत्ता में आया। मेधावी विप्र उसी सत् को इन्द्र, मित्र, वरूण, अग्नि तथा सुन्दर पंखो से भूषित दिव्य सुपर्ण का अभिधान देते हैं।[१]

यज्ञ, मनुष्य, देवता, स्वर्ग तथा धरती का मिलन-स्थल है। यज्ञ संस्था संस्कृति का मूल स्रोत है। ऋग्वेद में कहा गया है कि यज्ञ सृष्टि के अस्तित्व में आने वाले जगत् की नाभि है।[२] यज्ञ से ही देवता, ऋषि उत्पन्न हुए है। इसके अतिरिक्त गाँव के तथा जंगल के पशु उत्पन्न हुए। यज्ञ ही देवों का प्रथम धर्म था।[३] ऋषि वामदेव का कहना है कि हे अग्नि इस यज्ञ को तोड़ पाना सम्भव नहीं है। यह यज्ञ गाय, बैल, भेड, घोड़ा, तोता, मित्र, अन्न, सन्तान सभा और वित्त से समन्वित है। अश्व दीर्घ तथा विस्तृत अभिप्राय की यह विशाल रयि (आर्थिक) शक्ति है।[४]

अतः यह सिद्ध होता है कि भारतीयों की समाज व्यवस्था का, उनके राज्य शासन और विधि-विधान का तथा पुराण और कलाओं का विकास भी यज्ञ संस्था के द्वारा सम्पन्न हुआ। उपनिषदों के जैसा उच्च कोटि का दर्शन भी याज्ञिकों के मनन से निर्मित हुआ।[५] वास्तव में भारतीय संस्कृति की एक भी शाखा और एक

---

१. ऋ सं., १.६४.४६, इन्द्रं मित्रं वरूण मग्नि माहु रथो दिव्यः स सुपर्णो गरूत्मान्। एकं सत् विप्रा वहुधा वदन्ति त्यग्निं यमं मातरिश्वन माहुः"। तु. अ. सं., ९.१०.२८, ऋग् विधान, १.२५.७, निरूक्त, १८.१४.१, वृह्ददेवता, ४.४२,

२. ऋ सं., १.१.१६४.३५, तु. अ. सं., ९.१०.१४, वा. सं. २३.६२, अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।

३. ऋ सं., १०.९०.१६, —— यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानिर्धमाणि प्रथमान्यासन्। तु. अ. सं., ७.५.१, वा. सं.,३१.१६, तै. सं., ३.५.११.५, का. सं., १.५.१२, मै. सं., ४.१०.३,

४. ऋ सं., ४.२.५, तु. तै. सं., १.६.६.४, का. सं., ५.६. मै. सं., १.४.३,

५. तु. वी. के. चट्टोपध्याय, उपनिषद्स् एण्ड वैदिक रिचुवल्स, कलकता रिव्यू। १५४ (३ मार्च, १९६०, पृ. २१२), कलकत्ता यूनिवरसिटी।

भी अंग ऐसा नहीं है, जो इतिहास की दृष्टि से वेद तथा यज्ञ से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में सम्बन्ध न होने का दावा कर पाये।[१]

वैदिक अवधारणा के अन्तर्गत धार्मिक या तात्त्विक दृष्टि से पुरुष का प्रमुख स्थान है। परम सत्य अथवा परमात्मा की अभिव्यक्ति करने वाले पुरुष का वर्णन ऋग्वेद में हैं।[२] इसी पुरुष को वाजसनेयी संहिता तथा तैत्तरीय आरण्यक में आदित्य वर्ण पुरुष कहा गया है।[३] इसी को जैमिनीय उपनिषद ब्राह्मण में परमपुरुष तथा अतिपुरुष का अभिधान मिला है।[४] इसको श. ब्रा. तथा वृहदआरण्यक उपनिषद आदित्य ज्योति कहता है।[५] इसी को छान्दोग्योपनिषद् में उत्तम पुरुष बताया गया है।[६] वाजसनेयी संहिता के अनुसार श्री और लक्ष्मी इस पुरुष की पत्नी है, दिन और रात उसकी दो कक्ष है। अश्विन् द्वय उसका अनावृत्त रूप है।[७] अग्नि, वायु, चन्द्रमा, तेज, ब्रह्म, जल तथा प्रजापति सबका अन्तर्भाव उसमें होता है।[८] ऋक् संहिता में इसी पुरुष का वर्णन हिरण्यगर्भ प्रजापति के रूप में किया गया है।[९]

यह प्रजापति पुरुष ही जब एक से अनेक होने की इच्छा करता है तब सृष्टि की संरचना होती है। सृष्टि के पूर्व जब परमसत्ता ने स्वयं को अभिव्यक्त नहीं किया था तब केवल अ प्रकेत (व्यक्त होने की क्षमता रखता हुआ भी अनभिव्यक्त) सलिल स्थित था।[१०] तब परमस्थित बिना वायु के ही सांस ले रहा था।[११] अथवा जब उस सलिल में अग्नि (महान् सत्ता) बिना इन्धन के ही जाज्वल्यमान हो रहा था।[१२] तब न ही सत् था न ही असत् था, न दिन था, न कोई रात का सूचक था। उस समय स्वधा तथा तम के मन में काम (अग्नि) रेत के रूप में आया।[१३] वही सब सृष्टि का प्रारम्भ था। उसी समय एक रहने वाली परमसत्ता दो में प्रवर्तित हुई। इस सन्दर्भ में यह भी ज्ञातव्य है कि सर्वव्यापक (आयु) परम तत्त्व एक साधारण से आवृत था। इसे बिना दूर किये जो व्यक्त नहीं था वह व्यक्त नहीं हो सकता था। वैदिक ऋषि इसे जानते हैं कि यह सत् का बन्धक असत् था।[१४]

---

१. लक्ष्मण शास्त्री जोशी – वैदिक संस्कृति का विकास, पृ. ४२

२. ऋ सं., १०.९०

३. सा. सं., ३१.१८, आदित्यं वर्ण तमसः परस्तात्। तु. आ., ३.१२.१७, ३.१३.१, श्वेताश्वर उपनिषद्, ३.८

४. जै. उ. ब्रा., १.८.३

५. श. ब्रा., १४.७.१.२, वृ. आ., उ., ४.३.२

६. छा. उ., ८.१२.३

७. वा. सं., ३१.२२, — श्री श्चते लक्ष्मीश्चपत्न्या वहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणी रूपमश्विनौ - - - -।

८. वा. सं., ३२.१, तदेव।

९. ऋ सं., १०.१२१.१, हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् - - - - - - -। तु. अ. सं., ४.२.७, वा. सं., १३.४.२३.१, २५.१०, तै. सं., ४.१.८.३, ४.२.८.२, ५.५.१.२, का. सं., १६.१५, मै. सं., २.७.१५, २.१३.२३,

१०. ऋ सं., १०.१२९.३ —, अ प्रकेतं सलीलं सर्वमा इदं।

११. ऋ सं., १.१२९.२, अनीद वातं स्वधया तदेकं, तु., १०.२७.१९

१२. ऋ सं., २.३५.४, —, दिदाया नियमो, घृतनिर्णीगप्सु। तु. १.०.३०.४ - - - - जो अनिध्मो दिदयतिप्सवन्तः।

१३. ऋ सं., १०.१२९.१, काम और अग्नि की एकता के लिए द्रष्टव्य। बेवर, इन्डिरशे स्टूडियन्, ५.२२५ तथा आगे। मारिष् ब्लूम फील्ड सेक्रेट्री बुक्स् ऑफ ईस्ट्, पर, टिप्पणी, ९.२, पृ. ५९१, ऋ सं. - १०.१२९.४

१४. ऋ सं., १०.१२९.४, स वो वन्धु असति निर्विन्दन्।

वस्तुतः यह असत् सम्पूर्ण संरचनात्मक शक्ति को अवरूद्ध करने वाला था। अतएव आनन्द कुमार स्वामी का मत है कि यह अरि वृत्र परमसत्ता से सम्बद्ध है तथा यह उसका आपत्ति अथवा अनुज है।[१] सच बात तो यह है कि वृत्र सृष्टि के पूर्व की विश्रृंखलता तथा अरुपता है।[२] यह वृत्र ऐसा "पायूमा"है "योभूतिः" (भवनं भूतिः) सृष्टि को रोककर स्थित रहता है। इसे ही इन्द्र ही मारता है।[3] इन्द्र इसलिए मारता है कि इसके मारे बिना संरचना संभव नहीं है।

वैदिक यज्ञों को करने का प्रयोजन उपरितन निर्दिष्ट वृत्र का बध है। अतएव अनुष्ठान के स्थल पर प्रत्येक यज्ञ की विधि व्यंग्य के रूप में वृत्र विनाश को उपस्थित करता है। इन्द्र में पौर्णमास हवि से वृत्र का वध किया है।[४] इर्श इष्टि के प्रसंग में दो बात कही गयी है। पहली बात तो यह है कि इन्द्र वृत्रवध करने के अनन्तर महेन्द्र बन गया।[५] इस का अर्थ है कि पौर्णमास हवि से इन्द्र ने वृत्र को मारा और उसने यजमान के रूप में अपने प्रत्येक अंग की संरचना की तथा यज्ञ से नवीन उत्पत्ति पाई। चन्द्रमा वृत्र है। अमावस्या को इन्द्र उसका पूर्णरूपेण वध कर देता है, इसलिए उसे चन्द्रमा दिखाई नहीं पड़ता। इस प्रकार दर्श हवि भी वृत्र को मारने वाली बन जाती है। सोम यज्ञों में प्रयुक्त सोम अथवा उसके स्थान पर प्रयुक्त अन्य कोई वस्तु की कुटाई पिटाई वृत्र विनाश की ही अनुकृति है।[६]

ज्ञातव्य है कि सोम वृत्र है तथा सोम रस वृत्र का उसका सार भूत ऐश्वर्य, जिसकी प्राप्ति के लिए पौरूषयज्ञ में पुरुष को स्वयं पशु बनना पड़ा।[७] उपरितन निर्देशन को स्वीकार कर यज्ञ के द्वारा यजमान भी सृष्टि का श्रेष्ठतम कर्म करता है।

दर्शपौर्णमास इष्टि जिस निर्देशन पर आधृत है, शतपथ ब्राह्मण में उसका वर्णन इस प्रकार से है। सृष्टि होने के पूर्व जल ही सलिल रूप में विद्यमान था, आप (जल) ने यह कामना की कैसे प्रजनन में प्रयुक्त हों। उसने श्रम किया, तप किया, जब वह तप में प्रवृत्त था तब हिरण्य मय हिरण्यगर्भ अस्तित्व में आया। उस समय काल भी नहीं था संवत्सर की जो मर्यादा है, उतने तक वह हिरण्यगर्भ सलिल में परि प्रवण कर रहा था।[८] संवत्सर में ही पुरुष उत्पन्न हुआ, वही प्रजापति है। ऋक् संहिता में इस हिरण्य गर्भ प्रजापति का एक सूक्त में वर्णन किया गया है।[९] संवत्सर में उसने "भू॰" कहा, जिससे पृथ्वी उत्पन्न हुई। उसने "भुवः" कहा, उससे अन्तरिक्ष लोक उत्पन्न हुआ।[१०] फिर उसने "स्वः"कहा, उससे द्युलोक उत्पन्न हुआ। इन तीनों व्याहृतियों में पाँच अक्षर हैं। इन अक्षरों को ही प्रजापति ने पाँच ऋतुयें बनाया। अन्ततः संवत्सर के समापन में प्रजापति उठ खड़ा हुआ।[११]

१. आनन्दकुमार स्वामी, हिन्दुज्म एण्ड बुद्धिज्म, पृ.६
२. मर्सिया, इन, यार्ड काशमस् एण्ड हिस्ट्री दि मिथ आफ इटर्नल दि हापर एण्ड ब्रदर्स, न्यूयार्क, १९५९, पृ. ४९१
३. श. ब्रा., ११.१.५.७
४. वही , १.६.४.१२
५. श. ब्रा., १.६.४.२१
६. आनन्द कुमार स्वामी, आत्मयज्ञ से. पे., भाग २, पृ. ११५-१२०
७. ऋ सं., १०.९०, सभी यज्ञ निदर्शनात्मक होते हैं। आनन्दकुमार स्वामी वैदिक इक्जाम्पुल रिव्यू से. पे. २, पृ. १८९, म. ७.९ पा. टि २
८. श. ब्रा., ११.१.६.१
९. ऋ सं., १०.१२१
१०. श. ब्रा., ११.१.६.३
११. वही , ११.१.६.५

वह अनन्त आयु वाला बन गया।[१] उसने अपने मुख से देवताओं की सृष्टि की तथा उसका जो आवाहन प्राण था उससे असुरों का सर्जन किया।[२] देवता द्युलोक में प्रतिष्ठित हो गये तथा पृथ्वी पर असुर प्रतिष्ठित हो गये। जब असुरों का सर्जन हुआ, उस समय अन्धकार हो गया था। देवों की सृष्टि के समय प्रकाश था।[३] अन्ततः उसने परमेष्ठि सृष्टि की, जो प्राजापत्य है।[४] इस परमेष्ठि प्रजापति ने ही दर्शपौर्णमास यज्ञ को किया था। यह यज्ञ, कामप्रद (काम को पूरा करने वाला) है। उस प्रजापति ने अपने पुत्र इन्द्र को इस दर्शपौर्णमास यज्ञ का अनुष्ठान कराया। इन्द्र ने अपने दो भाइयों अग्नि तथा सोम से इष्टि कराया। इस प्रकार पाँच देवताओं ने इस काम प्रदाता यज्ञ को सम्पन्न किया। उन्होंने यजन करने के पश्चात् सारी दिशाओं की सृष्टि की। इस सृष्टि में ग्यारह देवताओं के लिए आहुति दी जाती है। पाँच प्रयाज, दो आज्य भाग, स्विष्टकृत् तीन अनुयाज, इन ग्यारह आहुतियों से देवताओं ने इन दिशाओं को जीत लिया तथा चार अवान्तर दिशाओं को पत्नी संयाज की चार आहुतियों से जीता। इडा के द्वारा सकल उपभोग पर विजय प्राप्त किया। यह दर्श पूर्णमास की दैवी संपत्ति है।[५]

इस ब्रह्माण्ड में जो भी भूत है (बीज) है तथा जो भाव्य (वींगकमाण्ड) है वह सब पुरुष ही है।[६] पुरुष प्रजापति और यज्ञ एक ही है।[७]

यज्ञ में यजमान जन्म प्राप्त करता है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि पुरुष का तीन बार जन्म होता है। उसका पहला जन्म माता-पिता से होता है। दूसरा जन्म यज्ञ से होता है। और जब मृत्यु के अनन्तर वह अग्नि में जलाया जाता है तब उसका तीसरा जन्म होता है।[८] यजमान जब यज्ञ की दीक्षा ग्रहण करता है तब वह अलौकिक गर्भ में पहुँच जाता है।[९] दीक्षित यजमान के जो भी संस्कार किये जाते हैं वे सब गर्भस्थ शिशु के चरित्र बताते हैं। सच तो यह है कि दीक्षा में पूर्व जीवन का समापन हो जाता है और उसके दैवी जीवन का प्रारम्भ होता है। जैमिनि का कथन है कि दीक्षित होने पर व्यक्ति मर जाता है।[१०] जब तक व्यक्ति यज्ञ नहीं करता, तब तक वस्तुतः उसका जन्म नहीं होता। इसी कारण वेद विद्या को जात विद्या या भाव वृत्त कहा गया है।[११] इस विद्या के मुल साधन तथा साध्य होने के कारण अग्नि को वैदिक ऋषियों ने जातवेद नाम से अभिहित किया है।

वैदिक ऋषि देवता को आहुति देने तथा उनसे कामना की पूर्ति कराने को उच्च कोटि का यज्ञ नहीं मानते। इस प्रकार के यज्ञ करने वाले को देवयाजी कहते हैं। उत्तम कोटि के यजमान को आत्मयाजी कहा गया

---

१. वही , ११.१.६.६
२. श. ब्रा. ११.१.६.७-८
३. वही , ११.१.६.७-८
४. वही , ११.१.६.१६
५. वही , ११.१.६.२१-२८
६. ऋ सं., १०.९०.२, पुरुष ए वेदं सर्व यद्भूतं यच्च भाव्यम्। उतामृतत्व स्येशानो यदन्ने नातिरोहति।
७. श. ब्रा. परुषो वै यज्ञः, १.३.२.१, प्रजापतिर्वै यज्ञः, १.१.१.१३
८. श. ब्रा. ११.२.१.१
९. वही , ३.१.२.४, तै. सं. ब्रा., ६.१.२.४
१०. जै. उप. ब्रा. ३.२.४, खोंदा - चेंज एण्ड कान्टीन्यूट, अध्याय १०,
११. ऋ सं., १०.७१.११, आनन्द कुमार स्वामी – ए न्यू अप्रोच् इन दि वेदाज् लुजाक् एण्ड कम्पनी, लण्डन, १९३२, पृ. ५२, वृहददेवता, २.१२०

है। जो यजमान यज्ञ में दैवी तनु प्राप्त करने के लिए अपने सकल अंगों का संस्कार करता है अर्थात् यज्ञ के अनुष्ठान से अपने प्रत्येक अंग का सन्धान करता है, वह आत्मयाजी है। आत्मयाजी का शरीर सारे पापों से मुक्त हो जाता है। पाप उसके शरीर को उसी तरह छोड़ देता है जैसे सर्प के शरीर से केंचुल उतर जाती है। फलस्वरूप वह ऋक्मय, यजुर्मय, साममय, तथा आहुतिमय होकर स्वर्ग में पुनः दैवी शरीर लेकर उत्पन्न होता है।[१]

कोई भी अस्तित्त्व दिक् और काल की दृष्टि से निरपेक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि जो भी अस्तित्व होगा वह किसी न किसी दशा में होगा तथा किसी न किसी काल में होगा। देश-काल से रहित कोई अस्तित्त्व ही नहीं होगा। अतएव प्रत्येक वैदिक यज्ञ में, ब्रह्माण्ड, ब्रह्माण्ड के अधिष्ठाता प्रजापति तथा यजमान कोई शरीर की संरचना एक साथ होती है। प्रथमतः सृष्टि कैसे हुई और कैसे परमपिता प्रजापति व्यवहार्य जगत् में आये इसका प्रतिपादन किया जा चुका है। पुरुष प्रजापति की ही प्रतिमा है तथा सर्वाधिक निर्दिष्ट प्रतिमा है। अतएव यज्ञ के प्रजापति तथा यजमान की संरचना यज्ञ के अनुष्ठानों में साथ-साथ हुआ करती है। स्मर्तव्य है कि दिक् तथा काल भी प्रजापति की ही प्रतिमा है।[२] यह सादृशतम विधानक दूसरी ओर भी सिद्ध होता है। संवत्सर में चार अक्षर है तथा प्रजापति पद में भी चार अक्षर है। **"तदेव चतुरक्षरः संवत्सरः चतुरक्षरः प्रजापतिः"** – इसलिए यज्ञ को भी संवत्सर कहा गया है।[३]

अब प्रतिपादित पुरुष के शरीर संरचना का प्रतिपादन किया जा रहा है। सच तो यह है कि इस विश्व में जो कुछ है वह सब प्रजापति ही है४, प्रणिता इस प्रजापति का शिर है।५ यज्ञ में जो ईन्धन लगता है, वह इस प्रजापति की प्राण है। इसका मेरुदण्ड सामधेनी ऋचाऐं हैं। दर्शपौर्णमास इष्टि में दिये जाने वाले आधार-पूर्वाधार तथा उत्तराधार वाणी तथा मन है।६ पाँचों प्रयाज शिरोभाग के प्राण हैं। पहला प्रयाज मुख में स्थित प्राण है, दूसरा प्रयाज दाहिनी नाक, बायीं नाक तीसरा प्रयाज, दाहिना कान, चौथा प्रयाज, पाँचवा प्रयाज बायाँ कान है। इन दोनों कानों में जो छेद है वे चौथे प्रयाज में जो उपभृत से जुहू में लिया जाता है। दोनों आज्य भाग प्रजापति पुरुष की दोनों आँखों से हैं।७ दोनों इष्टियों मे विहित आग्नेय पुरोडाश शरीर का दक्षिणार्ध है तथा उपांशु याग हृदय है। उपांशु याग में जो कुछ मन्त्र बोला जाता है, वह अस्पष्ट रहता है, इसलिए हृदय भी गुह्य होता है।८

पौर्णमास इष्टि में प्रयुक्त होने वाला अग्निषोमीय पुरोडाश प्रजापति के शरीर का उत्तरार्ध है। इन्द्र को दी जाने वाली सान्नाय हवि दोनों कन्धों के बीच का भाग है। हविष्कृत इसके शरीर का विष है।९ प्राशित्रावदान प्रजापति के पाप का भाग है जो इसके शरीरके चारों ओर से लिपटा हुआ है और जिसका सम्बन्ध वरुण से हैं।१०

---

१. श. ब्रा., ११.२.६, १३-१४
२. वही , ११.२.६, १३, इमं वा आत्मनः प्रतिमा सृष्टिवत् संवत्सर इति तस्मात् आहुः प्रजापतिसंवत्सरः।
३. श. ब्रा., ११.२.७.१
४. ऋ सं., १०.१२१.१०
५. श. ब्रा., ११.२.६.१
६. वही , ११.२.६.२-३
७. वही , ११.२.६.४
८. वही , ११.२.६.५
९. श. ब्रा., ११.२.६.६
१०. वही , ११.२.६.७

इडा उदर है। इसलिए इससे तरह-तरह के अन्न उदर में खाये जाते हैं।[1] तीनों अनुयाज प्रजापति के शरीर के अधोभाग में स्थित प्राण हैं। सूक्तवाक् तथा शंयुवाक् प्रजापति पुरुष की दोनों भुजायें हैं। चारों पत्नी संयाज प्रति-पग हैं, दोनों जंघा, दोनों घुटने को प्रतिष्ठा कहते हैं। दोनों इष्टियों में की जाने वाली समिष्ट यजु प्रजापति पुरुष के प्रजापति हैं। इस प्रकार पुरुष यजमान यज्ञ में अपनी शरीर संरचना कर ब्रह्माण्ड मे दैवी शरीर से प्रतिष्ठित होता है।[2]

दर्श पौर्णमास दोनों इष्टियों में इक्कीस आहुतियाँ दी जाती हैं। दो आधार, पाँच प्रयाज। दो आज्य भाग, आग्नेय पुरोडाश अग्निषोमीय उपांशु याग, अग्निषोमीय पुरोडाश, अग्निस्विष्टकृत, इडा, तीन अनुयाज, सुक्तवाक्, शंयुवाक्, समिष्ट यजुष् तथा पाँच पत्नी संयाज है।[3]

आहुतियों से दिक्पाल का निर्माण होता है। संवत्सर में बारह महीने होते हैं, पाँच ऋतुऐं होती हैं, तीन लोक होते हैं और इक्कीस द्युलोक में तपता हुआ आदित्य है। इस प्रकार दिक् और काल का निर्माण होता है।[4]

यही दर्शपौर्णमास इष्टि की अर्थवत्ता है। जिसका सामान्य निरुपण किया गया है। दर्शपौर्णमास इष्टि के भिन्न-भिन्न अनुष्ठानों में भी दृष्टि होती है। अभिप्राय यह है कि प्रत्येक अनुष्ठान में दिक्पाल तथा पुरुष (महापुरुष, प्रजापति पुरुष तथा यजमान पुरुष) की संरचना होती है। इससे सम्बद्ध कुछ निर्देश द्रष्टव्य हैं। यहाँ पुरोडाश को पुरुष का शिर कहा गया है। जिन कपालों पर पुरोडाश को पकाया जाता है। वे पुरुष शिर के कपाल हैं। जिस ओर से पुरोडाश की संरचना की जाती है, वह पुरुष के शिर में स्थित मस्तिष्क है, इसलिए कपालोपधान तथा हवि पेषण के साथ किया जाता है, क्योंकि कपाल से अन्यत्र मस्तिष्क नहीं रह सकता। याज्ञवल्क्य का कथन है कि एक अग की जब संरचना की जाती है तो एक सदृश ही की जाती है, इसलिए ये दोनों कर्म समान ही किये जाते हैं।[5] दूसरे स्थान पर जहाँ अग्नि को तैयार करके प्रज्ज्वलित किया जाता है वहाँ कहा गया है कि आहवनीय अग्नि यज्ञ का शिर है और वह पूर्वार्ध है, इसलिए जब शिर की संरचना होगी तब उसमें शिखा भी होगी। एतावता अध्वर्यु हाथ में प्रस्तर को लिये हुए अग्नि तैयार करता है और इसे अग्नि के ऊपर उठाये रहता है, क्योंकि प्रस्तर शिखा का प्रतीक है।

पुराकाल में यज्ञ में पुरुष आदि पशुओं का संज्ञापन किया जाता है। इस तथ्य का उल्लेख मनु गाथा में उपलब्ध होता है। जहाँ किलात् तथा आकुल नामक दो असुर पुरोहितों ने मनु के द्वारा बैल का संज्ञापन कराया था। तत्पश्चात् उनकी पत्नी मनाविका कालान्तर में जब प्रथम संज्ञप्त पशुओं में से मेधता निष्क्रान्त होकर पृथ्वी में प्रविष्ट हो गई तब देवों ने पृथ्वी को खोदकर व्रीहि और यव को प्राप्त किया। व्रीहि और यव में पशुता विद्यमान है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए याज्ञवल्क्य ने उसकी आटा को सोम बताया है। जब जल मिलाकर आटा साना जाता है तब यह मांस बनता है। जब वह पक जाता है तब वह अस्थि हो जाता है। जब उसे आग पर से उतार कर आज्य में डाला जाता है तब वह घी शरीर में स्थित मज्जा बन जाता है।[6]

---

१. श. ब्रा., ११.२.६.८
२. वही, ११.२.६.९
३. वही, ११.२.६.१०
४. वही, ११.२.६.११
५. श. ब्रा., १.२.१.२
६. श. ब्रा., १.१.१.४.१४-१६

यज्ञ में प्रयुक्त पात्रों के द्वारा भी पुरुष शरीर की संरचना को अभिव्यक्त किया गया है। जुहू नामक स्रुच् पुरुष की दाहिनी भुजा है उसकी बायीं भुजा उपभृत नामक स्रुच है। जुह्वा नामक स्रुच पुरुष का शरीर है। यह विदित है कि सारे अंग शरीर से ही उत्पनन होते हैं, इसलिए ध्रुवा नामक स्रुचि में रखे हुए आज्य से सारा यज्ञ किया जाता है। लोग दाहिने हाथ से काम करते हैं, अतएव आहुति दाहिने हाथ से दी जाती है।[१] इस बात को तै. ब्राह्मण में भी कहा गया है।[२]

स्रुव प्राण है। प्राण सभी अगों में संचरित होता है। अतएव याज्ञवल्क्य का कथन है कि अंग पुरुष स्रुचों के पीछे-पीछे प्राण रूप स्रुव विचरण करता है।[३] जिन पवित्रों का यज्ञों में प्रयोग होता है उनकी संख्या दो या तीन होती है। यह पवित्र वायु का स्वरूप है और वायु ही प्राण बनकर पुरुष के शरीर में विचरण करता है। यदि यज्ञ में दो पवित्रों का प्रयोग होता है तो वे प्राण है तथा उदान नामक शरीरस्थ वायु के प्रतीक होते हैं।[४]

यदि तीसरी पवित्र का भी निर्माण हो तो वह व्यान नामक वायु का प्रतीक होगा। हवि को पीसते समय हवि में जो भी पुरुष का रूप है उससे प्राण, उदान तथा व्यान, की स्थापना होती है।[५] याज्ञवल्क्य का कथन है कि यह मन्त्र विनियुक्त कर हवि में प्राण, उदान और व्यान का आधान किया जाता है।[६] इसी मन्त्र में **"चक्षुषेत्वा"** मन्त्र का प्रयोग कर दोनों आँखों का भी आधान किया जाता है।[७]

इस प्रकार सभी अनुष्ठानों में सूक्ष्मेषण से उपरितन निर्दिष्ट पुरुष की संरचना को देखा जा सकता है। विस्तार भय से सबका वर्णन करना सम्भव नहीं है।

पहले कहा जा चुका है कि दिक्-काल के बिना किसी का कोई अस्तित्त्व सम्भव नहीं तथा दिक्-काल की संरचना, सम्पूर्ण इष्टि में कैसे की जाती है, और अनुष्ठानों के स्तर पर दिक्-काल की संरचना कैसे होती है — इसके कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं। उपधेय कपालों में पहला कपाल पृथ्वी है, दूसरा कपाल अन्तरिक्ष, तीसरा कपाल द्युलोक है। इसके बाद का चौथा कपाल दक्षिण में रखा जाता है, वह सारी दिशाओं को संकेतित करता है।[८] दर्श इष्टि में सान्नाय हवि के जिस उरवा (दोहनी) दूध दुहने के पात्र) में दूध दुहा जाता है, वह त्रिलोक का प्रतीक है, क्योंकि विनियोजित यजुष में उरवा को द्युलोक, पृथ्वी तथा अन्तरिक्ष कहा गया है। उस उरवा का एक विशेषण है विश्वधा, जिसका अर्थ होता है – सबको धारण करने वाली, सबका सर्जन करने वाली, अथवा सबको दूध पिलाने वाली। यहाँ दूध का अर्थ है – जीवन का रस।[९]

---

१. पुरुषो वै यज्ञः, तस्य इयमेव जुहूः, श. ब्रा., १.३.२.१-२,

२. जुहू दक्षिणो हस्तः, उपभृतसव्यः, आत्माधुवेति, तै. ब्रा., ३.३.१,

३. श. ब्रा., १.३.२.३.१

४. वही ,१.१.३.१.२-१

५. वा. सं., १.२०, ——प्राणायत्वोदानायत्वोव्यायानायत्वो ——।

६. श. ब्रा., १.२.१.२१, प्राणोदानदधाति —— व्यानं दधाति।

७. श. ब्रा., १.२.१.२१,

८. वा. सं., १.१८, श. ब्रा., १.२.१.९-१२

९. वा. सं., १.२, श. ब्रा., १.७.१.११, द्र. – तत् सम्बद्ध मन्त्र पर उवट तथा महीधर भाष्य।

यज्ञ में प्रयुक्त जुहू नामक स्रुच द्युलोक है, उपभृत अन्तरिक्ष है, ध्रुवा पृथ्वी है। याज्ञवल्क्य का कहना है कि सारे लोक पृथ्वी से ही प्रभा प्राप्त करते हैं। अतएव ध्रुवा के आज्य से ही सारा यज्ञ होता है। स्रुव् वायु है, इसलिए यह स्रुचों के अनुगत होकर रहता है। जैसे वायु तीनों लोक में घूमता है।[1] पाँच प्रयाज ऋतुओं का प्रतीक है। समिधा नामक प्रयाज वसन्त है। तननूपात प्रयाज, ग्रीष्म है, इड नामक प्रयाज वर्षा है, वर्हि नामक प्रयाज शरद है, स्वाहा नामक प्रयाज हेमन्त है। इनकी हवि आज्य होती है[2] यह संवत्सर का (दिक्-काल का) अपना पय है। इस प्रकार पाँचों प्रयाज के द्वारा ऋतुओं की संरचना की जाती है।[3] इस प्रकार भिन्न-भिन्न अनुष्ठानों के भी दिक्काल की संरचना की जाती है।

फल श्रुति : —

अखिल ब्रह्माण्ड को निरन्तर गतिशील बनाकर उसे गति पहँचाने वाली जिस क्रिया का वैदिक ऋषियों ने अन्वेषण किया था, वह यज्ञ है। इसका विवेचन पहले किया जा चुका है। अधुनातन युग में भी टालकॉर्ट् पार्सन्स् तथा एडवर्ड शिल्ज् ने सम्मिलित रूप में क्रिया के सिद्धान्त का विश्लेषण करने का प्रयास किया है।[4] इस सिद्धान्त के अनुसार विचार और क्रिया के मध्य परस्पर अनुरुपता विद्यमान है।[5]

सभी क्रियाओं के केन्द्र में मनुष्य स्थित है, क्योंकि सारी क्रियायें मानव के परिपेक्ष्य में की जाती हैं, इन क्रियाओं के तीन भेद सम्भव हैं।[6] (१) **आर्थिक तकनीक क्रिया, (२) राजनैतिक विधि क्रिया, (३) सांस्कृतिक धार्मिक क्रिया।** यदि इन भेदों के ऊंच नीच पर विचार किया जाय तो सांस्कृतिक, धार्मिक क्रिया ही उत्तम कहीं जायेगी। तकनीक आर्थिक क्रिया सबसे नीचे मानी जायेगी, और राजनैतिक विधि क्रिया बीच की है। अध्ययन की दृष्टि से यहाँ सांस्कृतिक, धार्मिक क्रिया ही अधिक महत्वपूर्ण है। अतएव उसका विवेचन वांछनीय है यह सच है कि अपने सन्दर्भों में कानून और व्यवस्था का अपना स्थान है, परन्तु ये सभी क्रियायें मानव को मानव बनाने, विश्व के साथ उनका तादात्म्य स्थापित करने और ब्रह्माण्ड के अणु परमाणु से नित्य, सतत्, अखण्ड, अकाल, अभेद्य, अछेद्य तथा परमार्थिक सम्बन्ध स्थापित करने में अशक्त है। अतएव परम आर्थिक दृष्टि से ये सभी ज्ञेय है।[7]

वाजसनेयी संहिता की कण्डिका में प्रयुक्त **"श्रेष्ठतम कर्म"**[8] की व्याख्या करते हुए महीधर ने क्रिया

---

१. श. ब्रा., १.३.२.४-५, अ. सं., १८.४.५. जुहू दाधार धामुपभृदअन्तरिक्षं ध्रुवा दाधार पृथ्वीं प्रतिष्ठाम्, तु. अ. सं., १८.४.६.
२. श. ब्रा., १.५.३.४, ते वा आज्य हविषो भवन्ति।
३. वही, १.५.३.५
४. पार्सन्स् और शिल्ज् - टुवर्डर्स ए जनरल् थियरी आफ् ऐक्शन्, हार्पर टार्च बुक्स्, न्यूयार्क, १९६२
५. शीतल प्रसाद नगेन्द्र - कान्सेप्ट् ऑफ ऋचुवल् इन माडर्न सोसाइटी, पृ. १५४ द्र. ब्रा., १.५ — एतद् वै यज्ञस्य समृद्धं यत् रूपं समृद्धं, यत् कर्म क्रियामाण मृगानभिवदति।
६. नगेन्द्र — कान्सेप्ट ऑफ ऋचुवल् इन् माडर्न सोसाइटी, पृ. १६१
७. आर्थिक तकनीक तथा राजनैतिक विधि की कार्य की समीक्षा हेतु - द्र. — नगेन्द्र — कान्सेप्ट ऑफ ऋचुवल् इन माडर्न सोसाइटी, पृ. १६२-१६५, द्र. — प्रो. विश्वम्भर नाथ त्रिपाठी — अग्निचयनम्, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९८८
८. वा. सं., १.१, तु. तै. सं., १.१.१, का. सं., १.१,

का चार भेद किया है।[१] अप्रशस्त, प्रशस्त, श्रेष्ठ और श्रेष्ठतम। हत्या, चोरी आदि क्रियाये अप्रशस्त हैं, बन्धु-बान्धव का पालन-पोषण प्रशस्त है, धर्मशास्त्रों में वर्णित, वापी, कूप, आदि का निर्माण श्रेष्ठ है। वेदविहित यज्ञ का धर्म श्रेष्ठतम हैं।[२] महीदास ऐतरेय का कहना है कि यज्ञ एक सुन्दर नोका है। जिससे व्यक्ति की चेतना स्वनिष्ठ यथार्थ के समुद्र को पारकर परम यथार्थ की चेतना से तादात्म्य की स्थापना कर सकती है।[३] ध्यातव्य है कि ऋक् संहिता यज्ञ को "प्रथम"धर्म कहकर इस अर्थ को अभिव्यक्त करती है।[४]

सम्प्रति मनुष्य का जीवन बहुत जटिल हो गया है। विज्ञान के नवीनतम आविष्कारों के बीच स्थित रहकर भी मनुष्य बहुत पीड़ित है, अतएव यह सोचा जा सकता है कि प्राक् शुक्रात्, प्राग् ऐतिहासिक, प्राग् साहित्य अथवा प्राग् आधुनिक मनुष्य जीवन की किन समस्याओं में जूझता रहा होगा! इसकी केवल कल्पना की जा सकती है। प्रत्येक प्रज्ञावान व्यक्ति समस्याओं के निराकरण का समाधान ढूंढता है। जैसे आज विविध समस्याओं का समाधान ढूंढा जा रहा है। उसी प्रकार पहले भी मनुष्य समस्याओं का सामधान ढूंढता था। भारत आर्ष प्रज्ञा के धनी वैदिक ऋषियों ने उस ऋततथा सत्य का अनुसन्धान किया था, जिसके कारण असत् सत्ता में आता है।

मर्त्य अमृत बनता है तथा अन्धकार घटकर सामने प्रकाश की राशि लहरा देता है। यह समाधान उनकी दृष्टि में श्रेष्ठ यज्ञ के कारण है। इस यज्ञ के द्वारा वैदिक ऋषि व्यष्टि को समष्टि में तथा समष्टि को व्यष्टि में अनुश्रुत कर देता था। इसलिए भारतीय दर्शन में बार-बार कहा गया है कि - - - - - यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे। यदि इसे प्रतीक रूप में कहा जाय तो कहना होगा "यत् ब्रह्माण्डे तत् पिण्डे"। प्रतीक रूप में कहने की परम्परा कोई नई नहीं है। भारतीय तत्त्व चिन्तन के आलोक को देखने वाले विद्वान ऋक् संहिता नैचाशाखा।[५] कठोपनिषद्[६] के ऊर्ध्व मूल अवाक्शाखा, अश्वत्य वृक्ष को विस्मृत नहीं किया होगा। जिस प्रतीक अश्वत्थ का वर्णन श्रीमद् भगवद्गीता[७] में भी हुआ है। इस प्रकार यज्ञ में मनुष्य नवीन जन्म धारण कर पूरे दिक्-काल पर अपना अधिकार अपनी सम्प्रभुता स्थापित कर लेता है। याज्ञवल्क्य के अनुसार दर्शपौर्णमास इष्टि के द्वारा तीस वर्षों तक यजन अवश्य ही करना चाहिए। तीस वर्षों में सात सौ बीस अमावास्या तथा पौर्णमास, हुआ करता है। पहले के पन्द्रह वर्ष में जो तीन सौ साठ पूर्णिमायें तथा अमावस्यायें हुआ करती है, उनसे तीन सौ साठ दिन पर यजमान विजय प्राप्त कर लेता है। बाद के पन्द्रह वर्षों की जो तीन सौ साठ अमावस्यायें पूर्णिमासियाँ हैं, उनसे संवत्सर में होने वाले तीन सौ साठ दिन पर यजमान अपना वर्चस्व स्थापित करता है।[८] याज्ञवल्क्य न संवत्सर का निर्वचन

---

१. वा. सं., मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, १९७१, पृ. ५

२. ब्राह्मण ग्रन्थों में भी श. ब्रा., १.७.५, तु. का. सं. ब्रा., ३०.१०३, मै. सं. ब्रा., ४.१.१, कपि. सं. ब्रा., ४५.८, तै. ब्रा., ३.२.१.४ द्र. —— सायण श. ब्रा. तदेव, साक्षात् सर्वसाधनत्वात् इतरकर्मभ्यः श्रेष्ठतमम्।

३. ऐ. ब्रा., १.१.३, — यज्ञो वै सुतर्मा नौः।

४. ऋ. सं., १.१.१६४.५०, १०.९०.१६

५. ऋ. सं., ३.५.३.१४

६. कठ. उ., ऊर्ध्वमूलोऽवाक् शाख एषोऽश्वथ्थः सनातनः। तदेवशुक्रे तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिल्लेकाश्रिताः सर्वे तदुनार्त्येति कश्चन्।

७. श्रीमद् भगवद्गीता, १५/१
ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्रारहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥

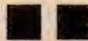
८. श. ब्रा., ११.१.२.१०-११

करते हुए बताया है कि प्रजापति ने जब सृष्टि कर ली तब उसने विचार किया कि इन देवताओं का सर्जन करने के बाद मैने सबको पार कर लिया, अतएव संवत्सर का परीक्षाभिधान "सरवत्सर" है।[१] वस्तुतः संवत्सर प्रजापति की प्रतिमा है, जिसका निर्देश पहले किया जा चुका है।[२] प्रसिद्ध है कि देवता पहले मरते थे। जब उन्होंने संवत्सर को प्राप्त किया था, तभी अमर बन सके। इस प्रकार संवत्सर रूप दिक्काल में सब कुछ स्थित है। अतएव इसे "सर्व" कहा गया है। जो व्यक्ति संवत्सर को प्राप्त कर लेता है[३], वह (परम को) माया को पार कर लेता है तथा उसका सम्पूर्ण सुकृत अक्षय होता है और उसका लोक भी अक्षय होता है।[४] यदि कोई भी दाक्षायणी यज्ञों में होता है (दाक्षायण यज्ञ करने वाला) तो उसे भी चाहिये कि वह दर्शपौर्णमास इष्टि का यजन पन्द्रह वर्ष तक अवश्य करे। तीस वर्ष दर्शपौर्णमास इष्टि करने वाले को सम्पत्ति की उपलब्धि होती है। वही उपलब्धि इस दाक्षायण यज्ञ को १५ वर्ष तक करने वाले को होती है। याज्ञवल्क्य का कथन है कि जो व्यक्ति दर्शपौर्णमास इष्टि करता है, वह वस्तुतः प्रत्येक मास में दो अश्वमेध का यजन करता है।[५]

अश्वमेध में जिस अश्व का संज्ञपन होता है वह अश्व प्रजापति का रूप है। तै. संहिता, तै. संहिता ब्राह्मण, श. ब्रा. तथा बृहद् आरण्यक उपनिषद् मे उस अश्व की ब्रह्माण्ड रूपता का वर्णन मिलता है।[६]

इस प्रकार व्यष्टि का समष्टि में समावेश हो जाता है और व्यक्ति परम सत्ता के साथ एकता की स्थापना करता है। जिस प्रकार परम सत्ता सर्वात्मक है उसी प्रकार वह व्यक्ति भी सर्वात्मक हो जाता है। जिस संस्कृति, धर्म तथा समाज में इस तरह के एक ही भावना की अनुभूति करने वाले मनुष्यों का समुदाय स्थित है, वह अनन्त शीर्ष बनकर श्रेय और प्रेय का विधान करेगा। इस प्रकार के समाज में ही वैष्णवी शक्ति तथा संस्कृति के सतत उत्थानमय जागरणमय और बोधमय जीवन का समुद्भव होगा। जो सार्वभौम विजय यात्रा का संविधान समुपस्थित करेगा और वह व्यक्ति तमस् के परे महा आदित्य वन पुरुष को, ब्रह्माण्ड को, विश्व के प्रत्येक अणु परमाणु को जान सकेगा।

॥ शमस्तु ॥



१. वही, ११.१.६.१२
२. वही, ११.१.६.१३
३. वही, ११.१.६.१२
४. वही, ११.१.६.१२
५. श. ब्रा., ११.१.२.५.४
६. तै. सं. ब्रा. ७. ५. २५; श. ब्रा. १०. ६. ४. १; बृ. आ. उ. १.१- २;

परिशिष्ट

प्रथम — दर्शपौर्णमासयाग में प्रयुज्य मन्त्र

द्वितीय — पारिभाषिक शब्द-सूची

तृतीय — यज्ञपात्र सूची

चतुर्थ — वेदि, कपाल, यज्ञपात्रों के चित्र

पंचम — सहायक ग्रन्थ, अनुसन्धान पत्रिकायें और पाण्डुलिपियाँ



दर्शपौणमास याग में प्रयुज्य यजु मन्त्र

अनुवाकः ॥ श्रीवेदपुरुषाय नमः ॥ हरिःॐ ॥

॥१॥ इषे त्वोर्ज्जे त्वा वायव स्स्थ देवो वः सविता प्प्रार्प्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्म्मणऽआप्यायद्ध्वमघ्न्याऽइन्द्राय भागम्प्रजावतीरनमीवाऽअयक्ष्मा मा व स्तेनऽईशत माघशंसो ध्रुवाऽअस्मिन्गोपतौ स्यात बह्वीर्य्यजमानस्य पशून्पाहि ॥१॥

॥२॥ वसोः पवित्रमसि द्यौरसि पृथिव्यसि मातरिश्वनो घर्म्मोऽसि विश्वधाऽअसि परमेण धाम्ना दृꣳहस्व मा ह्वार्म्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत् ॥२॥

वसोः पवित्रमसि शतधारँवसोः पवित्रमसि सहस्रधारम् ।
देवस्त्वा सविता पुनातु वसोः पवित्रेण शतधारेण सुप्प्वा कामधुक्षः ॥३॥
सा विश्वायुः सा विश्वकर्म्मा सा विश्वधायाः ।
इन्द्रस्य त्वा भागꣳ सोमेनातनच्मि विष्णो हव्यꣳ रक्ष ॥४॥

॥३॥ अग्ने व्रतपते व्रतञ्चरिष्ष्यामि तच्छकेयन्तन्मे राध्यताम् ।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥५॥
कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति तस्मै त्वा युनक्ति ।
कर्म्मणे वाँवेषाय वाम् ॥६॥
प्रत्युष्टꣳ रक्षः प्प्रत्युष्टाऽअरातयो निष्टप्तꣳ रक्षो निष्टप्ताऽअरातयः ।
उर्व्वन्तरिक्षमन्वेमि ॥७॥
धूरसि धूर्व धूर्वन्तन्धूर्व तँय्योस्मान्धूर्वति तन्धूर्व यँवयन्धूर्वामः ।
देवानामसि वह्नितमꣳ सस्नितमम्पप्रितमञ्जुष्टतमन्देवहूतमम् ॥८॥
अह्रुतमसि हविर्द्धानन्दृꣳहस्व मा ह्वार्म्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत् ।
विष्णुस्त्वा क्रमतामुरु वातायापहतꣳ रक्षो यच्छन्ताम्पञ्च ॥९॥
देवस्य त्वा सवितुः प्प्रसवेऽश्विनोर्ब्बाहुभ्याम्पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
अग्नये जुष्टङ्गृह्णाम्म्यग्नीषोमाभ्याञ्जुष्टङ्गृह्णामि ॥१०॥
भूताय त्वा नारातये स्वरभिविख्येषन्दृꣳहन्तान्दुर्य्याः पृथिव्यामुर्व्वन्तरिक्षमन्वेमि
पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयाम्म्यदित्याऽउपस्थेऽग्ने हव्यꣳ रक्ष ॥११॥

॥४॥ पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ सवितुर्वः प्रसवऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। देवीरापोऽअग्रेगुवोऽअग्रेपुवोऽग्रऽइममद्य यज्ञन्नयताग्रे यज्ञपतिꣳ सुधातुंय्यज्ञपतिन्देवयुवम् ॥१२॥
युष्माऽइन्द्रोऽवृणीत वृत्रतूर्य्ये यूयमिन्द्रमवृणीध्वंवृत्रतूर्य्ये प्रोक्षिता स्थ।
अग्नये त्वा जुष्टम्प्रोक्षाम्यग्नीषोमाभ्यान्त्वा जुष्टम्प्रोक्षामि।
दैव्याय कर्म्मणे शुन्धध्वन्देवयज्यायै यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदँवस्तच्छुन्धामि ॥१३॥
॥५॥ शर्म्मास्यवधूतꣳ रक्षोऽवधूताऽअरातयोऽदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर्वेत्तु।
अद्रिरसि वानस्पत्यो ग्रावासि पृथुबुध्नः प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्तु ॥१४॥
अग्नेस्तनूरसि वाचो विसर्जनन्देववीतये त्वा गृह्णामि बृहद्ग्रावासि वानस्पत्यः सऽइदन्देवेभ्यो हविः शमीष्व सुशमि शमीष्व। हविष्कृदेहि हविष्कृदेहि ॥१५॥

४

कुक्कुटोऽसि मधुजिह्वऽइषमूर्ज्जमावद त्वया वयꣳ सङ्घातꣳसङ्घातञ्जेष्म वर्षवृद्धमसि प्रति त्वा वर्षवृद्धंवेत्तु परापूतꣳ रक्षः परापूताऽअरातयोऽपहतꣳ रक्षो वायुर्वो विविनक्तु देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रति गृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना ॥१६॥
॥६॥ धृष्टिरस्यपाग्नेऽअग्निमामादञ्जहि निष्क्रव्यादꣳ सेधा देवयजँवह। ध्रुवमसि पृथिवीन्दृꣳह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय ॥१७॥
अग्ने ब्रह्म गृभ्णीष्व धरुणमस्यन्तरिक्षन्दृꣳह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय। धर्त्रमसि दिवन्दृꣳह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय। विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्यऽउपदधामि चित स्थोर्ध्वचितो भृगूणामङ्गिरसान्तपसा तप्यध्वम् ॥१८॥
॥७॥ शर्म्मास्यवधूतꣳ रक्षोऽवधूताऽअरातयोऽदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर्वेत्तु। धिषणासि पर्वती प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्तु दिव स्कम्भनीरसि धिषणासि पार्वतेयी प्रति त्वा पर्वती वेत्तु धान्यमसि ॥१९॥
धान्यमसि धिनुहि देवान्प्राणाय त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वा। दीर्घामनु प्रसितिमायुषे धान्देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना चक्षुषे त्वा महीनाम्पयोऽसि ॥२०॥

देवस्य त्वा सवितुः प्प्रसवेऽश्विनोर्ब्बाहुब्भ्याम्पूष्णो हस्ताब्भ्याम् ।
सँवपामि समापऽओषधीभिः समोषधयो रसेन ।
सꣳ रेवतीर्ज्जगतीभिः पृच्यन्ताꣳ सम्मधुमतीर्म्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम् ॥२१॥

जनयत्यै त्वा संय्यौमीदमग्नेरिदमग्नीषोमयोरिषे त्वा घर्म्मोसि विश्वायुरुरुप्प्रथाऽउरु प्प्रथस्वोरु ते यज्ञपतिः प्प्रथतामग्निष्टे त्वचम्मा हिꣳसीद्देवस्त्वा सविता श्रपयतु वर्षिष्ठेऽधि नाके ॥२२॥

मा भेर्म्मा संव्विक्थाऽअतमेरुर्य्यज्ञोतमेरुर्य्यजमानस्य प्प्रजा भूयात्त्रिताय त्वा द्द्विताय त्वैकताय त्वा ॥२३॥

॥९॥ देवस्य त्वा सवितुः प्प्रसवेऽश्विनोर्ब्बाहुब्भ्याम्पूष्णो हस्ताब्भ्याम् । आददेऽद्ध्वरकृतं देवेब्भ्यऽइन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणः सहस्रभृष्टिः शततेजा वायुरसि तिग्मतेजा द्विषतो वधः ॥२४॥

पृथिवि देवयजन्योषद्ध्यास्ते मूलम्मा हिꣳसिषँव्व्रजङ्गच्छ गोष्ठानँव्वर्षतु ते द्यौर्ब्बधान

देव सवितः परमस्याम्पृथिव्याꣳ शतेन पाशैर्य्योस्मान्द्वेष्टि यञ्च वयन्द्विष्मस्तमतो मा मौक् ॥२५॥

अपाररुम्पृथिव्यै देवयजनाद्बध्यासँव्व्रजङ्गच्छ गोष्ठानँव्वर्षतु ते द्यौर्ब्बधान देव सवितः परमस्याम्पृथिव्याꣳ शतेन पाशैर्य्योस्मान्द्वेष्टि यञ्च वयन्द्विष्मस्तमतो मा मौक् । अररो दिवम्मा पप्तो द्रप्सस्ते द्याम्मा स्कन्व्रजङ्गच्छ गोष्ठानँव्वर्षतु ते द्यौर्ब्बधान देव सवितः परमस्याम्पृथिव्याꣳ शतेन पाशैर्य्योस्मान्द्वेष्टि यञ्च वयन्द्विष्मस्तमतो मा मौक् ॥२६॥

गायत्रेण त्वा च्छन्दसा परिगृह्णामि त्रैष्टुभेन त्वा च्छन्दसा परिगृह्णामि जागतेन त्वा च्छन्दसा परिगृह्णामि । सुक्ष्मा चासि शिवा चासि स्योना चासि सुषदा चास्यूर्ज्जस्वती चासि पयस्वती च ॥२७॥

पुरा क्क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्नुदादाय पृथिवीञ्जीवदानुम् । यामैरयँश्चन्द्रमसि स्वधाभिस्तामु धीरासोऽअनुदिश्य यजन्ते । प्रोक्षणीरासादय द्विषतो वधोसि ॥२८॥

॥१०॥ प्रत्युष्टꣳ रक्षः प्प्रत्युष्टाऽअरातयो निष्टप्तꣳ रक्षो निष्टप्ताऽअरातयः । अनिशितोसि सपत्नक्षिद्वाजिनन्त्वा वाजेद्ध्यायै सम्मार्ज्मि । प्रत्युष्टꣳ रक्षः प्प्रत्युष्टाऽअरातयो निष्टप्तꣳ रक्षो निष्टप्ताऽअरातयः । अनिशितासि सपत्नक्षिद्वाजिनीन्त्वा वाजेद्ध्यायै सम्मार्ज्मि ॥२९॥

अदि॑त्त्यै॒ रास्न्ना॑सि॒ विष्ण्णो॑र्वे॒ष्प्पो॑स्यू॒र्ज्जे त्वाद॑ब्धेन त्वा॒ चक्क्षु॒षाव॑पश्यामि ।
अ॒ग्ग्नेर्ज्जि॒ह्वासि॑ सु॒भूर्द्देवेब्भ्यो॒ धाम्न्ने॑धाम्न्ने मे भव॒ यजु॑षेयजुषे ॥३०॥

॥३॥

स॒वि॒तुस्त्त्वा॑ प्प्रस॒वऽउत्त्पु॑नाम्म्यच्छिद्द्रेण प॒वित्त्रे॑ण॒ सूर्य्य॑स्य र॒श्मिभि॑÷ । स॒वि॒तुर्व॑÷ प्प्रस॒वऽउत्त्पु॑नाम्म्यच्छिद्द्रेण प॒वित्त्रे॑ण॒ सूर्य्य॑स्य र॒श्मिभि॑÷ । तेजो॑सि शु॒क्क्रम॑स्य॒मृत॑-मसि॒ धाम॒ नामा॑सि प्प्रि॒यन्दे॒वाना॒मना॑धृष्ट्टन्देव॒यज॑नमसि ॥३१॥

॥१॥ कृ॒ष्ण्णो॑स्याखरे॒ष्ठ्ठो॒ग्ग्नये॑ त्वा॒ जुष्ट्टम्प्रोक्क्षा॑मि॒ वेदि॑रसि ब॒र्हिषे॑ त्वा॒ जुष्ट्टाम्प्रोक्क्षा॑मि ब॒र्हिर॑सि स्रु॒ग्ग्भ्यस्त्त्वा॒ जुष्ट्टम्प्रोक्क्षाम्म्यदि॑त्त्यै व्युन्द॑नम् ॥१॥

अदि॑त्त्यै व्युन्द॑नमसि॒ विष्ण्णो॑ स्तु॒पोऽस्यू॒र्ण्णम्म्रदसन्त्वा स्तृणामि स्वासस्त्थान्दे॒वेब्भ्यो॒ भुव॑पतये॒ स्वाहा॒ भुव॑नपतये॒ स्वाहा॑ भूताना॒म्पत॑ये॒ स्वाहा॑ ॥२॥

ग॒न्धर्व॑स्त्त्वा॑ वि॒श्वाव॑सु॒ऽ परि॑दधातु॒ विश्श्व॑स्यारि॑ष्ट्ट्यै॒ यज॑मानस्य परि॒धिर॑स्य॒ग्ग्निरि॒ड ऽईडि॒त॒ऽ । इन्द्र॑स्य बा॒हुर॑सि॒ दक्क्षि॑णो॒ विश्श्व॑स्यारि॑ष्ट्ट्यै॒ यज॑मानस्य परि॒धिर॑स्य॒-ग्ग्निरि॒डऽईडि॒तऽ । मि॒त्रावरु॑णौ त्वोत्तर॒तऽ परि॑धत्ताम्ध्रुवेण॒ धर्म्म॑णा॒ विश्श्व॑स्यारि॑ष्ट्ट्यै॒ यज॑मानस्य परि॒धिर॑स्य॒ग्ग्निरि॒डऽईडि॒तऽ ॥३॥

वी॒तिहो॑त्रन्त्वा कवे द्यु॒मन्त॒ꣳ समि॑धीमहि । अग्ग्ने॑ बृ॒हन्त॑मद्ध्व॒रे ॥४॥

॥४॥

स॒मिद॑सि॒ सूर्य्य॑स्त्त्वा पु॒रस्त्ता॑त्पातु॒ कस्या॑श्चि॒दभिश॑स्त्त्यै । स॒वि॒तुर्ब्बा॒हू स्त्थ॒ऽऊर्ण्ण॑म्म्रद-सन्त्वा स्तृणामि स्वासस्त्थन्दे॒वेब्भ्य॒ऽआ त्वा॒ वस॑वो रु॒द्राऽआ॑दि॒त्त्याऽ स॑दन्तु ॥५॥

घृ॒ताच्च्य॑सि जु॒हूर्न्नाम्म्ना॒ सेदम्प्प्रि॒येण॒ धाम्म्ना॑ प्प्रि॒यꣳ सद॒ऽआसी॑द घृ॒ताच्च्य॑स्युपभृ॒-न्नाम्म्ना॒ सेदम्प्प्रि॒येण॒ धाम्म्ना॑ प्प्रि॒यꣳ सद॒ऽआसी॑द घृ॒ताच्च्य॑सि ध्रु॒वा नाम्म्ना॒ सेदम्प्प्रि॒येण॒ धाम्म्ना॑ प्प्रि॒यꣳ सद॒ऽआसी॑द प्प्रि॒येण॒ धाम्म्ना॑ प्प्रि॒यꣳ सद॒ऽआसी॑द । ध्रु॒वाऽअ॑सद-न्नृ॒तस्य॒ योनौ॒ ता वि॑ष्ण्णो पा॒हि पा॒हि य॒ज्ञम्पा॒हि य॒ज्ञप॑तिम्पा॒हि माँम्म्य॑ज्ञ॒-न्न्यम् ॥६॥

॥२॥ अग्ग्ने॑ वाजजि॒द्वाज॑न्त्वा सरि॒ष्यन्त॑वाज॒जित॒ꣳ सम्म्मा॑र्ज्मि । नमो॑ दे॒वेब्भ्य॑÷ स्व॒धा पि॒तृभ्य॑÷ सु॒यमे॑ मे भूयास्त॒मस्क॑न्नमद्य ॥७॥

अस्क॑न्नमद्य दे॒वेब्भ्य॒ऽआज्ज्य॒ꣳ सम्भ्रि॑यास॒मङ्घ्रि॑णा विष्ण्णो॒ मा त्वाव॑क्क्रमिषँवसु॑-मतीमग्ग्ने ते च्छा॒यामुप॑स्त्थेषँविष्ण्णो॒ स्त्थान॑मसी॒तऽइन्द्रो॑ वी॒र्य्य॑मकृणोदू॒र्ध्वोऽद्ध्व॒रऽआ-स्त्था॑त् ॥८॥

अग्ग्ने॒ वेर्होत्त्रं॒वेर्द्दू॒त्त्य॒मव॑तान्त्वान्द्यावा॑पृथि॒वीऽअव॒ त्वन्द्यावा॑पृथि॒वी स्वि॑ष्ट्ट॒कृद्दे॒वेब्भ्य॒ऽ इन्द्र॒ऽआज्ज्ये॑न ह॒विषा॑ भू॒त्स्वाहा॒ सञ्ज्योति॑षा॒ ज्योति॑÷ ॥९॥

॥३॥ मयीदमिन्द्रऽइन्द्रियन्दधात्वस्म्मान्रायो मघवानः सचन्ताम् । अस्म्माकꣳ सन्त्वाशिषः सत्त्या नः सन्त्वाशिषऽउपहूता पृथिवी मातोप माम्पृथिवी माता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात्स्वाहा ॥१०॥

उपहूतो द्यौष्पितोप मान्द्यौष्पिता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात्स्वाहा ।
देवस्य त्वा सवितुः प्प्रसवेऽश्विनोर्ब्बाहुब्भ्याम्पूष्णो हस्ताब्भ्याम् ।
प्रतिगृह्णाम्म्यग्नेष्ट्वास्येन प्प्राश्नामि ॥११॥

एतन्ते देव सवितर्य्यज्ञम्प्राहुर्बृहस्प्पतये ब्रह्मणे ।
तेन यज्ञमव तेन यज्ञपतिन्तेन मामव ॥१२॥

मनो जूतिर्जुषतामाज्ज्यस्य बृहस्प्पतिर्य्यज्ञमिमन्तनोत्त्वरिष्टँय्यज्ञꣳ समिमन्दधातु । विश्श्वे देवासऽइह मादयन्तामो३म्प्रतिष्ठ ॥१३॥

एषा तेऽअग्ने समित्तया वर्द्धस्व चा च प्प्यायस्व । वर्द्धिषीमहि च वयमा च प्प्यासिषीमहि । अग्ने वाजजिद्वाजन्त्वा ससृवाꣳसँवाजजितꣳ सम्मार्ज्मि ॥१४॥

॥४॥ अग्नीषोमयोरुज्जितिमनूज्जेषँवाजस्य मा प्प्रसवेन प्प्रोहामि । अग्नीषोमौ तमपनुदताँय्योस्म्मान्द्वेष्टि यञ्च वयन्द्विष्म्मो वाजस्यैनम्प्रसवेनापोहामि । इन्द्राग्न्योरुज्जितिमनूज्जेषँवाजस्य मा प्प्रसवेन प्प्रोहामि । इन्द्राग्नी तमपनुदताँय्योस्म्मान्द्वेष्टि यञ्च वयन्द्विष्म्मो वाजस्यैनम्प्रसवेनापोहामि ॥१५॥

वसुब्भ्यस्त्वा रुद्रेब्भ्यस्त्वादित्त्येब्भ्यस्त्वा सञ्जानाथान्द्यावापृथिवी मित्रावरुणौ त्वा वृष्ट्यावताम् । व्यन्तु वयोक्तꣳ रिहाणा मरुताम्पृषतीर्ग्गच्छ वशा पृश्निर्ब्भूत्वा दिवङ्गच्छ ततो नो वृष्टिमावह । चक्षुष्प्पाऽअग्नेसि चक्षुर्म्मे पाहि ॥१६॥

यम्परिधिम्पर्य्यधत्थाऽअग्ने देव पणिभिर्ग्गुह्यमानः ।
तन्तऽएतमनु जोषम्भराम्म्येष नेत्त्वदपचेतयाताऽअग्नेः प्प्रियम्पाथोपीतम् ॥१७॥

सꣳस्रवभागा स्त्थेषा बृहन्तः प्प्रस्तरेष्ठाः परिधेयाश्च देवाः ।
इमाँवाचमभि विश्श्वे गृणन्तऽआसद्यास्म्मिन्बर्हिषि मादयद्ध्वꣳ स्वाहा वाट् ॥१८॥

घृताची स्त्थो धुर्य्यौ पातꣳ सुम्न्ने स्त्थः सुम्न्ने मा धत्तम् ।
यज्ञ नमश्च तऽउप च यज्ञस्य शिवे सन्तिष्ठस्व स्विष्टे मे सन्तिष्ठस्व ॥१९॥

॥५॥ अग्नेदब्धायोशीतम पाहि मा दिद्योः पाहि प्प्रसित्त्यै पाहि दुरिष्ट्यै पाहि दुरद्मन्याऽअविषन्नः पितुङ्कृणु सुषदा योनौ स्वाहा वाडग्नये संवेशपतये स्वाहा सरस्वत्यै यशोभगिन्यै स्वाहा ॥२०॥

वेदोसि येन त्वन्देव वेद देवेब्भ्यो वेदोभवस्तेन मह्यँवेदो भूयाः । देवा गातुविदो गातुँवित्त्वा गातुमित । मनसस्पतऽइमन्देव यज्ञꣳ स्वाहा वाते धाः ॥२१॥
सम्बर्हिरङ्क्ताꣳ हविषा घृतेन समादित्त्यैर्व्वसुभिः सम्मरुद्भिः ।
समिन्द्रो विश्वेदेवेभिरङ्क्तान्दिव्यन्नभो गच्छतु यत्स्वाहा ॥२२॥
कस्त्वा विमुञ्चति स त्वा विमुञ्चति कस्मै त्वा विमुञ्चति तस्मै त्वा विमुञ्चति ।
पोषाय रक्षसाम्भागोसि ॥२३॥
सँवर्चसा पयसा सन्तनूभिरगन्महि मनसा सꣳ शिवेन ।
त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम् ॥२४॥
दिवि विष्णुर्व्यक्रꣳस्त जागतेन च्छन्दसा ततो निर्भक्तो योस्मान्द्वेष्टि यञ्च वयन्द्विष्मोन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रꣳस्त त्रैष्टुभेन च्छन्दसा ततो निर्भक्तो योस्मान्द्वेष्टि यञ्च वयन्द्विष्मः पृथिव्याँविष्णुर्व्यक्रꣳस्त गायत्रेण च्छन्दसा ततो निर्भक्तो योस्मान्द्वेष्टि यञ्च वयन्द्विष्मोस्मादन्नादस्यै प्प्रतिष्ठायाऽअगन्म स्वः सञ्ज्योतिषाभूम ॥२५॥
स्वयम्भूरसि श्रेष्ठो रश्मिर्व्वर्चोदाऽअसि वर्च्चो मे देहि ।
सूर्य्यस्यावृतमन्वावर्त्ते ॥२६॥
अग्ने गृहपते सुगृहपतिस्त्वयाग्नेहङ्गृहपतिना भूयासꣳ सुगृहपतिस्त्वम्मयाग्ने गृहपतिना भूयाः । अस्थूरि णौ गार्हपत्यानि सन्तु शतꣳ हिमाः सूर्य्यस्यावृत-मन्वावर्त्ते ॥२७॥
अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषन्तदशकन्तन्मेराधीदमहँय्यऽएवास्मि सोस्मि ॥२८॥
अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा सोमाय पितृमते स्वाहा ।
अपहताऽअसुरा रक्षाꣳसि वेदिषदः ॥२९॥
ये रूपाणि प्प्रतिमुञ्चमानाऽअसुराः सन्तः स्वधया चरन्ति ।
परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टाँल्लोकात्प्रणुदात्यस्मात् ॥३०॥
अत्र पितरो मादयध्वँय्यथाभागमावृषायध्वम् ।
अमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषत ॥३१॥
नमो वः पितरो रसाय नमो वः पितरः शोषाय नमो वः पितरो जीवाय नमो वः पितरः स्वधायै नमो वः पितरो घोराय नमो वः पितरो मन्यवे नमो वः पितरः पितरो नमो वो गृहान्नः पितरो दत्त सतो वः पितरो देष्मैतद्वः पितरो वासऽ आधत्त ॥३२॥
आधत्त पितरो गर्भङ्कुमारम्पुष्करस्रजम् । यथेह पुरुषोसत ॥३३॥
ऊर्जँवहन्तीरमृतङ्घृतम्पयः कीलालम्परिस्रुतम् । स्वधा स्थ तर्प्पयत मे पितॄन् ॥३४॥
॥ इति द्वितीयोऽध्यायः ॥

दर्शपौणमास याग में प्रयुज्य ऋक् मन्त्र

प्र वो वाजा अभिद्यवो हविष्मन्तो घृताच्या।
देवाञ्जिगाति सुम्नयो३म्। ऋ. ३.२७.१.।
अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये।
नि होता सत्सि बर्हिषो३म्।
तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि।
बृहच्छोचा यविष्ठ्यो३म्।
स नः पृथु श्रवाय्यमच्छा देव विवाससि।
बृहदग्ने सुवीर्यो३म्। (ऋ. ८.१६.१०-१२)
ईडेन्यो नमस्यस्तिरस्तमांसि दर्शतः।
समग्निरिध्यते वृषो३म्।
वृषो अग्निः समिध्यतेऽश्वो न देववाहनः।
तं हविष्मन्त ईडतो३म्।
वृषणं त्वा वयं वृषन् वृषणः समिधीमहि।
अग्न दीद्यतं बृहो३म्। (ऋ. ३.२७.१३)
अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतो३म्। (ऋ. १.१२.१)
समिध्यमानोऽअध्वरेऽग्निः पावक ईड्यः।
शोचिष्केशस्तमीमहो३म्। (ऋ. ३.२७.४)
समिद्धो अग्न आहुत देवान् यक्षि स्वध्वर।
त्वं हि हव्यवाडसो३म्। (ऋ. ५.१८.५)
आ जुंहोता दुवस्यताग्निं प्रयत्यध्वरे।
वृणीध्वं हव्यवाहनो३म्।

आज्यभाग मन्त्र

अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद् द्रविणस्युर्विपन्या।
समिद्धः शुक्र आहुतो३म्। (ऋ. ६.१६.३४)
त्वं सोमासि सत्पतिस्त्वं राजोत वृत्रहा।
त्वं भद्रोऽअसि क्रतो३म्। (ऋ. १.९१.५)

प्रधानयाग मन्त्र

अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम।अपां रेतांसि जिन्वतो३म्। (ऋ. ८.४४.१६)
अग्नि भवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रानियुद्भिः सचसे शिवाभिः।
दिवि मूर्द्धान दधिषे स्वर्षां जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहां३ वौषट्। (ऋ. १०.८.६)
अग्नेषोमाविमं सु मे शृणुतं वृषणा हवम्।
प्रति सूक्तानि हर्यतं भवतं दाशुषे मय् (उच्चैः) ओ३म्। (ऋ. १.९३.१)
अग्नीषोमा सवेदसा सहूती वनतं गिरः। सं देवत्रा बभूवथो३म्। (ऋ. १.९३.९)
अग्निषोमौ युवमेतानि दिवि रोचनान्यग्निश्च सोम सक्रतू अधत्तम्।
युवं सिन्धूँरभिशस्तेरवद्यादग्नीषोमावमुञ्चतं गृभीता३न् वौषट्। (ऋ. १.९३.५)

स्विष्टकृद्याग मन्त्र

प्रेद्धो अग्ने दीदिहि पुरो नोऽजस्रया सूर्म्या यविष्ठ।
त्वां शश्वन्त उपयन्ति वाजो३म्। (ऋ. 7.1.3)

पत्नी संयाज मंत्र

आप्यायस्व समेतु ते विश्वतः सोम वृष्ण्यम्। भवा वाजस्यसंगथोऽम्। (ऋ. १.९१.१६)

सोम ः सन्ते पयो ॅ सि समुयन्तु वाजाः संवृष्ण्यान्यभिमातिषाहः।

आप्यायमानो अमृताय सोम दिवि श्रवांस्युत्तमानि धिष्वाइ वौ३षट्। (ऋ. १.९१.१८)

इह त्वष्टारमग्रियं विश्वरूपमुपह्वये। अस्माकमस्तु केवलो३म्। (ऋ. १.१३.१०)

त्वष्टारं तन्नस्तुरीपमध पोषयित्नुर्देवं त्वषट्र्विरराणः स्यस्व।

यतो वीरः कर्मण्यः सुदक्षो युक्तग्रावा जायते देवकामा वौषट्ग्य (ऋ. ३.४.९)

देवानां पत्नीरूशतीरवन्तु नः प्रावन्तु नस्तुजये वाजसातये।

याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते ता नो देवीः सुहवाः शर्म यच्छतो३म्। (ऋ. ५.४६.७)

ये यजामहे देवानां पत्नीर उत ग्ना व्यनतु देवपत्नीरिन्द्राण्यऽग्नाय्यश्विनी राट्।

आ रोदसी वरूणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतुजनीनां वौषट्। (ऋ. ५.४६.८)

अग्निर्होता गृहपतिः स राजा विश्वा वेद जनिमा जातवेदाः।

देवानामुत यो मर्त्यानां यजिष्ठः स प्रयजतामृतावो३म्। (ऋ. ६.१५.१३)

ये यजामहे अग्निं गृहपतिं हव्यवाडग्निरजरः पिता नो विभुर्विभावा सुदृशीकोऽअस्मे।

सुगार्हपत्याःसमिषो दीदिह्यस्मद्य१क् संमिमीहि श्रवांसि वौषट्। (ऋ. ५.४.२)

सान्नाय याग में प्रयुज्य ऋक् मन्त्र

एन्द्र सानसिं रयिं सजित्वानं सदासहम्। वर्षिष्ठमूतये भरो३म्। (ऋ. १.८.१)

इन्द्रं प्र संसाहिषे पुरुहूत शत्रूञ्ज्येष्ठस्ते शुष्म इह रातिरस्तु।

इन्द्रा भर दक्षिणेना वसूनि पतिः सिन्धूनामसि रेवतीनां वौषट्। (ऋ. १०.१८०.१)
महाँ इन्द्रो य ओजसा पर्जन्यो वृष्टिमाँइव। स्तोमैर्वत्सस्य वावृधो३म्। (ऋ. ८.६.१)
महेन्द्र भुवस्त्वमिन्द्र ब्रह्मणा महान् भुवो विश्वेषु सवनेषु यज्ञियः।
भूवोनृश्च्यौत्नो विश्वस्मिन् भरे ज्येष्ठश्च मन्त्रो विश्वचर्षणे३ वौ३षट्। (ऋ. १०.५०.४)

असान्नाय याग में प्रयुज्य ऋक् मन्त्र

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढमस्य पांसुरोम्। (ऋ. 1.22.17)
विष्णुं त्रिर्देवः पृथिवीमेष एतां विचक्रमे शतर्चसं महित्वा।
प्र विष्णुरस्तु तवसस्तवीयांस्त्वेषं ह्यस्य स्थविरस्य नाम वौषट्। (ऋ. 7.100.3)
इन्द्राग्नी अवसागतमस्मभ्यं चर्षणी सहा। मा नो दुःशस इशतोम्। (ऋ. 7.94.7)
इन्द्राग्नी - गीर्भिर्विप्रः प्रमतिमिच्छमान ईट्टे रयिं यशसं पूर्वभाजम्।
इन्द्राग्नी वृत्रहणा सुवज्रा प्र नो नव्येभिस्तिरतं देष्णैः वौषट्। (ऋ. 7.93.4)



(द्वितीय - परिशिष्ट)

पारिभाषिक शब्द-सूची

१. अग्नि का अन्वाधान — आहवनीय गार्हपत्य तथा दक्षिण अग्नि में मन्त्रों का पाठकर छः समिधाओं का आधान कर्म ही अग्न्यान्वाधान कहलाता है।[१]

२. अवदान — शतपथ ब्राह्मण के अनुसार जो कुछ अग्नि में आहुति दी जाती है उसे अवदान कहते हैं।[२] अन्यत्र आहुति के निमित्त हवि के पूर्वार्द्ध व मध्य से ग्रहण किया गया खण्ड को अवदान कहा गया है।[३]

३. आधार — अग्नि के नियत भाग से नियत स्थान तक सतत रूप से गिरायी जाने वाली आज्यधारा को आघार कहा जाता है।[४]

४. अनुयाज — प्रधान याग के अनन्तर किये जाने वाले याग को अनुयाज कहा जाता है।[५]

५. अनस् — दर्शपूर्णमास इष्टि के निमित्त हवि के धान को अनस् (गाड़ी से लेने के सम्बन्ध में कहा गया है) अनस् अर्थात् बैलगाड़ी। वस्तुतः अनस् (गाड़ी) बहुतायत का चिह्न है जो चीज बहुत होती है उसको गाड़ी कहते हैं। इस प्रकार अनस् बहुतायत का सम्पादन करता है।[६]

---

1. गार्हपत्याग्निहवनीय दक्षिणाग्निषुषट् समिधक्षपं कम अग्न्यन्वाधानम्। का. श्रौ. भू. पृ. 34
2. तदेनांस्तदवदयते यद्यजतेऽथयदग्नौ जुहोति तदेनास्तदवदयते तस्माद्यत्किचाग्नौ जुह्वति तदवदानंनाम्। श. ब्रा., 1.5.5 (1.7.2.6)।
3. मध्यात् पूर्वार्धदाच्च सम्मिन्दमंगगुष्टपर्वमात्रमवदानम्। का. श्रौ., 1.9.6
4. वहेनः कश्चिद् देशमारम्भ देशान्तर पर्यन्त समन्वकमाज्यधारायां आहरणं प्रक्षेपणमाधारः। का. श्रौ. भू. पृ. 34, श्रौ. प. नि., पृ. 31-195
5. अनुपश्चात् प्रधानयागानन्तरंभिज्यतेमैरिति व्युत्पत्या होत्रा पठ्यमाना याज्या मन्त्राः अनुयाजाः। का. श्रौ. भू. पृ. 35
6. भूमा या अनः भूमा हि वा आनस्तस्यापदा बहु भवत्य नो वाहयम् भूदित्याहुस्तद् भूमा नयवैत दुपैति तस्मादनस –। श. ब्रा., 1.1.2.6

६. **अतूर्त्त** – अग्नि के स्तुति में इस शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसको राक्षस नहीं रोक सकते हैं इसलिए अत्तूर्त्ताः अर्थात् न रुकने वाला कहा गया है।[१]

७. **अधिश्रयण** – दूध, मक्खन अथवा चावल पुरोडाश के निमित्त हवियों को अग्नि पर पकाने अथवा उबालने को अधिश्रयण कहा जाता है।[२]

८. **अनुप्रहरण** – याग के पश्चात् उस साधन विशेष कुश को अग्नि में प्रक्षिप्त करना (फेंकना) ही अनुप्रहरण है।

९. **अभिधारण** – अवदान पूर्वक हवि के ऊपर आज्य का प्रक्षेप करना अभिधारण है।[३]

१०. **आतचंन** – दूध से दही जमाने की क्रिया को आतचंन कहा जाता है।[४]

११. **अनुवाक्या** – होता एवं मैत्रावरुण नामक ऋत्विज द्वारा देवताओं को याग में अपने-अपने भाग ग्रहण करने के लिए आह्वाहन करते समय पढ़ा जाने वाला मन्त्र अनुवाक्या कहलाता है।[५]

१२. **आस्तरण** – वेदि के ऊपर कुश को बिछाना आस्तरण कहलाता है। व्रत के आसन (आसनी) के बिछौने को भी आस्तरण कहते हैं।

१३. **अभिमर्शन** – मन्त्र को जाप करते हुए सम्बन्धित पदार्थों को स्पर्श करना अभिमर्शन कहलाता है।[६]

१४. **आहवनीय** – यह अग्नि का नाम है, जिसमें सामान्यतया आहुति डाली जाती है।[७]

१५. **अन्वाहार्य** – दर्शपौर्णमास इष्टि में चार ऋत्विजों के लिए दक्षिणाग्नि पर पकाकर ओदन को जो याग के पश्चात् दिया जाता है उसे अन्वाहार्य कहा जाता है।[८]

---

1. न हयेतं रक्षांसि तरन्ति तस्मादाहातूर्त्तो होतेति। तूर्निहव्यवादिति सर्वं ह्येष पप्मानं तरति तस्मादाह तूर्णिर्हष्यवाडिति।
2. श्रौ. प. नि., पृ.16.125
3. टीका अवन्तस्यं हविष उपरि धृत प्रक्षेप अभिधारणम्, का. श्रौ. सू. - 1.8.39
4. दध्यासिच्चामस्पात्रेण दारु पात्रेण वा कुम्भ्याः मुखं विधाय तामुपरि शिक्येनिदध्यात्। तदिदमात चनमित्युच्यते। .त. प्र. पृ.
5. श्रौ. प. नि., पृ. 28, 228,
6. अभिमर्शनं नाम यदभिमृशेदिति विधीयते मन्त्रजपसमकालं तत्पदार्थस्पर्शनम्। श्रौ. प. नि., प. 15
7. अरत्नि प्रमाणं समचतुरस्रं मेखलावत् आहवनीय कुण्डम्। तत्र स्थापितोऽग्नि आहवनीयः। श च आहूयते स्मिन्नित्याहवनीय इति व्युत्पत्त्या "आहवनीये होमाः"। का. श्रौ., 1.8.23
8. दक्षिणान्नादक्षिणः हविस्यादिति ह्याहुर्ददर्श पूर्णमास यो हर्येवैषा दक्षिण यदन्वाहार्य (अन्वाहरति) यज्ञ सम्बन्धि दोषजातं परिहरति अनेनेति अन्वाहार्यो नाम ऋत्विग्भोजनीय ओदनः। श. ब्रा., 11.1.3.7, सायणभाष्य -

१६. इध्म – जिस लकड़ी से अग्नि को प्रज्ज्वलित किया जाता है उसे इध्म अर्थात् लकड़ी कहा जाता है।[१] पलाशादि वृक्ष की एक हाथ लम्बी अट्ठारह समिधाओं को इध्म कहते हैं।[२]

१७. इडा – इडापात्रि में ग्रहण की गयी हवि इडा है।

१८. इध्मसंनहन – समिधा बांधने वाली रस्सी को इध्मसंनहन कहा जाता है।

१९. उपवसथ – (उप + वास) किसी के घर में बैठना। यह दर्शपौर्णमास याग में व्रतोपायन अनुष्ठान के पूर्व किया जाता है। इसका अर्थ यह है कि उपवास करना (व्रत करना) है।[३]

२०. उपस्तरण – आहुति के लिए हवि लेने के पूर्व हवन करने वाले स्रुच में घृत लेना उपस्तरण कहलाता है।[४]

२१. उत्कर – जिस पर वेदी की मिट्टी आदि तथा कूडा आदि फेंकने के लिए बनाया गया गड्ढा उत्कर कहलाता है।[५]

२२. उपांशु – उपांशु रूप में जिस याग को किया जाता है उसे उपांशु याग कहा जाता है। अर्थात् मन्त्र का उच्चारण इस प्रकार किया जाए जिसको अपने अलावा कोई दूसरा सुन न सके।[६]

२३. उत्पवन – पवित्रों को प्रोक्षणी में डालकर और दोनों हाथों से दोनों पवित्रों को लेकर हविद्रव्य पर अभिसिञ्चन करना उत्पवन कहलाता है।[७]

२४. उल्मुक – अग्नि को प्रज्ज्वलित करने हेतु अंगार को उल्मुक कहा जाता है।

२५. उपसर्जनी – पुरोडाश के निमित्त आटा गूँथने के लिए गर्म जल उपसर्जनी कहलाता है।[८]

---

1. श. ब्रा., 1.3.5.1, इन्धे ह वा स्तदध्वर्युः इध्मेनाग्नि तस्मादिध्मो नाम। द्र. निघण्टु इध्मः समिन्धात्।
2. का. श्रौ. भू., पृ. 35, पलाशादि वृक्षाणामरत्निमात्रा अष्टादश समिध इध्मः, छान्दो. प. 8/19-20 ।
3. उप (समीपे)। यजमानस्य वसन्ति देवाः अस्मिन्निति पूर्वदिवसा उपवसथ नाम इत्यर्थः। श. ब्रा., 3.9.2.7, उपासीतैवं तत्र एतदूर्ध्वावः प्रविशन्ति त एतासु वसतीवरीषूपवसन्ति स उपवसथः।
4. का. श्रौ., 1.8.39, विद्याधर टीका, जुहवां पुरोडाशादि हविषो ग्रहणातपूर्वमाज्यस्य प्रक्षेप उपस्तरणम्।
5. श्रौ. प. नि. 5.25, उत्किन्यस्मिन् वेद्यादि संवध्यवकाशदिर्कामिति व्युत्पत्या उत्कर इति गीयते। तु. का. श्रौ. 2.6.5, हि. ध. शा., पृ. 223।
6. श. ब्रा., 11.4.1.10, सा. भा., उपांशु इज्यते इति उपांशु याजः जिहवाष्ठौ चालयेत किंचद्देवता गत मानसः। निज श्रवणयोग्यः स्यादुपांशु स जपः स्मृतः स्वयं ग्रहण योग्यः किंचच्छब्दंवानुपांशुरिति तदर्थ।
7. श्रौ. प. नि., पृ. 15, उत्पवनं नाम द्रव्यस्याज्यादेः कस्मिनंश्चिद्पात्रे स्थितस्य दक्षिणोत्तराभ्यां हस्ताभ्यां परस्परं असंसृष्टे पवित्रं धृत्वाताभ्यां तस्य द्रव्यस्य दूर्ध्वभागे प्लवनं उत्पवनमित्युच्यते।
8. का. श्रौ. भू., पृ. 35, पिष्टसंयवनार्थस्तप्ता आपउपसर्जन्यः।

२६. कपालोपधान — पुरोडाश पकाने हेतु अग्नि पर कपालों का विहित क्रम से स्थापन कपालोपधान कहलाता है।

२७. दर्शपूर्णमास — अमावस्या को किया जाने वाला याग (दर्श) तथा पौर्णमासी को किया जाने वाला याग (पौणमासी) कहा जाता है।[१]

२८. गार्हपत्य — वैदिक यज्ञ के तीन अग्नियों में यह एक अग्नि है। अर्थात् गृह यज्ञों में प्रयुक्त अग्नि गार्हपत्य है।[२]

२९. पत्नी संयाज — देव पत्नियों को दी जाने वाली आहुति को पत्नी संयाज कृत्य कहा जाता है।[३]

३०. पत्नी सन्नहन — मूंज के रस्सी से यजमान पत्नी के कटि प्रदेश को बाँधना पत्नी सन्नहन कहलाता है।[४]

३१. प्रयाज — प्रधान के पूर्व किये जाना वाला याग प्रयाज याग कहलाता है।[५] और प्रकृष्ट रूप से देवताओं के लिए किये जाने वाला याग प्रयाज याग कहलाता है।[६]

३२. परिग्रह — स्फ्य् के द्वारा वेदी के मध्य में तीन रेखा खींचना परिग्रह कहलाता है।[७]

३३. परिस्तरण — अग्नि के चारो और कुश को बिछाना, यह परिस्तरण क्रिया कहलाती है।[८]

३४. पर्यग्निकरण — हवि के चारों और प्रदक्षिणा क्रम में जलती हुई लकड़ी को घुमाना पर्यग्निकरण कहलाता है।[९]

३५. पर्युक्षण — वेदी के चारो तरफ जल से प्रोक्षण करना पर्युक्षण कृत्य कहलाता है।[१०]

---

1. अमरकोष, 2.7.48, दर्शश्च पूर्णमासश्च यागौ पक्षान्तयो: पृथक इति कोशात् अमायामग्न्याधानं कृत्वा य: प्रतिपदि याग क्रियते सा यागो दर्श इत्युच्यते। एवं पौर्णमास्यामन्वाधान प्रतिपदि क्रियमाणो यागो पौर्णमासी इत्युच्यते।
2. का. श्रौ., 1.8.23, टीका, अग्निहोत्र शालायां पश्चिम भागे सप्तविंशत्यंगुलव्यास वृत्तं द्वादशंगुलयोच्च चतुरंगलविस्तृत मेखलावत् गार्हपत्यायतनं भवति। तत्र विधिना संस्थापितोग्निगार्हपत्य: अयमेवाग्निराहवनीय दक्षिणाग्न्योर्योनि:।
3. का. श्रौ. भू. पृ. 36, पत्नीदेवताका दर्शपूर्णमासांगभूताश्चत्वारो याग विशेषा: पत्नी संयाजा:। वै. को. पृ. 305
4. का. श्रौ. भू. पृ. 35, मुञ्जरज्जुनिर्मित: पत्नी बन्धनार्थो रज्जुविशेष: पत्नी सन्नहनन्नम्।
5. का. श्रौ. 1.7.2, विद्याधर टीका, प्रधानयाग पूर्वमिज्यते यैस्ते प्रयाजा:। तु. श्रौ. प. नि. 30-247
6. का. श्रौ. भू. पृ. 35, प्रकर्षेण इज्यन्ते देवता एभिस्ते प्रयाजा:।
7. का. श्रौ. सू., 2.6.25, टीका, परिगृह्णाति परिसमन्तात्स्फ्येन रेखाकरणादिना इयत्ीवेदिरिति ज्ञापनार्थं परिग्रहणाति। तु. हि. ध. शा. 2333
8. का. श्रौ. भू., पृ. 35, अग्निना परित: कुशैराच्छादनं परिस्तरणम्।
9. का. श्रौ. विद्याधर टीका, 1.7.24, हविषामासमन्तात् प्रादक्षिण्येन उल्मुकस्य भ्रमणं पर्यग्निकरणम्।
10. का. श्रौ., विद्याधर टीका, 1.7.24

३६. पात्रासादन – गार्हपत्य से आगे बिछे कुशों पर दो-दो करके पात्रों को रखना पात्रासादन कहलाता है।

३७. पुरोनुवाक्या – याग से पूर्व देवता को अनुकूल बनाने के लिए कही जाने वाली ऋचा को पुरोनुवाक्या कहा जाता है।[१]

३८. पुरोडाश – चावल अथवा जौ के आटे से निर्मित कपाल पर रखी गयी एक प्रकार की रोटी पुरोडाश कहलाती है।[२] इसको हवि द्रव्य के रूप में आहुति दिया जाता है।

39. प्रोक्षण – यह प्रधान याग पूर्ववर्ती है। पवित्रयुक्त जल से दाहिने हाथ को उत्तान करके हवि पर जल छिड़कना।

४०. प्रोक्षणी – ब्रीहि आदि प्रोक्षण हेतु अग्नि होत्रहवणी में लिया गया पवित्र जल।

४१. प्रादेश – अंगूठे के अग्रभाग से तर्जग्नी के अग्रभाग तक का मार्ग प्रादेश कहलाता है।

४२. वृत्र – इन्द्र के शत्रु का नाम "वृत्र" है।

४३. प्रस्तर – कुशमुष्टि को प्रस्तर कहा जाता है।[३]

४४. प्राशित्रावदान – प्राशित्र ब्रह्मा का भाग होता है। उसके अवदान को प्राशित्रहरण कहते हैं।[४]

४५. विधृति – समान लम्बाई वाले दो दर्भ को विधृति कहा जाता है, जिन पर प्रस्तर आदि को विशेष रूप से रखा जाता है। विधृति का अर्थ अलग-अलग करना है।[५]

४६. व्रतोपायन – यजमान द्वारा व्रतग्रहण ही व्रतोपायन है। अर्थात् व्रत के समीप पहुँचना है।

४७. विष्णुक्रम – दर्शपौर्णमास याग में विष्णु के समान यजमान अपने पैरों को क्रम से रखता है, विष्णुक्रम कहलाता है।[६]

---

1. श. ब्रा. 11.2.1.6 (टिप्पणी) पुरः यागात्पूर्व देवतामनुकूलमितुं या ऋक् अनूच्यते सा पुरोनुवाक्या अनुवाक्या इतिभ्योच्चते। श्रौ.. प. नि. पृ. 228
2. श. क. द्र., पुरोऽग्ने दाश्यते दीयते इति, हविर्भेदः स तु यव चूर्णनिर्मित रोटिका विशेषः।
3. का. श्रौ. भू., पृ. 35, प्रस्तरः कुशमुष्टिः। तु. श. ब्रा. 1.3.3.7, य. त. प्र., पृ.
4. का. श्रौ. भू. पृ. 35,- प्राशित्रं ब्रह्मणो भागः तस्यावदानं ग्रहणम् प्राशित्रावदानम्।
5. श. ब्रा., 1.3.4.10, तस्मादिमेतिरश्चो भूवौ, तु. का. श्रौ. पृ. 35
6. का. श्रौ. भू., पृ. 34, विष्णुपाद वुध्या भूमौ स्वपाद प्रक्षेपो विष्णुक्रमाः। तु. श्रौ. प. नि. 52.341

४८. व्यूहन — जुहू के पूर्व में और उपभृत के पश्चिम में हटाने की क्रिया को व्यूहन कहते हैं।[१]

४९. विहार — यज्ञ के लिए वेद द्वारा प्रतिपादित परिमाण वाली भूमि को विहार कहा जाता है।[२]

५०. शाखाहरण[३] — बछड़ों से गायों को अलग करने के लिए अध्वर्यु शाखा हरण कृत्य को करता है। वह पलाश या शमी की शाखा होती है और वह वहुपत्र से वेष्टित, आगे से न सूखी हो और छिद्र न हो।[४] शाखाहरण का तात्पर्य शाखा लाने से है।

५१. शाखा पवित्र — दूध को साफ करने के लिए समान आकृति के दर्भों से पवित्र बनाये जाते हैं।[५] शाखा युक्त करने के कारण शाखा पवित्र कहे जाते हैं।

५२. शकट — पुरोडाश के निमित्त हविद्रव्य शकट (बैलगाड़ी) में रखे जाते हैं। हवि का निर्वाप शकट से किया जाता है और शकट न होने की स्थिति में पात्री से हवि निर्वाप करते हैं।[६]

५३. शूर्प — धान के भूसी और चावल को अलग करने के लिए प्रयुक्त होने वाले पात्र को शूर्प कहते हैं।[७]

५४. शंयुवाक — यजमान के ऐश्वर्य की कामना से शंयु (वृहस्पति के पुत्र) की स्तुति के मन्त्रों का पाठ करना शंयुवाक् कहलाता है।[८]

५५. संयवन — पुरोडाश के निमित्त आटा को जल से मिलाना (मिश्रण करना) संयवन कहलाता है।[९]

५६. सान्नाय्य सामग्री — कुम्भी (दूध रखने के लिए, दोहन पात्र, अभिधानी) गाय दुहने के पूर्व बछड़ों को पगहा से बाँधने के लिए रज्जु विशेष, निदाने

---

१. का. श्रौ. भू. पृ. 35, जुहवाः प्राच्याम् उपभृतः प्रतीच्याम् पसारणं व्यूहनम्।

2. श्रौ. प. नि., पृ. 8, यागार्थः यत्र-यत्र पावनी भूमिः श्रुत्यादिभिः परिमाण विशेष विशिष्टत्वेन विहिता तत्र तत्र तावती भूमिः विहार पद वाच्या।

3. हि. ध. शा., पृ. 1012, श्रौ. प. नि., 14.76,

4. का. श्रौ., 4.2.4, बहु पलाशमशुकाग्रां प्रागुदुचीमन्यतमां वा, तु. भा. श्रौ., 1.2.9, आ. श्रौ., 1.1.9,

5. भा. श्रौ., 1.11.6, समावप्रच्छिन्नऽग्नौदर्यो प्रादेशमात्रे पवित्रे कुरुते।

6. श्रो. प. नि., 7.39, वंश निर्मित व्रीहयादिना पुरोडाशादि सम्बिन्धिनां निस्तुषकरणोपयोग शूर्पमित्युच्यते।

7. श. ब्रा., 1.1.4.19, वर्षवृद्धं हि एतत् यदि नडानां वायदि वेणूनां यदीषी काणां वर्षमु, तु. य. म. सू., पृ. 27

8. का. श्रौ. भू. पृ. 35, शंयुनाम वृहस्पति पुत्रस्तुतिरूपत्वात् शंयुपद घटितत्वात् शयुवाक इतिनाम। तु. श. ब्रा., 1.9.1.25, श्रो. प. नि. 33.311.

9. आ. श्रौ., पृ. सयवन जलेन मिश्रीकरणम् य. त. प्र.

(दोहन के समय गाय के पैर तथा बछड़े को बाँधने के निर्मित्त रज्जु) सींक) दधि रखने के पात्र, दो पात्र (यजमान भाग के दही, दूध रखने के लिए, दो पात्र इत्यादि सान्नाय्य सामग्री है।[१]

५७. सामिधेनी – होता नाम ऋत्विक् "प्रवोवाज्" इत्यादि सामिधेनी नामक ग्यारह ऋचाओं से अग्नि को भली प्रकार जलाता है। अतः समिन्धत का साधन होने के कारण इन्हें सामिधेनी कहते हैं।[२]

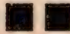
५८. समिधा – पलाश अथवा अन्य यज्ञीय वृक्ष का प्रादेश मात्र काष्ठ को समिधा कहा जाता है।[३]

५९. स्थालीपाक – स्थाली में पकाया गया ओदन।

६०. सुक्तवाक् – सूक्त वाक् के द्वारा यजमान के ऐश्वर्य की कामना करता है।[४]

६१. स्विष्टकृत् – प्रधानयाग को जो भली प्रकार से इष्ट करता है अर्थात् प्रज्ज्वलित करता है उसे स्विष्टकृत् याग कहा जाता है।[५]

६२. समिष्टयजु – जो देवता इस यज्ञ में बुलाये जाते हैं और जिन देवों के लिए यह यज्ञ किया जाता है वह सब समिष्ट होते है। (सम + इष्ट) चाहे हुए या बुलाये हुए उन सब समिष्टों में जो आहुति दी जाती है उसे समिष्ट यजु कहते हैं। और जिन देवता को बुलाया गया था और यजन किया गया था समिष्ट यजु आहुति के द्वारा उन्हें विसर्जन कर देता है।[६]



---

1. य. त. प., मृणमयी पयश्रपणार्थ लक्षणा। दोहनपात्रम-अर्थलक्षणम् दारु मयम। गो बन्धनीरज्जुमर्थ लक्षणा, दोहन काले गोपादवन्धनार्थ वत्सवन्धनार्थ रंज्जु, मुंज तृणनिर्मितमर्थलक्षण्म् दधिपात्र निक्षेपणार्थम्, यजम्मन भागदधि पयो निक्षपणार्थे यज्ञियवृक्षनिर्मिते द्वेपात्रे।
२. श. ब्रा., 1.3.5.1, समिन्धे सामिधनीभिर्होता तस्मात् सामिधेन्योनाम्, द्र. ऋ वे. 3.27.1, तु. का. श्रौ. सू. भू., पृ. वै. को. पृ. 395 श्रो. प. नि., 22.185
3. का. श्रौ. भू., पृ. 35, पलाशादि वृक्षानांमरत्नीमात्रा अष्टादश समिध इध्मः। छान्दो. प., 8.19.20
4. श्रौ. प. नि., 37.306, अध्वर्यु प्रेषितो होता यमन्त्रं पठति स सूक्तवाक् इत्युच्यते। का. श्रौ. भू., पृ. 35,
5. का. श्रौ. भू., पृ. 35, प्रधान यागस्य सुष्टु इष्टं करोतीति स्विष्टकृत्, कृतस्य प्रधान यागस्य पौष्कल्या पादक इति यावत्, वै. कौ पृ. 325, तु. श्रौ. प. नि. 32.264
6. श. ब्रा. 1.9.2.26, अंथ यस्मात् समिष्ट यजुर्नाम ——— या वा एतेन यज्ञेन देवता हवयति ——— समिष्ट यर्जुनाम।

   श. ब्रा. 11.4.3.19, प्रधान यागातदौ सम्यग् द्रष्टा देवता इज्यन्ते अनेन स होमः मन्त्रश्च समिष्टयजुः, द्र. आ. श्रौ. 3.13.2, तथा धूर्तस्वामी एवं रूद्रदत्त भाष्य, स. श्रौ. 2.6.15, महादेव टीका, का. श्रौ. 1.7.2, विद्याधर टीका, तु. श्रौ. प. नि. 40.332.3।

तृतीय परिशिष्ट

यज्ञपात्र सूची

अग्निहोत्र हवणी[1] — जिससे अग्निहोत्र होम किया जाता है उसे अग्निहोत्र हवणी कहते हैं। यह विकिंकत काष्ठ की बनी हंस के मुख के आकार की होती है।

अन्वाहार्य स्थाली[२] — अन्वाहर्य नाम को ओदन पकाये जाने से यह अन्वाहर्य स्थाली कहलाती है, यह तांबा अथवा पीतल का होता है।[३]

आज्य स्थाली — आज्य रखने के लिए मिट्टी की बनी पात्र को आज्य स्थाली कहा जाता है।[४]

इडापात्री — इडावदान रखने के पात्र को इडापात्र कहा जाता है। यह वारण वृक्ष के लकड़ी से बनी चार अंगुल वृन्त या विस्तार युक्त बिल रहित तथा चार अंगुल लम्बी दाड़ वाली होती है।[५]

इडापात्र — वारण वृक्ष से निर्मित अरत्नीमात्र लम्बा इडापात्र कहलाता है।[६]

उपभृत — यह अश्वत्थ लकड़ी से बनायी जाती है, अरत्नीमात्र, विल्वयुक्त दण्डयुक्त और बाहुभाग या एक प्रादेशमात्र लम्बी होती है। इसका मुख हथेली के समान होता है और अग्रभाग हंस चोंच के समान होता है। अध्वर्यु होम के समय इसको वामहस्त में जुहू के समीप धारण करता है।[७]

---

1. का. श्रौ. भू., पृ. 35, अग्निहोत्रं हूयतेऽनया सा अग्निहोत्रहवणी। वु. दर्शपू. य., पृ. 2, श्रौ. प. नि., 6.38, आप. श्रौ., 6.3.6।
2. दर्श. पौ., पृ.3।
3. य. त. प्र., परूषचतुष्टय भोजन पर्याप्तान्न पाचनयोग्यं ताम्रं पैत्तलं वा पाक पात्रम्।
4. का. श्रौ., 1.8.39, विद्याधर टीका, होमाधर्थ यस्या स्थाल्यां माज्यं गृह्णते सा आज्यस्थाली। तु. अही. सू. 1.207.1।
5. का. श्रौ. भू., पृ. 35, वारणकाष्ठ निर्मिताऽरत्नीमात्र दीर्घादव्यंगुलतां प्रान्तेषु हव्यंगुलपरिधिमती मध्ये संकुचिता चतुरंगुलदाऽिडा पात्री इडाम। आधारत्वात् इडापात्रीत्युच्यते। अही. सू. 1.207.32, वै. को. पृ. 244।
6. दर्श. पौ., पृ. 3।
7. का. श्रौ. भू., पृ. 35, अश्वत्थ काष्ठ निर्मिता जुहू सदृशो उपसमीपे भ्रियते ध्रियते इति व्युत्पत्या अध्वर्ध्युणा होमार्थ धृतदक्षिण हस्तं सम्बन्धि जुह्वा समीपे धारणादुपभृदित्यच्युते। तु. श्रौ. प. नि., पृ. 8.47, तु. तै. सं., 3.5.7.2, अ. सं., 1.8.4.5.8, तै. ब्रा., 1.3.2.11।

उपवेष – उपवेष का अर्थ है "चिमटा"। कपालो के उपधान के प्रसंग में प्रयुक्त किया गया है। यह पलाश शाखा से निर्मित एक प्रादेश लम्बा और हाथ के आकृति का होना चाहिये।[१] आह्नीक सूत्रावली के अनुसार यह "खादिर" वृक्ष का होना चाहिए।[२] कतिपय पद्धति के अनुसार "वत्सापकरण"में प्रयुक्त शाखा के मूल भाग को काटकर उपवेष का निर्माण किया जाता है।[३]

उलूखल - मुसल – धान आदि कूटने में उलूखल का प्रयोग किया जाता है इसे ओखली भी कहते हैं। मूसल को धान आदि कूटने का साधन बताया गया है। उलूखल पलाश काष्ठ से निर्मित नया मुसल खादिर काष्ठ से निर्मित होता है।[४] ये दोनों वारण काष्ठ से निर्माण किया जा सकता है।[५]

कपाल – पुरोडाश पकाने हेतु मिट्टी से बनी दो अंगुल ऊंची कपाल कहलाता है।[६] इन कपालो को निर्दिष्ट क्रम में अग्नि पर स्थापन कपालोपधान कहलाता है।[७]

कूर्च – यह वारण वृक्ष का होता है। मकराकार वाहुमात्र लम्बा, यह अग्नहोत्र हवणी के नीचे रखा जाता है।[८]

कृष्णाजिन – कृष्ण मृग का चर्म कृष्णाजिन कहलाता है।[९] हवि कूटने के लिए ओखली के नीचे इसको रखा जाता है और हवि को फटकने का कृत्य भी इसी पर किया जाता है।[१०] शतपथ ब्राह्मण में इसको याग का प्रतीक बताया गया है।[११]

---

1. का. श्रौ., 4.2.14, तु. आ. श्रौ., 1.6.7।
2. आह्नीक सूत्रावली, 1.92, उपवेशोत्लिमात्रो हस्ताकरस्तु खादिरः।
3. दर्श. पू. प्र., पृ. 4, श्रौ. प. नि., 14.80।
4. श्रौ. प. नि., पलाश काष्ट निर्मितं द्वादशांगुल परिमितोधायम् उपसरितातार्ध भागे विलयुक्तं चरु पुरोडाश संबन्धि ब्रीहयादिकंउनप्रयोगि उलूखल मित्युच्यते। उलूखलार्धेत्रिगुणयामं खदिर काष्ठ निर्मितं कण्डनोपयोगि मूसलमित्युच्यते।
5. अहि. सू., 1.2.7.11-3, यदूवो भौवारण कार्यो तद् भावेऽन्य वूक्षणौ।
6. श्रो. प. नि., 6.35, 7.36, पुरोडाश यजनार्थ मृत्तिकया निर्मितानि वहनौ परिपक्वानि द्वयंगुलोच्छ्रायाणि- - - - - - - -।
7. का. श्रौ. भू., पृ. 34, कपालानां विहित क्रमेण स्थापनं कपालोपधान।
8. श्रो. य. प., पृ. 35।
9. श. ब्रा., 1.1.41-3, तस्या एतच्छिल्पमेषवस्ति घात्कृष्णाजिनं — तस्मादध्यवहनमधिपेषणं भवंति।
10. श्रौ. प. नि., पृ. 40, कृष्ण मृगस्य चर्म ब्रीह्यादा वधानकाले उलूखलस्याधः स्थापनोपयोगि कृष्णाजिनमिति कथ्यते। तु. य. त. प्र., उलूखस्याधस्तादास्तार म्।
11. श. ब्रा., 6.4.1.6, यज्ञो वै कृष्णाजिनम्।

दृषद्-उपल — यह एक प्रस्तर खण्ड होता है जिसे दृषद उपल कहा जाता है। इस पर हवि आदि पिसा जाता है। इसे आज "सिल" कहा जाता है। गोलाकार प्रस्तर खण्ड को उपला कहा जाता है यह द्वादश अंगुल लम्बा होता है। इसे आज लोढ़ा कहा जाता है।[१]

ध्रुवा — यह विकंकिन लकड़ी की होती है।[२] इसके द्वारा आज्य की आहुति आधार आहुति, प्रधान व स्विष्टकृत आहुति दी जाती है।

स्रुवा — स्रुवा का प्रयोग आज्य ग्रहण करने के लिए किया जाता है। यह एक अरत्नी लम्बी खादिर के लकड़ी की बनी होती है।[३]

जुहू — पलाश लकड़ी से निर्मित बाहु के बराबर लम्बी तथा हंस के समान मुख वाली यज्ञीय पात्र को जुहू कहा जाता है। इससे अधिकांश आहुति दी जाती है।[४]

प्राशित्रहरण[५] — ब्रह्मा के भाग को रखने के लिए इस पात्र का प्रयोग किया जाता है। यह खैर काष्ठ से निर्मित, प्रादेशमात्र, गोकर्ण के सदृश चार अंगुल के परिमित (हत्थेवाली) दण्डयुक्त होता है।

पवित्र — प्रोक्षण में प्रयुक्त कुश को "दर्भ" कहा जाता है। कुश निर्मित दो दल युक्त एक प्रादेश लम्बा पवित्र होता है।[६]

मेक्षण — अश्वत्थ काष्ठ से निर्मित, अरत्निमात्र दर्वी को मेक्षण कहा जाता है। पिष्ट निर्माण के लिए आटा व जल को मिलाने के लिए इसका उपयोग किया जाता है।[७]

---

1. श्रौ. प. नि., 8.44.5, पाषाण मयी पेषणकाले पेषणीय द्रव्याश्रय भूता द्वदइत्युच्यते। पाषाण निर्मिता पेषण साधनभूता उपला कथित। तु. अही. सू. 1.2.7, 19-20, इच्छा प्रामाणस्तु दृषद्प्रोक्तः पाषाण सम्भवः उपलो वर्तुलः प्रोक्तो वितस्ति परिमाण कः॥

2. का. श्रौ., 1.8.39, विद्याधर टीका, 77, वारण काष्ठ निर्मिता वाहुमात्रीपाणि मात्रमुखी पाणिमात्र विलवती बिलावशिष्ट भागे दण्डयुतां हँसमुख सदृश प्रणालिकावति - - - - - - - - - ।
   तै. सं., 3.5. 7.3, विकंकत काष्ठ निर्मिता, जुहू सदृशीं। श्रौ. प. नि., 8.49, य. त. प्र., पृ.।

3. का. श्रौ. सू., 1.3.39, अरत्निमात्रः स्रुवो अंगुलष्ठ पर्ववृत्त पुष्करः, तु. श्रौ. प. नि., 8.48।

4. का. श्रौ. भू., पृ. 35, पलाश काष्ठ निर्मिता वाहुमात्रीं हंसमुख प्रणालिका स्रुक. जुहूः। हूयते नयेति तदूव्युत्पत्तिः। तु. य. त. प्र. पृ., श्रौ. प. नि., 8.46, यथा हूयते सा जुहूः द्र. अ. सं. 18.4.5.6, ऋ. सं. 8.4.4.5, तै. सं. 3.5.7.1, स. श्रौ. 1.4.139।

5. श्रौ. प. नि., पृ. 8, खादिरकाष्ठ निर्मितं प्रादेश परिमितं गोकर्णाकारं चतुरंगुल परिमित दण्डयुक्तं प्राशित्रंनाम ब्रह्मणे दीयमानो हुत शेष हवर्यागः स हियते अनेनेतिकरण व्युत्पत्या प्राशित्रहरण पदवाच्यम्॥
   तु. का. श्रौ., 1.3.40, अहि. सू., 1.207.30।

6. श्रौ. प. नं., पृ. 56, का. श्रौ., 2.3.30, कुशौ। समाव प्रशीर्णा ग्रावनन्तगर्भे कुशैरिधनन्ति।

7.

पिण्डपितृयज्ञ पात्री — यह मिट्टी की बनी होती है। पिण्डयज्ञ के चरु पकाने में प्रयोग होता है।[१]

दोहन पात्र — वारण वृक्ष निर्मित जिसमें दोहन कृत्य को किया जाता है। इसको अभिधान पात्र भी कहा जाता है।[२]

स्फय – वेदि परिग्रह करने के लिए प्रयुक्त काष्ट कुठार को स्फय कहा जाता है। यह खादिर वृक्ष से बना हुआ अरत्नीमात्र लम्बा तथा खडग की आकृति वाला उपकरण है।[३]

प्रणीता पात्र — यह वारण काष्ठ से निर्मित, प्रादेशमात्र (द्वादश अंगुल) लम्बा कमल के पत्ते के सदृश होता है। इसका प्रयोग प्रणीता प्रणयन में भी किया जाता है।[४]

शूर्प (सूप) — यह बाँस की पतली सीकों का अथवा सरकण्डे का बना होता है। इसमें चर्म का नाड का प्रयोग वर्णित है।[५]

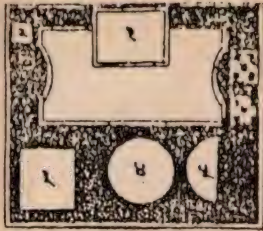
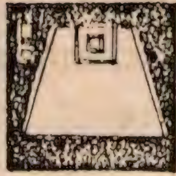




1. दर्श. पू. प., पृ.4
2. दश. पू. प., पृ.4
3. श्रौ. प. नि., 6.3.4, खादिर काष्ट निर्मित: अरत्नी परिमितो दीर्घश्चतुरंगुलपरिमित विस्तार आकारेण खड्गसदृशः स्फय इत्युच्यते। तु. अही. सू. 1.2.7-15, य. त. प्र. पृ - 1
4. अही. सू. 1.207.3. प्रणीता वारणा ग्राह्या द्वादशांगुल समिता खातेनहस्ततलवदाकृत्या पद्मपत्रवत्॥
5. श्रौ. प. प., पृ. 35

दर्शपौर्णमास याग

उपकरणाध्याय-संबन्धि-चित्राणि

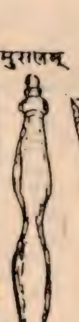
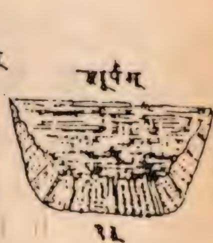




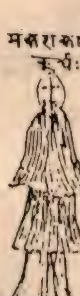




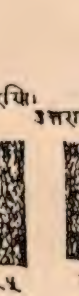
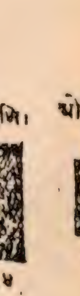


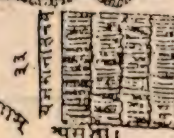
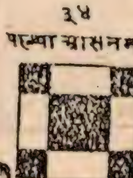
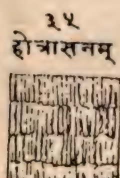



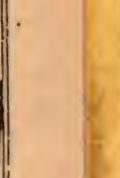




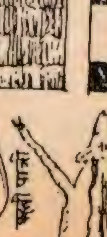









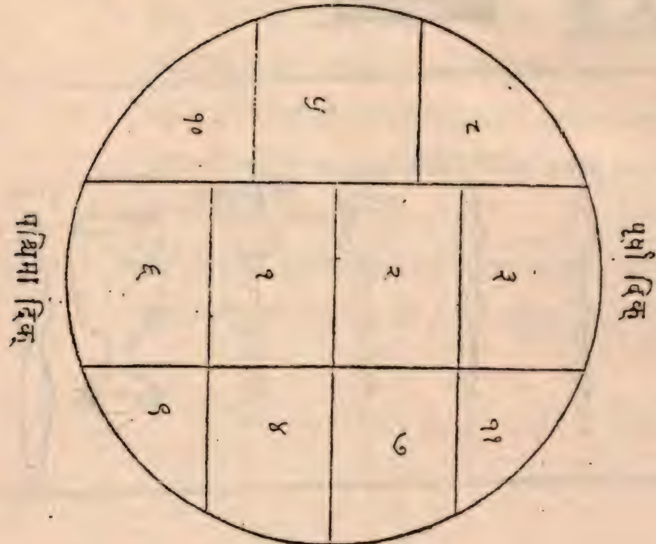




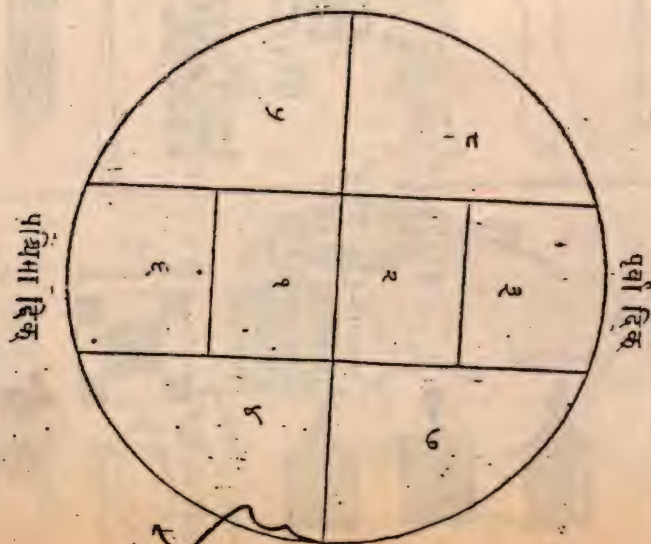




अन्य एकादशकपालोपधानप्रकारः

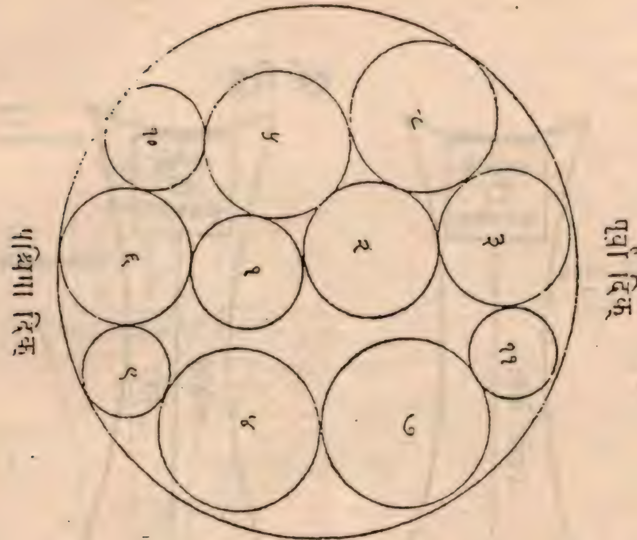


अन्योऽष्टाकपालोपधानप्रकारः



एकादशकपालोपधानप्रकारः

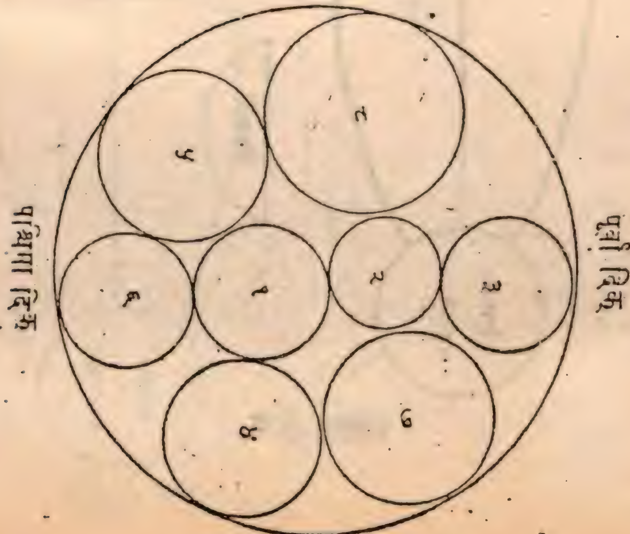
उत्तरा दिक्



दक्षिणा दिक्

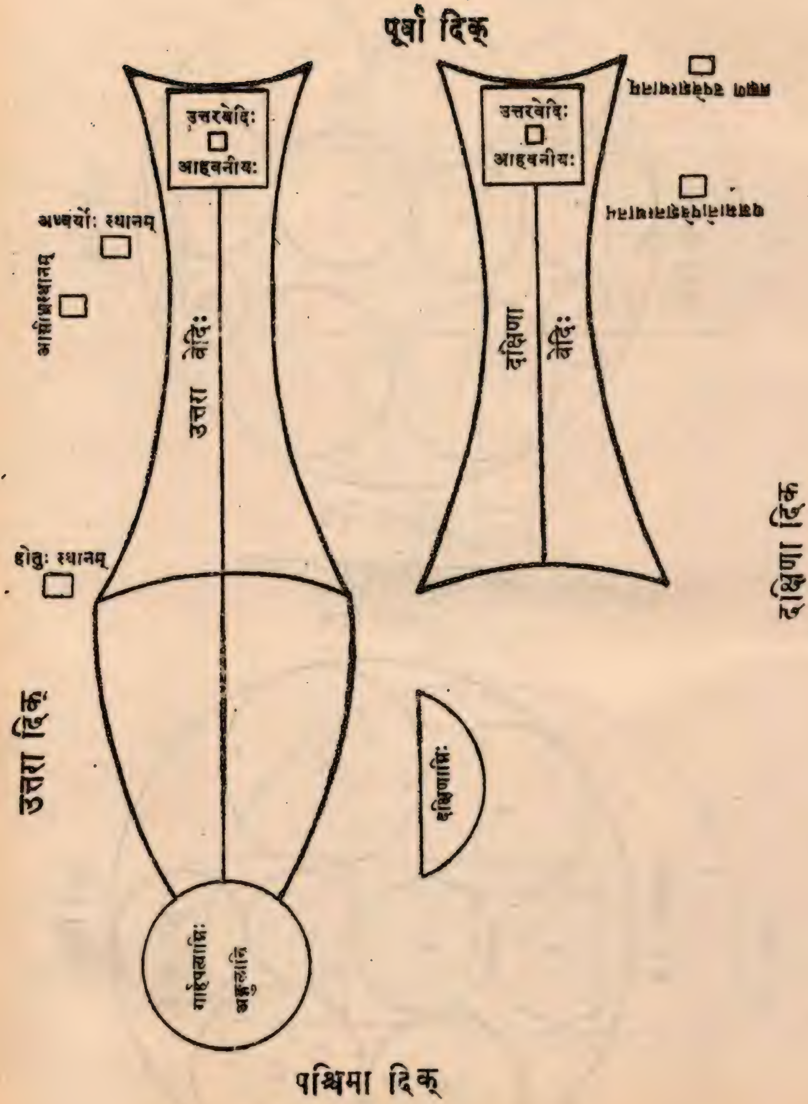
अष्टाकपालोपधानप्रकारः

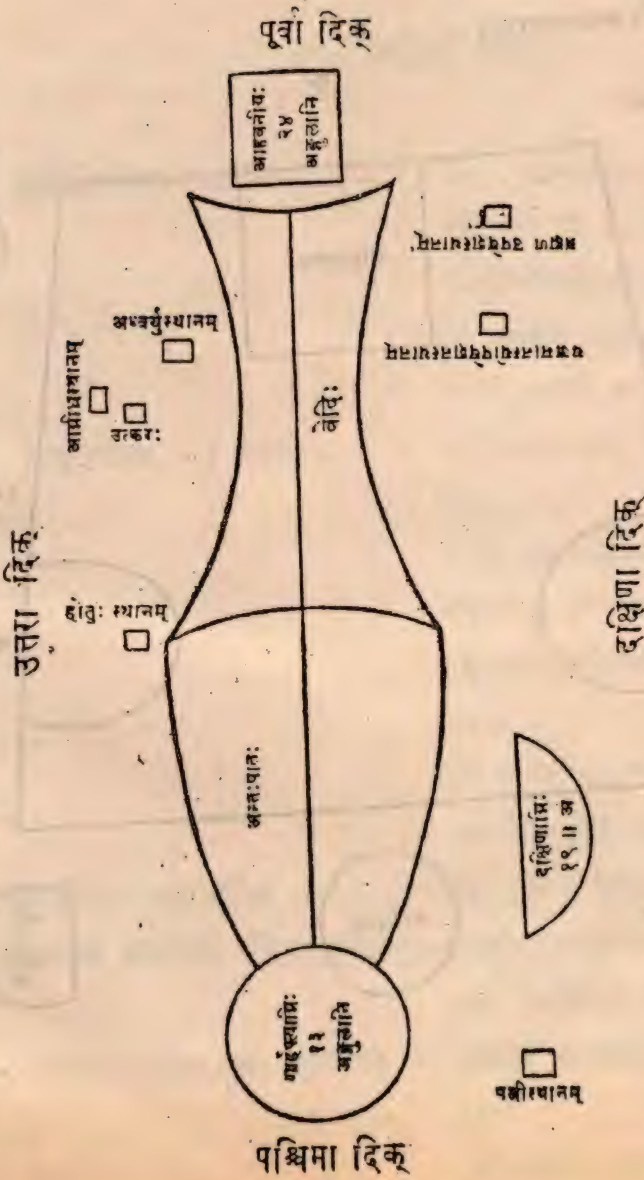
उत्तरा दिक्



दक्षिणा दिक्

दर्शपौर्णमास याग


पूर्वा दिक्
उत्तरवेदिः
आहवनीयः
उत्तरवेदिः
आहवनीयः
ब्रह्मण उपवेशस्थानम्
यजमानोपवेशनस्थानम्
अध्वर्यो: स्थानम्
आग्नीध्रस्थानम्
उत्तरा वेदिः
दक्षिणा वेदिः
होतुः स्थानम्
दक्षिणा दिक्
उत्तरा दिक्
दक्षिणाग्निः
गार्हपत्याग्निः
पश्चिमा दिक्



अग्निहोत्रस्य दर्शपूर्णमासादीष्टीनां च वेदिः ।

खनने प्रकारान्तरमाह—



(पंचम परिशिष्ट)

सहायक ग्रन्थ अनुसन्धान पत्रिका और पाण्डुलिपियाँ

(संहिता ग्रन्थ)

1. **अथर्व संहिता- सं0 विश्ववन्धु—** (अ) विश्वेश्वरानन्द वैदिक रिसर्च इन्स्टीट्यूट, होशियार पुर, 1960-64.
(आ) परोपकारिणी सभा, अजमेर, वि.सं. 1014.
(इ) दामोदर सातवलेकर, वैदिक स्वाध्याय मण्डल, पारडी, तृ0सं0 1957.

2. **ऋग् संहिता, - 5 भाग—** (अ) सायण भाष्य, वैदिक संशोधन मण्डल पूना, 1932-1951.
(आ) विश्वेश्वरानन्द वैदिक रिसर्च इन्स्टीट्यूट, (मूलमात्र), होशियारपुर, 1926-1963-1965.
(इ) आर्य साहित्यमण्डललिमिटेड, अजमेर, (मूलमात्र) 1952.
(ई) सातवलेकर, स्वाध्यायमण्डल, पारडी, सूरत, 1957.
(उ) मैक्समूलर, आक्स्फोर्ड, 1982.

3. **कपिष्ठल कठ संहिता —** स0 रघुवीर, मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, दिल्ली, 1968.

4. **काठक कपिष्ठलं संहिता(मूलमात्र) —** दामोदर सातवलेकर, औध, वि0सं0 1999, सन् 1953.
स0- लियौपोल्ड फान् श्रीडर, वीसवडन, 1970-71.

5. **तैत्तिरीय संहिता (अ) (मूलमात्र) —** दामोदर सातवलेकर, स्वाध्यायमण्डल, पारडी सूरत, 1957.
(आ) आनन्द आश्रम ग्रन्थावली, पूना, 1959, 1961-66.

6. **मैत्रायणी संहिता—** (अ) स0 लियौफाल्ड, वीसवेडन, 1970-71 फान् श्रीडर

(आ) स0 श्रीपाद दामोदर, स्वाध्यायमण्डल, औध, सातारा, 1942.

(इ) स0 नारायण श्रीपाद, वैदिक संशोधनमण्डल, पूना, 1-2 भाग, 1970-72.

7. वाजसनेयी संहिता– (शुक्लयजुर्वेद संहिता) — (अ) स0 रामसकल मिश्र, चौखम्भा संस्कृत बुक डिपो, बनारस 1-4 भाग, 1912-13-15.

(आ) दौलतराम गोड़ ठाकुरप्रसाद बुकसेलर, वाराणसी

(इ) काण्व शाखा, सं0 श्रीपाद दामोदर, सातवलेकर, सं० स्वाध्यायमण्डल पारडी, सूरत, 1963.

(ई) स0 जगदीशलाल शास्त्री, मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली, 1970.

उव्वट महीधर भाष्य, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1970.

उव्वट महीधर भाष्य, वासुदेव शर्मा, निर्णयसागर, मुद्रणालय, बम्बई, 1929.

8. सामवेद — परोपकारणी सभा, वैदिक मन्त्रणालय, अजमेर वि0 सं0 2018.

सातवलेकर, स्वाध्यायमण्डल, पारडी, सूरत, 1963.

" ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद ग्रन्थ "

9.. आर्षेय ब्राह्मणम् (सायणभाष्य) — स0 डॉ0 वे0रामचन्द्र शर्मा, केन्द्रिय संस्कृत, विधापीठ, तिरुपति, 1967.

10. ऐतरेय ब्राह्मणम्– स0 हरिनारायण आप्टे, आनन्दाश्रम ग्रन्थांवली, पूना 1930.

1-2 भाग, बाम्बे गर्वनमेन्ट सेन्ट्रल बुक डिपो, लन्दन, 1863, हिन्दी अनुवाद, गंगाप्रसाद उपाध्याय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, वि० सं0 2006.

11. **कौषीतकि ब्राह्मण—** गर्वनमेण्ट संस्कृत कालेज, कलकत्ता, 1970.

12. **गोपथ ब्राह्मण—** (अ) स0वी0डी0 गास्ट्रा, लाइडैन, 1819.
(आ) स0- राजेन्द्रलाल मित्र, विवलोथिका इण्डिका, कलकत्ता, 1872.
(इ) स0- विजयपाल वारिधि, रामलाल कपूर ट्रस्ट, वहालगढ़, हरियाणा

13. **जैमिनीय ब्राह्मण—** सं0 रघुवीर, लोकेशचन्द्र, सरस्वती विहार सीरीज, 31, नागपुर, 1954.

14. **जैमिनिय उपनिषद ब्राह्मण—** स0- वौल्लिकोथ रामचन्द्र शर्मा, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, 1963.

15. **तॉड्य महाब्राह्मण—** 1-4 भाग, स0-चिन्न स्वामी शास्त्री, केन्द्रिय संस्कृत सीरीज, 105.
1-2 भाग, बनारस, 1935-36.

16. **तैत्तिरीय ब्राह्मण—** (अ) 1-3 भाग, स0- नारायण शास्त्र गेडिवाल आनन्दाश्रम ग्रन्थावली, 37, पूना, 1-3 भाग 1989.
(आ) महादेव शास्त्री, मैसूर, 1868.
(इ) राजेन्द्र लाल मिश्र, विवलोथोथिका, इण्डिया, सीरीज, एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, 1859.

17. **दैवत ब्राह्मण—** सं0- वैल्लि कौध रामचन्द्र शर्मा, केन्द्रिय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, 1965

18. **शतपथ ब्राह्मण—** 1-5 भाग, (अ) लक्ष्मी वेंकेटेश्वरस्ट्रीम प्रेस, बम्बई 1940.
(आ) स0- स्कैडरिक मैक्समूलर अनुवाद जूलियस् एग्लिंग 5 भाग, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली,1963.
(इ) स0- चन्द्रधर शर्मा, अच्युत ग्रन्थमाला काशी वि0सं0 1964.
(ई) चौखम्भा संस्कृत सीरीज, आफिस, वाराणसी, 1964.
(उ) शतपथ ब्राह्मण (हिन्दी विज्ञानभाष्य) मोतीलाल शर्मा, राजस्थान वैदिक संशोधन संस्थान, जयपुर, 1964

(ऊ) शतपथ ब्राह्मण (हिन्दी अनुवाद), गंगानाथ उपाध्याय, प्राचीन वैज्ञानिक अनुसन्धान संस्थान,1970.

(च) शतपथ ब्राह्मण, (काण्वशाखा), डबल्यू कैलण्ड् पंजाब संस्कृत बुक डिपो, लाहौर, 1927.

19. षडविंश ब्राह्मण— (अ) वेल्लिकोथ, रामचन्द्र शर्मा, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, 1967.

(आ) विज्ञान भाष्य, डब्ल्यू. एच. जूलियस, 1867.

(इ) जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, 1881.

20. जैमिनिय उपनिषद् ब्राह्मण— भगवद दत्त, लाहौर, 1921.

21. ऐतरेय आरण्यक— स0- नरहर शास्त्री, आनन्दाश्रम ग्रन्थावली, 34 पूना 1959.

22. वृहदारण्यक— सुरेश्वरा आचार्य, आनन्दाश्रम ग्रन्थावली, 16, पूना 1937.

23. तैत्तिरीय आरण्यक— काशीनाथ वासुदेव अभ्यंकर अ0 जोशी, आनन्दाश्रम ग्रन्थावली, 3061, 1967.

24. शाङ्खायन आरण्यक— श्रीधर पाठक शास्त्री, आनन्दाश्रम ग्रन्थावली, 90 पूना, 1922.

25. अष्टादशोपनिषद्— वि0प्र0 लिम्ये, प्रा0र0द0 वाडेकर, वै0सं0 मण्डल, पूना, 1880.

26. ईशादि दशोपनिषद्— शंकराचार्य, मोतीलाल बनारसी दास, 1964.

27. कठोपनिषद्— गीता प्रेस, गोरखपुर

28. श्वेताश्वतरोपनिषद्— गीता प्रेस, गोरखपुर

29. वृहदारण्यक उपनिषद्— गीता प्रेस, गोरखपुर

30. छान्दोग्योयनिषद्— गीता प्रेस, गोरखपुर

" सूत्र ग्रन्थ "

31. आपस्तम्ब श्रौतसूत्र— (अ) चिन्न स्वामी शास्त्री, ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, मैसूर, 1955.

(आ) नरसिंह आचार्य ओरियण्टल लाइब्रेरी, मैसूर यूनिवर्सिटी, 1944.

(इ) आर0 गार्व, एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता, 1962.

32. आपस्तम्ब धर्मसूत्र— सीक्रेट बुक्स ऑफ दी ईस्ट, भाग 14, खण्ड 1, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी।

33. आपस्तम्ब गृह्यसूत्र— (अ) जयकृष्ण दास हरिदास, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1934.

(आ) स0- विनट्रनित्ज, वीयाना, 1887.

34. आपस्तम्ब शुल्वसूत्र— सं0- डॉ0 श्री निवास आचार्य, संस्कृत सीरीज, 73 मैसूर यूनिवर्सिटी।

35. आश्वलायन श्रौतसूत्र— (अ) हरिनारायण आप्टे, आनन्दाश्रम ग्रन्थावली, पूना, 1917.

(आ) एशियाटिक् सोसाइटी आफ बंगाल, कलकत्ता, 1874.

(इ) स0- मंगलदेवश शास्त्री, बनारस, 1938

36- कात्यायन श्रोतसूत्र— (अ) स0- अच्युत ग्रन्थमाला, विद्याधर शर्मा।

(आ) चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1933.

(इ) स0- अल्वेत वेवर- वेबर शोधित चौखम्भा, वाराणसी, 1972.

37. कात्यायन शुल्वसूत्र— (अ) स0- विद्याधर शर्मा,अच्युत ग्रन्थमाला, काशी वि0सं0 1985.

(आ) स0- पी0 खण्डोलकर, वैदिक संशोधनमण्डल, पूना, 1974.

38. कौशिकसूत्र— स0- मारिसब्लूफील्ड् , जर्नल आफ अमेरिकन ओरयन्टल् सोसाइटी 4, न्यूहेवैन 1890.

39. खादिर गृह्यसूत्र— स0- महादेव शास्त्री, मैसूर, 1913.

40. गोभिल गृह्यसूत्र— स0- चिन्तामणि भट्टाचार्य, कलकत्ता, 1936.

41. गौतम धर्मसूत्र— गर्वनमेण्ट ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, पूना, 1950

42. बौधायन श्रोतसूत्र— डब्ल्यू कैलण्ड्, बिबलोथिका इण्डिका, कलकत्ता, 1913

43. बौधायन श्रोतसूत्र— (दर्शपूर्णमास याग सायणभाष्य)- गंगानाथ झा केन्द्रीय विद्यापीठ, इलाहाबाद।

44. बौधायन शुल्वसूत्र— (अ) स0- जी0 थीबो, दिल्ली, 1968.
(आ) स0- विभूतिभूषण भट्टाचार्य, सरस्वती भवन ग्रन्थमाला 107, वाराणसी, 1979.

45. बौधायन गृह्यसूत्र— स0 आर0 राम शास्त्री, मैसूर, 1920.

46. बौधायन धर्मसूत्र— चौखम्भा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी, 1934.

47. भारद्वाज श्रौतसूत्र — (अ) सं0 रघुवीर, जर्नल फार वैदिक स्टडीज, लाहौर 1935.
(आ) स0 चिन्तामणि गणेश कापूरीकर, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, 1964.

48. मानव श्रौतसूत्र— स0- जैनेरो एम0 फान्गल्डर, इन्टर नेशनल अकादमी आफ इण्डियन कल्चर, नई दिल्ली, 1964.

49. वाराह श्रौतसूत्र— स0- ड्बल्यू कैलण्ड् तथा रघुवीर, मेहरचन्द्र लक्ष्मनदास, दिल्ली, 1971.

50. वैखानस श्रौतसूत्र— स0- ड्बल्यू कैलण्ड्, एशियाटिक् सोसाइटी, कलकत्ता, 1941.

51. वैतान श्रौतसूत्र— स0- विश्वबन्धु, भारत भारती ग्रन्थमाला, होशियारपुर, 1969.

52. सत्याषाढ़ श्रौतसूत्र— आनन्दाश्रम ग्रन्थावली, 53 पूना, 1930.

53. सत्याषाढ़ शुल्वसूत्र— आनन्दाश्रम ग्रन्थावली, 30 पूना।

54. शाङ्खायन श्रौतसूत्र— स0- प्रो0 हिलवाण्डर, रायल एसियाटिक सोसाइटी कलकत्ता, 1885, 1889.

55. द्राह्यायण श्रौतसूत्र— स0- रघुवीर, जर्नलफार वैदिक स्टडीज, लाहौर 1934.

56. लाटयायन श्रौतसूत्र— विब्लोथिका इण्डिका एशियाटिक सोसाइटी आफ् कलकत्ता, 1872.

57. पारस्कर गृह्यसूत्र— (अ) गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई, 1917.
(आ) भारतीय विद्या प्रकाशन, पो0वा0 108, कचौड़ी गली, वाराणसी।

58. जैमिनीय गृह्यसूत्र— पंजाब संस्कृत सीरीज, कैलण्ड, पंजाब, संस्कृत बुक् डिपो लाहौर, 1929.

" अन्य संस्कृत तथा हिन्दी ग्रन्थ "

59. **अग्नि चयन–** (प्रो0) डॉ0 विश्वम्भर नाथ त्रिपाठी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत , वाराणसी, 1989.
60. **अग्नि पुराण–** स0- बलदेव उपाध्याय, गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, 17 कलकत्ता, 1952.
61. **अर्थ संग्रह–** स0- (प्रो0) डॉ0 वाचस्पति उपाध्याय, चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी, 1977.
62. **अष्टाध्यायी–** स0- श्री चन्द्रवसु, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1962.
63. **अमर कोष–** स0- नारायणाचार्य, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1944.
64. **अहिर्बुध्यसंहिता–** स0- श्री कृष्ण आचार्य, आड्यार लाइब्रेरी एण्ड रिसर्च सेन्टर, अड्यार, मद्रास, 1966.
65. **आश्वलायन आपस्तम्ब श्रौतसूत्र–** सं0 भवानी प्रसाद भट्टाचार्य, संस्कृत पुस्तक (विमर्श) भण्डार, कलकत्ता, 1878.
66. **आह्निक सूत्रावली–** वेंकेटेश्वर प्रेस, 1960.
67. **उत्तर रामचरित–** भवभूति, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1877.
68. **उणादि सूत्रावली–** जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता।
69. **ऋग् विधान–** जगदीश शास्त्री, 1917 वि0सं0।
70. **ऋगवेद भाष्य भूमिका–** स0- वीरेन्द्र कुमार वर्मा, भारतीय विद्याप्रकाशन, वाराणसी।
71. **ऋगवेदानुक्रमणिका–** स0- विजयपाल वारिधि, रामलाल कपूर ट्रस्ट, वहालगढ़, 1979.
72. **कात्येष्टि दीपक–** नित्यानन्द पार्वतेय, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1973.
73. **कात्यायन सर्वानुक्रमणी (वेदार्थ दीपिका) –** स0- मैकडानल्, आक्स्फोर्ड 1886.
74. **कात्यायन शिक्षा–** स0- युगल किशोर व्यास, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1893.
75- **कारिकावली–** (सिद्धान्त मुक्तावली), स0- महादेवरंगानाथ शास्त्री, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1915.
76. **काशिका वृत्ति–** 1-6 भाग, स0- कालिका प्रसाद शुक्ल, प्राच्य भारती प्रकाशन, वाराणसी, 1965.

77. कुमार सम्भव— स0- प्रद्युम्न पाण्डेय, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी,
78. कृत्यसंग्रह-- स0- नारायणाचार्य, रघुनाथ मंदिर, आरा, 1970.
79. जैमिनीय न्यायमाला— स0- माधवाचार्य, कलकत्ता, 1983
80. जैमिनीय पूर्वमीमांसा सूत्र— आनन्दाश्रम सीरीज, पुणे
81. जैमिनीय मीमांसा— (शाबर भाष्य), स0-युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट, वहालगढ़, हरयाना, 1984.
82. तन्त्रवार्तिक— स0- गंगाधर शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी 1933.
83. तन्त्र संग्रह— स0- गोपीनाथ कविराज तथा रामप्रसाद त्रिपाठी, योग तन्त्र ग्रन्थमाला, 3-6 वाराणसी, 1970-79.
84. दशपादाणु वृत्ति— स0- युधिष्ठिर मीमांसक, दि प्रिन्सेस् ऑफ् वेल्स् सरस्वती भवन टैकटस् सीरीज वाराणसी, 1953.
85. देवी भागवत— स0- रामतेज पाण्डेय, पण्डित पुस्तकालय, वाराणसी
86. दर्शपूणमास प्रकाश— वामन शास्त्री फिजब्रेडकर, आनन्दाश्रम ग्रन्थावली 93, 1924.
87. दर्शपौर्णमास पद्धति— भीमसेनी शर्मा, रामलाल कपूर ट्रस्ट् वहालगढ़, हरियाणा
88. दर्शपौर्णमास याग— हरिशंकर त्रिपाठी, शारदा प्रकाशन, इलाहाबाद, 1889
89. धात्वर्थ विज्ञान— भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी, सरस्वती भवन ग्रन्थमाला 28, वाराणसी, 1980.
90. धर्मशास्त्र का इतिहास— पाण्डुरंग वामनकाणे, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ, 1950
91. निरुक्त— गुरुमण्डल ग्रन्थमाला 10, कलकत्ता, 1952-53.
92. नीतिमञ्जरी— चाद्विवैध, हरिहरमण्डल, वाराणसी, वि0सं0 1990.
93. न्याय मञ्जरी— जयन्त भट्ट, स0- भागीरथी प्रसाद त्रिपाठी, सरस्वती भवन ग्रन्थमाला वाराणसी, 1807.
94. पतजल महाभाष्य— मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, 1967.
95. पुराण पच लक्षणम्— (देवनागरी संस्करण)- सूर्यकान्त, चौखम्भा संस्कृत सीरीज वाराणसी, 1979.
96. प्रातिशाख्यशिक्षा संग्रह— स0- युगलकिशोर व्यास, चौखम्भा संस्कृत सीरीज वाराणसी, 1893.
97. पाणिनीय धातुपाठ समीक्षा— भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी, सरस्वती भवन ग्रन्थमाला 14, वाराणसी, 1887.

98. वाक्यपदीयम्– स0- रघुनाथ शर्मा, सरस्वती भवन ग्रन्थमाला वाराणसी, शकाब्द् , 1885.

99. वाचस्पत्यम्– तारानाथ तर्कवाचस्पति, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1966-70.

100. वृहद्देवता– ए0ए0 मैकडोनेल् , मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, 1965.

101. विष्णु पुराण– गीताप्रेस गोरखपुर, वि0सं0 2024.

102. ब्राह्मण ग्रन्थों – का एक अनुशीलन, डॉ0 रंजना, भार्गव प्रिटिंगप्रेस, लखनऊ, 1988.

103. भागवत पुराण (मूलमात्र) – गीताप्रेस, गोरखपुर, वि0सं0 1999.

104. मनुस्मृति– निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1980.

105. महाभारत– गीताप्रेस, गोरखपुर

106. महाभाष्य नवाह्निक– स0- भार्गवशास्त्री जोशी, निर्णयसागर प्रेस बम्बई, 1951.

107. यज्ञमधुसूदन– आद्यादत्त ठाकुर, गंगा फाइन् आर्ट्, प्रेस बम्बई,

108. यज्ञसरस्वती– श्री मधुसूदन शर्मा, अल्वरेन्द्र तेजसिंह बहादुर प्रकाशित सम्बत् 2003.

109. यज्ञ तत्त्वप्रकाश– चिन्नस्वामी शास्त्री, मद्रास, 1953.

110. यज्ञमीमांसा– वेनीराम गौड़, ठाकुर प्रसाद बुकसेलर बनारस,

111. याज्ञवल्क्यस्मृति– चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, 1967.

112. रुद्रयामल तन्त्र का परिशीलन्– डॉ0 रमाशंकर मिश्र, परमल पब्लिकेशन दिल्ली, 1988.

113. वेद त्रयी परिचय– सत्यव्रत सामश्रमी भट्टाचार्य, हिन्दी समिति लखनऊ, 2031.

114. वेदविद्या– वासुदेवशरण अग्रवाल, रामप्रसाद एण्ड सन्स आगरा 1959.

115. वेदभाष्य भूमिका संग्रह– स0- बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, 2042.

116. वेदचयनम्– स0- विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, 1980.

117. वैदिक कोष– सूर्यकान्त, वनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी वाराणसी, 1963.

118- वैदिक देवशास्त्र— सूर्यकान्त, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी वाराणसी, 1963.

119. वैदिक छन्दो मीमांसा— युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूरट्रस्ट, अमृतसर, 1959.

120. वैदिक संस्कृति का विकास— लक्ष्मण शास्त्री जोशी, हिन्दी ग्रन्थ प्राइवेट् लिमिटेड, बम्बई, 1957.

121. वैदिक साहित्य और संस्कृति— बलदेव उपाध्याय,वाराणसी, 1958.

122. वैदिक वाङ्मय का इतिहास— भगवददत्त, श्रीरामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर 2. 13

123. शब्दकल्पदुम— स0- राधाकान्त स्यारदेव, चौखम्भा संस्कृत सीरीज वाराणसी, 1967.

124. श्री मद्भगवदगीता— स0- महन्थ हरिहर कृपाल द्विवेदी, कलकत्ता

125. श्रौतपदार्थ निर्वचनम्— (अ) विश्वनाथ शास्त्री, ए0जे0 लाजरस् एण्ड् कम्पनी वनारस, 1969.

(आ) प्रभुदत्त अग्निहोत्री— रामलाल कपूरट्रस्ट् वहालगढ़ हरियाणा, 1983.

126. श्रौतयज्ञ मीमांसा— युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट, वहालगढ़ हरियाणा।

127. श्रौत कोश— संस्कृत तथा अंग्रेजी भाग, वैदिक् संशोधन् मण्डल पूना, 1958, 1962, 1970.

128. श्रौतयज्ञों का परिचय— डॉ0 विजयपाल वारिधि, रामलाल कपूरट्रस्ट, वहालगढ़, हरियाणा

129. संस्कृत वाङ्मय का इतिहास— सूर्यकान्त ओरियन्टल् लांगमैन्, नई दिल्ली 1972.

130. संस्कृत हिन्दी कोश— वामन श्रीराम आप्टे, मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली, 1987.

131. सिद्धान्त कौमुदी— वेंकेटेश्वर प्रेस, बम्बई, सं0 2031.

" अंग्रेजी भाषा के ग्रन्थ "

132. आन् द रिलेशन विट्वीन ब्राह्मणाज् & श्रौतसूत्राज्— नात्सु लोक्यो 1952.

133. इन डिश्शे स्टूडियन्— ए0 बेवर, वर्लिन

134. इन्साइक्लोपीडिया आफ् रिलीजन् एण्ड् इथिकस्— आर0 भट्टाचार्ल्स, स्काईवनर्स & सन्स. न्यूयार्क, 1955.

135. ए क्रिटिकल्स्टडी आफ् दि कात्यायन श्रौतसूत्र— के0पी0 सिह, वनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, संस्कृत् सीरीज्, 1969.

136. ए न्यू एप्रोच टु दि वेदाज्— आनन्दकुमार स्वामी, लूजाक् एण्ड् कम्पनी, लन्दन, 1932.

137. ए0 हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर— (ऐनसेन्ट)- मेकसमूलर, 1859.

138. कान्सेप्ट आफ् रिचुवलइन माडर्न— एस0पी0- नगेन्द्र, मेरठ सोशियोलाजिकलथियरी—

१३९. चेञ्ज एण्ड् कान्टीन्यूटी इन् इण्डियन— एम0 खोंद, मूर्तो एण्ड् कम्पनी, हेंग, 1965.

140. द् रिलीजन् आफ् वेदाज्— ब्लूमफील्ड्, इण्डोलालिकल् बुकहाऊस, वाराणसी 1970.

141. दि इलीमेन्टरी फाम्र्स आफ् — इमाइल दुखॉम एलेन अनबिन लन्डन, 1954, कालियर बुक्स न्यूयार्क, 1961.

142. दि स्ट्रक्चर आफ् सोशलएक्शेन्स— रालकाट् पार्सन्स, दि फ्री प्रेस ग्लनकी इलिनिआस्, 1949.

143. दि मॉइ थॉलॅजी आफ् यजुर्वेद— एन0जे0 शिन्दे, बम्बई यूनवर्सिटी, 1959.

144. दि वेद आफ् दि ब्लैक यजुष्स्कूल— आर्थरवेरीडेलकीथ्, हार्वड ओरियन्टल सीरीज् 1819, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली,1967.

145. दि वेदाज्— एफ0 मैक्समूलर, सुशीलगुप्त लिमिटेड, कलकत्ता, 1956.

146. टु वडर्स् ए जनरल् थियरी आफ् ऐक्शन— पार्सन्स् और शिल्ज् , हार्पर्, आर्च बुक्स् न्यूयार्क्, 1962.

147. मर्सिया इलियाड्— कस्मास् एण्ड हिस्ट्री दि मिथ्आफ इटर्नलरिटर्न- हार्पर एण्ड ब्रदर्स, न्यूयार्क्, 1959.

148. मिथ एण्ड् रियलिटी— मर्सिया इलियाड, टार्चबुक्स्, न्यूयार्क, 1962.

149. रिलीजन & फिलोसोफी आफ् वेदास & उपनिषद्स— ए0वी0कीथ्, हार्वर्ड ओरियन्टल सीरीज, लन्दन, 1925.

150. रिलीजन एण्ड माइथोलोजी आफ ब्राह्मणज्— जी0वी0 देवस्थली, यूनवर्सिटी आफ् पूना, 1965.

151. ला ग्रांड् दिस्से— इन्त्रोद्युकसो आलेक्यूदेकम्परातिवदेरिलीजियों ज्यॉ फ्रिजीलुजकी पेयात पेरिस, 1950.

152. वैदिक मॉइथॉलॉजी— एए0 मैकडोनेल, इण्डोलोजिकल् बुक् हाऊस, वाराणसी 1963.

153. वैदिक रिलिजन्— एवेल वगेन्म, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1978.

154. वैदिक इण्डेक्स आफ् नेम्स् & सबजेक्टस् (भाग -2) — मैकडोनेल एण्ड कीथ, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 1967

155. द सैक्रिफाइस् इन द् ब्राह्मण टेक्स्— गणेश उमाकान्त थिटे, पूना विश्वविद्यालय, 1975.

156. सैक्रिफाइज् इन द् ऋग्वेद्— के0आर0 पोद्दार, भारतीय विद्याभवन, वाराणसी, 1953.

157. संस्कृत इंगलिश् डिक्शनरी— एम0 मोरियस विलियम, मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली, 1963

158. सेलेक्टेड पेपर्स 2-3 भाग— सं0 रोजर लिप्से, बोलिलर्गन सीरीज, प्रिंस्टेन् यूनिवर्सिटी प्रेस

159. स्टडी इन द् ब्राह्मणज्— अतुलचन्द्र वनर्जी, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली 1963.

160. सेक्रेड बुक्स् आफ् दि ईस्ट— जूलियस एगलिंश, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1963.

161. हिस्ट्री आफ वैदिक् लिटरेचर— मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1962.

162. हिन्दुइज्म् ऐण्ड बुद्धिज्म— आनन्द कैण्टिश कुमारस्वामी, मुंशीराम मनोहरलाल, दिल्ली, 1972

163. हिस्ट्री आफ् इण्डियन् लिटरेचर— एम0 विन्टरनिज्ज्, ओरियन्टल् बुक्स् कारपोरेशन्, दिल्ली, 1972.

164. हिस्ट्री आफ् धर्मशास्त्राज्— पाण्डुरंग वामनकाणे, भण्डारकर ओरियन्टल् रिसर्च इंस्टीट्यूट् 1942.

165. हिस्ट्री आफ् संस्कृत लिटरेचर्— एम0ए0 मैकडोनेल, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1962.

166. हिस्ट्री आफ् इण्डियन् वैदिक लिटरेचर— अलवर्ने बेवर, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1961.

167. हिन्दूरिलीजन् कस्टमस् एण्ड् मैनर्स— पी0 थामस्, बम्बई, 1946

" अनुसन्धान पत्रिकाएँ "

168. आल इण्डिया ओरियन्टल कान्फरेन्स– (समरीआफ पेपर्स) एशियाटिक सोसाइटी आफ कलकत्ता, 1986.

169. आल इण्डियां ओरियन्टल कान्फरेन्स– (समरी आफ पेपर्स) आन्ध्र यूनिवर्सिटी विशाखापट्टनम् 1989.

" दर्शपौर्णमास याग से सम्बद्ध पाण्डुलिपियाँ "

170. दर्शपौर्णमास प्रायश्चित्त कारिका– क्रम संख्या- 18.49, 2797, 2861, सरस्वती भवन, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

171. दर्शपौर्णमास मन्त्रार्थ संग्रह चन्द्रिका– वैद्यनाथ पाथगुण्ड: क्रम सं. 1233, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी

172. दर्शपौर्णमास प्रयोग:– 3542, 3544, 3527, सरस्वती भवन, सम्पूर्णानन्द, 2749, 2750, 2745, संस्कृत वि0वि0 वाराणसी

173. दर्शपौर्णमास सूत्रभाष्यम्– 1583, 1606, तदेव

174. दर्शपौर्णमास हौत्रम्– 3531, 2900, 3134, 3573, तदेव

175. दर्शपौर्णमास आध्वर्य प्रयोग: – 2835, तदेव

176. दर्शपौर्णमास आग्नीध्र प्रयोग:– 3122, तदेव

177. दर्शपौर्णमास ब्रह्मत्वम्– 3562, 3762, तदेव

178. दर्शपौर्णमास याजमानम्– 3725, 2982, तदेव

179. दर्शपौर्णमास स्थाली पाक:– 3723, 2993, 3660, तदेव

180. दर्शपौर्णमास विहार विवरणम् – 4023, 4157, 4307, तदेव

181. आपस्तम्ब दर्शपौर्णमास विहार कारिका– 4198, तदेव

182. पौर्णमास इष्टिपर्वकाल निर्णय:– याज्ञिकदेव, 4090, तदेव

183. दर्शपौर्णमासिका वेदि:– 4209,

184. सान्नायविधि: – 3244,

185. आपस्तम्बदर्श पूर्णमास: – 3502, सम्पूर्णानन्द संस्कृत वि0वि0 वाराणसी।

■■